स्वामी ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प

ईश्वर-मीमांसा

लेखक

पूज्य १०५ श्री क्षुल्लक निजानन्दजी महाराज
(पूर्व नाम स्वामी कर्मानन्द)

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ
चौरासी-मथुरा

प्रकाशक

मंत्री साहित्य विभाग,

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ

चौरासी-मथुरा।

प्रथमबार : १९५०

मूल्य

छः रुपये

रामा प्रिंटिंग वर्क्स,

चावड़ी बाज़ार,

देहली।

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थके लेखकके साथ मेरा वर्षोंका परिचय है। एक समय था जब आप आर्य समाजके प्रसिद्ध शास्त्रार्थियोंमें थे, इसके बाद आप हमारे धर्म-बन्धु हुए और अब आप हमारे पूज्य हैं। जहां आप वैदिक एवं दार्शनिक विद्वान हैं तथा इतिहासके प्रति आपकी रुचि है, वहीं आपकी दृष्टि निष्पक्ष है तथा आपको अपने अध्ययनके बल पर अपने मत-निर्माणमें तनिक भी देर नहीं लगती। ऐसे विचारशील, सत्यप्रिय विद्वान्के विचारोंका सर्वसाधारणमें अधिक से अधिक प्रचार होवे इस ही लिए आपके ही नामसे इस ग्रन्थमालाका प्रारम्भ किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसका प्रथम पुष्प है। हमारी भावना है कि हम आपके अन्य ग्रन्थोंको भी यथा शीघ्र प्रकाशित करें।

भारतके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध साहित्यकोंको इस पुस्तककी एक सौ प्रति भेंट स्वरूप भेजनेके लिए पूज्य १०५ श्री क्षुल्लक पूर्णसागर जी ने अपनी महासमितिके फंडसे पांच सौ ग्यारह रुपया प्रदान किया है इसके लिए मैं उनका हृदयसे आभारी हूँ। साथ ही हिन्दी जगत के प्रसिद्ध विद्वान् श्री प्रभाकर जी ने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखकर जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका भी आभारी हूँ। शुभमस्तु सर्व जगत:

—कैलाशचन्द्र जैन

मंत्री-साहित्य विभाग

प्राक्कथन

यह शायद १९३४ की बात है। मैं विकास के 'आर्यसमाज अंक' में जाने वाले लेखादि देख रहा था, उनमें स्वा० कर्मानन्द जी का भी एक लेख था—'जैन धर्म और वेद'। एक प्रचारक के रूप में मैंने उनका नाम सुन रक्खा था, पर इस लेख में प्रचारक की संकीर्णता के स्थान में सर्वत्र सौन्दर्य दर्शन की भावना के साथ विविध प्रवृत्तियों का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य था कि मैं प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसके बाद तो अनेकबार उनसे मिलने एवं विविध विषयों पर विचार-विनिमय करने का अवसर मिला है और सदा ही मैंने अनुभव किया है कि उनका अध्ययन बहुत व्यापक है। इनके अध्ययन का मुख्य विषय धर्म और इतिहास रहा है।

बहुत से ग्रन्थ पढ़ डालना एक साधारण बात है, पर स्वामी जी के अध्ययन की दो असाधारणताएं हैं, पहली यह है कि वे अध्ययन से पूर्व कोई सम्मति निर्धारित करके आगे नहीं चलते जिससे कि अपने हृदय का भार बलात् अध्ययन पर लादना पड़े और दूसरी यह कि वे उस अध्ययन पर अपने दृष्टिकोण से स्वतंत्र विमर्श करते हैं। इस प्रकार जो निष्कर्ष निकलता है, वे उसे मानते हैं, उस पर लिखते हैं, पर यदि बाद का अध्ययन उन्हें इधर उधर करता है तो वे उससे भी घबराते नहीं हैं। उनके स्वभाव की इस उदारता का आधार उनकी राष्ट्रीय मनोवृत्ति है, जो उन्हें राष्ट्र और धर्म का समन्वय करके साथ-साथ चलने की क्षमता देती है। वे पक्षपात से हीन, बनावट से दूर, मूक सेवा

के विश्वासी, एवं सरल स्वभाव के सन्यासी हैं, जो कहीं बंधा हुआ नहीं है, पर सर्वत्र बंधा हुआ है। उनके 'विराग' का अर्थ 'विशिष्ट राग–विश्वात्मा के प्रति असंकीर्ण कोमलता है। इस प्रकार वे एक साधु भी हैं और इतिहास के विनम्र विद्यार्थी भी हैं।

'स्याद्वाद' कर्मफिलासफी और आत्म-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तों की त्रिवेणी में स्नान कर वे आज 'जिनधर्म' कल्पतरु की शीतल छाया में आकर खड़े हैं, उसी शान्त मुद्रा में, निर्विकार भाव से और बंधन हीन। महावीर जयंती के अवसर पर महावीर सन्देश के नाम से अपना जो भाषण उन्होंने ब्राडकास्ट किया था, वह इस बात का प्रमाण है कि वे धर्म को विशुद्ध जीवन तत्व की दृष्टि से देखते हैं—उसके बाह्यविस्तार में फंस कर ही नहीं रह जाते।

उनके अध्ययन के फलस्वरूप राष्ट्र-भाषा को उन की कई पुस्तकें प्राप्त हैं। उनमें परिस्थितिवश एवं सामयिक चीजों को छोड़ कर वैदिक ऋषिवाद, सृष्टिवाद, 'भारत का आदि सम्राट' और धर्म के आदि प्रवर्तक, कर्मफल कैसे देते हैं, का नाम उल्लेखनीय है। पहली पुस्तक में मन्त्रसृष्टा ऋषियों का अनुसन्धान है। यह स्वामी जी के वैदिक साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का सुन्दर फल है। खोज के कार्य में मतभेद होना स्वाभाविक है, पर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्री डा० गंगानाथ झा एम० डी० लिट (वायस चान्सलर प्रयाग विश्वविद्यालय) के शब्दों में 'वैदिक ऋषिवाद' एक निष्पक्ष, गवेषणात्मक पुस्तक है। दूसरी पुस्तकों के सम्बन्ध में भी इसी तरह की सम्मति दी जा सकती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में आपने ईश्वर के स्वरूप एवं उसकी

ऐतिहासिकता पर चर्चा की है। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इस पर अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विद्वान विचार कर चुके हैं। स्वामीजी का निष्कर्ष इस विषय में अन्तिम है, यह कहना तो स्वयं स्वामीजी भी नहीं चाहेंगे, पर मैं इतना कह सकता हूँ कि स्वामीजी ने आज तक की इस विषयमें प्रचलित परम्पराओं की दीवारों को लांघकर अनुसन्धान के दूर वीक्षण से बहुत दूर तक झांका है और एक नई सृष्टि खड़ी की है। दूसरे शब्दों में भारतीय दर्शन एंव इतिहास के पण्डितों और विद्यार्थियों को एक नये दृष्टिकोण पर विचार करने का यह आमन्त्रण है, ऐसा आमन्त्रण जिसमें अपनी भारतमाता के प्रति श्रद्धा है, अनुसन्धान की उत्कण्ठा है और विचार विनिमय की तत्परता है।

मेरा विश्वास है कि इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले विद्वान न केवल इस आमन्त्रण को सुनेंगे ही किन्तु इसे स्वीकार भी करेंगे। विद्वान लेखक के साथ मेरी भी कामना है कि अनेक धर्मों एवं संस्कृतियों की जननी भारतमाता इस अध्यवसाय से प्रसन्न हो।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सम्पादक—विकास

भा० दि० जैन संघ के साहित्य विभाग के सदस्यों की

नामावली

संरक्षक सदस्य

८१२५) साहू शांतिप्रसादजी डालमियानगर।

५०००) श्रीमन्त सर सेठ स्वरूपचंद जी हुकमचंद जी इन्दौर।

५०००) सेठ छदामीलाल जी जैन रईस फिरोजाबाद।

५०००) *सेठ भगवानदास जी जैन रईस मथुरा।

३००१) सेठ नानचंद जी हीराचंद जी गांधी उस्मानाबाद।

सहायक सदस्य

१००१) लाला श्यामलाल जी रईस फर्रुखाबाद।

१००१) सेठ घनश्यामदास जी सरावगी लालगढ़। (धर्मपत्नी रा० ब० सेठ चुन्नीलाल जी के सुपुत्र स्व० निहालचंद जी की स्मृति में)

१००१) रा० ब० सेठ रतनलाल जी चांदमल जी रांची।

१०००) सकल दि० जैन पंचान नागपुर।

१०००) सकल दि० जैन पंचान, गया।

१००१) *रा० सा० लाला उल्फतराय जी देहली।

१००१) लाला महावीरप्रसाद जी (फर्म—महावीरप्रसाद एन्ड सन्स) देहली।

१०००) लाला रतनलाल जी जैन मादीपुरिया देहली।

१००१) लाला जुगलकिशोर जी (फर्म—धूमीमल धर्मदास) देहली।

१००१) लाला रघुवीरसिंह जी (जैना वाच कम्पनी) देहली।

१०००) स्व० श्रीमती मनोहरीदेवी मातेश्वरी ला० बसन्तलाल फिरोजीलाल जी जैन देहली।

१०००) श्रीमती चन्द्रवती जी जैन धर्मपत्नी साहू रामस्वरूप जी जैन नजीबाबाद।

१०००) बाबू कैलाशचन्द्र जी जैन S.D.O. फोर्ट बम्बई।

१०००) बाबू प्रकाशचन्द जी जैन खंडेलवाल ग्लास वर्क्स. सासनी।

१०००) सेठ सुखानंद शंकरलाल जी जैन रंग के व्यापारी देहली।

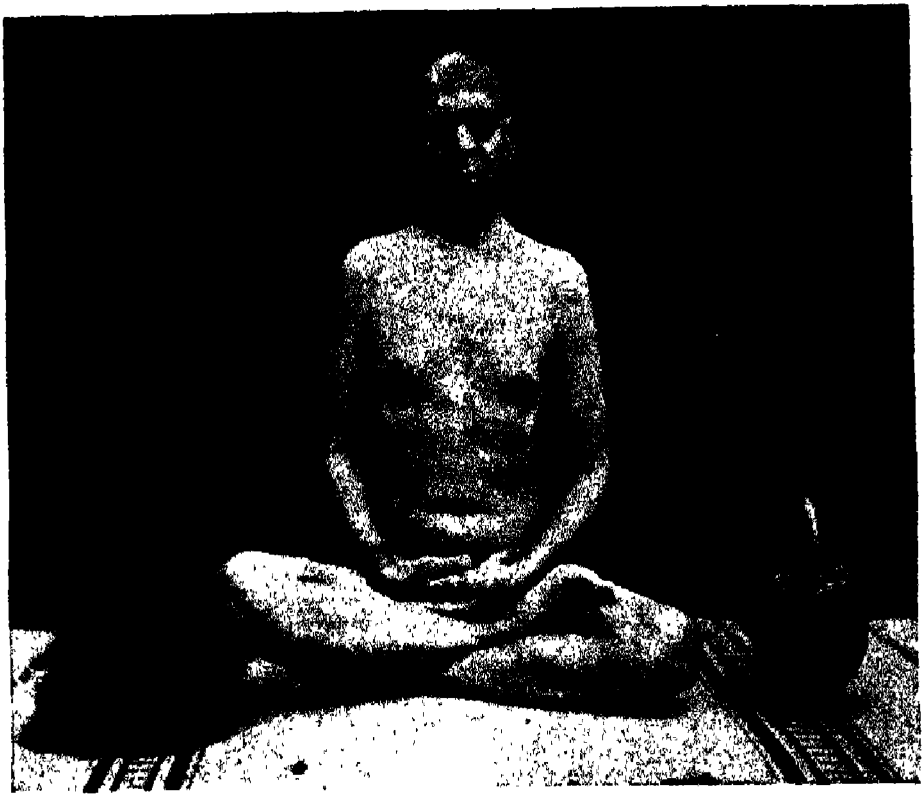
१००१) सेठ मगनलाल जी हीरालाल जी पाटनी आगरा।

१००१) सेठ सुदर्शनलाल जी जैन जसवंतनगर।

१०००) ला० छीतरमल शंकरलाल जी जैन मथुरा।

१००१) सेठ गणेशीलाल आनन्दीलाल जी आगरा।

नोट—*इस चिन्ह के सहयोगियों की सहायता की पूरी रक़म प्राप्त नहीं हुई है।



प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक पूज्य १०५ श्री क्षुल्लक निजानन्द जी

विषय-सूची

—:※:—

विषय	पृष्ठ
देवोंके लक्षण	१९८
देवोंके कार्य	१९९
अश्विनौ देवोंके गुण	१९९
ऋभु देवोंकी कथा	२०१
देव लोक	२०३
"वैदिक स्वर्ग"	२०५
हिन्दू धर्ममें देव कल्पना	२०७
यातु विद्या और धर्म	२१०
हिन्दू धर्मके विविध स्तर	२२१
शावर, कुमारिल और शंकरकी प्रमाणोपपत्ति	२१७
देवता और ईश्वर	२१९
मनुष्य शरीरसे देव शरीरमें वैलक्षण्य	२१९
देव शरीरसे ईश्वर शरीरमें वैलक्षण्य	२२२
देवोंकी मूर्तियां	२२८
अग्न्यादि देवता	२३०
याज्ञिक आदि मत	२३२
अवैदिक नवीन मत	२३३
ओंकार स्वरूप	२३५
(ख) आकाश	२३९
ओंकारका मुख्यवाचकत्व	२४१
प्रजापति = पुरुष = ब्रह्म	२४५
प्रजापति हिरण्यगर्भ आदिका ईश्वरवाचकत्व	२५२
कालसे सृष्टिकी उत्पत्ति	२५५
वेदान्तमतमें जीव और ईश्वर	२५८
प्रजापति और ब्राह्मण ग्रन्थ	२६२

विषय	पृष्ठ
लिंग शरीर	२६३
विराट पुरुष	२६३
हिरण्य गर्भ	२६३
धाता, विधाता, दो स्त्रियां हैं	२६४
हिरण्य गर्भ	२६५
ब्रह्मपुर	२७०
पुरुष सूक्तका विभिन्न अर्थ	२७८
मुण्डकोपनिषद्	२८४
पुरुष सूक्तकी अन्तः साक्षी	२८७
सायण मत	२८८
वास्तविक अर्थ	२९२
विराट उत्पत्ति	२९५
निरुक्तमें सूक्तके अर्थ	२९८
पुरुष शब्दकी व्याख्या	३०१
विश्वकर्मा	३०२
निरुक्तमें विश्वकर्माका कर्तृत्व	३०४
ज्येष्ठ ब्रह्म व स्कंभ देव	३०७
केनोपनिषद् और ब्रह्म	३११
विष्णुदेव	३१४
सूर्य और विष्णु	३१५
इन्द्र और उपेन्द्र	३१६
नारायण	३२०
विष्वक्सेन	३२२
उपेन्द्रके अन्य नाम	३२४
उपेन्द्रके कार्य	३२४

—o—

॥ ईश्वर मीमांसा ॥

क्या वैदिक देवता ईश्वर हैं ?

किसी विद्वान ने सत्य ही कहा है कि—"ईश्वर ने मनुष्यों को नहीं बनाया अपितु मनुष्यों ने ईश्वर की रचना की है।" यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो ईश्वर का वर्तमान स्वरूप परिवर्त्तित और परिवर्धितरूप है। क्योंकि प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्तमान ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है। ऋग्वेद जो कि संसार के पुस्तकालय में सब से प्राचीन पुस्तक समझी जाती है, उसमें वर्त्तमान ईश्वर के मंडन की तो बात ही क्या है अपितु उसमें इस ईश्वर शब्द का ही प्रयोग नहीं किया गया है। यही अवस्था सामवेद, और यजुर्वेदकी है। अथर्ववेद, जो कि सब से नवीन वेद है, उसीमें सबसे प्रथम इस शब्दके दर्शन होते हैं, परन्तु वहाँ भी केवल साधारण (स्वामी) अर्थ में ही इसका प्रयोग हुआ है। अतः जिस प्रकार यह शब्द नवीन है उससे भी अति नवीनतम-इसका वर्तमान रूप है।

वेद और देवता

कुछ विद्वानों का कथन है कि वेदों में ईश्वर शब्द के न होने से क्या है, उनमें सृष्टि-कर्ता ईश्वर का अग्नि, प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, आदि शब्दों द्वारा वर्णन तो प्राप्त होता है। उन विद्वानों की सेवा में हमारा इतना ही निवेदन है कि वेदों में एक ईश्वर का नहीं अपितु अनेक देवत वाद का विधान है। तथा वैदिक देवोंमें से एक भी देव ऐसा नहीं है जिसको वर्तमान ईश्वर का स्थान दिया जा सके। क्योंकि वैदिक देवता नियतकर्मा हैं, तथा उनकी उत्पत्ति का एवं उनके शरीरों का उल्लेख वेदों में ही उपलब्ध होता है। यह सब होते हुए भी आधुनिक विद्वानों ने वैदिक देवताओं का अर्थ ईश्वर परक करने का प्रयत्न किया है। अतः यह आवश्यक है कि वैदिक देवों का यथार्थ स्वरूप समझ लिया जाय।

श्रीमान् पं०सत्यव्रतजी सामाश्रमीने निरुक्तालोचनमें लिखा है कि—

"वैदिकमन्त्रेषु स्तुता एव पदार्था तन्मन्त्रतः स्तुति काले एव च देवत्वेन स्तुता भवन्ति नान्ये नाप्यन्यत्रेत्येव वैदिक सिद्धान्तः।"*

अर्थात्—वैदिक मन्त्रोंमें स्तुत्य पदार्थ उन्हीं मन्त्रों द्वारा स्तुति कालमें देवता कहलाते हैं। अन्यत्र तथा अन्य समयमें वे देवता

---

* नोट—प्रभाकर भट्ट का मत है कि—न देवता चतुर्थ्यान्तविनियोगादृते परा ॥ १४ ॥ सर्व दर्शन संग्रह। विनियोगके समय जिसके लिये चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग होता है वही देवता है। अन्य समय व अन्यत्र देवता नहीं।

नहीं होते यही वैदिक सिद्धान्त है। तथा च निरुक्तमें लिखा है कि-
'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां अर्थ पत्यम्. इच्छन स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।" यह देवता अमुक पदार्थ का स्वामी है, अतः वह पदार्थ उसीसे प्राप्त होगा ऐसा जानकर ऋषि जिसकी स्तुति करता है उसी देवता वाला—वह मन्त्र होता है। अभिप्राय यह है कि मन्त्रोंमें वर्णित पदार्थ देवता नहीं अपितु फल प्राप्तिकी कामनासे जिसकी स्तुति की जाती है वह देवता है। तथा स्तुति करने वाला मन्त्रकर्ता ऋषि कहलाता है।

तीन देव

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथिवी स्थानः वायुर्वा इन्द्रोवाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः ॥

तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नाम धेयानि भवन्ति। अपिवा कर्म पृथक् त्वाद् यथा होता अध्वर्युः ब्रह्मा उद्गाता इति, अपि एकस्य सतः अपि वा पृथगेव स्युः पृथग् हि स्तुतयो भवन्ति तथा अभिधानानि। यथो एतत् कर्म पृथक् त्वाद् इति। बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्।

यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं च संभोगैकत्वं च दृश्यते। यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च संभोगः अग्निना च इतरस्य लोकस्य॥ तत्र एतत् नरराष्ट्रमिव॥ ७। २

तीन ही देवता हैं ये नैरुक्तोंका मत है। उनके मतमें अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता हैं, वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानीय हैं और सूर्य, द्यु लोकके देवता हैं। उनको अनेक प्रकारकी विभूतियां होने से उनके ही अनेक नाम हैं। तथा कर्मादिके भेदसे भी उनके अनेक नाम हैं। जिस प्रकार एक ही व्यक्तिके होता अध्वर्यु आदि नाम होते हैं। ऋ० १०।२७।२३। में लिखा है कि जब देवोंकी गिनती हुई, तब सब देवोंमें ३ देवता मुख्य ठहरे—वायु, सूर्य, पर्जन्य. यहाँ अग्निको मुख्य देवता नहीं माना गया। अपितु अग्निके स्थान में पर्जन्यको मुख्य माना है।

याज्ञिक मत

परन्तु निरुक्ताचार्योंसे भिन्न याज्ञिकोंका मत है कि मन्त्रोंमें जितने देवताओंके नाम आते हैं उतने ही पृथक् पृथक् देवता हैं। क्योंकि स्तुतियें अलग अलग हैं उसी प्रकार देवताओंके नाम भी पृथक् पृथक् हैं। नैरुक्तोंका यह कथन भी ठीक नहीं कि कर्मोंके भेदसे नामोंका भेद है, क्योंकि अनेक मनुष्य भी अपने अपने कर्मोंको बाँट कर करते हैं। यदि वे गौणरूपसे एकता स्वीकार करें तो हमें कुछ भी आपत्ति नहीं है। क्योंकि स्थानकी एकता और भोगोपभोग आदिकी एकतासे वे उनको एक कह सकते हैं* जैसे कि कहा जाता है कि भारत ऐसा मानता है, अथवा भारत यह चाहता है यहाँ एकत्व भी है तथा अनेकत्व भी क्योंकि भारत से अभिप्राय उसकी जनतासे है।

---

* यास्काचार्य दोनोंका समन्वय करते हैं।

देवोंकी विलक्षणता

इतरेतर जन्मानोभवन्ति, इतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः। आत्मैव एषां रथोभवति आत्मा अश्वः आत्मा आयुधम् आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य। निरुक्त० ७। २

अर्थ—देवता परस्पर जन्मा तथा इतरेतर प्रकृति (कारण) होते हैं। देवता कर्मजन्मा (कर्मार्थजन्मा) होते हैं। क्योंकि इनके जन्मके बिना लौकिक कर्म सिद्ध नहीं होसकते, इस लिये ये जन्म धारण करते हैं। तथा ये आत्म जन्मा हैं। अर्थात् इनके जन्मके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है। स्वसंकल्पमात्रसे ही उनका जन्म होता है। तथा देवता स्वयं ही अपना रथ है स्वयं ही अश्व हैं और वे अपने आप ही शस्त्रास्त्र आदि हैं। अभिप्राय यह है कि कार्यके लिये उन्हें किसी अन्यकी सहायता की आवश्यक्ता नहीं अपितु संकल्पमात्रसे उनको सम्पूर्ण पदार्थ प्राप्त होते हैं।

देवोंका आकार

पुरुषविधास्युः। अपुरुषविधास्युः। अपिवा उभयविधास्युः। अधिष्ठातारः पुरुषविग्राहाः। एष च आख्यानसमयः। नि० ७। २

देवताओंके स्वरूपके विषयमें निरुक्तकार कहते हैं कि—देवताओंका आकार मनुष्यों जैसा है यह एक मत है। तथा दूसरे आचार्योंका कथन है कि—देवोंका आकार मनुष्योंसे भिन्न प्रकार

है। जैसे अग्नि वायु, आदित्य, आदि। परन्तु ऐतिहासिक आचार्योंका मत है कि—अधिष्ठाताके रूपमें ये देवता सर्वदा मनुष्याकार ही होते हैं। अर्थात् अग्नि वायु, आदित्य, चन्द्रमा आदि तो पुरुषवत नहीं हैं परन्तु उनके जो अधिष्ठाता देव हैं वे पुरुषाकार ही होते हैं। किसी किसी आचार्यके मतसे देव उभयरूप हैं।

(वरुण)

इन देवताओंमें वरुणदेव जलोंके स्वामी हैं। (वरुणो अपामधिपतिः। अथर्ववेद, कां०५।२४।४) तथा यही शान्ति और भलाई का देवता है। शेष सब वैदिक देवता शाक्तिक हैं। सिन्धप्रान्त के शक्खर शहर में सिन्धनदी के किनारे अति प्राचीन वरुणदेव का एक मन्दिर है जिसको 'वरना'—पीरके नामसे पूजा जाता है। यह जलका देवता माना जाता है। तथा ईरानी लोगोंके यहाँ भी इस वरुण को 'वरुण' नामसे पूजा जाता है। वे लोग इसको सब देवोंका पिता मानते हैं। मित्र और वरुण अति प्राचीन व प्रतिष्ठित देव हैं। तथा वरुणको पश्चिम दिशाका दिग्पाल माना गयाहै।

मरुद्गण

मरुद् देवता गण-रूप हैं।

मरुतो मा गणैरवन्तु ॥ अ० कां० १९।४५।१०

अर्थात् मरुत् देवता गणों सहित मेरी रक्षा करें। तथा च शतपथ ब्रा० में लिखा है कि—

सप्त सप्तहि मारुता गणाः । श० ९।५।२।३।१६

अर्थात मरुतोंके सात सात गण होते हैं।

तथा च मरुतगण अहुत भोजी हैं। अर्थात् ये हवन किये हुए पदार्थोंको नहीं खाते। जैसाकि—अहुतादो वै देवानां मरुतः ॥ शत० ४।४।३।१६ में लिखा है। इनके लिये पृथक् बलि दी जाती है।

मारुतः सप्तकपालः [पुरोडासः] तां० ब्रा० २१।१०।२३

तथा च इन मरुतोंके सात सात प्रकार आयुध, तथा आभरण एवं सात २ प्रकारकी ही दीप्तियां हैं। सप्तानां सप्त ऋष्टय सप्त द्युःमान्येषाम् ॥ ऋ० ८।८८।५। ऋग्वेद मं० ५।५२।१७ में इन मरुतोंकी संख्या ४६ बताई है।

भिन्न भिन्न पदार्थोंके अधिपति भिन्न २ देवता

सविता प्रसवानामधिपतिः। अग्नि वनस्पतीनामधिपतिः। द्यावा पृथिवीदातृणामधिपत्नी। वरुणोऽपामधिपतिः। मित्रा-वरुणौ वृष्ट्याधिपती। मरुतः पर्वतानामधिपतयः। सामो-वीरु धामधिपतिः। वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः। सूर्यश्चक्षुषा-मधिपतिः। चन्द्रमानक्षत्राणामधिपतिः। इन्द्रो दिवोऽधि-पतिः। मरुतां पितापशूनामधिपतिः मृत्युःप्रजानामधिपतिः। यमः पितृणामधिपतिः ॥ अथर्व० ५। २४।

तथा पैप्प० में अन्य देवोंको भी अधिपति कहा है। यथा—मित्र पृथिवीका, वसु सम्वत्सरका सम्वत्सर ऋतुओंका। विष्णु पर्वतोंका। त्वष्टा, रूपोंका। समुद्र नदियोंका। पर्जन्य (मेघ) औष-धियोंका। वृहस्पति देवताओंका। प्रजापति प्रजाओंका। (अथ) सविता प्रेरणाओंका अधिपति। अग्नि वनस्पतियोंका। द्यावा पृथ्वी

दानियोंकी। वरुण जलोंका। मित्रवरुण, वृष्टिके। मरुत पर्वतोंके। सोम, पोधोंका। वायु अन्तरिक्षका। सूर्य, नेत्रोंका। चन्द्रमा, नक्षत्रोंका। इन्द्र द्यौका। मरुतोंका पिता। रुद्र पशुओंका। मृत्यु प्रजाओंका। यम पितरोंका। इस प्रकार इन देवताओंके स्थान, अधिकार, कर्म, जन्मस्थान, व मातापिता, साथी, वाहन कार्यक्षेत्र योनि जाति आदि सब पृथक् पृथक् हैं। इनकी पृथकता इनके अनैक्य को सिद्ध करने के लिये अटल प्रमाण है वैदिक कवियोंसे लेकर आज तक सभी स्वतन्त्र प्रज्ञ विद्वानोंका यही सिद्धान्त है। तथा ये देवता देवता ही हैं, न ये ईश्वर हैं और न ईश्वर की शक्तियाँ। ये सब कल्पनायें निराधार एवं साम्प्रदायिक हैं। इन कल्पनाओंसे न तो वेदोंका ही महत्व बढ़ता है और न ईश्वर की सिद्धि हो सकती है।

श्री पावगी महोदय का मत

श्री नारायण भवंनरावपावगी, अपनी पुस्तक 'आर्योंका मूलस्थान' में लिखते हैं कि—"यद्यपि ऋग्वेदमें इस बातका संकेत है कि इन भिन्न भिन्न देवताओंमें कोई भी छोटा बड़ा नहीं है (नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। ऋ० ८। १०। १) सबके सब श्रेष्ठ हैं। (विश्वे सतो महान्त इति। ऋ० ८। ३०। १) तो भी ऋचाओंके पढ़ने से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि हमारे वैदिक देवताओंमें छोटाई बड़ाईका कुछ भेद वास्तवमें था। अतः इस बातका समुचित विचार करके ही हमने अग्निको प्रथम स्थान दिया है। क्योंकि वे ऋग्वेदमें देवताओंके देवता (देवो देवानां, ऋ० १। ३१। १) माने गये हैं।"

अग्नि देवता

ऋग्वेदका मुख्य देवता अग्नि है. अन्य सब गौण देवता हैं। अग्नि पृथिवी स्थानीय देवता है—यह निरुक्तकार का मत हम प्रकट कर चुके हैं। ऋग्वेदमें भी इसी सिद्धान्तको माना गया है। यथा—

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ ऋ० १०।१५९।१

अर्थात्—द्युलोकसे सूर्य हमारी रक्षा करे, व अन्तरिक्ष लोकसे वायु तथा पृथिवी लोकसे अग्नि हमारी रक्षा करे। तथा शतपथ ब्राह्मणमें है कि—

अस्मिन्नेव लोके, अग्निं, वायुमन्तरिक्षे दिव्येव सूर्यम् । ११।२।३।१

अर्थात्—उस प्रजापतिने देवों को उत्पन्न करके तीन लोकोंमें स्थापित किया।

अग्निको इस पृथिवी लोकमें, वायुको अन्तरिक्षमें और सूर्यको द्युलोकमें। उपरोक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध होगया कि—अग्नि पृथ्वी स्थानीय देवता है। तथा ऋग्वेद और अथर्ववेदका भी पृथिवीलोक है। तथा दोनों वेदोंका देवता भी अग्नि ही है। अतः यह स्पष्ट है कि अग्नि, वेदोंका मुख्य देवता है। भारतमें अग्नि पूजा के प्रथम प्रचारक अंगिरा ऋषि हुये हैं। यह प्रख्यात वंशके थे। ग्रीक, रोमन, परशियन, आदि जातियोंमें अग्निकी पूजा सदासे चली आती है। ग्रीक, लोगोंका कथन है कि—जो देवता मनुष्योंकी भलाईके लिये पहले पहल स्वर्गसे अग्निको चुरा कर लाया उसका नाम,—

प्रोमोथियस, है। इस देवताके ग्रीक तथा यूनानी आदि उपासक हैं। रोमनमें, वल्कन, या उलकाके नामसे अग्निकी पूजा होती है। लाटिन भाषा भाषी अग्निको 'इग्नि' तथा स्लाव लोग, ओगनी कहते हैं। ईरानी व पारशियन लोग 'अगर' नामसे पूजा करते हैं। (ऐसा पं० रामगोविन्दजी त्रिवेदीने ऋग्वेदके अनुवादमें लिखा है।) वैदिक साहित्यमें अग्नि शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। उनमें कुछ निम्न हैं।

(१) अग्नि देवोंका दूत है। अर्थात् वह देवोंको यज्ञमें बुलाकर लाता है।

देवासो दूतमक्रत ॥ ऋ० ८ । २३ । १८

अर्थात् अग्निको देवोंने दूत बनाया।

(२) अग्नि देवोंका पुरोहित है। अर्थात् वह देवोंका हितकारक है। तथा च

(३) यज्ञका देवता है।

(४) ऋतका रक्षक है। (ऋतस्यगोपा) ऋ० १ । १ । ८

(५) यज्ञका नेता है।

(६) यह होता, कवि, क्रतु आदि है। इसके अलावा, आत्मा, ज्ञान, प्राण, इन्द्रिय, मन-वाणी, आदि अनेक अर्थोंमें इसका व्यवहार हुआ है। परन्तु वर्तमान ईश्वरके अर्थमें कहीं भी अग्नि शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। यह अग्नि देव पूर्व दिशाके अधिपति हैं।

प्रचीदिक्, अग्निर्देवता ॥ तै० ३ । ११ । ५ । १

अग्नि पूर्वमें वृषभ था।

अग्नि र्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः ॥
ऋ० १० । ५ । ७

अर्थात् अग्नि ही ऋतका प्रथम प्रचारक है। और वह पूर्व अवस्थामें वृषभ औ धेनु है।

प्रथम अंगिरा ऋषि

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिः । ऋ० १ । ३१ । १

हे अग्ने ! आप प्रथम अंगिरा ऋषि हैं।

इसी प्रकार अग्नि प्रथम मनोता अर्थात् राजा या विचारक है।

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता ॥ ऋ० ६ । १ । १

३३३९ देव इसके सेवक हैं।

त्रीणि शता त्रि सहस्राणि अग्निं त्रिंशच्चदेवा नव चासपर्यन ॥ ऋ० ३ । ९ । ९ ॥

प्रथम अंगिरा वंशियोंमें अग्नि को काष्ठ आदिसे उत्पन्न किया पुनः पशु पालकोंने अन्नके लिये।

आदंगिरा प्रथमं दधिरे ॥ ऋ० १ । ८३ । ४

वेदमें अग्नि शब्द ईश्वर वाचक नहीं है।

ऋग्वेद भाष्यमें बा० उमेशाचन्द्रजी विद्यारत्न लिखते हैं कि—"वेदेषु अग्नि शब्देन आदि मानवः सं सूचितः। जडाग्नि वन्हिस्यथा नराग्निश्च अववोधित इति। 'ब्रह्महि अग्नि' इति यत शतपथे अस्ति तत् लोकपितामहं ब्रह्माणमेव बोधयितुं प्रयुक्तः, न पुनः परमेश्वरमिति। ईश्वरोविद्वान स गणित विद्' इत्थं प्रयोगो न स्यात् अव-

हार विरुद्धत्वात् । वस्तुतस्तु वेदे कुत्रापि अग्नि शब्दः परमेश्वरार्थे प्रयुक्तो नाभूत् । भ्रान्तिरेषा विदुषो दयानन्दस्य ।"

अर्थात्—"वेदोंमें अग्नि शब्दसे आदि मानव अथवा जड़ अग्निका बोध होता है। 'ब्रह्म हि अग्निः' इस शतपथ वाक्यमें ब्रह्माका कथन है। न कि ईश्वर का। ईश्वर विद्वान, गणितज्ञ है, आदि प्रयोग लोक विरुद्ध होने के कारण ठीक नहीं है। वास्तव में तो वेदोंमें कहीं भी अग्नि शब्द परमेश्वर अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ है। अग्निका अर्थ ईश्वर करना यह विद्वान दयानन्द की भ्रान्ति है।" इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दों के लिये भी आपने लिखा है। यथा—"एष वायुः परमेश्वरः" इति महती एव भ्रान्ति स्तस्य दयानन्दस्य इति मुण्डुक वचनात गम्यते"

अग्नि देवता

स वरुणः सायमग्नि र्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवं तस्य देवस्य । अथर्ववेद कां० १३सू० ३मं० १३

अर्थ—वह अग्नि सायं समय वरुण होता है, प्रातः काल उदय के समय मित्र होता है वह सविता होकर अन्तरिक्ष में जाता है वह इन्द्र होकर द्यौ को मध्यसे तपाता है।

अथर्ववेद का यह अग्निसूक्त दर्शनीय है, जो भाई अग्नि आदि को परमात्मा कहते हैं उनको यह सूक्त विशेषतया देखना चाहिये। प्रत्येक बुद्धिमान आदमी समझ सकता है कि यहाँ इस जड़ सूर्यके सिवा अन्य वस्तु का वर्णन नहीं है। आगे सू० ४ में भी इसी सूर्य का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि—

स धाता स विधाता स वायुर्न उच्छ्रितम् ॥ ३ ॥
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥ ४ ॥
सोऽग्नि स सूर्यः स एव महायमः ॥ ५ ॥

अर्थात्—वह अग्नि ही (धाता) बनाने वाला, (वह विधाता) नियम बनाने वाला है। वह वायु है, वह ऊँचा मेघपटल है, वह अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य तथा वही अग्नि महायम है। ऋ० मं० ५। ३ में भी यही भाव है।

उपरोक्त मन्त्र में प्रथम मन्त्र का ही अनुमोदन है। यदि किसी को इस चतुर्थ सूक्तके विषयमें सन्देह हो कि यह सूक्त सूर्य परक है या नहीं तो उसका कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण सूक्त को पढ़ ले उसकी शंका स्वयं दूर होजायगी क्योंकि सूक्त में सूर्यकी रश्मियों का तथा उसकी चालका और उदय होने आदिका पूर्ण वर्णन है। इसी सूर्य के लिये लिखा है कि—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य-देवा। य अस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदम् तस्य देवस्य ॥ अथर्व० १३। ३। २४

अर्थात्—जिस सूर्य के मंत्र १३ में सब नाम गिनाये हैं वह सूर्य आत्मा व बलका देने वाला है। सब देवता जिसके शासनको मानते हैं। जो इन दोपायोंका तथा चौपायोंका स्वामी है इत्यादि। इस सूक्त के अनेक मन्त्रों में सूर्यकी महिमा कही गई है। तथा जितने गुण परमात्मा के माने जाते हैं उन सबका आरोप यहाँ सूर्य में किया जाता है। ऋचायें उत्पन्न हुई तथा सब कुछ उससे उत्पन्न हुआ यह स्पष्ट लिखा है। भोले-भाले प्राणी यह समझते हैं कि जब ऐसा है तो यहाँ अवश्य ईश्वर का ही वर्णन है। वह

यह विचार नहीं करते कि जिसका जो उपास्य है वह अपने उपास्य में सम्पूर्ण दिव्य गुणोंका आरोप कर लिया करता है।

अपनी बुद्धि की कल्पना शक्ति जितनी भी आगे पहुंच सकती है उसके अनुकूल वह उसे वहाँ तक ले जाकर अपने उपास्य की स्तुति किया करता है। इसका नाम स्तुतिवाद है। वस्तु स्थिति-वाद इसके सर्वथा विपरीत होता है आज भी दुनिया का यही नियम है, आप किसी के उपास्य देव के विषयमें उसके उपासक से पूछें ? वह आपको अपने उपास्य में सम्पूर्ण वही गुण बतलायेगा जो आप शायद ईश्वर में भी न मानते हों। मसीह आज स्वयं खुदा समझा जाता है तथा भगवान राम और भगवान कृष्ण के भक्तों से पूछो उनकी भी यही अवस्था है। यही क्यों आप जंगली जातियों में जायें वे लोग भूत, पिशाच को अपना उपास्य मानते हैं। यही व्यवस्था पूर्व समय में था उस समय भारत में दो सम्प्रदाय थे। (१) आत्मवादी अर्थात् चैतन्य आत्मामें ही सम्पूर्ण शक्तियाँ मानता था। (२) जड़देवोपासक यह सम्प्रदाय अग्नि सूर्य, वरुण, आदि जड़ देवों की उपासना करता था।

प्रथम आत्मोपासक सम्प्रदाय भारतीय आर्यों का था तथा दूसरा सम्प्रदाय पुरुरवा के समय बाहर से आने वाले आर्य अपने साथ लाये थे। प्रथम सम्प्रदाय वाले महापुरुषों के उपासक थे और नवीन आर्य याज्ञिक थे। ये याज्ञिक लोग आत्माको शरीरसे पृथक् तो मानते थे परन्तु मुक्तिको नहीं मानते थे। वे केवल स्वर्ग को ही सब कुछ मानते थे और उस स्वर्गकी सिद्धि यज्ञोंसे हो जाती थी इसलिये न उनके यहाँ विरोप ज्ञानकी आवश्यकता थी न तप आदि की ही। इस लिये इन दोनों में बड़ा मतभेद था। इन याज्ञिकों ने यह सिद्धान्त निकाला था कि जो पदार्थ आप यज्ञ में होमेंगे वही पदार्थ आपको स्वर्गलोक में प्राप्त होगा। इसी

लिये यज्ञ में सभी आवश्यक वस्तुओं को होमा जाने लगा। इसी कारण पशुओं को भी यज्ञ में होमा जाता था। जब इन नवीन आर्यों की विजय हुई और इनकी सभ्यता भी इस देश में फैल गई तो इनके धर्म को भी यहाँ के मूल आर्यों ने अपना लिया और यहाँ ब्राह्मण धर्मकी दुन्दुभि बजने लगी। परन्तु आर्य धर्म की श्रेष्ठता उस समय भी कायम रही। वर्तमान वेद उसी मिश्रित सभ्यता के ग्रन्थ हैं। उनमें कहीं तो मुक्त आत्माओं की स्तुति है। और कहीं जड़ देवताओं की तथा कहीं वीर पुरुषोंकी स्तुति है। एकेश्वरवाद वेदों के पश्चात प्रचलित हुआ है। वेदों में वर्तमान ईश्वरवाद की गन्ध भी नहीं है। वह तो उपनिषद् काल के बाद की कल्पना है, जो लोग वेदोंमेंसे वर्तमान ईश्वर सिद्ध करना चाहते हैं, यह उनका पक्षपात तथा हठ धर्मीपना है या वेदानभिज्ञता।

तीन प्रकार के मंत्र

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिकाश्च परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्चमन्त्रा भूयश्च अल्पश आध्यात्मिकाः

निरुक्त दैवत कांड।

अर्थात्—निरुक्तकार कहते हैं कि मन्त्र तीन प्रकारके हैं परोक्ष, प्रत्यक्ष तथा आध्यात्मिक। परन्तु परोक्ष और प्रत्यक्ष के मन्त्र ही अधिकतर हैं और आध्यात्मिक मन्त्रों की गणना नहीं के बराबर है। जो भाई सम्पूर्ण मंत्रों में से ईश्वर का वर्णन दिखलाते हैं उनको निरुक्तकारकी सम्मति देखनी चाहिये। निरुक्तकार तथा वेद आध्यात्मिक से क्या अभिप्राय लेते हैं यह भी पढ़ने योग्य है।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ । निरुक्त दैवत कांड १२।३।७

निरुक्तकार ने यह मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ३४।५५ का दिया है। जिसका अर्थ यह है कि इस मनुष्य शरीर के अन्दर सात प्राण तथा पाँच इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि सात ऋषि विद्यमान हैं। ये सात प्राण इस शरीर की निरन्तर रक्षा करते हैं। तथा जब ये इन्द्रियें विज्ञानात्मा में पहुंचती हैं तब अर्थात् स्वप्नावस्था में भी प्राणापानरूपी देव जागते रहते हैं। इत्यादि अनेक स्थानों पर इस मनुष्य शरीर का माहात्म्य है।

अग्नि

अग्निर्वै सर्वमाद्यम् ॥ तां० २५ । ९ । ३

अग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता ॥ तै० १ । ७ । २ । ३

अयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च । शतपथ, ६।६।३।१५

अग्ने पृथ्वीपते । तै० ३ । ११ । ४ । १

अग्निर्वै धाता । तै० । ३ । ३ । १० । २

अयमग्निः सर्वविद् । शत० ९ । २ । १ । ८

अर्थात्—अग्नि आदि पुरुष है। तथा अग्नि मिथुन जोड़ेका बनाने वाला है। अर्थात् उसने जबसे प्रथम विवाह प्रथा को प्रचलित किया। ब्राह्मण और क्षत्री अग्नि हैं। पृथिवी पति का नाम अग्नि है। अर्थात् पूर्व समय में राजा को तथा विद्वान तपस्वी को अग्निकी उपाधि दी जाती थी। अग्नि सर्वज्ञ है, धाता, ब्रह्मा आदि भी उसी के नाम हैं।

अतः स्पष्ट है कि ये सब नाम उपाधि वाचक थे। तथा महा-पुरुषों को इन्हीं नामों से विख्यात किया जाता था। अग्नि शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ हैं। परन्तु हमारा इस स्थान पर उनसे प्रयोजन नहीं है। हमारा अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि वेदों में अग्नि शब्द का अर्थ पुरुषविशेष भी है। उसके अनेक नाम हैं उनमें एक नाम अग्नि भी है। तथा च—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परिजात वेदाः।
ऋ० वे० मं० १० सू० ४५।१

अर्थात्—

इदमेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं।
बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रम्॥

अर्थात्—अग्नि ही सब देवता रूप है यह ब्राह्मण है। तथा च वेद भी अग्नि की ही इन्द्र मित्र, वरुण, आदि नामों से स्तुति करता है। इसी अग्नि की बुद्धिमान लोग अनेक नामों से स्तुति करते हैं। इसपर दुर्गाचार्यजी का भाष्य भी देखने योग्य है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि "अग्निम् आहुः तत्वविदः" अर्थात् तात्त्विक लोग अग्निके सब नाम कहते हैं। अथवा अग्नि को ही सब नामों से कहते हैं।

बहुत भाई वेदानभिज्ञ लोगों के सम्मुख ईश्वर के नामों के प्रमाण में निम्न लिखित प्रमाण उपस्थित किया करते हैं—

इन्द्रं, मित्रं, वरुणमग्नि माहुरथोदिव्यःससुपर्णोगरुत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः
ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ४६

यह मन्त्र बोलकर कहा करते हैं देखो इसमें लिखा है कि एक ही ईश्वर के सब नाम हैं परन्तु ये लोग अपनी बुद्धिमानी से अथवा अनजान में इसके आगे पीछे के मंत्रों पर दृष्टिपात नहीं करते। यदि ऐसा करते तो उनके इस कथनकी असलीयतका पता लग जाता। क्योंकि इससे अगले ही मन्त्र में लिखा है कि—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपोवसाना दिवमुत्पतन्ति। इत्यादि।

अर्थात—सुन्दर गति वाली, जल वाहक सूर्य किरणें कृष्ण-वर्ण नियतगति मेघको जल पूर्ण करती हुई द्युलोकमें गमन करती हैं। आदि—

इसके आगे मन्त्र ४८ में सूर्य की गतिका वर्णन है तथा उससे उत्पन्न १२ मासों का एवं ऋतुओं का कथन है। यहाँ भी स्पष्ट है कि उपरोक्त नाम ईश्वर के नहीं हैं अपितु सूर्य के ही सब नाम हैं। यहाँ मूल मन्त्र में ही लिखा है कि अग्निमाहुः। अर्थात इन्द्र मित्र वरुण आदि अग्नि को ही कहते हैं। तथा च—

प्रथम अग्नि द्युलोक में सूर्य रूप से प्रकट हुआ तथा दूसरा अग्नि पृथ्वी पर सर्वज्ञ मनुष्यके रूपमें प्रकट हुआ। (जात वेद का अर्थ सर्वज्ञ है) ऋ० १०।४५।१ बस जब स्वयं वेद ही अग्निको सर्वज्ञ मनुष्य कहता है तो पुनः इस विषय में शंका को कहाँ स्थान है ?

धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा।
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा॥
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादशः स्मृताः।

महाभारत आदिपर्व अध्याय १२३

अर्थात्—ये १२ नाम सूर्य के हैं। अथवा १२ सूर्य हैं। यथा—धाता, अर्यमा, मित्र वरुण, अंश, भग इन्द्र, विवस्वान् पूषा त्वष्टा, सविता, विष्णु। यही बात विष्णु पुराण ने कही है। विष्णु पु० अध्याय १५ अंश १ में आया है—

तत्र विष्णुश्च शुक्रश्च जज्ञाति पुनरेव च।
अर्यमाचैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च॥ १३१॥
विवस्वान् सविता चैव, मित्रो वरुण एव च।
अंशो भगश्चादितिजा आदित्या द्वादशस्मृताः॥ १३२॥

जो बात महाभारत ने कही वही विष्णुपुराण ने कही (तथा अथर्ववेद ने इन नामों का कारण बड़ी ही उत्तमता से बता दिया है। जिसका उल्लेख हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं)

निरुक्त और अग्नि

निरुक्तकार श्री यास्क दैवत काण्ड में कहते हैं कि—

अथापि ब्राह्मणं भवति "अग्निः सर्वा देवताः" इति।
४। १७

तस्योत्तराभूयसे निर्वचनाय, इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः।
ऋ० १। १६४

धर्म्मः अर्कः शुक्रः ज्योतिः सूर्यः अग्नेर्नामानि।
शतपथ० ९।४।२।२५

रुद्र सर्वः शर्वः पशुपतिः, उग्रः, अशनिः भव महादेवः ईशान अग्नि रूपाणि कुमारोनवमः। शतपथ। ६।१।३।१८

अग्निर्वै स देवस्तस्मै तानि नामानि शर्व इति प्राच्या आचक्षते भव इति । शतपथ

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः । कौत्स्य ब्राह्मण । ७ । १

अग्निर्वै देवानामात्मा शतपथ १४।३।२।४

अग्निर्वै सर्वमाद्यम् । ताण्ड्य ब्राह्मण ।२५।९।३

इत्यादि अनेक प्रमाण इसकी पुष्टी करते हैं।

उपरोक्त प्रमाणों में 'वै' शब्द विशेष महत्व का है उसने ईश्वर की मान्यता का नितान्त निराकरण कर दिया है। क्योंकि वह कहता है कि ये सब नाम अग्नि के ही हैं. 'ही' ने अन्य वादों का खण्डन कर दिया है. इसलिये वेदों में वर्तमान ईश्वरवाद की गन्ध भी नहीं है।

अग्नि (ब्रह्मा)

त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्चनो दमे ॥

ऋ० मं० २ । १ । २

सब नाम अग्नि के हैं। सम्पूर्ण सूक्त सुन्दर है।

त्रिभिः पवित्रैरपु पोध्यर्कं हृदामतिं ज्योतिरनु प्रजानन् ।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादि द्यावा पृथिवी पर्यपश्यत्।८।

ऋ० मं० ३ सूक्त २६ । ८

अन्तःकरण द्वारा मनोहर ज्योति को भली भांति जानकर अग्नि ने तीन पवित्र स्वरूपों से पूजनीय आत्मा को शुद्ध किया है.

अग्नि ने अपने रूपों द्वारा अपने को अतीव रमणीय किया था तथा दूसरे ही क्षण द्यावा पृथ्वी को देखा था।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोजस्रो घर्म्मो हविरस्मि नाम।७।

मैं अग्नि जन्मसे ही सब कुछ जानने वाला हूं, घृत (प्रकाश) ही मेरा नेत्र है मेरे मुख में अमृत है मेरे प्राण त्रिविध हैं, मैं अन्तरिक्ष को मापने वाला हूं मैं अक्षय उत्ताप हूं, मैं हव्यरूप हूं।

यह सम्पूर्ण सूक्त बहुत ही सुन्दर है। द्रष्टव्य है।

इसी सूक्त के मन्त्र ३ में आये हुये युग शब्द का अर्थ स्वामी जी ने दिन किया है। सूक्त० २९ मन्त्र ३ में अग्नि को इलाका पुत्र बतलाया है। (अर्थात इला देशसे आया था, इलराजा चन्द्र वंश का प्रथम राजा पुरूरवा यहाँ आया था)

अमित्रायुधो मरुतामिव प्रयाः प्रथमजा ब्रह्मणो विश्वमिदं विदुः। द्युम्नवद् ब्रह्म कुशिकास एरिर एक एको दमे अग्निं समीधिरे॥ ऋ० मं० ३ सू० २९। १५

मरुतों के समान शत्रुओं से युद्ध करने वाले और ब्रह्मा से पहले उत्पन्न हुये कुशिक लोग निश्चय ही सम्पूर्ण संसारको जानते हैं। अग्नि को लक्ष्य करके मन्त्र बनाते हैं वे लोग अपने २ घर में अग्नि को प्रदीप्त करते हैं।

यह सूक्त भी सम्पूर्ण द्रष्टव्य है।

ऋग्वेद मण्डल ५ सूक्त ११ से २६ तक अग्नि का सुन्दर वर्णन है।

अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः ।
अग्निं होतारमीळते यज्ञेषु मनुषो विशः ॥ ऋ० ६।१४।२
त्वामीळे अध द्विता भरतो वाजिभिः शुनम् ।
ऋ० । ६ । १६ । ४ ।

भरत ने दो प्रकार से अग्नि की पूजा की। यह सम्पूर्ण सूक्त अच्छा है।

तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चमविद्वांसो विदुष्टरं सपेम । ऋ०
६ । १५ । १०

हम, सर्वज्ञ, शोभनांग, मनोज्ञमूर्ति, और गमनशील अग्नि देवका परिचरण करते हैं। (यह सूक्त भी सम्पूर्ण देखने योग्य है)

॥ इन्द्र ॥

इन्द्र अन्तरिक्ष का देवता है। तथा इसको यज्ञ का देवता भी कहा गया है।

इन्द्रो यज्ञस्य देवता । श० कां० ३ । ७ । ५ । ४

तथा यह देवताओं का राजा माना जाता है। इसको शतक्रतु भी कहते हैं। क्योंकि एक सौ अश्वमेधयज्ञ करने पर इन्द्रपद प्राप्त होता है।

यह दक्षिण तथा पूर्व दिशा का अधिपति है। (दक्षिणाविक् इन्द्रो देवता) तै० ३ । ११ । ५ । १

इन्द्र ने पानी के फेन से शस्त्र बनाकर नमुचि असुर का शिर काटा था।

इन्द्र और वृत्र का युद्ध अनेक बार हुआ है. तथा इन्द्र ने उसको पराजित किया है।

इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत् । ऐ० ४ । २२

तथा शतपथ में है कि वृत्रको मार कर इन्द्र महेन्द्र बन गये।

पारसी लोग इन्द्र के शत्रु थे उनके धर्म्म ग्रन्थ 'अवस्था' के १० वें फर्गादमें इन्द्रको पापमति कहा है। तथा इन्द्रके उपासकोंको देशसे निकालनेका आदेश दिया गया है। तथा ऋग्वेद मं० १।४में इन्द्रकेविरोधियोंको देशसे निकालनेका आदेश है। तथा च ऋग्वेद मं० ८। १००। ३ में कहा गया है कि नेम ऋषि ने कहा है कि— इन्द्र नाम का कोई देवता नहीं है उसे किसने देखा है।

नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह कई ददर्श ।

यहाँ नेम ऋषि कौन है यह विचारणीय है।

प्रसिद्ध वैदिक विद्वान रामानाथ सरस्वती का कहना है कि—

वृत्र' असीरिया का नामी सेनापति था।

अभिप्राय यह है कि—यह युद्ध और शक्ति का आदर्श देवता है। सोम (शराब) इसको अति प्रिय थी जहाँ कहीं सोम रसकी गन्ध आजाती थी वहीं यह आ धमकाते थे। मांस इनका सबसे प्रिय खाद्य पदार्थ था। इस प्रकार यह रजोगुण और तमोगुण प्रधान शक्तिशाली देवता है। इसका वर्ण क्षत्रिय माना गया है।

इन्द्रो वै देवानामो जिष्ठोवलिष्ठः ॥ कौ० ब्रा० ६।१४

अर्थात् देवों में इन्द्र ही अत्यन्त शक्तिशाली है। तथा श्रुतिमें कहा है कि—

त्री यच्छता महिषाणामघो मा स्त्रीसरांसि मघवा मो-
म्यापाः ॥ ऋ० ५ । २९ । ८

अर्थात हे इन्द्र ! तू तीनसो भैंसों का मांस खा जाता है और तीन तालाब सोमरस के पी जाता है। अन्य अनेक मन्त्र भी उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें इन्द्र का मांस आदि खानेका स्पष्ट तया कथन है। यही कारण है कि इसको घोर भयानक देवता माना जाता था। यथा—

यं स्म पृच्छंति कुहसेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
ऋ० २ । १२ । ५ ॥

इसी इन्द्र को देवता मानने पर आर्य जाति में परस्पर कलह उत्पन्न हुआ। क्योंकि प्रथम सब देवता सात्विक और अहिंसक और भलाई के देवता थे। पूर्वोक्त मन्त्र में इन्द्र विरोधियों में नेम ऋषि का नाम आया है. यदि वे जैनतीर्थंकर नेमीनाथ थे तो कहना होगा कि यह कलह अहिंसा और हिंसा के सिद्धान्तपर अवलम्बित थी। क्योंकि इन्द्र हिंसाकी प्रतिकृति है। *

निरुक्त और इन्द्र।

'इन्द्रः' इरां दृणाति इति वा ।
इरां ददाति, इति वा ।

* मत्स्य पुराण अ० ४२ में इन्द्र को ही हिंसक यज्ञोंका आविष्कर्ता लिखा है। तथा ऋषियों का और देवोंका इस पर महान कलह हुआ था। इसका वर्णन प्रमाण सहित आगे लिखेंगे।

इरां दधाति, इति वा ।
इरां दारयते—इति वा ।
इन्दवे—द्रवति इति वा ।
इन्दौ, रमते इति वा—
इन्धे भूतानि इति वा ।
इदं करणात्-इति आग्रायणः ।
इदं दर्शनात्—इति औपमन्यवः ।
इन्दते वा ऐश्वर्य कर्मणः ।
इन्दन शत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा ।
आदरयिता वा यज्वानाम् ।

अर्थ—'इरा' नाम अन्न का है, अतः जो अन्न दाता है, तथा अन्न का धारक है अथवा अन्न को विदीर्ण करता है वह इन्द्र है। अथवा इन्दवे जो सोम के लिये चलता है, सोम में रमण करता है। वह इन्द्र है।

तथा प्राणियों को द्युतिमान करता है वह इन्द्र है।

एवं आग्रायण ऋषि का मत है कि इदं, इसने यह शरीर रचा है इसलिये इसका नाम इन्द्र है। अर्थात् जीवात्मा.

औपमन्यवों का कथन है, आत्मद्रष्टा होने से इन्द्र है।

तथा ऐश्वर्यवान होने से उसका नाम इन्द्र है,

अथवा शत्रुओं को दारण करने से या भगादेने से यह इन्द्र हुआ है।

एवं यजमानों (याज्ञिकों) का आदर करने वाला है, इसलिये इन्द्र है।

तद् यदेनं प्राणैः समैन्धं स्तादिन्द्र स्येन्द्र त्वम् ॥

प्राणों के अधि देवताओं ने इसे सन्दीपन किया है इस लिये यह इन्द्र है।

ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि—

स जातोभूतान्यभिव्यैख्यत किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिति ॥१३॥

तस्मादि दन्द्रो नामेन्द्रो हवैनाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्या चक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥१।३।१४

इस शरीर में प्रवेश करके आत्मा ने भूतों (प्राणों) को तादात्म्य भाव से ग्रहण किया। तथा आत्म ज्ञान होने पर यहाँ मेरे सिवा अन्य कौन है उसने ऐसा कहा। और मैंने इस अपने आत्म स्वरूप को देख लिया है। इस प्रकार इसने अपने को ही ब्रह्मरूप से देखा ॥ १३ ॥

क्योंकि उसने इस आत्मब्रह्म का दर्शन किया इसलिये उसका नाम इदं-द्र. प्रसिद्ध हुआ। इसी "इदंद्र" को ब्रह्मज्ञानी लोग परोक्षरूप से इन्द्र कहते हैं। क्योंकि देवता-परोक्ष प्रिय होते हैं ॥१४॥

यही भाव औपमन्यवोंका है। जिसको निरुक्तकार ने उद्धृत किया है।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों में ऐसा ही वर्णन है। अतः वेदों में आत्मद्रष्टा अथवा ब्रह्मज्ञानीका नाम भी इन्द्र आया है। इसी प्रकार आत्मा. प्राण. इन्द्रिय. वायु. आदित्य. राजा. सेनापति आदि ऐतिहासिक अर्थ में भी इन्द्र का वर्णन है।

आर्य जाति की अन्य सभी शाखाओं में दूसरे सब देवताओं के नाम पाये जाते हैं परन्तु इन्द्र का नाम प्राय वेद में ही पाया जाता है। 'जेन्द अवस्था' में इन्द्र को चोर और लुटेरा कहकर उनकी निन्दा की गई है। इन्द्र की एक उपाधि 'वृत्रघ्न' भी है यह उपाधि उसको बाद में दी गई। ईरानी लोग 'वृत्रघ्न' देवताओंको मानते थे. 'जेंद अवस्था' में इसकी पूजा की विधि है। अतः यही आरोप, बाद में इन्द्र के लिये भी कर दिया गया है। जो लोग इन्द्र के विरोधी थे उनमें बनिये लोग बड़े निरीह थे। वे लड़ाई झगड़ा अधिक पसन्द न करते थे. चुपचाप धन जमा करते थे. उनमें अधिक जन मांस न खाते थे. गो जाति की सेवा करते थे क्योंकि यह पशु इन्हें घी' दूध' खूब देते थे। इन्द्रका एक खास काम यह था कि वे बराबर उनकी गायें चुरा ले जाया करते थे। वे ब्राह्मणों को दान नहीं देते थे. इसलिये ऋषि लोग भी प्रायः उनसे नाराज रहते थे। अब जान पड़ता है कि उस समय के आर्य और अनार्य समाज में एक ऐसा दल था जो यज्ञ आदि का विरोधी और ब्राह्मणों में भक्ति न रखने वाला था। (वैदिक भारत में रायसाहब दिनेशचन्द्रसेन)

इन्द्र भ्रम में पड़ जाता है।

कदाचन प्रयुच्छस्यु भे निपासि जन्मनी ॥

ऋ० मं०८। ५२। ७

अर्थात्—हे इन्द्र! तुम कभी कभी भ्रम में पड़ जाते हो?

अतः इन्द्र को ईश्वर मानने वालों को ईश्वर में भी यह गुण मानना पड़ेगा।

अश्विनौ ।

अश्विनीकुमार भी वैदिक देवताओं में मुख्यदेव है। अतः उन पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है। निरुक्तकार कहते हैं कि— द्युस्थानी देवों में अश्विनी प्रथम है।

तत्कावश्विनौ ? द्यावा पृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके । सूर्याचन्द्रमसावित्येके । राजानौ पुण्यकृतावित्यैति हासिकः ।

अर्थात्, द्यावापृथिवी का नाम अश्विनौ है यह एक मत है। अन्य ऋषियों का कथन है कि—

दिन रात का नाम अश्विनौ है। तथा अन्य सूर्य, चन्द्रमा का नाम बताते हैं।

ऐतिहासिक ऋषियों का कथन है कि अश्विनौ पुण्यात्मा राजा हुये हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं कि—

श्रोत्रे अश्विनौ । नासिके अश्विनौ ॥ शत० १२।६।१।

अश्विनौ वै देवानां भिषजौ ॥ ऐ० १ । १८

स योनी वा अश्विनौ ॥ शत० ५ । ३ । १ । ८

गर्दभरथेनाश्विना उदजयताम् ॥ ऐ० ४ । ६ ॥

ऋ० १ । ११६ में भी

अर्थात्—श्रोत्र व नासिका आदि का नाम अश्विनौ है।

ये अश्विनौ देवों के वैद्य हैं। तथा ये सजात हैं। एवं गर्दभ इनके रथ के वाहन हैं। तथा शतपथ में लिखा है कि—अश्विनौ-

कुमार, दध्यंग, ऋषि के गये और उनसे कहा कि आप हमको मधु विद्या सिखा देवें। ऋषिने कहा कि यदि यह विद्या सिखाऊंगा तो इन्द्र मेरा सर काट लेगा उसने ऐसा ही कहा है। इन्होंने ऋषि का सर काट कर किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर रखदिया और उसकी जगह अश्व का सर लगा दिया ऋषि ने उस अश्वमुख से अश्विनी कुमारों को मधु विद्या पढ़ा दी, जब इन्द्र को ज्ञात हुआ तो इन्द्र आया और ऋषि का अश्व सिर काट दिया, इस पर अश्विनी कुमारों ने दध्यंग का असली सर पुनः जोड़ दिया।

श० १४।१।१

वेद में भी यह इतिहास आया है।

आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्वयं शिरः प्रत्यैरयतम् ॥

ऋ० । १ । ११७ । २२

अर्थ—हे अश्विद्वे आप अथर्वपुत्र दधीची के अश्व का शिर जोड़ते हैं।

अन्य स्थानों में भी ऐसा ही उल्लेख आया है तथा च वेद में लिखा है कि—

सद्यो जंघा मायसीं विश्पलायै ॥ ऋ० १।११६।१५

इसके भाष्य में श्री सायणाचार्य लिखते हैं कि- खेल नामका एक सुप्रसिद्ध राजा था, विश्पला क्षत्राणी उसकी सेनापति थी संग्राम में उसकी जंघा टूट गई, इसपर अश्विनौ ने एक लोहे की जंघा लगा दी इसपर यह विश्पला पुनः पूर्ववत संग्राम करने लगी।" मूल मन्त्र में भी राजा खेल के संग्राम का ही कथन है। इस प्रकार अनेक मन्त्रों में अश्विनौ देवों का वद्यरूप में वर्णन किया है। अतः सिद्ध है कि यह सुप्रसिद्ध वैद्य थे। भारत में

वैद्यक विद्याके आविष्कर्ता ये ही माने जाते हैं। नासत्यौ भी इनका नाम है।

अश्विनौ के सम्बन्धमें निम्न लिखित बातें वेदमें हैं।

(१) वृद्ध च्यवन ऋषि को इन्होंने युवा बना दिया था।

(२) समुद्र पतित भुज्यु को समुद्र से पार उतारा।

(३) पानी में पड़े हुये रेभ को अच्छा किया और उसको बाहर निकाला।

(४) एक वर्त्तक की वृक से रक्षा की।

(५) खाई में पड़े हुये अत्रि को अन्धकार से बाहर निकाला।

(६) वध्रीमति को हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्रदान किया।

(७) शय्यु की वृद्ध गाय को पुनः दूध देने वाली बना दिया।

(८) यदु को एक घोड़ा दिया। इत्यादि।

ग्रीसमें—कैस्टर और पोलक नामके दो देवता माने जाते हैं। ये दोनों प्रकाश और अन्धकार के देवता हैं।

सूर्य (आदित्य)

अथर्ववेद के १३ वें कांड में सूर्य का वर्णन अतीव सुन्दर ढंग से हुआ है, अतः हम यहाँ उसका सारांश देना आवश्यक समझते हैं। क्योंकि उससे सूर्य देवता विषयक बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। इस कांड के प्रथम सूक्त में रोहित नाम से सूर्य का कथन है। वहां लिखा है कि—(१) रोहित ने द्यावो भूमि को उत्पन्न किया तथा परमेष्ठी ने तन्तु को विस्तृत किया।

(रोहितो द्या पृथिवींजजान, तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान॥६॥)

(२) रोहित (उदय होते हुये सूय) से देवता. सृष्टि की रचना करते हैं।

(तस्माद् देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते ॥ २५ ॥)

(३) सूर्य के सात हजार जन्मों का वर्णन करता हूं।

(४) सूर्य. अन्तरिक्ष में रहते हुए भी यहाँ के पदार्थों को जानते हैं।

(५) देवता पूर्वकाल में इसको ब्रह्म जानते हैं।

पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥

(६) वह सब ओर मुख वाला. और सब ओर हाथों वाला व हथेलियों वाला है। वह अपनी दोनों भुजाओं से इकट्ठा करता है. पंखों से बटोरता है। उसी एक सूर्य देवने द्यावापृथिवी को उत्पन्न किया है।

(द्यावा पृथिवीं जनयन् देव एकः ॥ २ । २६)

(७) यह जगत का आत्मा है, मित्र. वरुण. अग्नि आदि देवों का चक्षु है।

(सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ २ । ३६ ॥)

(चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ ॥–॥)

(८) सूर्य सर्व व्यापक और सबका द्रष्टा व ज्ञाता है ॥ ४४ ॥

(९) सूर्य से सब प्राणी जीते हैं वही सबको मारता है।

(मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वाः ॥ ३ । ४ ॥)

(१०) जिसमें प्रजापति, विराट परमेष्ठी अग्नि, वैश्वानर, आदि सब देवता पंक्ति, सहित विराजते हैं।

(यस्मिन् विराट परमेष्ठो प्रजापति रग्निर्वैश्वानरः सह पंत्याश्रितः ॥ ३ । ५ ॥)

(११) वह वरुण है, वही सायंकाल अग्नि हो जाता है, वह प्रातःकाल मित्र होता है, वही सविता होता है, वही मध्यान के समय इन्द्र होता है।

(स वरुणः सायमग्निर्भवति, समित्रो भवति प्रातरुद्यन् ॥ ३ । १३ ॥)

वही धाता, विधाता, अर्यमा, वरुण, रुद्र तथा महादेव है।

स धाता विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः समहादेवः । सोऽग्नि स उ सूर्य स उ एव महायमः । ४ । ३—५

(१२) उसी से ऋचायें आदि लोक लोकान्तर आदि सब उत्पन्न हुये हैं।

(१३) वह दो, तीन, चार आदि नहीं होता, वह एक ही है।

(स एष एक एक वृदेक एव ॥ ४ ॥ २०—)

सूर्य पूजा का प्रचार

सूर्योपासना का आज कोई विशेष सम्प्रदाय नहीं है तो भी सूर्य की पूजा में लोगों का भारी विश्वास पाया जाता है। रोग दुःख नाश के लिये भाषाके 'सूर्यपुराण' के पाठ करने वाले अनेक दृष्टिगत होते हैं और कुछ ब्राह्मण पंडित दोपहर में गायत्री पाठके

साथ सूर्य को जलांजलि दे बंदना करते मिलते हैं। सूर्य का व्रत भी रक्खा जाता है और छठ-व्रत भी सूर्य की ही एक पूजा है, क्योंकि सूर्योदय और सूर्यास्त के बिम्बों को अर्घ्य प्रदान करना उस व्रत की विशेषता है। आनन्दगिरि ने दिवाकर नामक एक सूर्योपासक के साथ दक्षिण में सुब्रह्मण्य स्थान पर शंकर के शास्त्रार्थ का वर्णन किया है। इससे शंकर के समय में सूर्योपासना का प्रचलन सिद्ध होता है। वैदिक ग्रन्थों में भी सूर्यपूजा के आधुनिक रूप से मिलते जुलते वर्णन मिलते हैं। कौषीत की ब्राह्मणोपनिषद् में आदित्य ब्रह्म की उपासनाके अलावा दीर्घायु सम्पादक सूर्य की पूजा का वर्णन है। तैत्तिरीय आरण्यक में मंत्र के साथ सूर्य को जल देने और "असौ आदित्यो ब्रह्म" कहते उपासक के शिर के चतुर्दिक जल फेंकने का विधान है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भोर में चक्का निकल आने तक और सांझ का चक्का डूब कर तारे चमक उठने तक गायत्री मन्त्रोच्चारण करना लिखा है और उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मधर्म लक्षण संयुक्त होने पर बालक को सूर्य की ओर देखने का विधान है। खदिर गृह्यसूत्र में लिखा है कि धन और कीर्ति के लिये सूर्य की पूजा की जाय। फिर ईसा की ७ वीं शताब्दी तक प्रयाग से मुलतान तक के भिन्न २ स्थानों में सूर्योपासना के प्रचारके प्रबल प्रमाण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर १३ वीं शताब्दी तक सूर्यपूजा का प्रस्तार स्वीकार करना पड़ता है।

ईसा के बाद ७ वीं शताब्दी में सूर्योपासना को राज धर्म्म सम्मान प्राप्त होने के प्रमाण मिलते हैं, और इस कारण उसके विशेष प्रचार की भी सम्भावना प्रतीत होती है। इनके तीन मुख्य प्रमाण हैं। पहला प्रमाण है हर्ष वर्द्धन के पिता प्रभाकर वर्द्धन व पूर्वजों का परमादित्यभक्त होना, जो सोनपाट की कुछ ताम्रमुद्रा,

वंशखेरा और मधुवन के लेख से सिद्ध है। दूसरा प्रमाण है स्वयं हर्ष वर्द्धन द्वारा प्रयागोत्सव के अवसर पर दूसरे ही दिन अपने कुलदेव सूर्यकी मूर्तिका पूजा-सम्पादन, जो ऐतिहासिकों द्वारा स्वीकृत है। तीसरा प्रमाण है प्रसिद्ध संस्कृत-कवि मयूर द्वारा सूर्यशतक की रचना, जिसमें सूर्यकी महती महिमा का वर्णन है और जिसकी रचना का मुख्य प्रयोजन तत्कालीन सूर्योपासनाकी विशेषता को सुरक्षित करना प्रतीत होता है। सूर्योपासना में महान विश्वास का प्रमाण इस किम्वदन्ती में मिलता है कि सूर्य शतक के छठे श्लोक 'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्त-घोषान्'......के समाप्त करते ही सूर्य ने साक्षात् होकर श्वेत धर्म रोग-ग्रस्त मयूर को वर मांगने को कहा. सूर्य-माहात्म्य की धारणा का भी परिचय सूर्यशतक में की गई सूर्य प्रशंसासे प्राप्त होता है। मयूर ने अपनी स्तुतियों में सूर्य की तुलना शिव, विष्णु और ब्रह्मा से की है और दिखलाया है कि संसार-कल्याण में जितना स्वकार्य में कृतपरिकर भगवान भास्कर हैं, उतना शिव विष्णु ब्रह्मादि में कोई भी नहीं। आगे सूर्य का वेद त्रितयमयत्व, सर्वव्यापकत्त्व ब्रह्मा-शंकर-विष्णु-कुबेर-अग्नि से समत्व और सर्वाकारो परत्व का वर्णन किया गया है। सूर्यशतक के ऐसे प्रभावात्मक वर्णन का स्वाध्याय १६ वीं शताब्दी तक सूर्य-पूजकों द्वारा किया जाता रहा और प्रमाण मिलता है कि मयूर के सूर्य-शतक के ही नाम पर चार और सूर्य शतक पीछे के कवियों द्वारा लिखे गए। उनमें राघवेन्द्र सरस्वती, गोपाल शर्म्मा और श्रीश्वर विद्यालंकारने संस्कृत में रचना की, पर दक्षिण निवासी के. आर. लच्छन ने तेलुगु में सूर्य स्तुति की। निश्चय ही यह ७ वीं सदीकी सूर्य-पूजा-प्रेम का प्रभाव था जो वर्षों बाद तक बना रहा जिसके प्रमाण ग्रन्थ शिलालेख व मूर्तियां में संरक्षित हैं।

८ वीं शताब्दी में भी सूर्योपासना का पर्य्याप्त प्रभाव था, क्योंकि वैदिक मर्यादा की रक्षा की रक्षा को प्रस्तुत भवभूति को भी अपने 'मालवीय माधव नाटक' में सूत्रधार से 'उदित-भूयिष्ठ एव भगवान शेष भुवन द्वीप दीपः तदुपतिष्ठते' कहलाते विघ्न-शान्त्यर्थ उदित सूर्य की स्तुति कराने की अभिरुचि हुई. पश्चात् १०२७ ई० तक के भिन्न २ स्थानों में प्राप्त शिलालेख तथा ताम्रपत्र भी उन २ स्थानों में सूर्योपासना का प्रचार प्रमाणित करते हैं। १२ वीं और १३ वीं शताब्दी की सूर्य मूर्तियों से भी तत्कालीन प्रचार का प्रमाण मिलता है और ऐसी मूर्तियों में राज महल, संथाल-परगना व बंगालकी सूर्य प्रतिमाएँ, कोनारकके सूर्य मंदिर का सूर्य रथ और सिलोन के पोलोन्नारुवा की सूर्य मूर्तियां अपना विशेष महत्व रखती हैं। इन बिखरी सामग्रियों से भारत भर में तथा सिलोन में भी सूर्योपासना के प्रचलन का पक्का प्रमाण मिलता है। और बोध होता है कि पुरातनकालसे १३ वीं शताब्दी तक सूर्य की पूजा भारत में जारी रही और इसका भी आधार वैदिक विचार ही रहे। १३ वीं शताब्दी से भक्तिवाद का प्रवाह प्रबल वेग से भारत के प्रत्येक भाग की ओर प्रवाहित हुआ और उसके प्रभाव से कालान्तर में शैवमत व तांत्रिक कृत्यों की भांति सूर्योपासना की ज्योति भी मन्द प्रभ हो गई।

भण्डार कर महोदय ने वराहमिहिर, भविष्यपुराण और गयाजिलान्तर्गत गोविन्दपुर के ११३७–३८ ई० के एक शिलालेख के आधार पर भारतीय सूर्योपासना को बाह्य प्रभाव से ग्रस्त होने की धारणा प्रतिपादित की है. लेकिन शाकद्वीपीमर्गी पार्सियों के मिहिर और मूर्तियों के घुटने तक की पोशाक द्वारा बाह्य प्रभावका समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि मगियों का इतिहास निश्चितरूप से ज्ञात नहीं पार्सियों का मिहिर वैदिक 'मित्र' का ही

रूपान्तर है और मूर्तियों के घुटने तक पोशाक से ढके रहने का चित्रण उत्तर भारत की स्वतन्त्र कल्पना भी हो सकती है। पुनः संहिता-काल में ही सूर्य स्तुतिका जैसा प्रबल भाव आर्यों में विद्यमान था वह कदापि सहज में विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में सूर्यकी अनेक स्तुतियाँ मिलती हैं।

'आप्रा द्यावा पृथिवी अंतरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

द्वारा सूर्य चराचर की आत्मा भी समझा गया है और सूर्य के उदय व अस्तकाल की लुभावनी छटाओं तक की पृथक २ स्तुतियाँ ऋग्वेद में मौजूद हैं। उषा, सविता, आदित्य, मित्र वरुण मार्त्तण्ड और विष्णुका सम्बन्ध सूर्य से कुछ कम नहीं रहा और न सूर्य द्वारा पापमोचन के भाव का ही अभाव संहिता-काल में था। कुछ मन्त्रों में उपासकों का स्पष्ट स्तुति है कि नवोदित सूर्य उन्हें मित्र-वरुणादि पर निष्पाप प्रकट करें। ऋग्वेद में ऐसी भी अनेक ऋचाएं मिलती हैं जिनसे सूर्य के जगतात्मा, सर्वद्रष्टा निष्पक्ष द्रष्टा व विश्वरूप होने के दृढ़ भावों के समाज में विद्यमान होने का बोध होता है। वैसी धारणाएं उपनिषद् काल तक प्रचलित रहीं, क्योंकि छान्दोग्य ने सूर्य को लोकद्वार माना है और कठ ने उसके सम्बन्ध में कहा है कि—

"सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः।"

जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद् का कथन है कि सूर्य द्वारा ही कोई भव-पाश-रहित होता है, जिसके बाद पंचविंश ब्राह्मण के अनुकूल सुदूरस्थ स्थान को देवयान-पथ द्वारा प्राप्त होता है। और तब छान्दोग्यानुकूल वह अमानव पुरुषरूप मुण्डक के

'अप्रणाह्यमनाःशुभः'

के लोक को प्राप्त होता है। गौतम बुद्ध के समय में भी सूर्य की ऐसी ही प्रधानता बनी रही जिसका सादृश्य गौतम के व्यक्तित्व तथा उपदेश में भी घटित करने का प्रयास उनके अनु-

याज्ञियों द्वारा किया गया। गौतम ने लोक दुःख से रहित होनेका यत्न किया और वह निष्पक्ष भाव से लोकोपकार को प्रस्तुत हुए। उनने निर्वाण-प्राप्ति की शिक्षा देकर अपने को लोकोद्धार सिद्ध किया और बोधि-सत्वोंके रूपमें अपना विश्वरूप प्रदर्शित किया। इसी कारण उस आदित्य-बंधु बुद्ध को 'दीर्घनिकाय' ने 'लोक चक्षु' कहा और लंकावतार सूत्र ने उपमा रची—

"उदेति भास्करो यद्वत्समहीनोत्तमेजिने"

इस सिद्धान्त का समर्थन बुद्धमतानुचर विपुलश्री मित्र के १२ वीं शताब्दी के शिलालेख द्वारा भी होता है।

अतः सूर्य के विश्व चक्षुसमर्थलाभका बोध भारतीय आर्यों को अति प्राचीन काल में हृदयंगत हुआ और कालान्तर में भी आर्य वंशज उसे न भूले। जो सूर्य-सम्मान संहिता काल में प्रारम्भ हुआ वह आर्य-वंशजों के समाज में बराबर बना रहा और सूर्योपासकों का बाहुल्य ब्राह्मण उपनिषद् सूत्र तथा बौद्ध मत कालों तक बना रहा। पर्सिया, एशियामाइनर और रोममें भी सूर्योपासना के प्रचार के प्रमाण मिलने के कारण उन देशों से भारतीयों में आदित्य-पूजा भाव के प्रवेश करने का निष्कर्ष उपर्युक्त प्रमाणों के रहते कदापि मान्य नहीं हो सकता। सूर्य द्वारा विश्वलाभ की उस सनातन प्रतीति का भक्तिवाद के कुछ ह्रास होते देखकर ही १७ वीं शताब्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने उसकी रक्षा की ओर कुछ ध्यान दिया और अपने इष्टदेव राम को पद पद पर भानुकुल भूषण कह कर भानुकुल और विष्णु के ऐक्य की रक्षा की।" *

---

* श्री पं० रामावतार शर्मा द्वारा लिखित 'भारतीय ईश्वरवाद' से उद्धृत।

देव अथवा देवता

जिनको उद्देश्य करके द्रव्याहुति दी जाती है वे देव हैं। देव कहिये देवता कहिये, है एक ही बात। मुख्य देवता तीन हैं अग्नि, वायु और सूर्य। शेष सब देवता इन्हीं के अंग प्रत्यङ्ग हैं।

तेंतीस देवता

ऐतरेय ब्राह्मणकार तेंतीस देवताओं को मानते हैं वह इस प्रकार—आठ वसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार—इन तेंतीस देवताओं के भी दो गण हैं १—सोमप देवता २—असोमप देवता। पूर्वोक्त आठ वसु आदि सोमप देवता हैं। एकादश प्रयाज, एकादश अनुयाज, एकादश उपयाज ये तेंतीस असोमप देवता हैं।

सोमप—परिचय

वसु—(८) आदित्य रश्मियाँ आदि (निरुक्त) अथवा पार्थिवाग्नि, वैद्युताग्नि और सूर्याग्नि और इनके अवान्तर भेद मिलाकर आठ अग्नियें। तैत्तिरीयारण्यक में पार्थिवाग्नि के ही आठ भेद माने गये हैं। शतपथ, १—अग्नि, २—पृथिवी, ३—वायु, ४—अन्तरिक्ष, ५—आदित्य, ६—द्यौ, ७—चन्द्रमा, ८—नक्षत्र, इनको वसु मानता है। इन्हीं के आधार से प्राणि मात्र जीवन व्यतीत करते हैं—

रुद्र—(११) वायु विशेष। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, देवदत्त कृकल, नाग कूर्म धनञ्जय ये दश प्राण और आत्मा। (शतपथ) जब ये शरीर से निकलते हैं तब प्राणी मात्र

छटपटाने लगता है। प्राण वियोग से अर्थात मृत्यु से इष्ट मित्र सम्बन्धी आक्रोश करने लगते हैं, इसलिये इनका नाम रुद्र है जो रुलाते हैं—कोई आन्तरिक्षस्थ वायु विशेष के ही भेद मानते हैं— (तैत्तरीयारण्यक)

आदित्य—(१२) सूर्य विशेष—दिन के प्रति घंटेका एक एक इस प्रकार बारह आदित्य, अथवा बारह मासके बारह सूर्य। (निरुक्त शतपथ)—वे बारह आदित्य ये हैं १—सविता, २—भग ३—सूर्य, ४—पूषा ५—विष्णु ६—विश्वानर, ७—वरुण ८—केशी, ९—वृषाकपायी, १०—यम ११—अजएकपाद्, १२—समुद्र। कहीं आठ आदित्य का भी उल्लेख है। 'इमागिरः' (ऋ० २—२७—१) में सात आदित्यों दिये गये है और सप्तभिः पुत्रैः (ऋ० १०—७२—८) में मार्तण्ड नामक आदित्य आया है।

प्रजापति—परमेश्वर (निरुक्त) कहीं संवत्सर' को भी प्रजापति कहा गया है। सूर्य (ऐतरेय) अग्नि (तैत्तरीय) कहीं रूप मान, मन और यज्ञको संवत्सर बतलाया है। मीमांसाकार 'शबर' वायु आकाश आदित्य इन तीनों को संवत्सर मानते हैं।

वषट्कार—वौषट् का नाम वषट्कार है—जिस देवताके लिये हवि दी जाती है उस देवता का मन से ध्यान करना ही वषट्कार है (निरुक्त) क्योंकि उसके प्रसन्न होने से सब अभिवांछित फल मिलते हैं (ऐतरेय) शतपथ में वषट्कार नहीं है—वहां 'इन्द्र' को माना है—कहीं द्यौ और पृथ्वी को माना है।

असोमपा, परिचय

तैत्तिरीयारण्यक में निम्नलिखित तेतीसों को असोमप माना है—समिधः २—तनूनपात् अथवा नराशंसः ३—बर्हिः

४–उषासानक्ता ५–दैव्यौ होतारौ ६–त्रिस्रोदेव्यः ७–त्वष्टा ८–वनस्पति ९–स्वाहा कृतयः—

प्रधानयाग के प्रारम्भ में जो ग्यारह आहुतियाँ दी जाती हैं उसका नाम प्रयाजयाग है। जिनसे देव प्रसन्न होते हैं इसी लिये इनका नाम आप्रीः है—बारह मन्त्र हैं और बारह ही प्रधान देवता—१–इध्म (समिधाएँ) २–तनूनपात (आज्य) ३–नराशंस (यज्ञ) ४–इड (यज्ञि अग्नि)५–वर्ति (कुश) ६–द्वार (गृहद्वार आदि) ७–उषासानक्ता (अहोरात्र) ८–दैव्यौहोतारौ (पार्थिव और वैद्युत् अग्नि) ९–तिस्रो देव्यः (इडा,भारती सरस्वती) १०–त्वष्टा (रूपकृद्-वायु) ११–वनस्पति (यूप = यज्ञ के खूँटे) १२–स्वाहाकृति (स्वाहा-कार)—यद्यपि मन्त्र और देवता बारह हैं तथापि तनूनपात् और नराशंसको एक मान कर ग्यारह ही होंगे। प्रधानयाग के पश्चात जो ग्यारह आहुतियाँ दी जाती हैं वे हैं अनुयाजयाग–वर्तिः, द्वारः उषासानक्ता, जोष्ट्री, दैव्यौहोतारौ, तिस्रोदेव्यः नराशंसः वनस्पतिः बर्हि स्विष्टकृत—

इनमें बर्हिः शब्द दो बार आया है-इसलिये उसके दो विशेष भेद मानने चाहियें—

उपयाज देवता ये हैं–समुद्र, अन्तरिक्ष, सविता अहोरात्र मित्रा वरुण, सोम, छन्द, द्यावापृथिवी, दिव्यनभ, वैश्वानर—ऋग्वेद में प्रधान तीन ही देवताएं हैं, अग्नि, वायु, आदित्य । पृथिव्यादि गौण देवता हैं और इध्मादि पारिभाषिक देवता हैं।

(ऋग्वेदालोचन से)

—:*:—

कर्मदेव और अजान देव।

देवताओं के अन्य प्रकार से भी दो भेद किये गये हैं। यथा-

(१) कर्मदेवा.-कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्म देवाः॥

अर्थात् अश्वमेध आदि शुभ कर्मों से जिन्होंने देवपद (देव-योनि) को प्राप्त किया है वे कर्म देव हैं।

(२) आजानदेवाः.-सूर्यादय आजानदेवाः।

(आचार्य महीधर)

यजुर्वेद अ० ३१ मन्त्र १७ के भाष्य में महीधर ने सूर्य आदि को आजानदेव माना है। इसमें कर्म देवों से आजान देव श्रेष्ठ माने गये हैं। तै० ३०२।८

ये शतं देवानामानन्दाः, स एको देवाना मानन्दाः।

तथा यहां 'आजानजः' देव भी माने गये हैं, जिसका अर्थ श्री शंकराचार्यजी ने

("आजान इति देव लोकस्तस्मिन् आजाने जाता आजानजा देवाः स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जाताः। कर्म देवा, ये वैदिकेन कर्मणाग्नि होत्रादिना केवलेन देवानपि यन्ति। देवा इति त्रयस्त्रिंशद् हविर्भुजा इन्द्रस्तेषां स्वामी तस्याचार्यो बृहस्पतिः।")

आजान नाम के देवलोक में उत्पन्न होने वाले किया है। ये स्मार्तकर्म से देव बनते हैं, तथा वैदिक यज्ञादि के द्वारा

कर्म देव बनते हैं। इसलिये 'आजानज' देव कर्म देवों से निकृष्ट हैं, तथा कर्म देवों से सूर्य आदि देव श्रेष्ठ हैं। इन सूर्य आदि ३३ देवों का स्वामी इन्द्रदेव है, तथा इसका आचार्य बृहस्पति है। अभिप्राय यह है कि एक तो कर्म देवता हैं जिनको देवयोनि कहते हैं, उनके दो भेद हैं एक स्मार्तकर्मोत्पन्न और दूसरे श्रौतकर्मोत्पन्न। तथा अन्यदेव सूर्य आदि ३३ देव हैं जिनकी स्तुति आदि वेदों में की गई है।

"साध्यदेव"

इनसे पृथक् साध्यदेव होते हैं। अर्थात् जो देव बनने के लिये प्रयत्न करते हैं वे योगी आदि साध्यदेव कहलाते हैं। यजुर्वेद अ० ३१। १६ के भाष्य में आचार्य उवट ने लिखा है कि—

एवं योगिनोऽपि दीपनाद् देवाः, यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपम् अयजन्त। तथा च प्राणा वै साध्या देवास्त एतं (प्रजापतिं) अग्र एवमसाधयन् ॥

श० १०। २। २। ३

इस प्रकार साध्य देव का अर्थ योगिनः किया है। अथवा प्राण का नाम साध्य देव है क्योंकि उन्होंने प्रजापति को सिद्ध किया था। अर्थात् प्राणायाम आदि तप के द्वारा प्रजापति पद प्राप्त होता है। तथा च निरुक्तकार कहते हैं कि—

"साध्या देवाः। साधनात्। द्युस्थानोदेवगण इति नैरुक्ताः। पूर्वं देवयुगम् इति आख्यानम्।

अर्थात् साधनासे साध्यदेव हैं। एवं द्युस्थानीय देवगण साध्य

देव हैं, यह नैरुक्तों का मत है। और ऐतिहासिक कहते हैं कि ये प्रथम युग के देवता हैं। तथा रश्मी के नामों में भी "साध्याः" नाम रश्मियों का है। अतः रश्मी प्राण आदि का नाम भी साध्य देव है।

सर्वानुक्रमणी में महर्षि कात्यायन ने लिखा है कि—

एकैव महानात्मा देवता, स सूर्य—इत्याचक्षते, स हि सर्व भूतात्मा। तदुक्तम् ऋषिणा सूर्यात्मा जगतस्तस्थुषश्चेति। तद् विभूतयो अन्याः देवताः तदप्येतद् ऋचोक्तम्। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरिति॥ २०॥

अर्थात्—एक ही महानात्मा देवता है, वह सूर्य है, यही ऋषि ने कहा है कि इन सबका सूर्य ही आत्मा है। अन्य सब देव इस सूर्यकी ही विभूतियाँ हैं, जैसा कि वेद ने कहा है। अग्नि, मित्र, वरुण आदि अग्नि को ही कहते हैं।

तथा च ऐतरेयोपनिषद् भाष्यमें श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैंकि-

"यथा कर्म संबन्धिनः पुरुषस्य सूर्यात्मनः स्थावर जंगमादि सर्वप्राण्यात्मत्वमुक्तं ब्राह्मणेन मन्त्रेण च (सूर्यात्मा, ऋ० १। ११५। १) इत्यादिना तथैव एष ब्रह्मैष इन्द्रः (३। १। ३) इत्याद्युपक्रम्य सर्व प्राण्यात्मत्वम्, 'यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् (३।१।३) इत्युप सं हरिष्यति"

अर्थ—"जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थमें और मन्त्र में, (सूर्यात्मा जगतस्तस्थुषश्च) इस वाक्य द्वारा सूर्य के आत्मभाव को प्राप्त हुए (सूर्य मंडलान्त वर्ती) कर्म सम्बन्धी पुरुष को स्थावर जंगमादि सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा बतलाया है, उसी प्रकार श्रुति

'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' इत्यादि मन्त्रों से सर्व प्राणियों के आत्म स्वरूपत्व का उपक्रम कर उसका 'यच्च स्थावरम्' इत्यादि वाक्य द्वारा उपसंहार करेगी।"

आपने भी यहां सूर्य का अर्थ ईश्वर नहीं किया है, अपितु सूर्य मंडलास्थित जीव किया है। तथा च 'नीति मंजरी' में भी सर्वानुक्रमणी का (एकैव महानात्मा देवता) वाक्य लिख कर लिखा है कि—

"कीदृशं सूर्यं अत्रि मोचितम्। सूर्यं पूर्वं स्वर्भानुना असुरेण यस्त्रस्त आसीत् तमन्ये ऋषयः मोचयितुं न शक्ताः ततोऽत्रिभिर्मोचिताः। तथा ब्राह्मणं, स्वर्भानु हं आसुर आदित्यं तमसा विध्यत् अस्मिन्नर्थे ऋक् (५।४०।५) यत्त्वा सूर्यस्वर्भानु स्तमसा विध्यदासुरः॥"

अर्थात्—"एक ही महानात्मा देवता है, जिसको सूर्य कहते हैं। अन्य सब देवता उसकी विभूतियां हैं। कैसा है, यह सूर्य, अत्रि विमोचित है। अर्थात् असुरों ने इसको अंधकार से आच्छादित कर लिया था तब अत्रि वंशियों ने इसको मुक्त किया था। यही ब्राह्मण में लिखा है तथा यही ऋग्वेद में है।" यहां ब्राह्मण तथा वैदिक प्रमाणोंसे यहसिद्ध कर दिया गया है कि यहां सूर्यका अर्थ यह प्रत्यक्ष जड़ सूर्य ही है, ईश्वर नहीं।

राशियां और सूर्य

वेदांग ज्योतिष में २७ राशियों के (जिनमें उत्तर क्रान्ति वृत्त-विभक्त है) २७ नक्षत्र देवताओं अथवा अधिष्ठातृ देवों का वर्णन है। ये सत्ताइसों देवता सूर्य के २७ विभिन्न नक्षत्रों में पहुंचने पर

पड़ने वाले नाम हैं। तैत्तिरीयब्राह्मण हर एक देवता को एक खास नक्षत्र के साथ जोड़ता है। उदाहरण के लिये जब रुद्र का वर्णन हो तो समझना चाहिये कि वह आर्द्रा का सूर्य है। जब कि बादल उमड़ते हैं, बिजली कड़कती है और मूसलधार मेह बरसता है। इसी प्रकार जब पूषा का वर्णन हो तो समझना चाहिये कि यह रेवती नक्षत्र का सूर्य है। इसी प्रकार, अग्नि कृतिका नक्षत्र का सूर्य है। सोम, मृगशिर का। अदिति, पुनर्वसु का। बृहस्पति, पुष्याका। सर्प, अश्लेषों का। पितर मघाका। भग पूर्व फालगुनी का। अर्यमा, उत्तर फालगुनीका। सविता, हस्ता का। त्वष्टा, चित्राका। वायु, स्वाती का। इन्द्राग्नि, विशाखाका। मित्र, अनुराधा का। इन्द्र जेष्ठाका। निर्ऋति, मूलाका। आपः, पूर्वाषाढ़ का। विश्वे देवा, उत्तराषाढ़का। विष्णु, श्रवणाका। वसुगण, घनिष्ठा का। वरुण शतभिषगका। अजएकपाद्, पूर्व भाद्रपदाका। अहिर्बुध्न, उत्तर भाद्रपदाका। अश्विद्वय अश्वनीका। यम भरणीका।

राय बहादुर, दिनेश चन्द्र सेन, डी० लिट०

पुरातत्वविद्‌की सम्मति

"आर्यों के प्राचीन आकाश का देवता 'द्यु' ग्रीकोंके 'जियास' और रोमनों के द्यु पितर' अथवा 'जुपिटर' और जर्मनों के 'जिड' एक ही देवता हैं। हिन्दू आर्यों के 'वरुण' और ग्रीकों के 'हयरणस' एक ही हैं। इसी प्रकार भिन्न २ भाषाओं को ढूंढने पर बहुतेरे देवताओं के नामों में समानता मिलेगी।"

वैदिक भारत पृ० ५

"जल, वायु अग्नि, और पृथ्वी आदि नैसर्गिक शक्तियों के उपासक कुछ ऋषि लोग अपने २ देवताओं को महत्व देना चाहते

थे। उनमें से कोई कहता कि जल ही सर्व श्रेष्ठ है, कोई कहता अग्नि ही सर्व श्रेष्ठ है, और कोई पृथ्वी को ही सर्व श्रेष्ठ कहता था।" पृ० ५५

"ईसा के जन्म से पन्द्रहसौ वर्ष पहले का एक ताम्र पत्र पाया गया है, जिसमें लिखा है कि यूफ्रेटिश नदी के किनारे मिटान्नि नामक जाति के राजा गण, वैदिक, वरुण, मित्र और इन्द्र आदि देवताओं की पूजा करते थे। इस देश के राजाओं के नाम भी भारतीय थे—उनमें एक राजा का नाम था 'दसरथ'। पृ० ६६

वैदिकदेवता

वेदमें जिन देवताओं की स्तुति की गईहै और यज्ञों में जिनके लिये हवि दी जाती है, वे इस विश्व की दिव्य शक्तियां हैं, जो एक जीती जागती सत्ता के रूप में वर्णन की गई हैं। उनका वर्णन अनेक देवताओं के रूप में है और एक देवता के रूप में भी है। ऐसी परिस्थिति में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे देवता क्या हैं? अग्नि जहां एक ओर अपने दृश्य मान रूप में अरणियों से उत्पन्न होने वाला, सूर्य की तरह चमकने वाला, और धुएं के झंडे वाला (धूमकेतु) बतलाया है। वहां दूसरी ओर विद्वान, सर्वज्ञ जो उत्पन्न हुआ है उस सबके जानने वाला (जातिवेदस्) कर्मों के जाननेवाला और फलदाता वर्णन किया गया है। यह जो कुछ वर्णन किया गया है उससे न तो उसका दृश्यमान रूप त्यागा जा सकता है और न ही उसकी वह सर्वज्ञता और फलदात्रिता त्यागी जा सकती है, जिसने उसको मनुष्य की दृष्टि में देवता का रूप दिया है। इन दोनों बातों को दृष्टि में रख कर स्वामी शंकराचार्य यह सिद्धान्त बताते हैं—

श्री शंकराचार्य का सिद्धान्त

"परमेश्वर की सृष्टि में देहधारी जीवों की सृष्टि नाना प्रकार की है। इस भूलोक में ही शैवाल तृण, घास लता, गुल्म, वृक्ष, वनस्पति आदि नाना प्रकार के स्थावर और कृमि, कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि नाना प्रकार के जंगम हैं। ये सारे जीव विशेष-हैं। मनुष्य इन सबसे ऊंची श्रेणी का जीव है। पर परमात्मा की सृष्टि यहीं तक समाप्त नहीं है। मनुष्य से कई दर्जों में ऊंचा पद रखने वाले जीव भी उसकी सृष्टिमें विद्यमान हैं, जो मनुष्यों की नाईं चेतन हैं। वे अपनी शक्ति और ज्ञान में इतने ऊंचे पहुंचे हुए हैं कि मनुष्य की शक्ति और ज्ञान उनके सामने तुच्छ है। इस अनेक प्रकार की ऊंची सृष्टि में सबसे ऊंचा स्थान देवताओं का है। देवता चेतन हैं, मनुष्यों से ऊपर और परमेश्वर से नीचे हैं। परमेश्वर की ओर से उनको भिन्न २ अधिकार मिले हुए हैं, जिनका वे पालन करते हैं। देवता अजर और अमर हैं, पर उनका अजर अमर होना मनुष्यों की अपेक्षा से है, वस्तुतः उनकी भी अपनी २ आयु नियत है। ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियों में से एक एक शक्ति पर एक एक देवता का अधिकार है। और जिस शक्तिपर जिसका अधिकार है वही उसका देह है जो उसके वश में है। जैसे हमारे देह में एक जीवात्मा है जो इस देह का अधिपति है इसी प्रकार उस शक्ति के अन्दर भी एक जीवात्मा है जो उसका अधिपति है। जैसे हमारे आधीन यह देह है, वैसे ही एक देवता के आधीन सूर्य रूपी देह है। हम एक थोड़ी सी शक्ति वाले देह के स्वामी हैं, वह एक बड़ी शक्ति वाले देह के स्वामी हैं। वह अध्यात्म शक्तियों में इतना बढ़ा हुआ है कि अपनी इच्छा के अनुसार जैसा चाहे वैसा रूप धारण कर जहां चाहे वहां जा सकता है। यह देव सूर्य का अधिष्ठाता कहलाता है

और सूर्य के ही नाम से बुलाया जाता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु के अधिष्ठाता देवता हैं। देवताओं का ऐश्वर्य बहुत बड़ा है पर वह सारा परमेश्वर के अधीन है। एक एक देवता एक एक दिव्य शक्ति का नियन्ता है, पर उन सब के ऊपर उन सब का नियन्ता परमेश्वर है, इसलिये सभी देवता मिल कर जगत का प्रबन्ध इस प्रकार कर रहे हैं जिस प्रकार राजा के आधीन उसके भृत्य उसके राज्य का प्रबन्ध करते हैं। देवताओं की उपासनाओं से उन कामनाओं की सिद्धि होती है जिसके वे मालिक होते हैं। पर मुक्ति नहीं। मुक्ति केवल ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होती है। देवता स्वयं भी ब्रह्म को साक्षात करने से ही मुक्त होते हैं। ब्रह्म को साक्षात करके भी वे तब तक दिव्य शरीर को धारण किये रहते हैं जब तक उनका वह अधिकार समाप्त नहीं हो लेता जिस अधिकार पर उनको परमेश्वर ने लगाया है। अधिकार की समाप्ति पर वे मुक्त हो जाते हैं। और उनकी जगह दूसरे आ ग्रहण करते हैं जो मनुष्यों में से ही उपासना द्वारा उस पदवी के योग्य बन गये हैं। देवताओं के ऐश्वर्य के दर्जे हैं और सबसे ऊंचा दर्जा ब्रह्मा का है।" (पं० राजारामजी कृत अथर्ववेदभाष्य भूमिका से)

समीक्षा, श्री शंकराचार्य के मत में ईश्वर भी विकारी है उसको भी जीव विशेष ही कह सकते हैं। अथवा एक देवता विशेष। अतः उनके मत में परमेश्वर के अर्थ वर्तमान ईश्वर के नहीं हैं क्योंकि ईश्वर का खण्डन तो उन्होंने स्वयं ही वेदान्त भाष्य में बड़ी प्रबल युक्तियों से किया है, पाठक वृन्द वेदान्त भाष्य का दूसरा अध्याय देखें। इस पुस्तक में भी 'वेदान्तदर्शन प्रकरण' में विस्तार पूर्वक लिखेंगे। अतः यहां ईश्वर का अर्थ आर्य समाज का वर्तमान ईश्वर नहीं है। तथा च यह वैदिक वांगमय के भी विरुद्ध है। क्योंकि वैदिक साहित्य में कहीं भी ऐसा लक्ष्य नहीं है

कि परमेश्वर ने इन देवताओंको नियुक्त किया है। तथा न ही यहां ऐसा कोई प्रमाण उपस्थित किया गया है। अतः यह मान्यता अवैदिक है। तथा इस मान्यता से ईश्वर का ईश्वरत्व ही नष्ट हो गया, क्योंकि कार्य संचालन के लिये वह देवताओंके आधीन है, जैसे राजा आदि अपने भृत्यों के आधीन हैं। ❀

पं० राजाराम जी का निजमत

वेद में परमात्मा के वर्णन का प्रकार

"वेद दो प्रकार से परमात्मा का वर्णन करता है। एक बाहर के सम्बन्धों से अलग हुए उसके केवल स्वरूप का, दूसरा बाहरके जगत से सम्बन्ध रखते हुए का। यह बात इस तरह समझनी चाहिये कि जैसे कोई पूछे कि आत्मा क्या है, तो हम उत्तर देते हैं कि जो आँख से देखता है, कान से सुनता है, और मन से सोचता है वह आत्मा है। अब यदि वह पूछे कि आँख, कान, मन से जो देखता सुनता और सोचता है वह स्वयं क्या है? तब इसके उत्तर में जो कहा जायगा वह बाहर के सम्बन्धों से रहित आत्मा के केवल स्वरूप का वर्णन होगा और जो पहला वर्णन हुआ है, वह शरीर से सम्बन्ध रखते हुए आत्मा का है। इसी प्रकार कोई पूछे कि परमात्मा क्या है? तो हम उत्तर देते हैं कि जो इस जगत को रचता, पालता और प्रलय करता है वह परमात्मा है। अब यदि वह फिर पूछे कि जो इस जगत को रचता, पालता, प्रलय करता है वह स्वयं क्या है? इसके उत्तरमें जो कहा जायगा वह बाहर के सम्बन्धों से अलग हुए उसके केवल स्वरूप का वर्णन होगा और जो पहला वर्णन हुआ है वह

❀ नोट—यहां प्रकरण देवताका है, अतः श्री शंकराचार्यके मतमें, इन्द्र आदि देवता, ईश्वर नहीं हैं, अपितु वह मनुष्योंसे ऊपर और ईश्वर से नीचे एक जाति विशेष है।

जगत से सम्बन्ध रखते हुए का है। सम्बन्ध सहित को विशिष्ट और सम्बन्ध रहित को शुद्ध कहते हैं। विशिष्ट को शवल और शुद्धको श्याम भी कहा है। तात्पर्य यह है कि यह जगत् उस परमात्माका प्रकाशक है, यह सारा जगत उसी एकको प्रकाशित करता है। पर जिसको यह प्रकाशित करता है वह इसके पीछे है और अदृश्य है। जगत को अलग रख कर उसके निज स्वरूप को देखें तो वह उसके शुद्ध स्वरूप का दर्शन है, और जगत का अन्तर्यामी होकर उस पर शासन करता हुआ देखें तो वह उसके विशिष्टरूप का दर्शन है।

शुद्ध ज्ञेय और विशिष्ट उपास्य है।

अब उसका शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्द स्वरूप वा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव अथवा नेति नेति (यह नहीं यह नहीं) के सिवाय किसी प्रकारसे वर्णन नहीं होसकता, और अगम्य और अचिन्त्य होनेसे न हमारे जीवन पर उसका कोई प्रभाव पड़ता है, न हम अपनी त्रुटियाँ पूरी करने और अपने को उच्च अवस्थामें लानेके लिये उससे प्रार्थना कर सकते हैं, क्योंकि किसी मानुषी गुण प्रेम, दयालुता आदि का हम शुद्धके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते हैं। यह बात याज्ञवल्क्य ने गार्गीको शुद्धका उपदेश करते हुए बतलाई है—

स होवाच 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय मतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसम गन्धमचक्षुष्कमश्रोत्र मवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तर मवाह्यम् । न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' (बृह० उप० ३।८।८)

उसने कहा—हे गार्गि ! इस अक्षर (ब्रह्म) को ब्राह्मण

बतलाते हैं, कि—न वह मोटा है न पतला, न छोटा न लम्बा न उस में लाली (कोई रूप) है न स्नेह है, बिना छायाके है, बिना अंधेरे के है, बिना वायुके है, बिना रसके है, और बिना गन्धके है। बिन आँख बिन कान बिन वाणी और बिन मन के है। बिन तेज बिन प्राण और बिन मुखके है। उसका परिणाम कोई नहीं, न उसका कोई अन्दर है न उसका कोई बाहर है। न वह किसीको भोगता है न उसको कोई भोगता है। इसका अभिप्राय यही है कि इस रूप में न हम उसके कुछ अर्पण करते हैं न वह हमारे जीवन पर कोई प्रभाव डालता है।या यूं कहो कि इस रूपमें वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं उपास्य वह अपने विशिष्ट रूपमें ही है)

(विशिष्टरूपमें उसकी अनेक रूपोंमें उपासना)

मनुष्यके हृदयमें उसके जिस रूपके लिये भक्ति पूजा और उपासनाहै वह उसका विशिष्टरूप हीहै और यह रूप उसका अनेक रूपोंमें पूजा जाताहै। इन्हीं रूपोंको देवता कहतेहैं, जो वेदमें अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, पूषा आदि नामोंसे वर्णन किये हैं।

मनुष्य पहले पहले इन अलग अलग विशिष्ट रूपों में उसका चिन्तन कर सकता है, और जब वह उसकी महिमाको अलग अलग अनुभव कर चुकता है, तो फिर उसका हृदय एक साथ सारे विश्वमें उसकी महिमाको अनुभव करता हुआ उसका ध्यान और पूजन करता है, इस समष्टि रूपको अदिति, प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि नामोंसे वर्णन किया है।

विशिष्टरूपों (देवतारूपों) में परमात्माके जाननेकी आवश्यकता पहले पहल केवल शुद्ध रूपमें परमात्मा दुर्ज्ञेय है। उसका जानना जगत् ही में सम्भव है, वह भी अनेक विशिष्ट रूपों (देवतारूपों) में। क्योंकि उसकी महिमा जो इस जगतमें भी देखी जाती है इतनी बड़ी है, कि समष्टि रूपमें उसका ज्ञान मन की शक्तिसे

बाहर है। इसलिये अग्नि, वायु, सूर्य, सविता, मित्र, वरुण, द्यावा-पृथिवी, अश्वि, इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रस्यपति इत्यादि परिमित रूपोंमें उसकी महिमा वेदमें कही गईहै और स्तुति नमस्कार और पूजा द्वारा उन सब रूपोंके साथ गहरा सम्बन्ध पैदा करनेका उपदेश है। उन सब रूपोंके साथ सम्बन्ध की आवश्यकता इसलिये भी है कि वे भिन्न भिन्न गुणों वाले हैं और सब मिल कर परमात्मा के गुणों को प्रकट करते हैं, अतएव पूर्णता की प्राप्ति के लिये और प्रत्येक निर्बलता को जीतने के लिये सबके साथ अलग अलग सम्बन्ध स्थापन करने की आवश्यकता है। जैसे शूरवीरता, अभयता और बलकी प्राप्ति के लिये इन्द्रके साथ। सृष्टि नियमके अनुकूल अपना आचरण बनानेके लिये और पापोंसे बचनेके लिये वरुणके साथ। सम्यगज्ञान ब्रह्मतेज और भक्ति भाव बढ़ानेके लिये अग्निके साथ। इसी प्रकार एक एक गुणको अलग अलग पराकाष्ठा तक पहुंचानेके लिये उस शक्तिके अधिपतिके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेकी आवश्यकता है। इससे सब प्रकार की त्रुटियाँ दूर होकर सब अंशों में पूर्णता आती है और यह सारा विश्व परमात्माकी महिमासे भरा हुआ अनुभव होने लगता है। तब उसका आत्मा स्वतएव उस स्वरूपको देखना चाहता है जिसकी महिमासे यह सारा विश्व महिमावाला बन रहा है। अब वह पूर्ण अधिकारी है उस शुद्ध स्वरूपको साक्षात करनेका इसलिये अब उसको दोनों रूपोंके देखनेमें स्वतन्त्रता होती है। श्यामको देखता हुआ शवलको देखता है और शवलको साक्षात करता हुआ श्यामको साक्षात् करता है। ऐसा साक्षात करते हुए ऋषिने कहा है—

श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्ये अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्यधूत्वा

शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भ वितास्मीत्यभिसम्भ-वितास्मीति (छान्दो० उप० ८ । १ । १३)

श्यामसे मैं पहले शवलको प्राप्त होता हूं, और शवलसे श्याम को प्राप्त होता हूं । जैसे घोड़ा रोमोंको झाड़ता है वैसे पापको झाड़ कर चन्द्रकी नाईं राहुके मुखसे छूट कर शरीरको झाड़कर कृतार्थ हुआ नित्य ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूं । यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि शवलरूपमें शरीरके अंगोंकी नाईं सारे देवता प्रजापति के अंग माने जाते हैं इसलिये दो दो को मिलाकर कहनेकी विवक्षा में द्विवचन (द्यावा पृथिवी, मित्रावरुणा इत्यादि) और बहुतोंको व सबको एक साथ कहनेकी विवक्षामें बहुवचन (देवाः विश्वे देवाः इत्यादि) दिया जाता है । और कहीं कहीं केवल भौतिक रूपका ही वर्णन भी है ।

वैदिक देवताओंके विषयमें यह विचार वैदिक कालसे आज तक बराबर चला आ रहा है । जैसा कि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १ । १६४ । २२)

उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं, और वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान है, एक ही सत् (सत्ता) को विद्वान् अनेक प्रकारसे कहते हैं अग्नि यम और मातरिश्वा कहते हैं ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः (यजु० ३२ । १)

वही अग्नि है वही आदित्य है वही वायु है वही चन्द्रमा है, वही शुक्र वही ब्रह्म वही आपः और वही प्रजापति है ।

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एत मग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः (ऐत० आर० ३ । २ । ३ । १२)

इस (परमात्मा) को ही ऋग्वेदी बड़े उक्थमें विचारते हैं, इसी को यजुर्वेदी अग्निमें उपासते हैं, इसीको सामवेदी महाव्रतमें उपासते हैं।

तद्यदिद माहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमतस्यैव सा विसृष्टि रेष उ ह्येव सर्वेदेवाः (बृह० उप० ४।१।६)

सो जो यह कहते हैं कि अमुककी पूजा करो अमुककी पूजा करो इस प्रकार अलग अलग एक एक देवताकी इसीका वह फैलाव है यही सारे देवता हैं।

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति (निरुक्त ७।४)

बहुत बड़े ऐश्वर्य वाला होनेके कारण एक ही आत्माकी इस प्रकार स्तुति की गई है जैसे जैसे कि वे बहुतसे (देवता) हैं। स्वयं एक होते हुए के दूसरे सारे देवता प्रत्यङ्ग होते हैं।

देवताओंकी संख्या

वेदमें देवताओं की संख्या ३३ कही है (देखो ऋ० १।४५।२७; ३।६।९; ८।२५।१; ८।३०।२; अथर्व १०।७।१३; २३)

इन तेंतीसके ग्यारह ग्यारहके तीन वर्ग हैं, उनमेंसे एक वर्गका स्थान पृथिवी लोक, दूसरेका अन्तरिक्ष, और तीसरेका द्यौ है (देखो ऋ० १।३४।११; ८।३५।३; १।१३९।११)। पर मरुत आदि जो देवगण हैं वे इनसे पृथक् हैं। इस प्रकार

विश्वकी सभी दिव्य शक्तियाँ जब देवता हैं और उनके पीछे नियन्त्री शक्ति एक ही है तो फिर ३३ का वचन किसी एक विशेष दृष्टि को लेकर हो सकता है, ३३ का नियम नहीं हो सकता। अवान्तर शक्तियोंकी दृष्टिसे सहस्रों भी कहे जा सकते हैं सामान्य शक्तियोंकी दृष्टिसे ३३ से न्यून भी और समष्टि की दृष्टिसे एक भी कहा जा सकता है. अतएव अन्यत्र ऋग्वेद (३ । ६ । ६)में कहा है "त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्नि त्रिंशच्च देवा नवचासपर्यन्" तीन हजार, तीन सौ तीस और नौ देवताओंने अग्निकी सेवाकी। विदग्धयाज्ञवल्क्य संवादमें आया है 'तब विदग्ध शाकल्यने याज्ञ-वल्क्यसे पूछा 'कितने देवता हैं याज्ञवल्क्य ?

उसने इसी निवद्से बतलाया जितने वैश्व देव निविद्में कहे हैं ३०३ और ३००३। उसने कहा. हां, (और फिर पूछा) कितने देवता हैं हे याज्ञवल्क्य ? (उत्तर) '३३' उसने कहा हां' (फिर पूछा) कितने देवता हैं याज्ञवल्क्य ? (उत्तर) 'छह'। उसने कहा 'हां' (फिर पूछा) कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ? (उत्तर) अध्यर्ध। उसने कहा 'हां' (और फिर पूछा) कितने हैं देवता हे याज्ञवल्क्य ? (उत्तर) एक उसने कहा 'हां' (बृह० उप० ३ । ६ । १)। इसके पीछे उनके अलग अलग नाम पूछते हुए अन्तमें पूछा है ,कौन एक देवता है ? (उत्तर) 'प्राण' उसी का (परोक्ष) ब्रह्म कहते हैं (बृह० उप० ३ । ६ । ६) रहस्य यह है कि तीन लोक हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ, उनमें परमात्माकी तीन प्रधान विभूतियाँ (दिव्य शक्तियाँ) हैं 'अग्नि वायु और सूर्य'। इनके साथ अप्रधान विभूतियोंका कोई अन्त नहीं यदि तीनको अपने सामान्य रूपोंमें लाकर इन तीनोंके साथ हजार हजार और विशेषरूप कहो तो तीन हजार तीन और यदि सामान्य रूपमें लाकर सौ सौ कहो तो ३०३ यदि इससे भी और सामान्य

रूपमें लाकर दस दस और कहो तो तेतीस होते हैं। इन सबको मिलानेसे ३३३९ होते हैं। यह संख्या देवताओंकी ऋ० ३।३।९ में कही है। परमार्थ यह है कि ये सब दिव्य शक्तियाँ जो छोटे छोटे अवान्तर भेदोंमें तो अधिकसे अधिक कही जा सकती हैं और सामान्य रूपोंमें न्यूनसे न्यून होती हुई परम सामान्यमें एक है। सर्वथा ये सारी विभूतियाँ परमात्माकी अलग अलग महिमाको प्रकाशित करती हुई अलग अलग देवता हैं और समष्टिरूप में एक ही अधिष्ठात्री शक्तिको प्रकाशित करती हुई एक देवता है।

देवताओंके विशेष रूपोंका स्पष्टीकरण

वेदमें इस विश्वको तीन भागोंमें विभक्त किया है—पृथिवी (यह लोक), द्यौ (ऊपरका प्रकाशमय लोक) और अन्तरिक्ष (इन दोनों का अन्तरालवर्ति लोक)। इसके अनुसार परमात्माकी जो दिव्य-विभूतियाँ पृथिवी पर हैं वे पृथिवी स्थानी देवता. जो अन्तरिक्षमें हैं वे अन्तरिक्ष स्थानी देवता और जो द्यौ में हैं वे द्युस्थानी देवता कहलाते हैं। पृथिवी स्थानी देवताओंमें प्रधान अग्नि है जो इस पृथिवीके और पृथिवी पर होने वाले स्थावर जंगमके अन्दर वर्तमान होकर उनके जीवनका आधार है। अग्नि ही अपने विशेष धर्मोंके आश्रयसे जातवेदस् (जो भी उत्पन्न हुआ है उस सबके पहचानने वाला) और वैश्वानर (सब जीवोंमें जठराग्निसे वर्तमान) आदि नामोंसे प्रकाशित किया है। अग्नि तेजोमय है प्रकाशमय है वह हमें तेजस्वी बनाता है, प्रकाश देता है, और अंधेरेको मिटाता है। यज्ञाग्निके रूपमें हमें धर्म कार्योंमें प्रेरता है और किये यज्ञोंका स्विष्टकृत् (किये यज्ञको पूर्ण बनाने वाला) है। अग्निके सम्मुख जब पुरुष दिव्य व्रतोंको धारता है तो वह उसे मानुष जीवनसे दिव्य जीवनमें ले जाता है। इस प्रकार प्रकाश और धर्मको मनुष्य

के जीवन में भरता हुआ अग्नि, मनुष्य के सम्मुख ब्रह्मबल व ब्रह्मतेज का आदर्श रखता है। अतएव कहा है—अग्नि देव ब्रह्म (श० ब्रा० ६।४।६।५) अन्तरिक्ष स्थानी देवताओं में प्रधान इन्द्र है, उसका अधिदैवत रूप विद्युत है। उसके शासन में पानी आकाश से नीचे उतर कर बरसते हैं, खेतियां हरी भरी होती हैं, नदियां बहती हैं। वह बल का अधिपति है, बड़ा शूरवीर है। वृष्टि के रोकने वाले वृत्रों को संग्राम में मारकर जल के प्रवाह पृथ्वी पर बहा देता है। इन्द्र मनुष्य के सन्मुख क्षात्र बलका आदर्श रखता है।

द्यु स्थानी सूर्य है। जो सबसे बढ़ कर बलशाली होने से और सारे जगत का नियन्ता होने से हमारे सामने क्षात्र बल का आदर्श और अन्धकार के दो दोषों को मिटाने वाला प्रकाश के लाने वाला और धर्म कार्यों का प्रवर्तक होने से ब्रह्म बल का आदर्श रखता है। क्षात्रा और ब्रह्म तेज से एक समान परिपूर्ण होकर वह मनुष्य के सम्मुख मानुष जीवन का पूर्ण आदर्श रखता है। इस प्रकार ये अग्नि, इन्द्र और सूर्य, इस त्रिलोकी के तीन प्रधान देवता हैं।"

समीक्षा—श्रीमान पं० जी ने जिस प्रकार से ईश्वर का कथन किया है, तथा उसमें जो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं वे सब इस आत्मा की ही अवस्थायें हैं। जिन उपनिषद् वाक्यों से आपने अपने इस नवीन ईश्वर की कल्पना की है वह वास्तव में आत्मा का वर्णन है इसको हम उपनिषद् और ईश्वर प्रकरणमें विस्तार पूर्वक लिखेंगे। तथा आपने जो 'इन्द्रं मित्रं वरुण मग्निमाहु' आदि वैदिक प्रमाण दिये हैं उनमें निश्चित रूप से भौतिक अग्नि आदि के ही ये सब नाम हैं, इसको अग्नि देवता प्रकरण में लिख चुके हैं पाठक वृन्द वहीं देखने की कृपा करें। तथा आपने

जो ईश्वर के दो रूप (शवल व श्याम) बताये हैं वे भी आत्मा के ही भेद हैं नकि ईश्वर के। यदि ये भेद (शुद्ध और अशुद्ध) ईश्वर के माने जायें तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ईश्वर को अशुद्ध करने वाली कौन सी वस्तु है, क्या वेदान्तियों की माया से आपका अभिप्राय है, यदि ऐसा है तो आपको स्पष्ट लिखना चाहिये था। अथवा आपने किसी अन्य पदार्थ का आविष्कार किया है, जिसको आप अभी प्रकट करना उचित नहीं समझते। तथा च आपने जो 'अदिति, प्रजापति, पुरुष, हिरण्य गर्भ' आदि को समष्टि रूप दिया है, अर्थात् इन नामों से ईश्वरके समष्टि रूप का कथन किया है यह भी बिलकुल निराधार है, क्योंकि इन सब का अर्थ भी वैदिक साहित्य में ईश्वर नहीं, अपितु जड़ सूर्य आदि अथवा जीवात्मा है। प्रजापति प्रकरण में हमने सप्रमाण व विस्तार पूर्वक लिखा है। अतः देवता ईश्वर की शक्तियां नहीं हैं अपितु जड़ सूर्य आदि अथवा आत्मा की शक्तियां हैं।

इन सब बातों पर विचार न करके यदि आपकी ही बात मान ली जाये, तो भी इन देवताओं की दुर्बुद्धियों का कथन मिलता है जैसे कि (मा ते अस्मान् दुर्मतयो) ऋ० ७। १। २२ हे अग्ने तुम्हारी दुर्बुद्धि हमें व्याप्त न हो।

तथा इन्द्र का भ्रम में पड़ना (ऋ० ८। ५७। ७।) तथा इन्द्र का विरोध और इन्द्र पूजकों द्वारा अग्नि की निन्दा आदि का जो वेदों में कथन है (जिनका वर्णन हम अग्नि देवता प्रकरण और इन्द्र प्रकरण में कर चुके हैं) तो क्या यह सब परमेश्वर के ही गुण हैं। क्या आपका परमेश्वर भी भ्रम में पड़ जाता है और क्या उसकी भी बुद्धि मलिन है। तथा क्या मन्त्र करता ऋषि ईश्वर का भी विरोध करते थे अथवा उसको भी दुष्ट आदि कहतेथे। यदि ऐसा है तब तो ऐसे ईश्वर को आप ईश्वर मानें हम

आपकी इस अन्ध श्रद्धा में बाधक होना नहीं चाहते। यदि उपरोक्त गुण ईश्वर में नहीं है तो इन देवताओं को ईश्वर अथवा उसकी शक्ति मानना भ्रम मात्र है।

तथा च आपने एक यजुर्वेद का (तदेवाग्न स्तदादित्य स्तद् वायु स्तदु चन्द्रमा) यजु० ३२। १

प्रमाण दिया है उसीसे आपके इस ईश्वर का खण्डन हो जाता है, क्योंकि यहां आत्मा देवता है, तथा जीवात्मा का ही कथन है। क्योंकि इसी अध्याय के मन्त्र ४ में लिखा है कि—

"पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः स एव जातः स जनिष्य-माणः।"

यहां भाष्य कार 'उवट' ने गर्भ का अर्थ माता का उदर ही किया है अतः माता के गर्भ से बार बार उत्पन्न होने वाले यहां जीवात्मा का ही कथन है आपके निराकार का नहीं। तथा पं० जयदेव जी ने इन मन्त्रों का अर्थ राजा भी किया है। अतः आपका यह कथन वेदानुकूल नहीं है।

पं० विश्नबन्धु जी शास्त्री एम० ए० की कल्पना

आप लिखते हैं कि—"कवि की आंख साधारण वस्तुओं में असाधारणता का दर्शन करती है। वेद भी एक काव्य है, और यह विशाल सुन्दर संसार भी एक काव्य है। आर्ष दृष्टि के सामने एक २ पदार्थ विचित्र प्रकार से नाटक करता हुआ, मानो इस महा काव्य के रहस्यों का व्याख्यान करता है। 'अग्नि' एक साधारण सर्व परिचित दिन रात के व्यवहार में आने वाला पदार्थ है। कर्म कांडी त्यागशील होता के लिये अग्नि साधारण अग्नि नहीं रहती। वह उसके अन्दर एक एक आहुति डालताहुआ

मानो संसार के सहस्रों देवताओं के साथ एक रूपता को प्राप्त होरहा है।……पूर्व कहे प्रकार से स्वाग-अल्पकारी कवि, कविता के साथ और दिव्य भाव को मिला कर देखना आरम्भ करता है। अग्नि में वह होम करके विश्व विख्यात होताओं का साथी बन रहा है। अग्नि उसके और उनके मध्य में एक दिव्य दूत का काम करती है। वह और आगे बढ़ता है। स्वयं अग्नि होता के रूप में भासने लगती है।

वह भस्मकारक न रह कर विश्व रक्षक शक्ति बन जाती है। अब उस शक्ति का विस्तृत कार्य क्षेत्र पृथ्वी तक परिमित न रह कर अन्तरिक्ष और द्यु लोक भी घेर लेता है। अब वह सर्व व्यापक महाविधायक अद्भुत शक्ति के रूप में प्रतीत होती है।"

वेदसन्देश भा० ४

पं० विश्व बन्धु जी स्वयं कवि हैं, अतः उन्होंने काव्य मय भाषा में पं० राजाराम जी की कल्पना का सुन्दर खण्डन किया है। आपका आशय है कि अग्नि देवता तो साधारण अग्नि ही है परन्तु उसको कवि ने विश्वरूप दे दिया है। इस अग्नि आदि का यह सर्व व्यापक रूप न ईश्वर है और न ईश्वर की शक्तियां जैसा कि पं० राजाराम जी ने लिखा है। तथा आपने बड़ी बुद्धिमानी से यह भी बता दिया कि वेद ऋषियों के बनाये हुये काव्य ग्रन्थ हैं। तथा अग्नि आदि को देवताओं का रूप देना यह उनकी कवित्व कल्पना है। यही बात मीमांसक मानते हैं तथा यही बात वर्तमान समय के सब स्वतन्त्र प्रज्ञ विद्वान कहते हैं।

सारांश

उपरोक्त कथन से देवताओंके सम्बन्धमें निम्न लिखित बातें प्रकट होती हैं।

(१) आदिभौतिकवाद—वैदिकदेवता, केवल प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। जैसा कि पाश्चात्य विद्वानोंका मत है। यही मत अति प्राचीन काल से मीमांसकोंके एक सम्प्रदायका रहा है। इसी को निरुक्त की परिभाषामें आधिभौतिक वाद कहते हैं।

(२) शब्द देवता—मीमांसकोंमें शवर स्वामी आदि, मन्त्रोंके अतिरिक्त किसी अन्य देवता या ईश्वरकी आवश्यकता नहीं समझते। अतः इनके मतमें मन्त्रोंके शब्द ही देवता हैं। ये लोग कर्मका फल भी कर्मो द्वारा ही मानते हैं। अतः उसके लिये भी किसी देवताकी अथवा ईश्वरकी आवश्यकता नहीं मानते।

(३) आधिदैविक—इस सम्प्रदायके विद्वानोंका कथन है कि अग्नि आदि जड़ हैं परन्तु इन सबका एकएक अभिमानी आत्मा है अतः उस अभिमानी आत्माको मानकर स्तुति प्रार्थना आदि किये जाते हैं। उन अभिमानी देवोंको अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि नामसे कहा गया है। जैसा कि वेदान्तदर्शनमें कहा है।

अभिमानि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ २।१।५

अर्थ—विशेषानु गतिभ्याम्, विशेष और अनुगति से अभिमानीका कथन है। अभिप्राय यह है कि वेदादि में अग्निआदि को चेतन वत मान कर उनसे प्रार्थना आदि की गई हैं तथा प्राणों-का व इन्द्रिय आदि का विवाद पाया जाता है इसी प्रकार वृत्रा-सुर युद्ध आदि के कथन से उनके पुरुषाकार होने का संदेह होता है। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि यह सब कथन अग्नि आदि में जो उनका अधिष्ठाता देव है उसका कथन है। उन्हीं को अभिमानी देवता कहते हैं। इनके मत में भी देवता अनेक हैं, तथा उन सबका एक एक अधिष्ठाता भी है।

(४) याज्ञिक वाद—वेदों के निष्पक्ष एवं गम्भीर स्वाध्याय से

यह निश्चित रूप से विदित होता है कि—वैदिक आर्य प्रथम भौतिक देवताओं के ही उपासक थे। तथा उनको इह लौकिक पदार्थों की तथा सुखमय और स्वतन्त्र जीवन की अभिलाषा थी। न तो उनको परलोक की चिन्ता थी और न मोक्ष व स्वर्गादि की-कामना। उस समय धर्म्म के बन्धन आदि का अभाव सा था, तथा राजा आदि का दण्ड भी न था। सब सुखी, स्वतन्त्र और मस्त थे। तत्पश्चात् यहां धार्मिक भावों का प्रादुर्भाव हुआ और स्वर्ग आदि की कल्पना का आविष्कार भी। अतः स्वर्ग की प्राप्ति के लिये यज्ञों का निर्माण भी आवश्यक ही था। बस फिर शनैः शनैः इस यज्ञ देवता का विस्तार होने लगा और सम्पूर्ण देवताओं का स्थान इसी ने ले लिया। सबसे प्रथम यज्ञ कर्ता यजमान की स्तुति के पुल बांधे गये। उसी को इन्द्र प्रजापति आदि की पदवी देदी गई। यथा,

एष उ एव प्रजापतिर्यो यजते ॥ ऐ० २। १८

इन्द्रो यजमानः ॥ शत० २। १। २। ११

यजमानो अग्निः ॥ शत० ६। ३। ३। २१

सम्वत्सरो यजमानः ॥ शत० ११। २। ७। ३२ ॥

एष वै यजमानो यत्सोमः ॥ तै० १। ३। ३। ५

यजमानो हि सूक्तम् ॥ ऐ० ६। ९

इत्यादि वाक्योंसे वैदिक ऋषियोंने यजमानोंकी प्रशंसा प्रारंभ कर दी।

तथा सम्पूर्ण देवोंसे भी अधिक उसकी महिमाका बखान किया गया।

उसके बाद समय पाकर ब्राह्मणोंमें जातीयताका स्वाभिमान

उत्पन्न हुआ और उन्होंने यजमानों की स्तुति करना बन्द कर दिया (शायद इसकी आवश्यकता भी न रही हो)।

और "विद्वांसो हि देवाः" का प्रचार प्रारंभ किया गया।

तथा सब देवरूप ब्राह्मण बन गया। जैसाकि कहा है—

ब्राह्मणो वै सर्वा देवताः ॥ तै० । १ । ४ । ४ ।२, ४॥
एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मणाः ॥ गो० उ० १।६
अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः ॥ ष० । १ । १ ।
दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः ॥ तै० १ । २ । ६ । ७

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ब्राह्मणोंकी स्तुति व महिमाका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। प्रथम तो ये ब्राह्मण यजमान और उसके रथ, अश्व, वस्त्र आदिकी स्तुतिमें मन्त्रोंका निर्माण करते थे परन्तु अब ये लोग ब्राह्मणोंका और यज्ञोंका वर्णन करने वाली श्रुतियाँ बनाने लगे। तथा प्रजापति, ब्रह्मा, पुरुष, विराट्, आदि नामसे एक नयादेव निर्मित हुआ। जिसके विषयमें विशेष प्रकाश प्रजापति प्रकरणमें डालेंगे। परन्तु ब्राह्मणोंने अपनी प्रशंसाके साथ साथ यज्ञकी स्तुतिके भी मन्त्रोंका खूब ही निर्माण किया क्योंकि उस समय एक मात्र यज्ञ ही उनका आश्रय था। अतः देवताओंका स्थान भी यज्ञको ही दे दिया गया। उस समय ब्राह्मणोंने कहना आरंभ किया कि अय भोले प्राणियों जिन देवताओंकी आप लोग उपासना करते हो वे तो हमारे द्वारा बनाये गये हैं।

(अस्माभिः कृतानि दैवतानि)

अतः आप लोग सर्वदेवरूप ब्राह्मणोंकी पूजा किया करो? तथा मनुस्मृति आदिमें कहा गया है कि—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ३१७

(अध्याय० ९)

सर्वथा ब्राह्मणः पूज्याः परमं दैवतं हितत् ॥ ३१९

जिस प्रकार सर्व भक्षक होने पर भी अग्नि पवित्र ही रहती है इसी प्रकार अनेक पापोंके करने पर भी ब्राह्मण शुद्ध व पूज्य ही रहता है, चाहे वह मूर्ख भी हो फिर भी वह पूज्य ही है। इस प्रकार ये लोग राज दंडसे भी मुक्त होते थे।

यज्ञ

यज्ञो वै ऋतस्य योनिः ॥ यजु० ११ । ६ ॥

यज्ञो वै वसुः ॥ यजु० १ । २ ॥

यज्ञो वै स्वः ॥ यजु० १ । ११ ॥

यज्ञः प्रजापतिः ॥ शत० ११ । ६ । ३ । ९ ॥

स वै यज्ञ एव प्रजापतिः ॥ शत० १ । ७ । ४ । ४ ॥

यो वै विष्णु स यज्ञः ॥ शत० ५ । २ । ३ । ६ ॥

यज्ञ उ देवानां आत्मा ॥ शत० ८ । ६ । १ । १० ॥

यज्ञ उ देवानामन्नम् ॥ शत० ८ । १ । २ । १० ॥

वाग्वै यज्ञः ॥ ऐ० ५ । २४

यज्ञ एव सविता ॥ गों० पू० १ । ३३

यज्ञाद् वै प्रजा प्रजायन्ते ॥ शत० ४ । ४ । २ । ९॥

यज्ञो वै भुवनम् ॥ तै० ३ । ३ ७ । ५ ॥

यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः ॥ तै० ३ । ६ । ५ । ५ ॥
यज्ञो वै मैत्रा वरुणः ॥ कौ० १३ । २
मनो वै यज्ञस्य मैत्रा वरुणः ॥ ऐ० २ ५।२६।२८
विराट् वै यज्ञः ॥ शत० १ । १ । १ । २२ ॥
स्वर्गो वै लोको यज्ञः ॥ कौ० १४ । १

अर्थात्—ऋत इस यज्ञ से उत्पन्न हुआ है। तथा वसु, प्रजापति, सविता, विष्णु आदि सब देवता स्वरूप यज्ञ ही हैं। यज्ञ ही देवों की आत्मा तथा वही अन्न है। इस यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, यही संसार को उत्पन्न करता है। आदि आदि सब महिमा यज्ञों की कथन की गई है। इस प्रकार शनैः शनैः याज्ञिक ने देवताओं का प्रभाव कम करना आरम्भ किया तथा बाद में उनके अस्तित्व से भी इन्कार कर दिया और मन्त्रों के शब्दों को ही देवता मानने लगे। इस प्रकार यज्ञोंका विस्तार होने लगा और वह इतना बढ़ा कि सम्पूर्ण भारत में घर घर इसी का साम्राज्य दिखाई देता था। लाखों मूक पशुओंको इस यज्ञ में होमा जाने लगा यहीं तक नहीं अपितु नरमेध यज्ञ में जीवित मनुष्यों का भी बलिदान प्रारम्भ हुआ तथा शराब आदि का भी भयानक प्रचार हो गया। बस मांस और शराब का जो परिणाम होना था वह हुआ और संसार एक पापों का केन्द्र बन गया। वाममार्ग आदि अनेक प्रकार के सम्प्रदायों का जन्म हुआ और धर्म्म के नाम पर खुले आम पाप का एकाधिपत्य हो गया। बस संसार इन यज्ञों से बिलबिला उठा और धीरे २ यज्ञों के प्रति घृणा बढ़ने लगी और इसके विरोध में प्रचार भी प्रारम्भ हो गया। यज्ञों का प्रथम प्रचारक या आविष्कर्ता, अथर्वा ऋषि था।

(यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते । ऋ० १ । ८३ । ५ ॥)

'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास' में देवराज जी लिखते हैं कि—

"यज्ञों के इस व्यापारिक धर्म्म के साथ साथ ही ब्राह्मण काल में हिन्दु धर्म के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का भी आविष्कार हुआ। हिन्दु जीवनके आधारभूत वर्णाश्रम धर्मके स्रोतका यही समय है। प्रसिद्ध तीन ऋणों की धारणा इसी समय हुई।···

इस युगमें वैदिक कालके देवताओंकी महत्ताका ह्रास होने लगा था। यज्ञों के साथ ही अग्नि का महत्व बढ़ने लगा था। लेकिन इस कालका सबसे बड़ा देवता प्रजापति है। तैंतीस देवता चौंतीस वा प्रजापति है प्रजापति में सारे देवता सन्निविष्ट हैं (शतपथ में) यज्ञको विष्णु रूप बताया गया है (यज्ञो वै विष्णुः) नारायणका नाम भी पाया जाता है। कहीं कहीं विश्वकर्मा और प्रजापतिको एक करके बताया गया है।

राधाकृष्णन ने इस युग की व्यापारिक यज्ञ प्रवृत्ति का अत्यन्त कड़े शब्दोंमें वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "इस युग में वेदों के सरल और भक्ति मय धर्म्म की जगह एक कठोर हृदय धाती व्यापारिक धर्म्म ने ले ली। जो कि एक प्रकार के ठेके पर अवलम्बित था। आर्यों के पुरोहित मानो देवताओं से कहते थे 'तुम हमें इच्छित फल दो, इसलिये नहीं कि तुम में हमारी भक्ति है परन्तु इसलिये कि हम गणित की क्रियाओं की तरह यज्ञ विधानों का ठीक क्रमशः अनुष्ठान करते हैं। कुछ यज्ञ ऐसे थे जिनका अनुष्ठाता सदेह (सर्वतनुः) स्वर्ग को चला जा सकता था। स्वर्ग प्राप्ति और अमरता यज्ञ विधानों का फल थी, नकि भक्ति भावना का।"

अध्यात्मवाद

निरुक्त कार यास्काचार्य ने तीन प्रकार के मन्त्र बताये हैं।

(१) परोक्ष कृत, (२) प्रत्यक्ष कृत, (३) आध्यात्मिक।

इनको आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भी कह सकते हैं। यहां आध्यात्मिक प्रकरण का विचार करते हैं। श्री यास्काचार्य ने आध्यात्मिक के लिये लिखा है कि—

अथाध्यात्मिक्य उत्तम पुरुष योगा अहम् इति च एतेन सर्व नाम्ना ॥ नि० ७। १

अर्थात—जिन मन्त्रों में देवता के लिये उत्तम पुरुष की क्रिया तथा अहम्, अवाम, वयम ये सर्व नाम पद हों वे आध्यात्मिक मन्त्र होते हैं।

आध्यात्म मन्त्रों का उदाहरण दिया है कि—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पति रहं धनानि संजयामि शाश्वतः ॥ ऋ०

इस मन्त्र का इन्द्र ही ऋषि और इन्द्र ही देवता है। श्री सायणाचार्य ने लिखा है कि एक वैकुण्ठानाम की राक्षसी थी उसने तप किया उस तप के प्रभाव से उसके 'इन्द्र' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ उस इन्द्र की यह आत्म स्तुति (प्रशंसा) है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। आगे निरुक्तकार लिखते हैं कि—

"परोक्ष कृताः प्रत्यक्ष कृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः ॥"

अर्थात्—परोक्ष कृत और प्रत्यक्ष कृत मन्त्र बहुत अधिक हैं, परन्तु आध्यात्मिक मन्त्र तो अत्यन्त अल्पतम हैं।

श्री० पं० सातवलेकरजीका मत

"वेद मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, ज्ञान क्षेत्र से भिन्न २ होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र वह है जो आत्मा से लेकर स्थूल देह तक फैला है।······शरीर का अंगिरस व्यक्तिगत होने से आध्यात्मिक पदार्थ है। इसी का आधिभौतिक अर्थात् सामाजिक किं वा राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिनिधि "राष्ट्रीय जीवन" उत्पन्न करने वाला संघ होना स्वाभाविक है। तथा आधिदैविक क्षेत्र में इसी का रूप अग्नि अथवा आग में देखा जा सकता है।" अग्नि विद्या पृ० १४८ ॥

आपके मत से भी तीनों प्रकार के अर्थों में वर्तमान ईश्वर के लिये स्थान नहीं है।

अध्यात्मवाद और गीता

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। अ० ८।३

अर्थात्—कभी भी नष्ट न होने वाला तत्त्व ब्रह्म है, और प्रत्येक वस्तुके निजभावको स्वभाव कहते हैं, उसी स्वभावका नाम अध्यात्म है।

अभिप्राय यह है कि अविनाशी ब्रह्म के स्वाभाविक ज्ञानको अध्यात्म कहते हैं।

ब्रह्म, परमात्मा, शुद्धात्मा, आदि एकार्थवाची शब्द हैं। अतः आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान जिससे हो वह अध्यात्म विद्या है। यही विद्या सब विद्याओंमें श्रेष्ठ है।

अथवायूं भी कह सकते हैं कि इसी ज्ञानका नाम विद्याहै अन्य

सब ज्ञान अविद्यारूप ही हैं। इस श्लोकका भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्यजी लिखते हैं—

"तस्य एव परस्य ब्रह्मणः प्रति देहं प्रत्यगात्मभावः स्वभावः ॥"

अर्थात्—उस पर ब्रह्मका प्रत्येक शरीरमें जो अन्तरात्म भाव है उसीका नाम स्वभाव है। आगे और स्पष्ट करते हैं।

"आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थ ब्रह्मावसानम् उच्यते अध्यात्मशब्देन, अभिधीयते ॥"

अभिप्राय यह है कि-शरीरको आश्रय बनाकर जो अन्तरात्मा भावसे उसमें रहने वाला आत्मा है वह शुद्ध निश्चयनयसे तो परं ब्रह्म ही है। उसी तत्व (स्वभाव) को अध्यात्म कहते हैं। अर्थात आत्माके शुद्ध स्वभाव को अध्यात्म कहते हैं, तथा जिस विद्यासे उस स्वभावका ज्ञान होता है उसे अध्यात्म विद्या कहते हैं। सांख्य मतमें प्रकृतिको भी अक्षर माना गया है इसीलिये श्लोकमें अक्षर के परम विशेषण लगाया गया है, जिससे यह शब्द आत्माका ही बोधक है। आगे अ० १० । ३२ ॥ में (अध्यात्म विद्या-विद्यानाम) कहकर इस मोक्षफल प्रदात्री अध्यात्म विद्याकी सर्व श्रेष्ठता बताई गई है। तथा च—

अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं तत्त्व ज्ञानार्थ दर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १३ । ११

यहाँ शंकराचार्यजी लिखते हैं कि—

"आत्मादि विषयं ज्ञानं अध्यात्म ज्ञानं तस्मिन् नित्य-भावो नित्यत्वम् ॥"

अर्थात्—आत्मादि विषयक ज्ञानका नाम अध्यात्म ज्ञान है।

इसके विपरीत सांसारिक प्रवृत्तिको अज्ञान समझना चाहिये।

तथा च अ० ७। २६ में आये हुए "अध्यात्म" शब्दका अर्थ भी आचार्यने

"प्रत्यगात्म विषयक वस्तु तद् विदुः।"

अर्थात्—अन्तरात्मविषय ही किया है।

अतः स्पष्ट है कि गीतामें निज आत्म ज्ञानका नाम अध्यात्म विद्या व अध्यात्म ज्ञान है।

उपनिषद् और अध्यात्म

उपनिषद् कारों ने इसको और भी स्पष्ट किया है। यथा—

अथाऽध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणः ॥ छा० १।५।३॥

णिच्चमणयदो दुचेदणा जस्स

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च॥ ४ ॥

अथामूर्तं प्राणाश्च। ५॥ बृ० २। ३॥

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म (भाव प्राण और द्रव्य प्राण) प्राणों को अध्यात्म कहते हैं। इसी प्रकारके अन्य प्रमाण दिये जा सकते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तरात्मा के ज्ञान को अध्यात्म विद्या अथवा इसी का नाम परा विद्या भी है।

परा विद्या

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्म विदो वदन्ति

परा चैवाऽपरा च ॥४॥ मुण्ड को० १ ॥

तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदऽथर्ववेदः ॥ अथपरा यया तद् क्षर मधि गम्यते ॥५॥

अर्थात्—दो विद्यायें जाननी चाहियें परा विद्या. और अपरा विद्या। ऋग्वेद आदि चारों वेद तथा तत् सम्बन्धी अन्य साहित्य ये सब अपरा विद्या अर्थात् सांसारिक विद्यायें हैं। तथा जिस विद्याके द्वारा यह अन्तरात्मा. प्रत्यगात्मा. विविक्तात्मा जाना जाता है वह परा विद्या है।

अर्थात्—उपनिषद् आदि अध्यात्म शास्त्रों को अपरा विद्या कहते हैं। निरुक्त कारके मतमें वेदोंमें अत्यल्प मन्त्र अध्यात्मिक हैं और उपनिषदों के मत से वेदों में अध्यात्म ज्ञान है ही नहीं। अथवा यदि है भी तो इतना गौण रूप से है कि वह नहीं के बराबर है।

इसकी पुष्टि गीता में की गई है। यथा—

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ २ । ४२
श्रुति विप्रति पन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चलाः ॥
तथा त्रैगुण्या विषया वेदाः ॥

अभिप्राय यह है कि जो वेदवादमें रत हैं वे लोग यज्ञादिकसे ऊपर आत्मिक ज्ञानको नहीं मानते तथा न ही मोक्ष आदिको मानते हैं। इसलिये ये लोग जब तक अध्यात्म ज्ञानमें स्थिर बुद्धि नहीं होंगे उस समय तक इनका कल्याण नहीं होने का। क्योंकि ये वेद तो त्रिगुणरूपी रस्सी है जिससे जीवोंको बाँधा जाता है। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण आचार्योंका तथा ऋषि आदिकोंका

इस विषयमें यही मत था कि वेदोंमें अध्यात्म विद्या नहींके बराबर है। जो है वह याज्ञिक आडम्बर अथवा देवताओंकी अलंकारिक स्तुतिओंसे तिरोभूत होकर प्रभाव हीन और निःसार सी दीख पड़ती है।

तथा च जो विद्वान प्रत्येक मन्त्रका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं वे लोग निरुक्त आदि सम्पूर्ण शास्त्रोंके विरुद्ध अपनी एकनई नीति का प्रचार करना चाहते हैं, परन्तु उनको निराश ही होना पड़ता है। सारांश यह है कि आध्यात्मिक मन्त्रोंमें भी, आत्मा(जीवात्मा) का वर्णन है, वर्तमान कल्पित ईश्वर का नहीं।

क्योंकि निरुक्तकारने स्पष्ट घोषणा की है कि अध्यात्म प्रतिपादक मन्त्र अत्यल्प हैं। यदि प्रत्येक मन्त्रके अर्थ अनेक प्रकारके होते तो निरुक्तकार को ऐसा लिखनेकी कुछ भी आवश्यक्ता न थी। तथा च स्वयं आर्य समाजके प्रख्यात विद्वान महामहोपाध्याय प० आर्य मुनिजी अपनी पुस्तक "वैदिक काल का इतिहास" में लिखते हैं कि—"जो लोग केवल आध्यात्मिक अर्थ करके वेदोंको दूषित करते हैं"

यहाँ विवश होकर पं० जी ने वेदों में इतिहास भी मान लिया है। जिसका वर्णन हम यथा प्रकरण करेंगे। यहाँ तो यह दिखाना है कि स्वयं आर्यसमाज के ही सर्व मान्य विद्वान भी वेदोंके प्रत्येक मन्त्रके आध्यात्मिक अर्थ करनेको वेदोंको दूषित करना मानते हैं। इसी बातकी पुष्टि 'ऐतरेयालोचन' में श्रीमान पं० सत्यव्रत सामाश्रमीजीने की है, आप लिखते हैं कि—

"अथापि तान्याध्यात्मादीनि नामतस् त्रिविधानि वस्तुतः पंचविधानि व्याख्यानानि नहि सर्वेषां मन्त्राणामुपपद्यते"

अर्थात अध्यात्म आदि तीन प्रकारके मन्त्र जो कि वास्तवमें पाँच प्रकार के हैं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक मन्त्रके तीन प्रकारके अथवा पाँच प्रकारके अर्थ होते हैं। पृ० १८३

अतः प्रत्येक मन्त्रके अनेक प्रकारके अर्थ करना वैदिक वांगमय. के सर्वथा विरुद्ध है।

परन्तु कुछ मन्त्र अध्यात्म वादके अवश्य हैं और वे आत्मपरक हैं ईश्वर परक नहीं।

तथा च निरुक्त अध्याय०३।२में (इनो विश्वस्य भुवनस्यगोपाः) ऋ० ३। १८। ९ की व्याख्या करते हुये लिखा है कि—

"ईश्वरः सर्वेषां गोपायिता आदित्यः।...

ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायिता आत्मा ॥"

निरुक्तकारने ईश्वरके चार नामोंमें एक "इन" शब्दकी ही व्याख्या की है। यहाँ आदित्यको ईश्वर माना है तथा आत्माको इसलिये ईश्वर माना है कि वह सब इन्द्रियोंका पालन करता है। बस यदि यास्काचार्यके मतमें वेदोंमें ईश्वरका कथन होता तो वह अवश्य इस स्थल पर (अथवा किसी अन्य स्थान पर) उसका वर्णन करते परन्तु ऐसा न करके सूर्यको ईश्वर बताना तथा आत्माको ईश्वर कहना यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि–निरुक्तके समय तक भारतमें ईश्वरकी मान्यता नहीं थी। यहाँ पर पं० सामाश्रमजीने लिखा है कि--

"तदत्र यद्यपि जडात्मकस्य आदित्यस्य चैतन्यात्मकस्य जीवात्मनश्चेश्वरत्वमुपात्तम्।"...

अर्थात्—यहाँ जड़ सूर्य व जीवात्माको ईश्वरत्व कहा गया है

इसके बाद पं० सत्यव्रतजीने यह लिख दिया है कि "इनका आश्रय होनेसे ईश्वरका भी बोध होता ही है जो यह उनका ईश्वर-विषयक मोह ही जान पड़ता है।

देवोंका अनेकत्व

वर्तमान समयके सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान श्रीमान पं० सत्यव्रत सामाश्रमीजी ने लिखा है कि—

"इत्थं हि नाम निर्वचनतः स्थाननिर्देशतः कर्मनिरुपणतः उत्पत्ति वर्णनतः ब्राह्मणविनियोगतः, तद्विहितमन्त्रार्थतः, देवलक्षणोदाहरण श्रुतितः, प्रत्यक्षदृष्टभौतिका देवास्मादग्ने गणित फलोपपत्तेश्च निर्णीतमेतत्—अयमेव पार्थिवो भौतिकोग्निर्मवत्रयज्ञेषु देव इति गृह्यते नान्यकश्चन" तथा च—

"देवशब्देन देवताभिधानाग्न्यादि शब्दैश्च न तस्य देव देवस्य ग्रहणं याज्ञिक संमतम्। अधिदैवत व्याख्याने चाग्न्यादि द्रव्यादि विज्ञानमेवाभिष्टमित्यग्नादिपदानामीश्वर वाचित्व व्यर्थ एव।" पृ० १८२ तथा च

वेदेषु चतुर्विधा देवा श्रूयन्त इत्येव फलितम्। तत्र अग्नि, वायु, सूर्या वैते त्रयोमुख्या देवाः। इध्मग्रावादयः परिभाषिका देवाः पृथिवी जल चन्द्रमःप्रभृयो बहव एव तन्मुख्यदेव सहचरादय इत्य मुख्यादेवाः

"ऋत्विग्यजमान विद्वांसस्तु गौण इति सिद्धान्तः।"

अर्थात्—"नामोंके निर्वचनसे, स्थान निर्देशसे, कर्मविभागसे,

उत्पत्तिके कथनसे, ब्राह्मणादि ग्रन्थोंमें विनियोग देखनेसे, अग्नि आदिके वर्णन करने वाले मन्त्रोंके अर्थोंसे, श्रुत आदिमें जो देवोंके लक्षण आदि किये हैं उनके ज्ञानसे, प्रत्यक्ष दीखने वाले ही अग्नि आदि भौतिक देव ही सर्वत्र यज्ञोंमें गृहीत हैं, यह निश्चित मत है याज्ञिकोंका। देवता शब्दसे अग्नि आदि शब्दोंसे उस देवाधिदेव ईश्वरका ग्रहण याज्ञिक मतमें नहीं है। तथा च—अधिदैवत व्याख्यानमें भी अग्नि आदि द्रव्यका ही ज्ञान अभिष्ट है अतः अधिदैवतपक्षमें भी अग्नि आदि शब्दों द्वारा ईश्वरका ग्रहण व्यर्थ ही है।"

इस प्रकार आपने अधियाज्ञिक और अधिदैवतपक्षमें ईश्वरका अभाव सिद्ध किया है। शेष रह गया अध्यात्मवाद उसका वर्णन हम यथा स्थान करेंगे।

तथा च आगे आपने देवोंके चार भेद बताये हैं।

(१) मुख्य—अग्नि, वायु (इन्द्र) व सूर्य, ये तीन मुख्य देव हैं।

(२) अमुख्य—मुख्य देवोंके सहकारी, पृथिवी, जल, चन्द्रमा, आदि अनेक, अमुख्यदेव हैं।

(३) पारिभाषिक—इध्म, अक्ष, ग्रावा, आदि पारिभाषिक देवता हैं।

(४) गौण—ऋत्विक्, यजमान, विद्वान आदि गौण देवता हैं।

अर्थात्—ये वास्तविक देवता नहीं हैं अपितु यज्ञ आदिमें देवताओंकी स्तुति आदि करते हैं इसलिये उपचारसे इनको भी देवता कह दिया गया है।"

जैन परिभाषामें इसका सार्थक नाम असद्भूत व्यवहारनय है। तथा च ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिखा है कि—

देवा हैव देवाः अथहैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः शुश्रु-वांसो अनुचानास्ते मनुष्यदेवाः ॥ षडविंश ब्रा० । १ । १

अर्थात् देवता तो देवता ही हैं, परन्तु जो विद्वान आदि मनुष्य हैं, उनको भी देवता कह दिया गया है।

जो लोग "विद्वांसो हि देवाः" को रटकर वास्तविक देवताओं का विरोध करते हैं उनको उपरोक्त प्रमाण ध्यानसे पढ़ना चाहिये। तथा च ब्राह्मणोंमें लिखा है कि—

यद् वै मनुष्याणां प्रत्यक्षं तद् देवानां परोक्षम्, अथ यन्मनुष्याणां परोक्षं तद्देवानां प्रत्यक्षम् ॥ तां० २२।१०।३॥

अर्थात्—जो मनुष्योंके लिये प्रत्यक्ष है वह देवोंके लिये परोक्ष है, और जो मनुष्योंके लिये परोक्ष है, वह देवोंके लिये प्रत्यक्ष है। और भी—

आहुतिभिरेवदेवा-प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्य देवान् ॥
शत० २ । २ । २ । ६

सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः ॥ शत० १।१।१।४ ॥ द्वे वै योनी इति ब्रूयात् देवयोनिरन्यः मनुष्ययोनीरन्यः प्राचीन प्रजनना वै देवाः प्रतीचीन प्रजनना मनुष्याः ॥ शत० ७ । ४ । २ । ४० ॥ तथा च प्रजापतिः प्रजा असृ-जत स उर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत ये आवां च प्राणास्तेभ्योमर्त्याः ॥ शत० १० । १ । २ । १ ॥ इत्यादि

अर्थ—यजमान आहुतिसे देवताओंको पुष्ट करता है तथा दक्षिणासे विद्वानोंको।

देवता सत्य (अमर) हैं और मनुष्य अनृत (मरणधर्मा) हैं।

पृथक पृथक दो योनियां हैं, एक देवयोनी, दूसरी मनुष्ययोनी, देवयोनि अन्य है। और मनुष्य योनि अन्य है। देवता, पूर्व अर्थात् प्रथम उत्पन्न हुए। मनुष्य पश्चात। प्रजापतिने श्रेष्ठ प्राणों से देवोंको बनाया तथा निम्न प्राणोंसे मनुष्योंको बनाया इत्यादि। इस प्रकार शतशः प्रमाण दिये जा सकते हैं जिनसे यह सिद्ध है कि देवता एक योनी विशेष है और उनकी पृथक पृथक सत्ता है। वेद स्वयं कहता है कि—

स्वाहाकृतं हवि रत्तन्तु देवाः। ऋ०·१०।११०।११

स्वाहा शब्द द्वारा प्रदान की हुई हविको देवता खाएँ। तथा वेदान्त दर्शनमें लिखा है कि—

अभिमानी व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ २।१।५॥

देवोंका दो प्रकारका स्वरूप है एक तो अग्नि आदिका प्रत्यक्ष रूप, दूसरा अग्नि आदिका अभिमानीदेव, जैसे मनुष्य आदिका प्रत्यक्ष शरीर तथा उनका पृथक पृथक अभिमानी जीवात्मा हैं।

इसी प्रकार देवताओंके दो दो रूप हैं। अभिप्राय यह है कि वैदिक विद्वानोंमें देवता विषयक विवाद था, कोई कहता था "पुरुष विधाः स्युः। तथा अन्योंका मत था अपुरुष विधाः स्युः"। (जैसा कि निरुक्तमें लिखा है) कि देवता पुरुषाकार है तथा अन्य कहते थे कि जड़ात्मक ही है। इसका समाधान व्यासजीने किया है कि—देवता बाह्यरूपसे जडात्मक है तथा अभिमानी देवत्व

के कारण पुरुषाकार भी है। परन्तु है पृथक पृथक ही। तथा च प्रत्येक सूक्त कर्ताने अपने अपने अभिष्ट देवताको सर्वश्रेष्ठ देव माना है तथा अन्य देवताओंको निकृष्ट सिद्ध किया है। यथा—

अग्नि वै देवाना मवमो विष्णुः परमः ॥

शत० १४।१।१।५

अग्नि निम्न देव है और विष्णु परम देव है। उसीमें सब अन्य देव हैं। इसी प्रकार अग्नि, इन्द्र आदिके स्तुति परक सूक्तों में अग्नि आदिको अन्य सब देवताओंमें श्रेष्ठ ठहराया है।

अभिप्राय यह है कि देवता पृथक पृथक भौतिक शक्तियाँ हैं। यहाँ नहीं अपितु इन देवताओंकी दुर्बुद्धियोंका भी वर्णन है, यथा—

(माते अस्मान दुर्मतयः) ऋ० ७। १ २२

अर्थ—हे अग्नि देव आपकी दुर्मतियां (भूमान्-चिन) भ्रम से भी हमारा नाश न करें?

इसी प्रकार रुद्रसे प्रार्थना की गई है कि—

मानो महान्तमुत मानो अर्भकम् ॥ ऋ०

तथा इन्द्रसे भी प्रार्थना की गई है।

(मानोवधीरिन्द्र ॥) आदि—

अर्थात्—हे रुद्र! आप हमारे पिता आदिको तथा छोटे छोटे बालकोंको मत मारो। तथा हे इन्द्रदेव आप हमारा वध मत करो तथा हमारे प्रिय भोजनोंको मत चोर? (अण्डा मा) तथा हमारे अण्डोंको भी मत चोर और चुरवाने?

इनसे ज्ञात होता है कि-वैदिक ऋषियोंको यह विश्वास था कि यदि इन देवताओंकी स्तुति, पूजा, आदि नहीं करेंगे तो ये हमारे पुत्र आदिकोंको मार देंगे तथा हमारा भोजन आदि भी चुरा लेंगे। अतः ये देवता एक नहीं अपितु पृथक २ अनेक हैं। तथा न, ये, ईश्वरकी भिन्न २ शक्तियाँ ही हैं क्योंकि इनकी दुर्बुद्धि आदि ईश्वर की शक्ति नहीं हो सकती।

देवताओं के वाहन

निरुक्त अ० २। ७। ६ में देवताओंके वाहनोंका कथन है :—

"हरी इन्द्रस्य रोहितः अग्निः हरितः आदित्यस्य, रासभौ अश्विनोः, अजाः पूष्णः पृषत्योमरुताम्, अरुण्योगावः उषसः श्यावाः सवितुः, विश्वरूपाः बृहस्पतेः नियुतोवायोः"

अर्थात्—दो हरे घोड़े इन्द्रके, लाल घोड़ा अग्निका, हरा घोड़ा सूर्यका, दो गर्दभ अश्विनीकुमारोंके, बहुतबकरे पूषाके, पृषती मरुतोंके, लाल गायें ऊषाके, काले रंगकी सविताके, सब रंगों वाली बृहस्पतिके,—चितकबरी गायें वायुके वाहन हैं।"

मूल संहिताओंमें भी इन वाहनोंका कथन है, यथा—

युंजाथा रासभं रथे, ऋ० १। ११६। २ (अश्विनौ देवता) इसी प्रकार ऋ० ७। २५। ५ में इन्द्रके घोड़ोंका कथन है तथा ऋ० ७। ६०। ७ में सूर्यके सात घोड़ों का उल्लेख है।

(अयुक्त सप्त हरितः) इसी प्रकार ऋ० १। १३८। ४ में पूषाके अजवाहन बताये हैं। इससे भी देवताओंकी पृथक पृथक सत्ता सिद्ध है।

देव पत्नियां

वेदोंमें ३३ देवोंकी ३३ ही पत्नियाँ मानी गई हैं, इसीलिये अथर्ववेदमें पत्नियों सहित ६६ देवता माने हैं। निरुक्त अ० १२।४ ११। में देव पत्नियोंका वर्णन है. वहाँ यह मन्त्र दिया है.—

देवानां पत्नी रुशतीरवन्तु नः, प्रावन्तु नस्तुजये वाज सातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते मा नो देवीः सुहवाः शर्मयच्छत ॥ ऋ० ५। ४६। ७॥

इससे अगले मन्त्र. ८ में उन देव पत्नियोंके नाम भी बताये गये हैं। यथा—

उतग्ना व्यन्तु देवपत्नी रिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनीराट्।
आरोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तुदेवीर्य ऋतुर्जनीनाम्। ८

प्रथम मन्त्रमें सामान्य तया देव पत्नियोंका कथन तथा उनके पृथिवी. अन्तरिक्ष आदि स्थानोंका कथन (जैसा कि देवताओंका है) किया है।

यहाँ निरुक्तमें, श्री यास्काचार्य लिखते हैं कि—

"इन्द्राणी, इन्द्रस्य पत्नी, अग्नायी अग्नेः पत्नी अश्विनी अश्विनो पत्नी, रोदसी रुद्रस्य पत्नी, वरुणानी वरुणस्य पत्नी।" आदि—

अर्थात्—इन्द्रकी पत्नी इन्द्राणी. अग्नि की अग्नायी, अश्विनी-कुमारोंकी. अश्विनी. रुद्रकी रोदसी. वरुणकी वरुणानी. पत्नी है।

यहाँ रोदसी शब्दको भाष्यकारने एक वचनान्त माना है. क्योंकि अथर्ववेदके इसी प्रकरणमें 'रोदसी' शब्द एक वचनान्त है

अतः यह स्त्री वाचक एक वचनान्त शब्द है, अतः जो विद्वान रोदसी शब्द को द्विवचनान्त ही मानते हैं यह उनका कथन ठीक नहीं है। द्यावा पृथवी वाचक रोदसी शब्द इससे भिन्न है।

अस्तु यहां प्रकरण यह है कि वैदिक देवताओं के जन्म, कर्म, स्थान, माता, पिता, पत्नियां, वाहन आदि सब पृथक पृथक हैं। इन सब प्रमाणों से देवताओं का अनैक्यत्व सिद्ध है। तथाच वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि—अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि पृथक पृथक कुलों के देवता थे। सब आर्यों के सब देवता नहीं थे। प्रतीत होता है कि याज्ञिक समय में इनका एकीकरण किया गया था। यथा 'मातरिश्वा' यह भृगु वंशियों का कुल देवता था। ऋ० १।६०।१ में है—(भरद् भृगवे मातरिश्वा) मातरिश्वा, अग्नि देवको मित्र की तरह भृगु वंशियों में ले जायें। इस श्रुति से अग्नि देवता का प्रचार भृगु वंशियों में करने की प्रेरणा है। तथा जो भृगु वंशियों का पूज्य देवता है। उससे इस कार्यके लिए प्रार्थनाकी गईहै। ऋग्वेदकी टीका में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है। कि बोथलिंक और रोथ के विश्व विख्यात कोशमें मातरिश्वा का अर्थ भृगु वंशियों का पूज्य देव किया है। तथा अग्नि, अंगिरा, अत्रि आदि कई कुलों के देवता थे। ऋ० मं०५ के दूसरे सूक्तमें कहा है कि—

अत्रेरव तं सृजन्तु निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु ॥६॥

अर्थात् अत्रि गोत्रोत्पन्न वृशका स्तोत्र अग्निको मुक्त करे। तथा अग्नि की निन्दा करने वाले स्वयं निन्दित है। अग्नि का निन्दक स्वयं इन्द्र देव थे।

परस्पर विरोध

आदित्यों की गणना

ऋग्वेद मण्डल. २ सूक्त २७ में ६ आदित्य माने गये हैं।

मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष, अंश। मण्डल. ९ सू० ११४ में ७ आदित्य कहे हैं। मण्डल. १० सू० ७२ में लिखा है कि अदिति के ८ पुत्र थे जिनमें से मार्तण्ड को त्यागकर बाकी के ७ को अदिति, देवों के पास ले गई तैत्तरीय ब्राह्मण में इन आदित्यों का उल्लेख है। यथा

धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश भग, इन्द्र और विवस्वान शतापथमें १२ महीने १२ आदित्य माने गये हैं।

महाभारत आदि पर्व अ० १२१ में बारह आदित्यों के नाम निम्नलिखित हैं।

धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान, पूषा त्वष्टा, सविता, और विष्णु।

३३ देव

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ।
अप्सु क्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० १। १३९। ११

परन्तु अब ऋग्वेद में ही २७० देवता हैं।

निरुक्तमें यास्कने दैवत काण्डमें १५१ देवता गिनाये हैं।

त्रीणिशता त्रीसहस्राण्यग्निं त्रिंशच्चदेवानव चासपर्यन ॥

ऋ० ३ । ६ । ६

३३३६ देवोंने अग्निकी पूजाकी है।

श्री० पं० भगवद्दत्त जी ने वैदिक वांगमय के इतिहास में, वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी का वाक्य लिखा है जो उन्होंने मीमांसकों के सिद्धान्त के विषय में लिखा है। यथा

"कैश्चित्तु मीमांसकैः वेदोपरमपुनिषद् न वाग् व्यवहारातीतम् ब्रह्म इति शून्यवाचो युक्तिरिति वदद्भिः अपहमितम्

पृ० २३०

अर्थात—कई मीमांसक उपनिषदों को वेद का बंजर भाग बताते हैं—उनका कहना है (वाग व्यवहार से रहित युक्ति आदि से विरुद्ध वर्णनातीत) शून्य ब्रह्म वेद का विषय नहीं है।" इस प्रकार से ये लोग ईश्वर वादियों का मजाक उड़ाते हैं।

सारांश यह है कि याज्ञिक लोग वेदों में ईश्वर का जिकर नहीं मानते उनके मतानुसार वेदों में यज्ञों का ही वर्णन है। सृष्टि आदि की उत्पत्ति का कथन सब 'अर्थवाद' मात्र अर्थात भक्तों की (भक्ति के आवेश में) कल्पना मात्र है। इसका विशेष कथन हम 'मीमांसा' प्रकरणमें करेंगे।

प्रजापति यज्ञ

शतपथ ब्रा० में लिखा है कि—

"अष्टौवसवः । एकादशरुद्रा द्वादशादित्याइमे एव द्यावापृथिवीत्रयस्त्रिंश्यौ, त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशस्तदेनं प्रजापतिं करोति एतद् वा…म एष प्रजापतिः सर्वं वै प्रजापतिः तदेनं प्रजापतिं करोति। श०४।५।७।२॥

अर्थात्—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, द्यौ और पृथिवी, ये ३३ तेतीस देव हैं। प्रजापति चौंतीसवां है सो इस यजमान को प्रजापति को बनाता है। यही वह जो अमृत है और अमृत है वही वह है। जो मरण धर्मा है वह भी प्रजापति है। सब कुछ प्रजापति है, अतः इस प्रजापति को करता हूं।"

यहां स्पष्ट रूप से यज्ञ को प्रजापति कहा है जो भाई प्रजापति का अर्थ ईश्वर करते हैं उन्हें विचार करना चाहिये कि यहां भी स्पष्ट लिखा है 'प्रजा पति करोति' अर्थात प्रजापति को करता हूं। तो क्या यह परमेश्वर को बनाता है। अतः सिद्ध है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ईश्वर का जिकर नहीं है।

श्रीमान पं० नरदेव जी शास्त्री ने अपने ऋग्वेद। लोचन के 'याज्ञिक पक्ष' में लिखा है कि याज्ञिक लोग वेदों को ऋषियों की अन्तः स्फूर्ति से उत्पन्न हुआ ज्ञान मानते हैं।

अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण आदि सभी देवताओं। को चेतना विशिष्ट मानते हैं। उनका यह विश्वास है कि संसार की प्रत्येक अचेतन वस्तु का भी एक अभिमानी देवता अवश्य होता है।

इनमें भी दोपक्ष हैं। एक पक्ष देवताओं को आकार वाला मानते हैं। मीमांसाकार को यह मत सम्मत नहीं है। उन्होंने इसका खण्डन किया है। दूसरा पक्ष देवताओं का आकार नहीं मानता साकार मानने वाला पक्ष यह कहता है कि—

इन देवताओं की साकार चेतन पुरुषों की भांति स्तुति की गई है। साकार पुरुषों की भांति उनके नाम भी हैं। साकार पुरुषों के अंगों के तुल्य इनके अंगोंकी भी स्तुतिकी गई है।"

यह वैदिक-धर्म कब का है

श्री०पं०नरदेवजी शास्त्रीने ऋग्वेद । लोचनमें लिखा है कि—

'हमारा प्रबल अनुमान है कि वैदिक धर्म्म और यज्ञपद्धति हिम युग के पश्चात् की है। इसके आदि मूल का पता लगाना कठिन है तो भी आदि आर्यो ने ध्रुव विशिष्ट लक्षणों से वैदिक देवताओं की निसर्ग शक्ति को देवताओं की पदवी दी है, वह दशा पुराणों में वर्णित मेरु स्थल अथवा उत्तरध्रुव प्रदेशों में रहने के समय की थी, इसमें सन्देह नहीं। हिमपात से इस स्थान का नाश हुआ फिर बचे हुये आर्य अपने साथ बची हुई सभ्यता और धर्म्म को लेकर वहां से चल पड़े, और उन्होंने धर्म्म और सभ्यता के इन्हीं अवशेषों पर हिमोत्तर कालीन धर्म की रचना की।

तथा श्रीमान् पं० जगन्नाथप्रसाद, पचौली गौड, सागर (सी० पी०) ने अपनी पुस्तक 'वेद और पुराण' में इसी विषय को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है।

तथा श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का भी यही मत था। इसी मत की पुष्टि, पं० उमेशचन्द्र विद्या रत्न, ने की है। सभी निष्पक्ष विद्वानों का प्रायः यही मत है।

सारांश

निरुक्त कार ने तीन प्रकार के ही मन्त्र बताये हैं, (१) प्रत्यक्ष

कृत, (२) परोक्ष कृत (३) अध्यात्मिक। इनमें प्रत्यक्ष कृत मन्त्रों में तो सूर्य, अग्नि आदि जड़ पदार्थों की स्तुति आदि हैं। तथा परोक्ष कृत, मन्त्रों में इन जड़ देवताओं का एक एक अधिष्ठाता देव मानकर इनकी स्तुति की गई है। अध्यात्मिक मन्त्रों में आत्मा का तथा उसके शरीर आदि का कथन है। इन्हीं को आधिभौतिक वाद, तथा आधि दैविक वाद और आध्यात्मिक वाद भी कहते हैं (इनमें से अधिभौतिक, वाद ही प्राचीन है, तथा आधि दैविक (याज्ञिक) वाद उसके पश्चात् का है (आध्यात्मिक वाद नवीन तर है। वैदिक आध्यात्म वाद में और वर्तमान अध्यात्म वाद में रात और दिन का अन्तर है, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे यहां तो यही प्रकरण है कि—इन तीनों प्रकार के मन्त्रों में वर्तमान ईश्वर का कहीं संकेत मात्र भी नहीं है। यह ईश्वर कल्पना भक्तों की भक्ति का आवेश मात्र है। न यह कल्पना वैदिक है, और न वैज्ञानिक।

विशेष विचार

वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में निम्न बातें भी विचारणीय हैं।

(१) सम्पूर्ण देवता उत्पन्न धर्म्मा हैं।

(२) सब देवता बिभक्त कर्मा हैं। अर्थात् प्रत्येक देवता के कार्य निश्चित हैं। तथा अग्नि का कार्य देवताओं को हवि पहुंचाना है। इन्द्रका कार्य असुरों को नष्ट करना है। वरुणका कार्य शन्ति है। अश्वि देवों का कार्य देवों की चिकित्साकरना है आदि आदि।

(३) सब देवों के शरीर, हाथ, पैर, मुख आदि हैं।

(४) सब देव वस्त्र, आभूषण, आदि पहनते हैं।

(५) सब के शस्त्र आदि पृथक पृथक हैं।

(६) सबके शत्रु मित्र. कुटम्बीजन हैं ।

(७) कोई देवता सात्विक प्रकृति का है तो कोई राजसी का तो कोई तामसी प्रकृति का है। जैसे इन्द्र मांस शराब आदि का सेवन करता है। इत्यादि-उपरोक्त बातों से भी स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक देवताओं में से कोई भी ईश्वर स्थानीय नहीं हो सकता।

दिग्पाल

चारदिशाओं के चार दिग्पाल हैं।

अग्नि पूर्व का. यम. दक्षिण का. वरुण. पश्चिम का सोम. उत्तर का।

पं० प्राणनाथजी

गुरुकुल कांगड़ी के सुप्रसिद्ध स्नातक. डा० प्राणनाथ जी विद्यालंकार. डी० एस० सी० (काशी) ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में एक लेखमाला. 'जम्बूद्वीप का धर्म्म. इतिहास. तथा भूगोल के नाम से प्रकाशित करनी आरम्भ की थी। परन्तु शोक है कि वह आगे न चल सकी।

यदि यह लेखमाला पूरी प्रकाशित हो जाती तो वैदिक विषय के अनेक रहस्य प्रकट हो जाते। आपने उसमें लिखा है कि—

"निरुक्त के लेखक 'यास्क' को यह पता ही न था कि वेद कहां से आये और किन लोगों के पुजारियों तथा पुरोहितों ने उन्हें बनाया। उनके इतिहास का भी उनको ज्ञान न था। यदि गम्भीर रूप से यास्क को पढा जाय तो यह भी मालूम पड़ जायगा कि उसको बहुत से संस्कृत शब्दों का उद्भव तक न मालूम था। जिस प्रकार ईसाई तथा पौराणिक धर्म को दबाने के

लिये दयानन्द ने वैदिकभाष्य किया है, उसी प्रकार कौत्स, चार्वाक, आदि वेद विरोधी पंथों के दवाने के लिये यास्क ने निरुक्त रचा। उसने आर्य भाषा के बहुतसे प्राचीन शब्दों की कपोल कल्पित भ्रमात्मक, असत्य पूर्ण, व्युतपत्ति दी। उसको इतना तक तो मालूम न था कि एक पदार्थ को सूचित करने वाले भिन्न भिन्न संस्कृत शब्दों में क्या भेद है।

गौ, ग्मा, ज्मा, भू, भूमि आदि शब्द सब उसके लिये पर्याय-वाचक हैं। उन शब्दों में क्या भेद है इसको प्रकाशित करने में वह पूर्ण रूप से समर्थ न था। निरुक्त की पद्धति का यह परिणाम है कि दयानन्द पंथियों ने वेदों में वर्तमान युग के नवीन नवीन आविष्कारों को निकालने का बीड़ा उठा लिया है। ऋग्वेद का ऐति हासिक पक्ष कितना महत्वपूर्ण है, इसका ज्ञान इसीसे हो सकता है कि ऋग्वेद के बहुत से राजा सूसा, सुमेर अक्कद, हित्त, फीनीशिया, मिस्र, आदि देशों के शासक थे। ※ तिथि, भूमि, लड़ाई वंश, आदि भी उनके ज्ञात हैं।" आदि आपने अपने इस पक्ष को प्रबल प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध किया है। वैदिक शब्दोंका मिलान उन उन देशों की प्रचीन भाषा से किया है उनमें आश्चर्य जनक साम्य है। आपने यह भी सिद्ध किया है कि इन्द्र आदि वैदिक देवता, मिस्र आदि देशों के राजा थे। तथा यह इन्द्र आदि उपाधिवाचक शब्द हैं। अर्थात ये शब्द राजाओं की उपाधि सूचक थे। इसी प्रकार वैदिक सृष्टि के विषयों में भी अनेक रहस्य प्रकट किये हैं। आपने बेबीलियन जाति में पुजने वाले प्राचीन देवताओं के चित्रों से वैदिक मन्त्रों के देवों का सुन्दर मिलान किया है। उन सबसे वैदिक देवताओं का रहस्य प्रकट हो जाता है।

※ नोट—पं० सात वलेकर जी द्वारा लिखित महाभारत की समालोचना से भी उपरोक्तमत की पुष्टि होती है।

लोकमान्य तिलक

श्री० लोकमान्य तिलक का कथन है कि "अथर्व वेद के मन्त्र तन्त्र तथा कलदी लोगों के जादू टोने बराबर हैं।"

कां० ५ सू० १३ के सांप उतारनेके, आलिगीता विलीगी, ऊरुगूला, तावुव, आदि शब्द कलदी जाति के ही शब्द हैं।"

अनेक विद्वानों का मत है कि 'अथर्व वेद' का नामकरण- ईरानी भाषा (अथ्रवन) शब्द के आधार पर रक्खा गया है। मन्त्र तन्त्र भी वहीं के हैं। 'अथ्रवन' का अर्थ पुजारी है।

अभिप्राय यह है कि वेदों में आधुनिकईश्वर की मान्यता का अभाव है। जिस प्रकार वेदों में ईश्वर की मान्यता नहीं है उसी प्रकार वेदों में सृष्टि उत्पत्ति का भी कथन नहीं है कथन की तो बात ही क्या है अपितु सृष्टि उत्पत्ति का बलपूर्वक विरोध किया गया है।

श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य, और वैदिक देवता

"आग्न्यादि देवतावर्ग कोई जड़ पदार्थ नहीं हैं, अग्नि आदि देवता कारण सत्ता व्यतीत अन्य कोई वस्तु नहीं है, यह सिद्धान्त सुदृढ़ करने के लिये ऋग्वेद में एक और प्रणाली अव- लम्बित हुई है। हम पाठकगणों को वह प्रणाली भी दिखा देंगे। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में ऐसा देखा जाता है कि, जभी उन स्थलों पर किसी देवता का उल्लेख किया गया है तभी ऐसी बात कही गई है कि, अन्यान्य देवता उस देवता को ही धारण करते हैं, उस देवता का ही व्रत धारण करते हैं, उस देवता की ही स्तुति करते हैं। वैदिक महर्षियों के चित्त में यदि अग्नि आदि देवताओं

को कारण-सत्ता या ब्रह्मस्वरूप' मानने का बोध न होता, तो हम ऋग्वेद में ऐसी उक्तियां देखने को न पाते। यदि अग्नि कोई स्वतन्त्र जड़ पदार्थ ही है, तो फिर यह बताना पड़ेगा कि अन्यान्य देवता किस प्रकार अपने में उस अग्नि को धारण करते हैं, किस प्रकार देवता उस अग्नि का व्रत व कार्य पालन करते हैं, और क्यों उस जड़ अग्नि की स्तुति करते हैं? इन प्रश्नों का समाधान नहीं मिल सकने से अनिवार्य रूपेण यही मानना पड़ता है कि अग्नि प्रभृति देवताओं में जो कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है वही स्तुति पात्र है, क्योंकि वही ब्रह्म सत्ता है। आगे हम कुछ मन्त्र लिखकर बताते हैं।

"देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्"

अग्नि देवासो अग्निमिन्धते । ६ ९६ । ४८ ।

त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवाः अभिसंनवन्ते

(६ । ७ । ४)

त्वया हि अग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः। यत्सी मनुक्रतुना विश्वथा विभुः अरान्न नेमिः परिभूर जायथाः ॥ ६ । १४९ । ९ ॥

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुहः २ । १ । १४ ।

तव श्रिया सुदृशो देव देवाः । ५ । ३ । ४ ।

अग्ने नेमिररां इव देवास्त्वं परिभूरसि । ५।१३।६।

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशयेकं मनो जविष्ठं पतयत्सु अन्तः। विश्वे देवाः समनसः सकेताऽएकं क्रतुमभिवियन्तिसाधु॥

(६ । ९ । ५)

अग्नि—सविता, मित्र, वरुण प्रभृति देवता धन प्रदाता अग्नि को धारण कर रहे हैं। रथ चक्र को अरियों को जैसे नेमि व्याप्त किये हैं। हे अग्नि ? तुम भी वैसे सब को सर्व तो भाव से व्याप्त कर रहे हो। तुम्हारे साहाय्य से वरुण स्वीय व्रत धारण करते हैं, मित्र अन्धकार नाश करते हैं, एवं अर्यमा मनुष्य की कामनाओं की सामग्री प्रदान करते हैं। सब देवता अग्नि का ही याग करते हैं, अग्नि में ही होम करते हैं।

प्रथमाभिव्यक्त अग्नि को सब देवता नमस्कार करते हैं। हे अग्नि ? अन्य सब अमर देव वर्ग तुम में ही अवस्थित हो रहे हैं, सभी देवता तुम्हारे आश्रित हैं। हे अग्नि ? तुम्हारा ही ऐश्वर्य देवताओंका ऐश्वर्य है। देवता अग्निमें प्रविष्ट होकर निवास करते हैं। प्राणियोंके हृदयमें अग्नि अचल ध्रुव ज्योति रूपसे प्रविष्ट है। सब इन्द्रियाँ इस नित्य अग्नि के समीप ही विविध विज्ञान रूप उपहार प्रदान करती हैं। सभी इन्द्रियाँ इस अग्नि की क्रिया का अनुवर्तन करती हैं॥ पाठक गण विवेचना कर देखें, इन स्थलों में 'अग्नि, शब्द द्वारा सब देवताओं में अनुस्यूत 'कारण सत्ता' ही जान पड़ती है। कारण सत्ता माने बिना, देवता अग्नि को धारण किये हैं, इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं बनता 'ध्रुव ज्योति' मन्त्र में अग्नि स्पष्ट ब्रह्म सत्ता रूप से वर्णित है॥

कठोप निषद् में आत्मा के सम्बन्ध में अविकल ऐसी ही बात देखिये 'ऊर्ध्वं प्राण मुन्नयति अपानं प्रत्य गस्यति। मध्ये वामन मासीनं विश्वे देवा उपासते, २।५।३ हृदय पुण्डरीका काशे आसीनं बुद्धाव भिव्यक्तं ... सर्वे देवा श्चक्षु रादयः रूपादि विज्ञानं बलि मुपाहरन्तो विशइव राजानं ... तादर्थ्येन अनुपरत-व्यापारा भवन्तीत्यर्थः (शंकर भाष्य) पाठक पढ़ लें, ऋग्वेद में अग्नि का वर्णन भी ऐसा ही है। अन्य स्थान में भी ऐसी बात है क्रतु' ग्रस्य वस योजुवंत ६।१।४ (क्रतुज्ञान एवं शक्ति)

*मरुत् नामक देवता के विषय में सुनिये—

यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते।८।९४।२।
आत्मा देवानां वरुणस्य गर्भः।१०।१६८।४।

मरुत् की गोद में आश्रित रह कर, देवता वर्ग निज निज व्रत वा क्रिया निर्वाह करते हैं। पाठक सोच लें, मरुत् का अनुभव कारण-सत्ता रूप से यहां हो रहा है। इसलिये इन्द्र को 'मरुत्वान' रुद्र को 'मरुत्वान्' कहा गया है। और इसी उद्देश्य से वायु को दूसरे मन्त्र में देवताओं का आत्मा माना है। वरुण के लिये लिखा है—

वरुणस्य पुरः...विश्वे देवा अनुव्रतम्।८।४१।७॥
न वां देवा अमृत आमिनन्ति व्रतानि मित्रा वरुणा ध्रुवानि।५।६९।४।
यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिवश्रिता।८।४१।६।

वरुण के ही सन्मुख सब देवता निज २ क्रिया सम्पादन करते हैं। हे मित्र वरुण ? कोई भी देवता तुम्हारे कर्मों का परिमाण नहीं कर सकता। रथचक्र की नाभि में जैसे अरियां ग्रथित रहती हैं, वैसे ही वरुण में त्रिभुवन ग्रथित हैं। इन स्थानों में वरुण,

* और यह भी है—"नव श्रिये मरुतो मर्जयन्तः। ५। ३। २। अग्निके ही आश्रयार्थ मरुद्गण अन्तरिक्ष का मार्जन करते हैं यह भी देखते हैं कि—अग्नि ही देवताओं का जन्म जानता है। ८। ३९। ६। सर्वत्र ही अग्नि शब्द द्वारा कारण सत्ता निर्देशित हुई है।"

शब्द कारण सत्ता को ही लक्ष्य करता है। सविता पर भी ऐसी ही उक्तियाँ मिलती हैं।

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रत मर्यमा न मिनन्ति रुद्रः
(२। ३८। ६)

यस्य प्रयाण मन्वन्यऽइद्ययुर्देवाः। ५। ८१ ३।

अभि यं देवी अदितिगृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा।
अभि सम्राजो वरुणोगृणन्ति अभिमित्रासो अर्यमासजोषाः
(७। ३८। ४)

तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्। ५। ६२। १

चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।

देवानामजनिष्ट चक्षुः। ७। ७६ १।

इन्द्र, वरुण, मित्र अर्यमा और रुद्र कोई भी सविता के व्रत वा कर्म का परिणाम नहीं कर सकता। सूर्य की गति के ही अनुगत होकर अन्यान्य देवता गमन करते रहते हैं। सूर्य की गति से पृथक् स्वतन्त्र रूप से किसी भी देवता का गमन सिद्ध नहीं होता। सविता द्वारा प्रेरित होकर ही, अदिति, वरुण, मित्र, अर्यमा प्रभृति देवता वर्ग सविता की स्तुति किया करते हैं। वह एक सूर्य सब देवताओं में श्रेष्ठ है, सविता मित्रादि देवोंका चक्षु है इत्यादि सब स्थानों में सविता शब्द कारण-सत्ता का ही बोधक है *। सोम शब्द भी कारण सत्ता का निर्देश करता है। पाठक दो चार मन्त्र देख लें।

---

* और लिखा है कि, सविता ही देवताओंके जन्मका तत्त्व जानते हैं 'वेद यः देवानां जन्म। ६।५१।२। "प्राणवीत् देवाः सविता जगत्" १। १५७। ११।

सोम—अस्य व्रते सजोषसो विश्वे देवासो अद्रुहः
। ९ । १०२ । ५ ।

विश्वस्यः उत क्षितयो हस्ते अस्य । ९ । ८६ । ६ ।

विश्वा संपश्यन् भुवनानि विचक्षसे । १० । २५ । ६ ।

तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे । ९ । ९२ ।२७।

जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः जनिता अग्नेः ।
जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता विष्णोः ॥
९ । ९६ । ५ ।

पिता देवानाम् । ९ । १०९ । ४, ९ । ८७ । २ ।

सोम के ही व्रत वा कर्म में अन्य देव अवस्थित हैं । विश्व के सभी प्राणी सोम के हाथ में हैं. सोम ही त्रिभुवन का वहन करता है यह विश्व, सोम की ही महिमा में स्थित है । सोम सब देवताओं का जनक है। इन सभी स्थलों में सोम-कारण सत्ता है ।

विश्वेदेवासस्त्रय एकादशासः । ९ । ९२ । ४ ॥

देवो देवानां गुह्यानिनाम आविष्कृणोति । ९ । ९५ । २

हे सोम ? तैंतीस संख्यक देवतावर्ग सभी तुम में ही तुम्हारे ही भीतर अवस्थित है । सोम ही समस्त देवताओं का जो गूढ़ नाम है उसे प्रकाशित करता है इन्द्र को लक्ष्य करके जो कुछ कहा गया है, सो भी यहां तत्व है ।

इन्द्र ! विश्वेत इन्द्र वीर्यं देवा अनुक्रतुं ददुः । ८।६२।७

न यस्य देवा देवता न मर्त्या आपश्चन शवसो अन्त मापुः ।१।१००।१५

यस्य व्रतेवरुणो यस्य सूर्य ।१।१०१।३
त्वां विष्णु र्बृहनक्षयो मित्रो गृणाति वरुणः ।
त्वां शर्धो मदत्स्यनु मारुतम् ।८।१५।६
समिन्द्रो अभृनुत मंचोणी समु सूर्यम् ।८।५२।१०

हे इन्द्र ? तुम्हारी ही प्रज्ञा एवं बलका अनुसरण कर अन्य समस्त देवता प्रज्ञावान एवं बलवान हैं। देवताओं में कोई भी इन्द्र के बल का अन्त नहीं पाता। वरुण और सूर्य प्रभृति देवता वर्ग इन्द्र के ही व्रत व कर्म में अव स्थित हैं। अर्थात् इन्द्र के ही कर्म का अनुसरण कर, सूर्य वरुणादि देवगण निज निज क्रिया करते रहते हैं* विष्णु, मित्र, वरुण और मरुत् प्रभृति देवता वर्ग, हे इन्द्र ? तुम्हारी स्तुति किया करते हैं। इन्द्र ही द्यावा—पृथ्वी को अपने कार्य में प्रेरण करते हैं एवं इन्द्र ही सूर्य को प्रेरणा करते हैं।। इन्द्र से विश्वप्रथित हैं.

"अरान्न नेमिः परित्ता बभूव" ।१।३२।१५।
विष्णु के विषय में लिखा है।
विष्णु । जनयन्ता सूर्य मुषा समग्निम् ।७।९९।४
न ते विष्णो जायमानो न जातो
देव महिम्नः परमन्त माप ।७।९९।२

विष्णु ने ही सूर्य, ऊषा एवं अग्नि को उत्पन्न किया है हे विष्णो ! कोई मनुष्य हो वा देवता हो—तुम्हारी महिमाका अन्त पाता नहीं। अश्विनी कुमारोंको लक्ष्य कर कहा गया है कि—

---

* देवताओंमें जो सामर्थ्य है, उसे इद्रने ही देवताओंमें रक्खा है। यद्देवपु धारयथा असूर्यम् (बलम्)—६ । ३६ । १

अश्वि—द्वय । युवमग्निञ्च वृषणावपश्च वनस्पतीं रश्विनावैरयेथाम् ।१।१५७।५।
युवंह गर्भं जगतीषु धत्थो युवं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ॥

अश्विनी कुमार ही अग्नि को उसके काम में लगाते हैं ॥
अश्विनी कुमार ही इस जगत् के गर्भ स्वरूप (कारण-बीज) हैं, एवं विश्व भर में टिके हुए हैं ॥

❀ पाठक । अग्नि, सोम इन्द्र, विष्णु, सविता, अश्विनिद्वय के सम्बन्ध में ऊपर जो उक्तियाँ उद्धृत की गई, वे निश्चय ही देवताओं में अनुस्यूत ब्रह्म सत्ता को लक्ष्य करती हैं । अन्यथा सारी उक्तियाँ निरर्थक ही पड़ेगी । फिर हम नाना स्थानोंमें ऐसी ही उक्तियां पाते हैं कि—अग्नि सब देवताओं का समष्टि-स्वरूप है, सूर्य भी सब देवों का समष्टि स्वरूप है, ऊषा भी आदित्यगण का समष्टि स्वरूप है एवं देवताओं की माता है ।

❀ 'त्रितन्नु उत्स' की ओर उपस्थित होता है" (१ । ३० । ६) । यह बात कही गई है । त्रितन्नु उत्स सत्त्व रज तमोगुणात्मक कारण सत्ता व्यतीत अन्य कुछ नहीं । सुतरां जलके मध्यमें कारण सत्ता का ही निर्देश किया गया है । जिस समय भारत वर्ष में घर २ में नित्य ही वेद-ग्रन्थ पढ़े जाते थे उस समय सभी लोग जानते थे कि ऋग्वेदमें व्यवहृत अग्नि आदि देवताओं का अर्थ क्या है तब किसीको भी भ्रम नहीं होता था । इस समय वेदोंकी आलोचना नहीं इससे किस अर्थमें वरुण अग्नि आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं सो बात लोग भूल गये हैं इसीलिये संध्या वन्दनादिके समय जलके प्रति प्रार्थना देखकर अनेक व्यक्तियोंको भासित होने लगता है कि मानो जड़की उपासना है ।

त्वमदिते सर्वताता (१।९४।१५), सनो यक्षत् देवताता, यजीयान् (१०।८३।१), स्तोमेन हि देवासो अग्निमजी जनत् शक्ति भिः (१०।८८।१०)

इन स्थलों में अग्नि देवताओं का समष्टि स्वरूप कथित हुआ है सूर्य भी देवताओं का समष्टि रूप है, सो भी देखिये,

इदमुत्यन्महिमहामनीकम् (४।५।९),

सूर्य—मण्डल ही सकल महान् देवताओं का समूह-स्वरूप है। ऊषा को भी देवताओं का समूह-स्वरूप कहा गया है।

माता देवानाम दितेरनीकम् (१।११३।१९)।

उसी प्रकार—इन्द्र के वज्र को मरुद गणों का समष्टि-स्वरूप मित्र का गर्भ-स्वरूप एवं वरुण का नाभि-स्वरूप माना है।

जल—इस उपलक्ष में हम पाठकों से और एक बात कहेंगे। अद्यापि दैनन्दिन उपासना और संध्यावन्दन के समय हिन्दू-गण 'जल की प्रार्थना किया करते हैं। और समुद्र, नदी भागी-रथी गंगा, यमुना आदिकी पूजा किया करते हैं। यह जल, जड़, नहीं, ऋग्वेद ने सो बात स्पष्ट कर दी है। जल के निकट जब प्रार्थना की जाती है, तब उस प्रार्थना का लक्ष्य जड़ जल नहीं हो सकता। जल में अनुस्यूत कारण सत्ता या ब्रह्म ही उसका लक्ष्य है जल के प्रति जो हमारी पूजा—प्रार्थना है वह जड़ोपासना नहीं चैतन्य घन परमात्मा की ही उपासना है। ऋग्वेद ने हमें जताया है कि—"वरुण देव मनुष्यों के पास—पुण्यों को देखते हुए जल में सञ्चरण करते हैं।" और ऋग्वेद से यह भी उपदेश पाते हैं कि अग्नि ही जल का गर्भस्वरूप है जल के भीतर अग्नि ही निरन्तर स्थित रहता है। यथा—

राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
(७।४९।३)

"वह्वीनां गर्भो अपसामुप स्थात्" (१।९५।४)
'गुहं गूढमप्सु' (२।३९।६) "वैश्वानरो यासु अग्निः प्रविष्टः' (७।४९।४) ३।१।३ एवं "सोम······अपां यद् गर्भोऽवृणीत देवनाम्" (९।९७।४१)

सोम जल का गर्भ स्वरूप है।

किन्तु हम ऊपर आलोचना कर चुके हैं कि ऋग्वेद में 'अग्नि' 'वरुण' प्रभृति शब्दों द्वारा, कार्य वर्ग में अनुप्रविष्ट कारण-सत्ता वा चैतन्य सत्ता ही निर्देशित हुई है। सुतरां पाठक वर्ग सहज ही में समझ लेंगे कि ऋग्वेद जब भी जल के निकट कोई स्तुति प्रार्थना करता है, तभी उसका लक्ष्य भौतिक जड़ जल नहीं किन्तु जल में ओत प्रोत 'कारण-सत्ता' ही है। कारण या ब्रह्म सत्ता के लिये ही प्रार्थना एवं उपासना की जाती है।

इस भांति भी आप समझ सकते हैं कि ऋग्वेद में जो देवता कहे गये हैं वे जड़ पदार्थ नहीं। ऋग्वेद की उपास्य वस्तु देवताओं में अनुस्यूत कारण-सत्ता अथवा ब्रह्म-सत्ता ही है।

एक ही मूलशक्ति भिन्न २ देवताकारसे प्रकट हुई है इस बात का स्पष्ट निर्देश—

हमने इतनी दूर तक, किस २ प्रणाली से ऋग्वेद में कारण-सत्ता निर्देशित हुई है इस विषय की आलोचना कर दी है, अब यह भी जान लेना चाहिये कि ऋग्वेद ने स्पष्ट स्वरसे भी कारण-सत्ता हमें बता दी है। एक ही कारण-सत्ता अग्नि वरुणादि भिन्न २ देवताओं के नाम से आहूत हुई है इस बात का ऋग्वेद

के नाना स्थानों में स्पष्ट उल्लेख है। दो चार स्थल उद्धृत किये जाते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुण मग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो-गरुत्मान्
एकं 'सद्' विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (१।१६४।४६)

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं 'सन्तं' बहुधा कल्पयन्ति। (१०।११४।५)

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
(८ । ५८ । १)

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥
(८ । ५८ । २)

अर्थात्—तत्वदर्शी जन एक ही 'सत्ता' का विविध नामों से निर्देश करते हैं। एक ही सद्वस्तु—इन्द्रनाम से, वरुण नाम से, अग्नि नाम से परिचित हैं। शोभन पक्ष-विशिष्ट गरुत्वमान् नाम से भी* पंडितगण उसे बुलाते हैं। वही सद्वस्तु अग्नि, यम और मातारिश्वा कही जाती है। सुपर्ण वा परमात्मा एक ही सत्ता मात्र है इस एक ही सत्ता को तत्व ज्ञानी गण विविध नामों से

* सोमको 'सुपर्ण' कहा जाता है। 'दिव्यः सुपर्णो अवक्षत क्षमा' (६ । ३१ । ६) प्राण शक्तिको भी 'सुपर्ण' कहते हैं। (अथर्ववेद द्रष्टव्य है) विष्णुको भी 'सुपर्ण' कहा जा सकता है। सूर्यको भी 'सुपर्ण' कहा है। "सुपर्णो अंग सवितु गरुत्मान् पूर्वोजातः" (१० । १४० । ३)

कल्पना करते हैं। बुद्धिमान् ऋत्विक् गण एक ही सद्वस्तु की बहु प्रकार से, बहुत नामों से, कल्पना करके यज्ञ सम्पादन किया करते हैं। एक ही अग्नि बहु प्रकार से बहुत स्थानों में प्रज्वलित हुआ करता है। एक ही सूर्य समग्र विश्व में अनुगत-अनुस्यूत हो रहा है। एक ही ऊषा सब वस्तुओं को विविध रूपों से प्रकाशित करती है। एक ही वस्तु विश्व में विविध वस्तुओं का आकार धारण कर रही है। इन मंत्रों में पाठक देखें, अग्नि, यम, मित्र, वरुणादि एक ही सद्वस्तु के नामान्तर और एक ही वस्तु के विविध आकार हैं।

देवता एक ही देवता के अंग प्रत्यंग स्वरूप हैं।

अग्नि, सूर्य, वरुणादि देवता एक ही सत्ता के, एक ही वस्तु के भिन्न २ रूप और भिन्न २ नाम मात्र हैं, यह तत्त्व ऋग्वेद में उत्तम रीति से मिलता है। इस तत्त्व को हम ऋग्वेद में एक अन्य प्रकार से भी देखते हैं। अग्नि की स्तुति करते हुए ऋषि अनुभव करते हैं कि इन्द्र चन्द्र वरुणादि सब देवता अग्नि के मध्य में अन्तर्भुक्त हैं— ये सब अग्नि के ही शाखा स्वरूप हैं। विष्णु की स्तुति के समय भी कहा गया कि—अन्यान्य देवता विष्णु के ही शाखा स्वरूप हैं*। बड़े प्रकांड वृक्षकी शाखा प्रशाखाएं जैसे वृक्षके ही अंग-प्रत्यंग स्वरूप हैं, वृक्ष की सत्ता में ही जैसे शाखा प्रशाखाओं की सत्ता है वैसे ही सभी देवता एक ही परम देवता के

* "वया" (शाखाः) इदन्याभूतानि अस्य" (२।३५।८)। 'अस्य देवस्य' 'वया विष्णोः" (७।४०।५) 'त्वे विश्वे महसःपुत्र देवाः" एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः इत्यादि (निरुक्त ।७।४)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी सूर्य, अग्नि प्रभृति देवतावर्ग की पुरुषके अंग प्रत्यंग रूप मे वर्णना की गई है।

अंग-प्रत्यंग स्वरूप हैं। उस परम देवता की सत्ता में ही इनकी सत्ता है, उस महा सत्ता के अतिरिक्त देवताओं की 'स्वतन्त्र' सत्ता नहीं। "यो देवानामधि देव एकः (१०।१२९।७)"। इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने—देवताओं का एक ही परमात्मा के अंग-प्रत्यंग रूप से स्पष्ट निर्देश किया है। अथर्ववेद ने स्पष्ट कहा है कि एक ही वस्तु अवस्था-भेद से भिन्न २ नाम ग्रहण करती रहती है।

स 'वरुण' सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रात रुद्यन्। स 'सविता' भूत्वा अन्तरिक्षेण याति स 'इन्द्रो' भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।।१३।३।१३।

श्री० पाण्डेय रामावतार शर्मा, के विचार

देवता प्रकरण

"अग्नि मीले" युग में उपासक अपने स्तुत्य देवता से स्वर्ग या मोक्ष की मांग करते नहीं मिलते, उनका जीवन ही उनके लिये अमृतत्व था, अतः वे जीवन को ही सुखी व चिरायु बनाना चाहते थे। कोई भी ऋचा वेद की ऐसी नहीं जिससे इस सम्बन्ध की आधुनिक दृष्टि का समर्थन किया जा सके। उनके तत्कालीन उत्साह पूर्ण आनन्दमय जीवन की तीन लालसाएँ थीं जिनका संकेत अग्नि की स्तुतियों में किया गया है वे ही लालसाएँ अन्य देवताओं की स्तुतियों में भी प्रधानता रखती हैं। उनके अनुकूल अग्नि के विशेषण तीन श्रेणियोंमें रक्खे जा सकते हैं।

१—ली श्रेणी में—पुरोहितं

२—री श्रेणी में—यज्ञस्य देव ऋत्विजं होतारं

३—री श्रेणी में—रत्नधातमं

पहली श्रेणी के विशेषण 'पुरोहितम्' में हितैषिता का भाव है और अग्नि को 'पुरोहितम्' कह कर कल्याणकारी कामों में अग्रसर रहने की जो कल्पना की गई है उसकी विद्यमानता सभी स्तुतियों में मिलती है। अग्नि-वरुण-इन्द्र विष्णु-रुद्र आदि की स्तुति इसी कारण की जाती थी कि उससे उनके उपासक कल्याण होने की दृढ़ आशा रखते थे। इसके उदाहरण स्तुति प्रधान ऋग्वेद में संग्रहित ऋचाओं में भरे पड़े हैं। ऐसे ही विश्वास में अग्नि को गृहपति व विश्वपति नाम दिये गये और पुरोहित उपाधि देने का कारण भी स्पष्ट किया गया—त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे। त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि वेषि च वार्यं।" इन्द्र की कृपा भी इसी विश्वास में चाही गई—"एवा न इन्द्रं वार्यस्य पूर्धिप्रते महीं सुमतिं वेविदाम।" जिस प्रकार निर्भयता से अग्नि कहा गया—"यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्या महं मित्रमहो अमर्त्यः" "न मे स्तोता मतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया" उसी प्रकार इन्द्र पर भी प्रकट किया गया यदिंद्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्।" अभिप्राय कि दोनों से कल्याण की कामना की जाती है। और विश्वेदेवा की स्तुतियों में ७ वें मण्डल के सूक्त ३५ में इस भाव की विशद व्याख्या मिलती है। वहां इन्द्र-वरुण-सोम-भग-अग्नि द्यावा पृथिवी आदित्य-रुद्र-वात आदि से स्वस्ति कामना के अन्त में कथित है—

ये देवानां यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासंतामुरुगाय मद्य यूयं पात स्वस्ति भिः सदा नः॥

दूसरी श्रेणी के विशेषण 'यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतारम्" स्तुति के व्यावहारिक अंग के द्योतक हैं। जिस प्रकार वैज्ञानिक किसी सिद्धान्त की सिद्धि में अनुसंधान रत हो व्यावहारिक उपचारों द्वारा सिद्धान्तों का पोषण करते हैं उसी प्रकार वैदिक ऋषि

अपनी स्तुतियों को स्थिर कर लेने पर उनकी सत्यता को याज्ञिक कृत्यों की कसौटी पर कसने में तत्पर हुए और 'अग्नि मीले' १ का क्रम समाप्त होने पर उनमें यज्ञों के अनुष्ठान की ओर विशेष ध्यान दिया। सामवेद और यजुर्वेद में इसी प्रगति का प्राधान्य है और ऋचाएँ भी वैसे ही यज्ञों से सम्बन्ध रखती हैं जिन यज्ञों के बल पर अग्नि को देवताओं के पास जाने की प्रार्थना में कहा गया है— "अग्ने यं यज्ञ मध्वरं विश्वतः परिभूरसि।" पर इन यज्ञों का विशेष स्थान पुरोहितम् के स्तुति-प्रधान मंत्र-युग के बाद है और इसी से उनका प्राबल्य भी धीरे २ संहिता-काल की समाप्ति पर ब्राह्मण ग्रन्थ कालीन युग में हुआ।

तीसरी श्रेणी का पद है 'रत्नधातमम्' जो स्तुति व यज्ञ द्वारा इष्ट लक्ष्य का परिचायक कहा जा सकता है। अग्नि की स्तुति की गई वह हितैषी माना गया और यज्ञों के ऋत्विज-होता की उपाधियों से सम्मानित किया गया पर किस विशेषताके कारण? स्पष्ट है कि वह रत्न को देने में समर्थ था और उसी रत्न के लाभार्थ सारा आयोजन उपासक को करना पड़ा। वह रत्न पृथ्वी के भीतर का केवल बहुमूल्य लाल-हीरा-जवाहरात ही नहीं थे पर अन्य मूल्यवान पदार्थ भी उनमें सम्मिलित थे और उन सबकी प्राप्ति के लिये उपासक की उपासना थी। उसकी व्याख्या भी एक स्तुति में वशिष्ठ द्वारा कर दी गई है—

गोमायुरदाद् अजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि।
गवां मंडूका ददतः शतानि सहस्त्रसावे प्र तिरन्त आयुः॥

लक्षमुकूल धन, विभूतियाँ लम्बी आयु और वीरपुत्र वे मूल्यवान रत्न थे जिनका देने वाला जान कर अग्निकी स्तुति की गई और अग्निके अलावा भी जिन देवताओंकी स्तुतियाँ उस काल के

आर्यों ने की उनसे भी इन्हीं की इच्छा की गई। इनकी प्राप्ति के मार्गके जितने विघ्न थे उनके नाशके लिये सुशिप्र–हरिताश्व इन्द्रकी अनेकानेक स्तुतियाँ वेदोंमें की गई और यथेच्छ सोम पान करा-कर इन्द्र को शत्रुओं के नाश के लिये सर्वदा सम्पन्न रक्खा गया। इन्द्रने अपने उपासकोंके हितार्थ अहि–वृत्र–शुष्ण–शंबर–नमुचि पिप्रु प्रभृति आर्य्यशत्रुओं का संहार भी किया, जिस वीरता की स्मृति में इन्द्र वृत्रहनोपाधि से विभूषित किये गये सुरेश्वर पद उन्हें बराबर के लिए प्रदान किया गया और उनकी श्लाघा में कहा गया—"एको देवत्रा दयसे हि मर्त्तान स्मिञ्छूर सवने मादयास्व।" ऐसी वीरता में इन्द्र को विष्णु ने बराबर साहाय्य दिया और त्वष्टु ने वज्र प्रदान किया। जिसके कारण इन्द्र के बाद विष्णु को भी सम्मान दिया गया और समय पाकर अपने अन्य सद्‌गुणों के कारण विष्णु उपासना में स्थान पा सके। इन्द्र यद्यपि इन्द्रासन के अधिपति बने रहे उनका मान उपासक मण्डली में धीरे २ घटने लगा। जैसे २ विघ्नों का भय जाता रहा और केवल धन व विभूतियों के संचय का यत्न किया जाने लगा. तब विष्णु के प्रतिउपासकों की धारणा हुई कि विष्णु के ही परमोच्चपद में अमृतत्व-मधु-का मंजुल स्रोत है—'उरु क्रमस्य स हि बंधुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्वउत्सः।" अब उपासक स्तोता विष्णु सुकृते सुकृत्तर' कहते 'विष्णु के सुन्दर सुखद् कृत्यों से धीरे २ परिचित होने लगे। उनने विष्णु को व्यापक देवता पाया, विष्णु का नाम उरुक्रम देकर लोकत्रय में उनकी व्याप्ति की कल्पना की गई। विष्णु के त्रिपदों के भीतर चराचर का निवास माना गया और परम पद देवताओं का प्रमोदस्थल कहा गया आचार के देवता वरुण को विष्णु का सम्बन्ध आचार से भी स्थिर किया गया। यजुर्वेद में विष्णु की ख्याति के जो मंत्र मिलते हैं उनमें

विष्णुके त्रिपद, त्रि अग्निरूप यज्ञ-रक्षक, विष्णु-विष्णु के यज्ञरूप व विष्णु के 'सोमशरीर रूप के वर्णन मिलते हैं। अथर्ववेद में भी विष्णु को संसार रक्षक व यज्ञरक्षक कह कर उनकी स्तुतियाँ की गई, और उनमें स्थापित गुणों के कारण उन्हें कुचर, गिरिष्ठ, त्रिविक्रम, गोपा, गोपति, शिपिविष्ट आदि उपाधियों से भी वर्णित किया गया और इन उपाधियों के महत्व पूर्ण अर्थों के अनुकूल विष्णु का मान उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। परम पूज्य अग्नि के सम्बन्ध में उनके द्वारा वनों के भस्म होने के भी उल्लेख हैं तो भी अग्नि के सम्मान में कोई अन्तर नहीं पाया जाता। इससे विदित होता है कि प्राकृतिक रहस्य का यथार्थ अनुभव उपासकोंका ध्येय था। वे प्राकृतिक शक्तियों से होने वाली बुराइयों से बचने के लिये भी उन शक्तियों की स्तुति किया करते थे, और चाहते थे कि उनके कोप द्वारा उनका कोई अहित न हो। इसी भाव से रुद्र की स्तुतियाँ की जाती थीं, यद्यपि रुद्र की आरम्भिक स्तुतियों में उनसे होने वाली क्षतियों का ही विवरण है। ऋग्वेद में उनके क्रोध से वज्रपात होने और जीव-जन्तुओं के नाश का वर्णन है। उनका नाम रुद्रन भी दिया गया है और उनका साथ मरुतों से भी कथित है। अथर्व वेद व यजुर्वेद में उनके शरीर का जो रूप-रंग कहा गया है, वह भी विचित्र है, अथर्व वेद में उनका पेट नीला पीठ लाल और ग्रीव नीला कहा गया है। और यजुर्वेद में शरीर का रंग ताम्र वर्ण बता कर नील ग्रीव व शिचितकण्ठ नाम दिए गये हैं। अनेक अनुपम औषधियों से भी उनका सम्बन्ध कहा गया है और उनमें जलाप एक विशेष औषधि है। रुद्र के ऐसे भयकारी होने पर भी उपासकों में रुद्र के प्रति अच्छी धारणाएं दृढ़ होती गई और धीरे-धीरे रुद्र शिव नाम से विख्यात होने लगे। सम्भव है कि वर्षा के समाप्त हो

जाने पर पृथ्वी की सुहावनी हरियाली द्वाराहृदय में आनन्द व शान्ति पैदा होने के भाव से प्रकृति के उपासकों ने रुद्र को शिव कहा हो और संहिता-काल के बाद शिव के सेवकों में सर्पों की कल्पना भी वर्षा- वर्णन के विचार से ही की गई हो। जो कुछ हो, शिव की धारणा उत्पन्न होने पर समाज में रुद्र का भी आदर बढ़ने का अवसर उपस्थित हुआ।

संहिताओं में मित्र अदितिपुत्र आदित्य सूर्य, सवितृ, पूषण, विवस्वन्त, द्यौ पुत्र, अश्विन, उषा, वात, सोम, चन्द्रमा, त्रित-आप्त्य, अपां-नपात, अजएकपाद, मातृश्वन, बृहस्पति और पृथिवी नामोंसे भी स्तुतियाँ की गई हैं पर उनमें भी हित व कल्याण के भाव ही प्रधान हैं और उनकी स्तुतियाँ आलंकारिक भाषामें उनके प्राकृतिक गुणोंके उल्लेखमें की गई हैं। विराट् विश्वमें जिसकी जैसी शक्ति मानव कल्याणके हितार्थ कार्य्य कर रही हैं उसके वैसे वर्णन की चेष्टा प्रार्थनाओं में विद्यमान मिलती हैं। और उन कार्योंसे जीवनको लम्बा व सुखद बनानेकी इच्छा व्यक्तकी जाती है। पृथ्वी वायु-लोक-नक्षत्र-लोक विष्णुके पदत्रय कहकर उनमें स्तुत्य देवताओंके निवास स्थान माने गये हैं, जिस विचार से वैदिक ऋषियोंके प्राकृतिक देवताओंका विभाग विवेचकों द्वारा तीन श्रेणियोंमें किया जाता है और यह भी निर्विवाद है कि स्तुतियोंने परम्परागत, चर्मचक्षुदृष्ट और दिव्य दृष्टिज्ञात तीन प्रकारके देवता थे जिस पर यास्क ऋषिने कहा है—

'तास्त्रि विधा ऋचाः परोक्षकृताः प्रत्यक्ष-कृता आध्यात्मिक्याश्च।'

परन्तु यह भेद आज समझाने के लिये ही है, उपासकोंकी दृष्टिमें ये देवता अभिन्न थे, सभी एक शक्तिकी सांस लेते अनुभव

किये गए और सबने मनोरथकी पूर्तियोंमें एकसा भाग लिया। ऋग्वेद स्वयं कहता है—

"न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे-सतो महांत इत्"

उपासकोंने ऋचाएं कम या अधिक संख्याके कारण कोई विशेषोक्ति या अन्तर नहीं माना। बैबिलोनियनपौराणिक आख्यायिकाओंके भावसे भी वैदिक स्तुतियोंके रहस्यकी तुलना कर, भावोंमें भेद प्रकाशित करनेकी चेष्टा वैदिक रहस्यको समझनेमें सहायिका नहीं हो सकती, क्योंकि वैदिक ऋचाओंकी बातें कोरी आख्यायिकाएँ नहीं हैं, वास्तवमें वे जीवनके अनुभव हैं जो अलं-कारिक भाषा में लखबद्ध हैं और उनमें भारतीय मस्तिष्ककी वह विशेषता भरी है जिसकी रुचि विभिन्नतामें ऐक्य स्थापनकी हुआ करती है। अतः वैदिक देवताओंकी स्तुतियाँ सभी एक सत्तात्मक हैं और विभिन्नतासे रहित हैं चाहे वे नररूपोपम हों वा जीव-रूपोपम बोधात्मक हों या भूतात्मक। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, नक्षत्र, वायु, बादल, जल, नदी, पर्वत, प्रातःकाल, वर्षाकाल आदि सभी विवेच्य तत्वोंमें 'अग्निमीले' के गायकोंने एक अद्भुत रहस्य का अनुभव किया और उनमें उन्हें विश्व कल्याणका भाव विद्यमान मिला, जिस अनुभवके बाद वे प्रजापतिकी सृष्टिके किसी भी तत्त्वको छोटा या बड़ा, लाभदायक या व्यर्थ कहनेको प्रस्तुत नहीं हुए। उसके द्वारा उनने एक विशाल यज्ञ सम्पादित होते पाया और यज्ञके सम्बन्धमें पीछे कहा गया—

"यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पति"।

इस प्रवृत्तिको व्यक्त करते कहा गया—

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्योनम आशि-

नेभ्यः । यजाम देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायसः शंसमा वृक्षिदेवाः ॥

स्तुतियाँ भी यही प्रमाणित करती हैं। यदि विश्वास व श्रद्धा-पूर्वक अग्निसे प्रार्थना की गई—"अग्ने ? हमारे नायकों की सम्पत्ति व कीर्ति दो" तो वरुण–इन्द्र–मरुसे भी चाहा गया—

"त्रिड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ।"

उसी प्रकार मरुतसे प्रार्थना की गई—

'ददात नो अमृतस्यप्रजायै जिगृत रायः सूनृता मघानि'

विश्वस्थानु जगत-गोपा सूर्य से दीर्घजीवनकी कामना की जाती है—

"पश्येमशरदः शतं जीवेम शरदः शतं"

इन्द्र व वरुण दोनोंकी उपयोगिताको स्वीकार करते कहा जाता है—

"वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा ।"

अश्विनने च्यवनकी जरावस्था दूर की, उसके जीवनको सुखी बनाया, उसे दीर्घायु प्रदान की, उसको युवावस्था प्राप्त कराई और बलि को भी युवा बनाया. यही तो उपासक भी चाहते थे तब अश्विन और अग्निमें कोई भी भेद नहीं था. पूषन द्वारा विघ्न दूर होते थे धनकी रक्षा होती थी और चौपायोंका हित होता था। विशेषता तो यह है कि कल्याणकी कामना उसी अबाध गतिसे पशु व वृक्षोंकी ओर भी प्रवाहित हुई और विश्वपोषणशक्तिका

दृश्य वहाँ भी वैसा ही मनोहर पाया गया। अनड्वान इन्द्रके लिये ऋचा है—

"अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो विचष्टे त्रयाञ्छक्रोविमिमीते अध्वनः। भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥"

विश्वास है कि अनडुहके सप्तानुपद–दोहनका ज्ञाता संतति व स्वर्गको प्राप्त होता है। ऋषभके प्रति भी ऐसा ही भाव प्रदर्शित किया गया—

"पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु।"

स्तुति भी पूर्ववत की गई—

"गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तुतनूबलम्। तत् सर्व मनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने।"

गायकी महिमा गाते हुए उसमें ऋत, तप और ब्रह्मका निवास बतलाया गया—

"ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः"

और पृथिवी–विष्णु प्रजापति आदि उसके वशमें माने गये। इसी प्रकार बाजपक्षी, बकरियों और घोड़ोंके साथ इन्द्र पूषन व अश्विन देवोंकी स्तुतियाँ की गई हैं। सर्व भार वाहिनी पृथिवीकी स्तुति माता कहकर की गई और पृथ्वी को विश्वंभरा–हिरण्यवक्षा जगतनिवेशनी–अक्षतोऽध्यष्ठा–औषधिमाता कहकर चाही गई है—

सत्यं बृहतमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ती सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

अथर्ववेद वैसी स्तुतियों से भी भरा है जिनमें 'रत्न धातमं' के व्याख्यात्मक प्राप्य रत्न व उनके पाने के साधनों के विवरण दिये गए हैं। इसी कारण अथर्ववेद लौकिक विभूतियों से ही सम्बन्ध रखने वाली प्रार्थनाओं का संग्रह समझा जाता है। यदि ऋग्वेद में हित-साधन की विद्या है तो यजुर्वेद में व्यवहारात्मक विचार प्रदर्शित किए गए हैं और अथर्ववेद उनसे उत्पन्न होने वाली विभूतियों से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में स्तुति विश्वपुरुष के विराट् विश्व यज्ञ के सिद्धान्त का व्यवहारमय विवरण यजुर्वेदके सवमेध पुरुषमेध अश्वमेध और प्रवर्ग्य सम्बंधी मंत्रों में किया गया। प्रवर्ग्य का स्पष्ट अभिप्राय है कि यह संसार एक कड़ाही रूप है जिसके नीचे कर्माग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है, उस कड़ाही में मनुष्य रूपी दूध उबालने की क्रिया जारी है और उस कृत्य से प्रस्तुत यज्ञ फल विश्व पोषण निमित्त ही है। ये यज्ञ किसी के प्रतिहिंसा या घृणा या आघात नहीं चाहते, बल्कि उनका ध्येय है—

"मित्रस्याहञ्च चुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे॥"

इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अथर्ववेद में विभूति संचय के प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया। विभूतियों की प्राप्ति के मार्ग में आने वाले विघ्नों को दूर करने के उपाय सोचे गये, शत्रुक्षय के लिये युद्धआयोजन किए गए, वीरता की आशाएँ सुपुत्रों में रक्खी गई, ब्रह्मचारियों के जीवन में मंगल व बल की कामना की गई और राजा व नायकों के सबल होने पर ध्यान दिया गया। जो चमत्कार द्वारा धनधान्य, स्वस्थ जीवन प्राप्त करने के उपाय जानते थे वे अपनी चेष्टा में रत हुए।

आचार-पालन में झूठ के त्याग, जुआड़ियों के दुःखद जीवन का उदाहरण ग्रहण और पारवारिक जीवनमें एकताकी शिक्षाएँ भी की गई। इसका अधिक भार ऋग्वेद पर ही था और उसने वरुण की स्तुतियों में उन्हें सदाचार का देवता बना रक्खा था। अथर्ववेद ने उसीके अनुकूल वरुण देव से पाखण्डियों व अप्रत्यवादियों को दण्डित करने की प्रार्थना की। ऋग्वेद की दानस्तुति के सादृश वचन कुन्ताप सूक्त में देकर विभूतियों के सम उपयोग की शिक्षा अथर्ववेद में प्रस्तुत की और औषधियों के वर्णन से रोगों का नाश कर जीवन को नीरोग रखने का उपाय सोचा। इस प्रकार ऋग्वेद की आरम्भिक स्तुति की पूर्ति चारों संहिताओं की ऋचाओं में की गई और उनमें एक लक्ष्य का सम्पादन करते हुए इस भूतल पर स्वर्ग-सुख-साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रदर्शित किया गया, जिसकी स्मृति में आज तक आर्य ऋषिवंशज प्रसिद्ध गायत्री के पाठ में जपा करते हैं—

ॐ भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।

वैदिक स्तुतियों में देवताओं के गुण-शौर्य-विवरण में विश्व-वाद व सृष्टि-परक सम्मतियाँ भी ऋषियों ने व्यक्त कीं, पर वे इतनी गूढ़ थीं कि वर्षों बाद का चिन्तन भी उन्हें स्पष्ट नहीं कर सका और 'वेदोऽखिलो धर्म्म मूलम्' को स्वीकार करते हुये भारतीय दार्शनिक संहिता-युगके बाद बराबर वैदिक विचारों पर मनन करते रहे। उसी मनन की श्रृंखलामें अनेक दार्शनिक धारणाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ऋचाओं के रहस्य को समझने में असमर्थता

की अवस्था में कल्पना व तर्क का आश्रय ले विवेचकों को वेद की सत्ता स्वीकार करते भी अपनी २ रायें देनी पड़ी जिससे उनमें विभिन्नता तो अवश्य आई पर सनातन तारतम्य बनाये रखने का यत्न भी समय २ पर धीमानों ने तत्परता से किया जिसके फल स्वरूप वैदिक धारणाओं से सुदूर आ जाने पर भी हिन्दू वेदों को प्रिय समझते रहे और अपनी आस्तिकता को वेद-सम्मत रखने में गौरव माना—

स्तुति काल के विश्व-वाद के तीन रूप संहिताओं में दिखाई पड़ते हैं। साधारण विचार था कि 'द्यावा पृथ्वी' (रोदसी-क्षोणी) आकाश व मृत्यु लोक एक में मिले हैं, ये दो लोक हैं, दोनों दो बड़े चम्बा की तरह मिले हैं या एक अक्ष के दो सिरों पर दो चक्र के समान स्थिर हैं। पृथ्वी, भूमि, क्षमा-क्षा-मही, ग्मा, उर्वी-उत्ताना अपरा आदि और आकाश दिव-व्योमन-रोचन आदि नाम से भी ऋचाओं में वर्णित किये गए। पीछे विष्णु के त्रिसदस्थ की कल्पना में इन दो के स्थान में तीन लोकों की धारणा चल पड़ी। माना जाने लगा कि विश्व तीन लोकों में विभाजित है। पहला लोक यह रत्न वसा पृथ्वी है। जिसके ऊपर मनुष्य जीव, नदी, पर्वतादि दिखाई पड़ते हैं, दूसरा लोक वायु मंडल का है जिसके ऊपर नक्षत्र-लोक व नीचे पृथ्वी-लोक है, बिजली, वायु-वर्षा बादल इसी दूसरे लोक के पदार्थ हैं और इसीलिए यह लोक कृष्ण वर्णका जल वाला भी कहा गया है, तीसरा लोक नक्षत्र या स्वर्ग लोक है जो वायु लोक के] ऊपर है, वह देवताओं का स्थान है और देव-सदृश अमर पितर भी उसी लोक में चन्द्रमा के साथ निवास करते हैं। पृथिवी के रत्न वहाँ पितरों को सहज ही प्राप्य हैं। मृतों के राजा यम से पितरों का साक्षात् वहीं होता है और उस देवमान-सदन में यम अपनी बहन यमी

के साथ वीणा-स्वर-संयुक्त संगीत में विनोद करते हैं। पीछे विश्व, सप्तधामों में विभाजित जाना गया। पृथ्वी के इतर लोक स्वर्ग का विवरण भी उनके मंत्रों में पाया जाता है और वह देवताओं तथा पितरों का निवास स्थान कहा गया है। मरने पर वह स्वर्ग उन्हीं को प्राप्य बतलाया गया है जो कठिन तप करते हैं, जो धर्मात्मा हैं, जो युद्ध स्थल में अपनी जान की चिन्ता नहीं करते हैं और जो याज्ञिक क्रियाएँ और दान करते हैं। स्वर्ग तीसरा लोक है. विष्णु का परमोच्च पद है, पितरों व यम के रहने का स्थान है और नित्य प्रकाश-समन्वित है। वहाँ पहुंचने पर कोई भी मनोरथ शेष नहीं रह जाता, जरावस्था दूर हो जाती है, दिव्य देह की प्राप्ती होती है, माता-पिता-पुत्र-स्त्री आदि स्वजनों से संयोग होता है, शरीर की कुरूपता जाती रहती है, और रोगादि पलायमान हो जाते हैं। वहाँ के प्रकाश का अन्त नहीं होता, जल-स्रोत निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं, आनन्द की कमी नहीं होती, पृथ्वी के सर्वोत्तम सुखों से भी सैकड़ों गुणा श्रेष्ठ सुख वहाँ प्राप्त होता है, घी-मधु-दूध-सुरा का वहाँ प्राचुर्य है, काम दुग्धा गाएँ सहज लभ्य हैं और धनी दरिद्र का कोई भी अन्तर नहीं है। धर्मात्माओं के लिये स्वर्ग की कल्पना कर लेने पर नरक या दण्ड के स्थान की कल्पना स्वाभाविक ही थी और अवेस्ता के सदृश अथर्व वेद में स्वर्ग लोक के प्रतिकूल 'नरकलोक' का चित्रण मिलता है। यह घोर अन्धकारमय कष्ट प्रद स्थान हत्यारों के लिये है, पापी-पाखंडी-झूठे उसी को प्राप्त होते हैं और इन्द्र-सोम द्वारा बुरे कर्म करने वाले उसी स्थान को भेजे जाते हैं।

पृथिवी स्वर्ग और नरकके उपर्युक्त विचारोंके रहते भी संहिता में सृष्टि-परक स्पष्ट विवरण नहीं मिलते। इस सम्बन्ध के जो

कुछ वर्णन रूपकों में कथित हैं, उनके शाब्दिक अर्थों से निश्चित अभिप्राय निकालना आज कठिन है। मंत्रों में माता पिता द्वारा सृजन के सदृश उल्लेख हैं और जिन देवताओं से विश्व का धारण किया जाना वर्णित है उनकी भी उत्पत्ति के संकेत दिये गए हैं। इन्द्र, त्वष्टा, वरुण, विष्णु, अग्नि, मरुत आदि देवता विश्व को धारण करने वाले कहे गये हैं। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में सृष्टि रहस्य पर प्रकाश डाला गया है पर वह भी अलंकारिक वर्णन है उसमें कथित विराट पुरुषही सृष्टि-कर्ता प्रजापति स्वीकृत हैं और नक्षत्र-पृथिवी-वायु आदि तत्व उसी से उत्पन्न कहे गये हैं। उस सूक्त के अतिरिक्त अन्य सूक्तों में भी हिरण्य गर्भ प्रजापति उत्तानपाद आदि के सम्बन्ध में जो बिखरी राएँ हैं उनमें सृष्टि-विषयक अस्फुट बातें हैं जिनको आधार बना कर ब्राह्मण काल में पृथिवी के बनने के सम्बन्ध में वराह, कच्छप आदि के आख्यान उपन्यस्त किये गए—

विश्व वाद तथा प्रकृति-रहस्य पर निरन्तर विचार करते रहने के कारण आर्य ऋषियों में दार्शनिक विचारों पर जैसा विकास हुआ उसका क्रम भी उन्हीं स्तुतियों से स्थूलतः स्थिर किया जा सकता है। अनुभव व ज्ञान के लिए किये गए प्रश्न व शवदाह के अवसर पर उत्पन्न विचारों से प्राचीनतम काल के आर्यों में दार्शनिक मनन का आरम्भ हुआ। श्रेष्ठ वरुण से इन्द्र के पास पहुंचे हुये आर्य-हृदय में तब शक्ति शाली इन्द्र पर भी संदेह होने लगा, लोग कहने लगे—

'कुह सेति' नैषो अस्ती त्येनम्।

* जिस पर इन्द्र के प्रति श्रद्धा व विश्वास की मांग की गई

* ऋग्वेद० २।१२।५॥ घोर मतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्। यहाँ इन्द्रको घोर भयानक भी कहा है।

और स्वयं इन्द्रको भी प्रत्यक्ष होकर विश्वसाधारणको प्रकट करना पड़ा। परन्तु वह ज्ञान लिप्सा शान्त नहीं हुई ज्ञानेच्छु तत्वदर्शी इन्द्रसे सर्वपति हिरण्यगर्भ प्रजापतिको पहुंचे. वह प्रजापति बृहस्पति व ब्रह्मणस्पतिके नामसे भी सम्बोधित किया गया। उस दशामें अनेकदेवताओंमें एक महिमान महादेव विश्वस्रष्टा जान बहुदेवत्वकी धारणाका उनने त्याग किया. वे निस्सन्देह कहने लगे—

"यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम।"

कुछ और मनन के उपरान्त उनका अनुभव और आगे बढ़ा व व्यक्त करने लगे—

"तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं। तुच्छ्ये नाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकं।"

वह एक चैतन्य था और उसके मनमें काम उत्पन्न हुआ. कामसे अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हुई और तब ध्यान द्वारा ऋषियोंने व्यक्ताव्यक्तके सम्बन्धका आविष्कार किया. पर वे बराबर अपनी खोजमें सशंक बढ़ते रहे और वे सोचते जाते—

"यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।"

यह शंका आने वाली युगोंमें उनके वंशजोंके हृदयमें बनी रही और इसकी व्याख्यामें भारतीय दर्शनकी धारणाएँ निरूपित होती रहीं। इसी सिलसिलेमें कुछ ऐसे विचार भी उद्भावित हुए जिनका अभिप्राय पीछे साफ २ विदित नहीं होनेके कारण उन पर कल्पनाएँ कर आख्यान रचनेका यत्न विद्वानोंने किया।

पुरूरवा–उर्वसी, यम–यमी और सूर्यासूक्त पर रचित आख्यायिकाएँ अनेक वेदेतर ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं और उन्हींके अनुकरण में विष्णुके त्रिपद पर बलि–वामनकी कथा भी पुराणोंमें गढ़ी गई। यह प्रवृत्ति वेद मन्त्रोंके सर्व धर्म्म मूलत्वकी प्रतीतिको प्रमाणित करती है और यह विचारनेका अवसर बनाती है कि 'अग्नि मीले' के स्तुतिवाद पर भारतीय ईश्वरवादका विकाश किस प्रकार किया गया।"

साधक भेद से दैवत भेद

अनेक विद्वानोंका मत है कि वैदिक देवताओंमें तो भेद नहीं है, साधकके भेदसे उनमें भेद कर दिया गया है। उनका कथन है कि–

केवल कर्मी और ज्ञान विशिष्ट कर्मी—ये दो श्रेणी के साधक हैं। द्रव्यात्मक और भावनात्मक यह दो प्रकार के यज्ञ है, इस यज्ञ के फल पितृयान और देवयान मार्गद्वय से साधकों की गति होती है। यह सब तत्व ऋग्वेद में मिल जाता है। प्रिय पाठकों ने जान लिया है कि उपनिषद् और वेदान्त सूत्रों के भाष्य में श्रीशंकर स्वामी जी ने भी इसे दो प्रकार के साधन का ही निर्देश किया है।

ऋग्वेद के सूक्त दो श्रेणियों में विभक्त हैं।

१४। हम यदि ऋग्वेद के सूक्तों का विशेष मनन करते हैं एवं भले प्रकार आलोचना करते हैं, तब भी यही सिद्धान्त अनिवार्य हो उठता है देवताओं के उद्देश्य से विरचित सूक्त अधिकारी भेद से प्रधानतः दो प्रकार के ही देखे जाते हैं। ऊपर जो दो प्रकार की उपासना एवं दो श्रेणी के साधन देखे गये हैं* तदनुसार

* "अश्रमिणो अर्गिनस्त्र 'कार्य, ब्रह्मोपासकाः हीनदृष्टयः। 'कारण ब्रह्मोपासकाः मध्यम दृष्टयः। अद्वितीय ब्रह्मदर्शन शीलास्तु उत्तम दृष्टयः। उत्तम दृष्टि प्रवेशार्थं दयालुना वेदेनोपासना उपदिष्टा" गौडपादकारिका भाष्य व्याख्यायाम् आनन्द गिरिः।१।१६।

ऋग्वेद के सूक्त भी दो श्रेणियों में विभक्त हैं। ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, सूर्य, प्रभृति देवताओं के प्रति कुछ ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं कि ये मनुष्योचित गुणग्रामविशिष्ट हैं। दृष्टान्त के लिये, इन्द्रादि देवताओंके रथ, अश्व, सारथी, भूषण, केश, श्मश्रु हस्त प्रभृति का उल्लेख किया जा सकता है। इतना ही क्यों, कितने ही सूक्तों में देवताओं में मनुष्यों की भांति क्रोध, हिंसा आदि का होना लिखा हुआ है। हमारा विश्वास है कि, इस प्रकार के सूक्त निकृष्ट साधकों के पक्ष में कथित हुए हैं। जो लोग अग्नि आदि कार्यों को स्वतंत्र शक्ति-ज्ञानशाली देवता समझ कर सकाम यज्ञों का अनुष्ठान किया करते हैं—यह आदर्श उनके ही लिये है।

जो लोग ऐहिक सुख समृद्धि के अतिरिक्त परकाल और परब्रह्म की बात किंचित् भी नहीं जानते, उनके मन में धीरे-धीरे ब्रह्म का प्रकाश डालनेके उद्देश्य से, प्रथमतः मनुष्यके साथ तुल्य गुणादि विशिष्ट रूप से ही देवता का आदर्श उपस्थित किया गया है। यदि केवल कर्मी संसारी पुरुषों के आगे एकबार ही मनुष्य राज्य के बाहर वाला निर्गुण निष्क्रिय उपास्य देव का आदर्श लाया जाय, तो निकृष्ट साधक उससे भी लाभ नहीं उठा सकता। साधारण साधक के चित्त में ऐसा उच्च आदर्श चढ नहीं सकता। अस्तु देवताओं के रथ, सारथी आदि का वर्णन करने वाले मंत्र कार्यावस्था के सूचक हैं।

किन्तु जब देवोपासना करते करते चित्त शुद्ध निर्मल होकर स्थिर होने लगा जब चित्त उन्नत होकर अग्नि आदि कार्यों की स्वतंत्र सत्ता के बदले उनके भीतर अनुस्यूत हुई कारण सत्ता*

---

* "कारण, ब्रह्मोदासका मध्यम दृष्टयः आनन्द गिरि एवं शंकर। (कदा नेमर्त्या 'अमृतस्य धामे -यदन्तो न मिनन्ति स्वधावः।६।६३।३

था ब्रह्म सत्ता को समझने लगा और ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र पड़ने लगा, जब भिन्नता को छोड़ कर एकता की ओर चित्त चलने लगा, तब उपास्य आदर्श भी भिन्न भांति का खड़ा हो गया। उस समय जैसे इन्द्र देवता अपरिमित अपरिच्छिन्न पृथिव्यादि का सृष्टि कारक जगत् का आधार जान पड़ा वैसे ही अग्नि सोमादि देवता भी ब्रह्मरूप समझ पड़े। इस प्रकार देवताओं की क्रिया का अपरिमितत्व एवं सब क्रियों में अनुप्रविष्ट कारण सत्ताकी एकताकी ओर साधकका चित्त प्रभावित होने योग्य हो जाता है। इसी उद्देश्यसे वेदमें ऐसी वर्णना निबद्ध हुई है, कि एक ही अग्नि विविध आकारोंसे आकाश, अन्तरिक्ष भूलोक ओषधि एवं जलमें अवस्थित हैं। एक ही इन्द्र सूर्यरूपसे नक्षत्ररूपसे अग्निरूपसे और विद्युत रूपसे अवस्थित है फिर इन्द्र अग्नि सोमादि, देवताओंका 'विश्वरूप' नामसे भी वर्णन किया गया है। इन सब वर्णनोंका एक ही उद्देश्य है। देवताओंकी क्रियावलि यदि एक ही प्रकार की है, तो सब देवता मूलमें एक हैं—सुतरां ये स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है—यह महातत्त्व विकसित कर देना ही उक्त सम्पूर्ण विशेषणोंका उद्देश्य है।

देवताओं और मूलसत्तामें कोई भिन्नता नहीं।

हम इस विषय पर यहाँ कुछ विशेषण उद्धृत करते हैं। हम इन विशेषणोंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर लेंगे। हम दिखलावेंगे कि—(१) देवताओंके कार्योंकी भिन्नता कथनमात्र है। उनके कार्योंमें कोई भिन्नता नहीं। (२) देवताओंके नामोंकी भिन्नता भी कथनमात्र है, उनके नामोंमें कोई भिन्नता नहीं है। देवता सर्व-

---

अमृत का धाम कारण सत्ता या परमपद है। उसमें मनुष्य गण कब योग करेंगे ?

व्यापी, सर्वात्मक, अपरिमित हैं। वे सब परस्पर परिणत होते हैं। (४) देवता मूल 'सत्ता' द्वारा भी भिन्न नहीं हैं। एक ही मौलिक ब्रह्म शक्ति विविध आकारोंसे विविध नामोंसे, नाना स्थानोंमें क्रिया कर रही है। इस प्रकार देवताओंकी स्वतन्त्रता. कथनमात्र ही रह जाती है, इनकी मूल गत सत्ता एक है। इस आलोचना द्वारा सहृदय पाठक अवश्य ही समझ सकेंगे कि ऋग्वेद जड़ वस्तुओंके प्रति प्रयुक्त स्तुतियोंका संग्रह ग्रन्थ नहीं है।

(१) हम पहले यही दिखाते हैं कि, देवताओंके कार्योंमें कोई भिन्नता नहीं इन्द्रदेव जो काम करते हैं, अग्नि देव भी वह काम करते हैं। और अग्नि जिन क्रियाओंमें समर्थ हैं, सोमादि सकल देव भी उनमें समर्थ हैं। सभी देवता इसी प्रकार हैं। सोमदेवता के लिये कहा गया है कि सोम—

(क) आकाश और पृथिवीको स्तंभित कर रहा है। अन्तरिक्ष आदिका विस्तारक है, सूर्यका उत्पादक है। और सोमने ही सूर्यमें ज्योति निहित की, आकाशादिको पूर्ण किया है।

अयं द्यावा पृथिवी विस्कंभात् विष्टम्भो दिवो धरुणो पृथिव्याः। ६। ८६। ६ स्कंभो दिवः, ६। ८६। ४६ वियो तस्तंभ रोदसी, ६। १०१। १५। त्वमाततंथ ऊर्वन्तरिक्षम्। अनुद्यावा पृथिवीं आततंथ, ८। ४८। १३ अजनयत् सूर्यज्योतिः अदधात् इन्द्रे उर्जः ६। ६७। ४ अयं सूर्ये अदधात् ज्योतिरन्तः, ६। ४४। २३ अजीजनोहिसूर्यम् ६। ११०। ३ सूर्यं रोहयो दिवि, ६।१०७।७ तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः ६। ८६। २६

इन्द्र देवताने भी उक्त सब काम किये हैं।
देखिये मन्त्र--

यो अन्तरिक्षं विममेवरीयो। योद्यामस्तभात सजनास इन्द्रः। २। १२। २ पप्नाथ क्षमां महिदंशोव्यूर्वी। द्यामृष्वो बृहदिन्द्रः स्तभायः आधार यो रोदसी, ३।१७।७ अस्तंभा उतद्याम्, ८। ८६। ५ द्यामस्तभायत् बृहन्तं आरोदसी अपृणादन्तरिक्षम्। स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च २। १५। २

जजान सूर्यम्, दाधार पृथिवीम्, ३। ३२। ८, ६। ३०। ५ त्वं सूर्यमरोचयः, ८। ६८। २। आसूर्यं रोहयो दिवि ८। ८६। ७ अजनयत्......सूर्यमुषसं... अग्निम्। ३। ३१। १५

जनिता सूर्यस्य, ३। ४६। ४ इन्द्र आपप्रौ पृथिवी मुतद्याम्, ३।३०।११। आपृणत् रोदसी उभे, ३।३४।१ उभे पृणासि रोदसी, ८। ६४। ४

इन्द्रा-सोमा-सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह, ३। ७२। २ द्याम् स्कंभथुः, ६। ७२। २

अग्नि देव भी अविकल इन सब कार्योंके कर्ता हैं-यथा--

येन अन्तरिक्षमुर्वा ततंथ ३। २२। २ आप, प्रियान्

रोदसी अन्तरिक्षम् । १ । ७३ । ८ पप्रो भानुना रोदसी, ६ । ८६ त्वं भासा रोदसी आततन्थ, ७ । १ । ४ आपूणः भुवनानि रोदसी ३ । ३ । १० एवं । ६ । ८ । ३ अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्य रोहयो दिवि, १० । १५६ । ४

सूर्य सविता भी इन सब कामोंको अविकल किया करते हैं—

द्यामदंहत्, १० । १४६ । १ दिवः स्कंभः ४।१३।५ आप्रा द्यावा पृथिवीऽन्चान्तरिक्षम्, १ । ११५ । ५ उदेदं विश्वं भुवनं विराजसि ८ । ८१ । ५

विष्णुदेवने भी अन्तरिक्ष-विस्तारित कार्य किया है—

उदस्तंभा नाकमृष्वं बृहन्तम्, ७ । ६६ । २ विचक्रमे पृथिवीमेषः ७ । १०० । ४ व्यस्तभात् रोदसी···दाधर्त्त पृथिवीम्, । ७ । ६६ । ३ जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्, । ६ । ६६ । ४

वरुण देवता से भी सब कार्य हुए हैं—

द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विस्कभिते, ६।७०।१ वियस्ततस्तंभ रोदसी, चिदुर्वी, । ७ । ८६ । १ प्रनाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्चभूम, । ७।८६।१

यस्मिन् विश्वानि ''चक्रे नाभिरिव श्रिता। ८।४१।६,१०
अन्तर्मही बृहती रोदसी मे, ७ । ८७ । २
त्रिस्रो द्यावा निहिता अन्तरस्मिन् । ७ । ८७ । ५
रदत्पथो वरुणः सूर्याय । ७ । ८७ । १
यः स्कम्भेन विरोदसी । ८ । ४१ । १०
ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् । ५ । ८५ । ३
वियोममे पृथिवीं सूर्येण । ५ । ८५ । ५
वरुणश्चकार सूर्याय पन्थाम् । १ । २४ । ८
त्वं विश्वस्य दिवश्च ग्मश्च राजसि । १ । २५ । २०
मित्रावरुणा—अधारयतं पृथिवीमुतद्याम्
वर्द्धयत मोषधीः पिन्वतं गा अववृष्टिं सृजतम् । ५।६२।३

ऊषाके भी कार्य इन मंत्रोंमें देखने योग्य हैं—

आपृणन्तो अन्तरीक्षाव्यस्थुः । ७ । ७५ । ५
महीचित्रारश्मिभिश्चेकिताना । ४ । १४ । ३
दिवः स्कम्भः । ४।१४।५, विश्वं जीवं प्रसुवन्ती ७।७७।१
अजीजनत् सूर्यं यज्ञमग्निम् । ७ । ७८ । ६
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय । १ । ११३ । १६

मरुद्गण की कार्यावली भी अविकल वैसी ही है—

विरोदसी तस्त भूर्मरुतः । ८ । ९४ । ११

विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् । ८ । ६४ । ६

अश्विनी कुमारोंके कार्य लक्ष्य करने चाहियें—

युवमग्निश्च अपश्च वनस्पती । रश्विना वैं रयेथाम् ।
१ । १५७ । ५

पूषा एवं मित्र देवताके कार्य देखिये—

व्यस्तभ्नात् रोदसी मित्रा अकृणोत् ज्योतिषातमः । ६।८।३
सूर्यमधत्त दिवि सूर्यं रथम्, मित्रोदाधार पृथिवी मुतद्याम्
। ३ । ५६ । १

द्यावा पृथिवीके भी ये ही सब कार्य देख लीजिये—

रजसो धारयत कवी । १ । १६० । १
देवो धर्मणा सूर्यः शुचिः । १ । १६० । १
पिता माता च भुवनानि रक्षतः । १ । १६० । २
रोदसी अवासयत् । १ । १६० । २ ॥ *

* मित्रादि सभी देवताओंने सूर्यका पथ बना दिया है, यह बात भी लिखी है । यथा, यस्मा आदित्या अध्वनः रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ७ । ६० । ४ सूर्य दिविरोहयन्तः (विश्वेदेवाः) १० । ६५ । ११ । सब देवताओंने अन्तरिक्ष पृथिवी सूर्यादि रोचन पदार्थोंको विस्तारित किया है । "स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचनाद्यावाभूमी पृथिवी स्कंभुरोजसा"
(१० । ६५ । ४)

इन्द्र, सूर्य, सोम, अग्नि, प्रभृति प्रत्येक देवताने पृथि-व्यादि लोकोंका निर्माण किया है एवं अग्नि, सूर्य, विद्युत, इन तीन रोचन, वस्तुओंका निर्माण किया है सो भी हम अनेक श्रुतियोंमें लिखा पाते हैं।

इन्द्र के सम्बन्ध में—

इन्द्रेण-रोचनादिवो दृलहानि । ८ । १४ । ६

तिस्रो भूमिर्नृपते त्रीणि रोचना······विवक्षिथ ।

१ । १०२ । ८

इमानि त्रीणि विष्टया तानीन्द्र विरोहय । ८।६१।५

सोम के सम्बन्ध में—

रजसो विमानः । ६ । ६२ । १४ अयं त्रिधातु दिवि-रोचनेषु । ६ । ४४ । ४

सूर्य के सम्बन्ध में—

वियो ममे रजसी । १ । १६० । ४

आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा । ४।५३।३,।८१।५।३

त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना । ४ । ५३ । ५

उत यासि सवितः त्रीणि रोचना । ५ । ८१ । ४

अग्नि के सम्बन्ध में—

वियो रजांसि अमिमीत सुक्रतुः । ६ । ७ । ७

वैश्वानरो त्रिदिवो रोचना कविः

अग्नि सोम के सम्बन्ध में—

युव मेतानि दिवि रोचनानि ।
अग्निश्च सोम सुक्रतु अधत्तम् ॥ १ । ९३ । ५

वरुण के सम्बन्ध में—

रजसो विमानः । ७ । ८७ । ६
त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं मदः । ८ । ४१ । ९
त्री रोचना वरुणत्रीनुतद्यून् । ५ । ६९ । १

मरुत् के सम्बन्ध में—

त्रिषधस्थस्य । ८ । ९४ । ५ पप्रथन् रोचनाद्दिवः ।
८ । ९४ । ९

विष्णु के सम्बन्ध में—

वियो रजांसि विममे । ६ । ४९ । १३, रजसे पराके
७ । १०० । ५
यः पार्थिवानि विममे रजांसि । १ । १५४ । १

सोम–पूषा के सम्बन्ध में—

रजसो विमानः । २ । ४० । ३

मित्र के सम्बन्ध में—

त्रीणि मित्र धारयसे रजांसि । ५ । ६९ । १

मित्रा वरुण के सम्बन्ध में--

या धर्तारा रजसो रोचनस्य पार्थिवस्य । ५ । ६६ । ४

फिर सब देवताओं को एकत्र करके भी यह बात कही गई है--

तिस्रोभूमी धारयन, त्रीरुतद्यून । ऋतेन आदित्याः
२ । २७ । ८

अन्तरीक्षाणि रोचना स्कम्भुः । १० । ६५ । २

वरुण, सोम, इन्द्र, इन्द्र-सोम, मित्रावरुण प्रभृति सभी देवताओंने गौ के स्तन मण्डलमें दुग्ध भर दिया है देखिये—

ततान······अय उस्त्रियासु (वरुणस्य)

राजाना मित्रा वरुणा सुपाणी,

गोषु प्रिय ममृतं रक्ष माणा (मित्रा वरुण)

अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमोदाधर (सोम)
६ । ४४ । २४

प्रविश्य ऊधरघ्न्याया इन्दुः (सोम) ६ । ६३ । ३

इन्द्रा सोमा पक्वमामास्वन्तर्निगवामिद्दधथुः (इन्द्र सोम)
६ । ७२ । ४

आमासु पक्वमैरय, आ सूर्ज्ञं रोहयोदिवि(इन्द्र) ८।८६।७

स्वाद्म संभृतमुस्त्रियायाम् । (इन्द्र) ३ । ४६ । ६

आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः ।

पयः कृष्णासु रुशत् रोहिणीषु (इन्द्र) १ । ६२ । ६

सोम, इन्द्र, मरुद्गण, विष्णु, अग्नि, सूर्य, इनमें प्रत्येकने वृत्रका वध किया है—

त्वं सोमासि सत्पतिः त्वं राजा उतवृत्रहा (सोम) १ । ९१ । ५

त्व महिनाम्नां हन्ता (सोम) । ६ । ८८ । ४

हन्ता वृत्राणामसि सोम । ६ । ८८ । ४

विभर्ति चारु इन्द्रस्य नामयेन विश्वानि वृत्राजघान (सोम) ६ । १०६ । १४

वयं ते अस्य वृत्रहन् ? (सोम) ६ । ६८ । ५

स वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः (अग्नि) ३ । २० । ४

वृत्रहणं पुरन्दरम् (अग्नि) ६ । १६ । १४

अग्निम्…… वृत्रहन्तमम् (अग्नि) ६ । १६ । ४८

वृत्रहणा उभेस्तः (इन्द्राग्नी) १ । १०८ । ३

यं युखो वृत्रहणं सचन्ते (अग्नि) १ । ५९

घ्नतो वृत्राणि (इन्द्रवायू) अमित्रहा वृत्रहा (सूर्य) १० । १७० । २

सखे विष्णो ? ……हनाववृत्रम् (विष्णु) ८।१००।१२

वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर (इन्द्र)

स…… वृत्रहा (इन्द्र) ३ । ३१ । ११, २१

हन्ता वृत्रमिन्द्र (इन्द्र) ७ । ८० । २

स्वेनादि वृत्रं शवसा जघन्थ (इन्द्र) ७।२१।६,८।६३।१६
वाह ओजसा अहिश्च वृत्रहावधीत् (इन्द्र) ७।६३।२,४,३२
घ्नन् वृत्राणि (बृहस्पति), ६ । ७३ । १ । २
बृहस्पतिन् वृत्रखादम् । १० । ६५ । १०
मरुतोवृत्रहंसवः (मरुत्) ६ । ४८ । २१

प्रिय पाठक ! और एक विषय लक्ष्य करने योग्य है। यह बात सर्वत्र कही गई है कि इन्द्र, सोमादिक सभी देवता पाप नाशक, कल्याणकारी हैं। एवं प्रत्येक देवताके आधीन एक औषधि (भेषज) है। यह औषधि मनुष्योंके दुःस्व, ताप आदि रोगकी भेषज है। जड़ पदार्थ कदापि पाप नाश नहीं कर सकते। सुतराम वैदिक ऋषिगण, देवता कहनेसे तन्मध्यगत चेतन सत्ता व कारण सत्ता या ब्रह्म सत्ता को ही समझते थे। हम इस सम्बन्धमें कुछ स्थूल उद्धृत करके दिखाते हैं।

नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम् (इन्द्र) १०।१६३ ३
विश्वा दुरिता तरेम (वरुण) ८ । ४२ । ३
अच्छिद्रं शर्म भुवनस्य गोपाः (मित्र और वरुण)
५ । ६२ । ९
विश्वानि देवसवितर्दुरितानी परासुव (सविता) ५।८२।५
पर्जन्ये······हंसि दुरितः (पर्जन्य), ५ । ८३ । ५
सनः पर्जन्य ? महिशर्म यच्छ—८ । ८३ । ५
विश्वानि अग्ने दुरितानि पर्षि (अग्नि) ५ । ३ । ११
पूषा नः पातु दुरितात् (पूषा), ६ । ७५ । १०

विश्वा……दुरिताय देवी (ऊषा), ७ । ७८ । २
नयन्ति दुरिता तिरः (इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा ।
१ । ४१ ३
अदितिः……शर्म यच्छतु (अदिति) ६ । ७५ । १७
पर्षिनः पारमंहसः (रुद्र) २ । ३३ । ३
तिराश्चिदंहः सुप्रथा नयन्ति (मित्र, वरुण) ७।६०।६
ऋजू मर्त्येषु वृजिना च पश्यन् (सूर्य) ७ । ६० । २

सभी देवता पापनाशक और मंगलकारक कहे गए हैं।

यदाविर्य दयाच्यं (गूढं) देवासो ? अस्ति दुष्कृतं…
आरे दधातन (देवाः) ८ । ४७ । १३
विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्ति न (विश्वेदेवा)
१ । १०६ । १
अभयं शर्म यच्छत, अति विश्वानि दुरिता ।
१० । ६३ । ७ । १३
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु० । २ । २७ । ३
ऋजु मर्त्येषु वृजिना च पश्यन् ६ । ५७ । २

सभी देवता गण मनुष्योंके गुप्त स्थानोंमें पाप पुण्यको देखते रहते हैं। ऐसा अनेक बार कहा गया है। क्या जड़ पदार्थोंके लिये भी ऐसा कथन कदापि सम्भव हो सकता है ? कदापि नहीं। देवतागण जो मंगलमय औषधि धारण करते हैं सो भी सुन लीजिये—

सोमा रुद्रा युवमेतानि अस्मे, विश्वातनुषु भेषजानि धत्तं (सोम रुद्र) ६ । ७४ । ३

सहस्रं ते भेषजा (रुद्र) ७ । ४६ । ३

हस्ते बिभ्रत् भेषजा वीर्याणि (रुद्र) १ । ११४ । ५

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि (मरुत्) २ । ३३ । १३

त्रिर्नो अश्विना ! दिव्यानि भेषजा,

त्रिः पार्थिवानि त्रिरुदत्त अदूभ्यः (अश्विद्वय,)

१।३४।६,८।६।१६

पर्जन्यो न ओषधिभिर्मयो भूः (पर्जन्य) ६ । ५२ । ६

सभी देवता जगत्के मंगलकारक भेषज स्वरूप हैं।

यूयं हिष्ठा भिषजो मातृतमाः विश्वस्य ।

स्थातुर्जगतो जनित्रीः, (विश्वेदेवा) ६ । ५० । ७

इन्द्र सोमादि देवता वर्ग प्रत्येक त्रिधातु हैं एवं सभी 'त्रिधातु मंगल' प्रदान किया करते हैं। हमें जान पड़ता है कि कार्य कारण एवं कार्यकारणावस्थासे परे की अवस्था इन तीन अवस्थाओंको लक्ष्य करके ही "त्रिधातु" शब्द व्यवहृत हुआ है।

त्रि विशिष्ट धातुप्रतिमानी मोजसः (इन्द्र)

१।१०२।८,६।४६।७

अर्कस्त्रिधातुः रजसो विमानः (अग्नि) ८।३६।६,७,७२।६

त्रि धातुना शर्मणा यातम् (इन्द्राग्नी) ८।४०।१२

या वः शर्म शशमानाय सन्तिः त्रिधातूनि (मरुत्)

१।८५।१२

स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् (पर्जन्य) ७।१०१।२
त्रिधातु राय आसुवा वसूनि (सविता) ३।५६।६७
सविता शर्म यच्छतु अस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः
(सविता) ४।५३।६
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती (अश्विद्वय) १।३७।६
त्रिवरूथं शर्म यंसत् (विष्णु) १।१५४।४
परित्रिधातुर्भुवनानि अर्शाहि (सोम) ६।८६।४६
अयं त्रिधातु...विन्ददमृतं निगूढम् (सोम) ६।४४।२४

सभी देवता त्रिधातु मंगल देनेमें समर्थ हैं पढ़िये मंत्र—

त्रिधातु यद्वरूथ्यं तदस्मासु वियन्तन (आदित्यगण)
८।४७।१०
त्रिधातवः परमाः (विश्वेदेवा) ५।४७।४
शर्मनो यंसत् त्रिवरूथ मंहसः (विश्वेदेवा) १०।६६।५

सभी देवता 'प्रथम' एवं विश्वरूप हैं। यह बात भी हम पाठकोंको श्रुतियोंमें दिखा देंगे। जैसे देवताओंमें इन्द्र प्रथम (पहला) है वैसे ही सोम भी प्रथम है। अन्य देवताओंके सम्बन्ध में भी ऐसा समझिये। कहीं पहला देव अग्नि लिखा है, कहीं पहला देव सूर्य है। और जैसे इन्द्रदेव विश्वरूप हैं वैसे ही सोम भी विश्वरूप हैं। समस्तदेव विश्वरूप हैं। विश्वरूप शब्दका अर्थ यह है-कि सभी देवता सकलरूप धरनेमें शक्तिमान हैं। एक देवताका एक ही रूप रहता है ऐसा नहीं।

त्वां देवेषु प्रथमम् (अग्नि) १।१०२।७
त्वामग्ने प्रथमम्···देवम् (अग्नि) ४।११।५
ऊषः सूनृते प्रथमा (ऊषा) १।१२३।५
ऊषः सुजाते प्रथमा (ऊषा) ७।७६।६
त्वां देवेषु प्रथमं हवा महे (इन्द्र) १।१०२।६
गोपा···याति प्रथमः (इन्द्र) ५।३१।१
ऋषिर्हि पूर्वजा असि (इन्द्र) ८।६।४१
यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा (बृहस्पति) ६।७३।१
बृहस्पति प्रथमं जायमानः (बृहस्पति) ४।५०।४
विभु प्रभु प्रथमम् (बृहस्पति) २।२४।१०
स सत्वभिः प्रथमः (बृहस्पति) २।२५।४
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा (वायु) १०।१६८।४
प्रथमा (प्रथमो) अश्विद्वय, २।३६।३

देवता सभी विश्वरूप हैं। निम्न लिखित प्रमाण पढ़िये—

महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा
विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ (इन्द्र) ३।३८।४
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (इन्द्र) ६।४७।१८
पुरुष-प्रतीकः (इन्द्र) ३।४८।३
बृहत्केतु पुरुरूपम् (अग्नि) ५।८२।५

परित मना विषुरूपः (अग्नि) ५।१५।४
वि त्वां न वः पुरूा सपर्यन् (अग्नि) १।७०।५
स कविः काव्या पुरुरूपं···पुष्यति (वरुण) ८।४१।५
विश्वा रूपा प्रतिचक्षाणो अस्य (सोम) ६।८५।१२
विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः (सविता) ५।८१ २
देवस्तुष्टो सविता विश्वरूपः (सविता) ३।५५।१६
पुरुरूप उग्रः (रुद्र) २।३३।६
बिभर्षि विश्वरूपम्, २।३३।१०
विश्वरुपम्···बृहस्पतिम्, १०।६७।१०

इस प्रकार हम बहुत प्रमाण उद्धृत कर दिखासकते हैं कि ऋग्वेदके देवता वर्गोंका कार्य-भेद, कथन मात्र ही है। सब देवता सब कार्य करनेमें समर्थ हैं। इसलिये देवताओंमें कार्यगत कोई भेद नहीं है।

(२) देवताओंमें कार्योंकी भाँति नामोंकी भी भिन्नता नहीं है देवता वर्गमें केवल कार्यगत भाव नहीं यही नहीं, किन्तु इनमें नामगत भेद भी नहीं है। नामगत भिन्नता भी कहने मात्रको है यथार्थमें कोई भिन्नता नहीं। वैदिक ऋषि एक देवताको अन्य देवताके नामसे सम्बोधन करते हैं। वे जानते थे कि देवता जैसे कार्यतः भिन्न नहीं है वैसे ही वे नामतः भी भिन्न नहीं हैं।

प्रसिद्ध वैदिक पंडित श्रीयुत् सत्यव्रत सामश्रमी महाशयने यास्ककी युक्तिका अनुसरण कर यह सिद्धान्त किया है कि, ऊषोदय पर ही अरुणोदय काल होता है। अरुणोदयके पश्चात् जब

सूर्यका प्रकाश कुछ तीव्र हो उठता है, उसका नाम 'भग' है। भगोदयके पर कालवर्ती सूर्यका नाम है 'पूषा'। पूषासे अर्कोदय पर्यन्त 'अर्यमा' यहाँ तक पूर्वाह्न होगया। मध्यान्हकालके सूर्यका नाम 'विष्णु' है। इस रीतिसे ऋग्वेदमें एक सूर्य्यके भग अर्यमा, पूषा, सविता और विष्णु अनेक नाम हैं। उदयसे अस्त पर्यन्त साधारण नाम सूर्य है। इसलिये ऋग्वेदमें सूर्य्यको कभी भग नामसे कभी सविता नामसे कभी पूषा नामसे सम्बोधन किया गया है। और फिर एक ही वस्तु आकाशमें सूर्य, अन्तरिक्षमें विद्युत्, भूलोकमें अग्नि नामसे इन तीनों भावोंसे विकसित हो रही है। सुतरां अग्निको सूर्य्य नामसे बुलाया गया है। कहीं 'रुद्र' भी अग्निका नामान्तर माना गया है। फिर ऐसी बात भी ऋग्वेदमें है कि, इन्द्र सभी देवताओंके प्रतिनिधि हैं। सुतरां अग्नि वा सूर्य 'इन्द्र' नामसे भी सम्बोधित हैं। अग्निको बलसे उत्पन्न, बलका पुत्र भी अनेक स्थानोंमें कहा गया है। मरुद्गण रुद्रके पुत्र माने गये हैं। इससे यही ज्ञात होगा कि, अग्नि और मरुद्गण एक ही वस्तु हैं या एक ही वस्तुके दो विकास हैं। इन सब हेतुओंसे देवताओंके नामोंकी भिन्नता वास्तविक भिन्नता नहीं। निम्न लिखित मन्त्रोंसे पाठक निश्चय कर लेंगे कि, अवश्य ही देवतायें नामतः भिन्न नहीं हैं। इन्द्रको सूर्य नामसे सम्बोधन—

उत्—अस्तारमेषि सूर्य ! ८।६३।१, ८।५२।७
यदद्य कच्च । वृत्रहन्नुदगा अभिसूर्य ! ८।६४, ३।३३।६

हे इन्द्र ? हे सूर्य ! यजमानोंके चारों ओर उदित होओ। हे वृत्रहा इन्द्र सूर्य्य आज यत्किंचित् पदार्थके अभिमुख उदित हुए हो ?।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ । ६ । १

चतुर्दिग्वर्ती सब जीव, इन्द्रके सहित सूर्य्य, अग्नि वायु और नक्षत्रगणोंका सम्बन्ध स्थापन करते हैं। अर्थात् सूर्य्य, अग्नि, वायु, और नक्षत्रगण इन्द्रके ही मूर्त्यन्तर मात्र इन्द्रके ही भिन्न २ मूर्ति विशेषमात्र हैं, यह बात जीवगण समझ जाते हैं। इस सूक्त के तृतीय मंत्रमें भी इन्द्रका सूर्यरूपमें वर्णन है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषा, सविता, प्रभृति नामोंसे अग्निदेवका बोध होता है—

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि,
त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः
त्वं ब्रह्मा रयिवित् ब्रह्मणस्पते
त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या । २।१।३
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः,
त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं,
त्व मंशो विदथे देव भाजयुः । २ । १ । ४
त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्वं मित्रो भवसि । ५।३
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः त्वं
शर्धोमारुतं पृक्ष ईशिषे त्वं पूषा ॥ २।१।६
त्वं देवः सविता त्वं भगः । २।१।७
अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया ॥ ८।७२।३

हे अग्नि ? आप ही धार्मिकोंके अभीष्ट वर्षणकारी 'इन्द्र' हैं। आप ही बहुलोक कर्त्तृक और नमस्य विष्णु हैं। सकल धन के अभिज्ञ 'ब्रह्म' और ब्रह्मणस्पति, नामक देवता आप ही हो। आप ही सबके विधाता एवं आप ही सबकी बुद्धिके सहित अवस्थान करते हो। हे अग्नि आप ही व्रतधारी 'वरुण' हो। आप शत्रु विनाशक और नमस्कारके योग्य 'मित्र' हो धार्मिकोंके रक्षक 'अर्यमा' हो। आप ही अंश हो। हे देव ? यज्ञमें फल प्रदान करो। हे अग्नि ! इस महान आकाशमें महा बलवान (असुर) 'रुद्र' आप ही हो। आप ही 'मरुत् सम्बन्धी बल हो। आप 'पूषा' हैं। आप ही अन्न धनादिके ईश्वर हैं। आप 'सविता' एवं आप ही 'भग' हैं। उस 'रुद्र' अग्निका हृदय मध्यमें बुद्धि द्वारा इच्छा करते हैं। अन्य मन्त्रोंमें भी अग्निके अनेक नाम लीजिये—

चन्द्रं रयिं···चन्द्रं चन्द्राभिगृणते युवस्य ॥ ६।६।७

पुरुनाम पुरुष्टुत ॥ ८।९३।१७

महते वृष्णोरसुरस्य नाम ॥ ३।३८।४

भूरिनाम वन्दमानो दधाति ॥ ५ । ३ । १०

मर्त्यो अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे ॥ ८।११।५

अग्ने भूरीणि···तव···अमृतस्य नाम ॥ ३।२०।३

मित्रो अग्निर्भवति यत् समिद्धो

मित्रो होता वरुणो जातवेदाः ॥ ३।५।४

त्वमदिते सर्वत्राता । १ । ९४ । १५

विष्णुर्गोपा···अग्निष्टा विश्वा भुवनानिवेद । ३।५५।१०

यमो ह जातो यमो जनित्वम् । १ । ६६ । ४

विश्वा अपश्यत् बहुधा ते अग्ने
जातवेदः तन्वो देव एकः

इत्यादि मंत्रोंका सूक्ष्म अर्थ यह है कि—हे अग्नि ? आप चन्द्र नामसे विख्यात हैं। हम आनन्ददायक स्तोत्र द्वारा बुलाते हैं। हमें आनन्दप्रद धन दीजिये। जब अग्नि समिद्ध उज्वल हो उठते हैं, तब उनको 'मित्र' कहते हैं। अग्नि देव ही होता एवं सर्व भूतज्ञ 'वरुण' हैं। सबके रक्षक विष्णु अग्नि–समग्र भुवनको जानते हैं। जो जन्मा है और जन्मता है सभी 'यम' है। हे अग्नि ! आप ही वे यम हो। 'यमस्य जात ममृतं यजा महे'॥ १।८३।६।, १०।५१।१ मंत्रमें कहा गया है कि अग्निका जो नाना स्थानोंमें बहुविध शरीर है उसे एक ही मात्र देवता जाननेमें समर्थ है सोमके भी इन्द्र, सविता अग्नि, वरुण, सूर्य आदि नाम हैं। प्रमाण यथा—

विभर्ति चारु इन्द्रस्य नाम येन विश्वानि वृत्रा जघाना
९।१०९।१४

त्रिभिष्टं देव सवितः वर्षिष्ठैः सोम धामभिः
अग्ने दक्षैः पुनीहि नः॥ ९।६७।२६
आत्मा इन्द्रस्य भवसि। ९।८५।३
राज्ञोनु ते वरुणस्य। व्रतानि बृहद्गभीरं तव सोम धाम।
१।९१।३

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात् विश्वारूपा प्रति चक्षाणो अस्या भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् आरुरुचत् रोदसी मातरा शुचिः। ९।८५।१२

अमि भगो...अमि मघवा मघवद्भ्यः इन्द्रो।

९।६८।५४

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानः अर्षति। ९।१०१।७

उते क्रृयन्तु धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः। ९।९९।४

सारांश यह कि हे सोम ! आप इन्द्र सविता आदि हैं। आप ही राजा वरुण हैं। वरुणके कार्य आपके ही हैं। आपका धाम व स्थान (कारण-सत्ता) बृहत् एवं गंभीर है। सोमने ही आकाशमें ऊपर सूर्यरूपसे अवस्थित होकर जनक-जननी तुल्य द्युलोक और भूलोकको शुद्ध पवित्र किरणों द्वारा ज्योतिर्मय बनाया है। भग, इन्द्र पूषा, रयि, भर्ग, सोमके ही नाम हैं। सकल देवताओंके नामोंसे सम्मिलित स्तुति द्वारा सोमको बुलाते हैं।

सविताका—सूर्य, पूषा, मित्र, चन्द्र, वरुण, एवं पावक नामसे निर्देश किया गया है।

उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयतः परीयसे।
उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥ ५ । ८१ । ४
उत पूषा भवसि देव यामभिः। ५ । ८१ । ५
येना पावकचक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु
त्वं वरुण पश्यसि। १ । ५० । ६

हे सविता ! तुम सूर्य किरण द्वारा सङ्गत हुआ करते हो *। तुम उभय पार्श्व की रात्रिके मध्यमें होकर भी गमन करते हो

* सूर्योदयके पूर्वका नाम 'सविता' है उदयसे लेकर अस्त होने पर्यन्त का साधारण नाम "सूर्य" है। सायणाचार्य

(चन्द्र) तुम्हारे कार्य द्वारा तुम्हें 'मित्र' भी कहा जाता है। हे सविता! दिवसमें तुम्हें पूषा कहा जाता है। हे वरुण! हे आदित्य! तुम प्राणिगणके पापगकारीरूपसे इस जगत्को देखो। रुद्रका नाम कपर्दी एवं ईशान है पूषाका भी वही। "कपर्दिनमीशानम्" ‡ ॥ ६ ॥ ५५ । २ ॥ अश्विनीकुमारोंका पूषा नाम देखिये—

'श्रियेपूषन् । देवानामत्य।' १ । १८४ । ३ ॥

सभी देवताओंके असंख्य बहुत नाम हैं, यह बात भी ऋग्वेद ने हमें बतला दी है—

'विश्वानि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवः उत यज्ञियानिवः' ॥ १० । ६३ । २ ॥

हे देवगण! आप सबके नमस्कारार्ह, और वन्दनीय अनेक नाम हैं। आपके यज्ञिय नाम भी अनेक हैं।

इसके अतिरिक्त सभी देवताओंका अन्य एक परम गुह्य नाम भी है यह भी हम ऋग्वेदमें पाते हैं। ऐसी बात क्यों कही गई? कार्यवर्गके भीतर अनुस्यूत गूढ़ भावसे स्थित कारण सत्ता ही इस कथनका लक्ष्य है।

देवो देवानां गुह्यानि नाम आविष्कृणोति ॥ ९।९५।२

देवताओंका जो परम गोपनीय एक एक नाम है सोमदेव ही उसका आविष्कार करते हैं। अन्यत्र भी हम पाते हैं कि अग्निका एक परम गुह्य नाम है।

विद्मा तेनाम परमं गुहा यत्
विद्मात मुत्संयत आजगंथ । १० । ४५ । २

---

‡ १ । ११४ सूक्तके प्रथम व पंचम मंत्रमें रुद्रका नाम "कपर्दी" लिखा है।

हे अग्नि ! हम आपका परम गोपनीय नाम जान सके हैं एवं जिस उत्ससे आये हो उस उत्सको भी जान गए हैं।

समीक्षा,—बाबू कोकिलेश्वर भट्टाचार्यने उपरोक्त प्रमाणोंको उद्धृत करके यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि ये सब देवता एक ही कारण सत्ताकी अभिव्यक्तियाँ हैं। परन्तु आपने यह विचार नहीं किया कि यह सब कथन स्तुतिवाद मात्र है। अर्थात् वैदिक समयमें कविता करनेकी यह ही प्रणाली थी। यथा मन्यु (क्रोध) का कथन करते हुये भी उपरोक्त प्रणालीका ही प्रयोग किया गया है, यथा—

मन्युरिन्द्रोमन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जात वेदाः।
ऋ० १०।८३।२

अर्थात्, मन्यु (क्रोध) ही इन्द्र है वही सर्व श्रेष्ठ देव है, वही होता है वही वरुण और वही सर्वज्ञ अग्नि है। इसी प्रकार औषधी, बैल, बकरा, नमस्कार, आदिका वर्णन करते हुये सब देवोंको उनके आधीन बताया गया है। जिनका कथन सृष्टि रचना प्रकरणमें आगे किया है। अतः यह सिद्ध है कि यह उस समय की प्रणाली थी। तथा दूसरी बात यह है कि-अग्नि आदिके उपासक कवि अपने अपने उपास्यको सर्व श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये अन्य सब देवोंको अपने उपास्यके आश्रय अथवा उसकी भक्ति करने वाला कहा करते थे। यही कारण है कि-'इन्द्र' उपासक अग्निकी निन्दा किया करते थे और अग्नि आदिके उपासक इन्द्रकी। अतः उपरोक्त सब प्रमाण आपकी पुष्टि न करके आपकी कल्पनाका विरोध ही करते हैं। विशेष क्या अथर्ववेदमें अनुमति (अनुज्ञा देनेको अनुमति कहते हैं) का वर्णन करते हुये लिखा है कि—

अनुमति सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्व मेजति। अ० कां० ७। २१। ६॥

अर्थात् अनुमति ही सब कुछ होगई, जो कुछ भी स्थावर और जंगम है वह सब अनुमति ही है। तथा च कां० ९। ७ में मेध्य बैलका वर्णन है, वहाँ लिखा है कि—

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृंगे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्॥

अर्थात् इस बैलके, प्रजापति और परमेष्ठी दोनों सींग हैं, इन्द्र देवता इसका शिर है तथा अग्निदेव इसके मस्तक हैं, तथा यमदेव उसके गलेका घंटा है। आदि। यहाँ इस बैलके ही आश्रय सब देवताओंको बता दिया है। इत्यादि शतशः प्रमाण दिये जा सकते हैं जिनमें प्रत्येक पदार्थकी इसी प्रकार स्तुति की है। तथा च हम अनेक युक्ति व प्रमाणोंसे सिद्ध कर चुके हैं कि वैदिक वांगमयमें अनेक देवतवाद है न कि एक देवतवाद। अतः उपरोक्त सब प्रमाण एकेश्वरवादकी पुष्टि नहीं करते अपितु उसका विरोध ही करते हैं। क्योंकि यहाँ पृथक पृथक देवताओंकी स्तुति उनके भक्तोंने अपने अपने देवताकी उत्कृष्टता दिखानेके लिये की है।

साधक भेद से

साधक भेदसे देवत भेद मानना भी युक्ति युक्त नहीं है। क्यों कि उस अवस्थामें वेदोंमें इन देवताओंकी निन्दा नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु वेदोंमें अग्नि भक्तोंने इन्द्रकी और इन्द्र भक्तों ने अग्निकी निन्दा की है इसी प्रकार अन्य सब देवोंकी अवस्था है जैसा कि हम पूर्वमें दिखला चुके हैं। तथा च वेदोंमें या अन्य वैदिक साहित्यमें इसका उल्लेख तक भी नहीं है। हाँ श्रीशंकर-

चार्य आदि विद्वानोंने ऐसी ऐसी कल्पनायें केवल प्रति पक्षियोंको उत्तर देनेके लिये की हैं। परन्तु इन कल्पनाओंमें न तो कोई वैदिक प्रमाण ही है और न इननें कुछ सार है। और न इत्यादि कल्पनायें तर्कके सन्मुख ठहर ही सकती हैं।

ईश्वर की शक्तियाँ

इस प्रकार जब शतशः प्रबल प्रमाणों द्वारा देवताओंका अनेक्य सिद्ध हो जाता है तब भक्तजनोंने यह कल्पनाकी कि देवता तो पृथक् पृथक् ही हैं परन्तु ये सब ईश्वरकी शक्तियाँ हैं। जैसा कि श्रीमान् पं० राजारामजी आदि विद्वानोंने लिखा है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ शक्तिका क्या अर्थ है। क्या जिस प्रकार अग्निकी प्रकाशकत्व, दाहकत्व, ऊर्ध्वगमनत्व, आदि शक्तियाँ हैं ? उसी प्रकार यह सूर्य, चन्द्र, वायु, आकाश, पृथ्वी, जल, आदि ईश्वरकी शक्तियाँ हैं ? अथवा जिस प्रकार राजाकी शक्तियाँ सेना, यान, कोश आदि हैं, उस प्रकार ईश्वरकी यह शक्तियाँ हैं। प्रथम पक्षमें तो अग्नि आदि सब ईश्वरके गुण ही सिद्ध होते हैं, और गुण तथा गुणीका भेद केवल कथन मात्र ही है वास्तवमें न उनमें भेद है और न ही गुण पृथक पृथक हैं। अपितु वे सब गुण एक ही गुणकी पृथक पृथक अभिव्यक्तियां हैं। इससे तो श्रीशंकराचार्य का अद्वैतवाद ही सिद्ध होता है। जिसको ये विद्वान् स्वीकार नहीं करते। दूसरी अवस्थामें अनेक नित्य पदार्थोंका एक दूसरेके आधीन होना सिद्ध नहीं होसकता। क्योंकि आधीन होना एक कार्य है जिसके लिये कारणकी आवश्यकता है, परन्तु वहाँ कारण का सर्वथा अभाव है। इसके अलावा एक बात यह भी है कि, जो आधीन होता है और जो आधीन करता है उन दोनोंकी अपनी २ आवश्यकतायें अथवा कमजोरियाँ हैं, जिनको पूर्ण करनेके लिये

वह आधीन होता है अथवा आधीन करता है। जिस प्रकार सैनिक व्यक्तियोंको रुपयोंकी आवश्यक्ता है और राजाको सेनाकी क्योंकि उसको शत्रुओंका भय है कि कहीं उसके देशपर चढ़ाई न कर दें। यदि दुश्मन इस पर चढ़ाई कर दे तो यह बेचारा अकेला कुछ भी नहीं कर सकता इसलिये इसे सेनाकी यान आदि अन्य साधनोंकी आवश्यक्ता है. अतः वह इनको एकत्रित करके रखता है। तथा सेना आदि और राजा एक दूसरेके आधीन होते हैं। अर्थात राजाके आधीन सेना होती है और सेनाके आधीन राजा होता है। अतः इनको ईश्वरके आधीन मान भी लिया जाये तो भी आपके सिद्धान्तकी पुष्टि नहीं हो सकती क्योंकि उस अवस्था में ईश्वर पराधीन निर्बल. रागी द्वेषी, अनेक कामनाओं वाला, सुखी. दुखी. बन जायेगा। पुनः संसारी जीवमें और इस ईश्वरमें क्या भेद रहेगा। क्या उसका ऐश्वर्य महान है इसलिये उसे ईश्वर माना जाये? ऐसी अवस्थामें वह महान दुखी भी सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिसका जितना ऐश्वर्य है उतना ही वह अधिक दुखी है। अतः यह सिद्ध होता है कि यह ईश्वर विषयक कल्पना, किसी संसारी मनुष्य की कल्पना है। अतः इन देवताओंको ईश्वरकी शक्तियाँ नहीं कह सकते। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान भिन्न २ पदार्थ नहीं हैं। इससे या तो जडाद्वैतवाद सिद्ध होगा या चेतनाद्वैतवाद। किन्तु अद्वैतवाद न तो युक्तियुक्त है और वैदिक। स्वर्गीय पं० टोडरमल जीने अद्वैतवादके खण्डनमें निम्न युक्तियाँ दी हैं।

सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्मका खण्डन

"अद्वैत ब्रह्मको सर्वव्यापी सबका कर्त्ता माना जाता है लेकिन ऐसी बात नहीं है केवल मिथ्या कल्पना है। पहले तो यही ठीक नहीं है कि वह सर्व व्यापी है क्योंकि संपूर्ण पदार्थ प्रत्यक्षरूपसे

अलग २ दिखाई देते हैं उनके स्वभाव ही अलग २ हैं इसलिये उन्हें एक कैसे माना जा सकता है ? एक मानना तो इस प्रकारसे हो सकता है कि प्रथम तो जितने अलग २ पदार्थ हैं उनके समुदायकी कल्पनासे कुछ नाम रख लिया जाय। जैसा घोड़ा हाथी, आदि भिन्न पदार्थोंको सेना नामसे कहा जाता है, उनसे अलग कोई सेना नामकी वस्तु नहीं है, अगर इसी तरह सर्व पदार्थोंका नाम ब्रह्म है तो ब्रह्म कोई अलग वस्तु न रह कर कल्पना मात्र ही रहा। दूसरा प्रकार यह है कि पदार्थ व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न २ है किन्तु जातिकी अपेक्षा उन्हें कल्पनासे एक कहा जाता है जैसे घोड़े व्यक्तिरूपसे अलग अलग होते हुये भी आकारादिककी समानतासे उनकी एक जाति कही जाती है वह जाति घोड़ोंसे कुछ अलग नहीं है। यदि ब्रह्म भी इसी तरह सबोंकी एक जातिके रूपमें है तो ब्रह्म यहाँ भी कल्पनामात्रके सिवाय अलग वस्तु कोई नहीं रहा। तीसरा प्रकार यह है कि अलग २ पदार्थोंके मिलनेसे एक स्कन्धको एक कहा जाता है, जैसे जलके अलग २ परमाणु मिलकर एक समुद्र कहलाता है, पृथ्वीके परमाणु मिलकर घड़ा आदि कहलाते हैं। यहाँ घड़ा और समुद्र उन परमाणुओंसे अलग कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार यदि संपूर्ण अलग २ पदार्थ मिलकर एक ब्रह्म होजाते हैं तो ब्रह्म उनसे अलग कोई पदार्थ नहीं रहा। चौथा प्रकार यह है कि अंग अलग हैं और जिसके वे अङ्ग हैं वह एक अङ्गी कहलाता है। जैसे आँख, हाथ, पैर आदि भिन्न भिन्न हैं और जिसके यह हैं वह एक अङ्गी ब्रह्म है, यह सारा लोक विराट स्वरूप है ब्रह्मका अङ्ग है अगर ऐसी मान्यता है तो मनुष्यके हाथ पैर आदिके अङ्ग अलग अलग रह कर एक अङ्गी नहीं कहला सकते जुड़े रहने पर ही शरीर कहलाते हैं परन्तु लोकमें पदार्थोंका अलगपना प्रत्यक्ष दीखता है।

इसका एकपना कैसे जाना जाय। अलग रहकर भी अगर एकपना माना जाय तो भिन्नपना कहाँ स्वीकार किया जायगा ?

शंका—सब पदार्थोंमें सूक्ष्मरूप ब्रह्मके अङ्ग विद्यमान हैं उनमें सब पदार्थ जुड़े हुए हैं।

समधान—जो अङ्ग जिससे जुड़ा है वह उससे ही जुड़ा रहता है या टूट टूट कर अन्य अङ्गोंसे जुड़ा करता है। यदि पहला पक्ष स्वीकार है तो जब सूर्यादिक गमन करते हैं तब जिन सूक्ष्म अङ्गोंसे वे जुड़े हैं वे भी गमन करते होंगे और वे सूक्ष्म अङ्ग जिन स्थूल अङ्गोंसे जुड़े हैं वे भी गमन करते होंगे इस तरह संपूर्ण लोक अस्थिर हो जायगा, जैसे शरीरका एक अङ्ग खींचने पर सारा शरीर खिंच जाता है वैसे ही एक पदार्थके गमन करने पर संपूर्ण पदार्थोंका गमन होजायगा पर होता नहीं। अगर दूसरा पक्ष स्वीकार किया जायगा तो अङ्ग टूटनेसे भिन्नपना हो जायगा एकपना कैसे रहेगा। इसलिये संपूर्ण लोकके एकपनेको ब्रह्म मानना भ्रम ही है।

पाँचवा प्रकार यह है कि पहले कोई पदार्थ एक था, बादमें अनेक हुआ फिर एक होयगा इसलिये एक है। जैसे जल एक था बरतनोंमें अलग होगया मिलने पर फिर एक होजायगा। अथवा जैसे सोनेका डला एक था वह कंकण कुण्डलादि अनेक रूप हुआ मिलकर फिर सोनेका एक डला होगा। वैसे ही ब्रह्म एक था पीछे अनेक रूप हुआ फिर मिलकर एक रूप हो जायगा इसलिये एक कहा है। इस प्रकार यदि एकत्व माना जायगा तो ब्रह्म जब अनेक रूप हुआ तब जुड़ा रहा था या अलग होगया था। अगर जुड़ा कहा जायगा तो पहला दोष ज्यों-का-त्यों है अगर अलग हुआ कहा जायगा तो उस समय एकत्व नहीं रहा। जल, स्वर्णादिकका भिन्न होकर जो एक होना कहा जाता है वह तो एक जाति-

की अपेक्षा है लेकिन यहाँ सब पदार्थोंकी कोई एक जाति नहीं, कोई चेतन है कोई अचेतन है इत्यादि अनेक रूप है उनको एक जाति कैसे कह सकते हैं ? तथा जाति अपेक्षा एकत्व मानना कल्पना मात्र है यह पहले कहा ही है। पहले एक था पीछे भिन्न हुआ तो जैसे एक पत्थर आदि फूटकर टुकड़े टुकड़े होजाता है वैसे ही ब्रह्म खण्ड खण्ड होगया। जब वे एक हुए तो उनका स्वरूप भिन्न भिन्न रहा या एक होगया। यदि भिन्न भिन्न रहा तो अपने अपने स्वरूपसे सब भिन्न ही कहलाये। यदि एक होगया है तो जड़ भी चेतन हो जायगा और चेतन जड़ होजायगा और इस तरह यदि अनेक वस्तुओंकी एक वस्तु हुई तो कभी एक वस्तु अनेक वस्तु कहना होगा। फिर अनादि अनन्त एक ब्रह्म है यह नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जायगा कि लोकरचना हो या न हो ब्रह्म जैसेका तैसा रहता है इसलिये वह अनादि अनन्त है प्रश्न यह होता है कि लोकमें पृथ्वी जलादिक वस्तुएं अलग नवीन उत्पन्न हुई हैं या ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ है। अगर अलग नवीन उत्पन्न हुए हैं तो यह अलग हुआ ब्रह्म अलग रहा सर्वव्यापी अद्वैत ब्रह्म न कहलाया। अगर ब्रह्म ही इन स्वरूप हुआ तो कभी लोक हुआ कभी ब्रह्म हुआ जैसे का तैसा कहाँ रहा ? अगर ऐसी मान्यता है कि सारा ब्रह्म, लोक स्वरूप नहीं होता उसका कोई अंश होता है जैसे समुद्र का विन्दु विषरूप होने पर भले ही स्थूल दृष्टिसे उसका अन्यथापना न जाना जाय लेकिन सूक्ष्म दृष्टिसे एक विन्दुकी अपेक्षा समुद्रमें अन्यथापना आजाता है वैसे ही ब्रह्मका एक अंश भिन्न होकर जब लोकरूप हुआ तब स्थूल विचारसे उसका अन्यथापन भले ही न जाना जाय परन्तु सूक्ष्म विचारसे एक अंशकी अपेक्षा उसमें अन्यथापन हुआ ही क्योंकि वह अन्यथापन और तो

किसीके हुआ नहीं ब्रह्मके ही हुआ। इसलिये ब्रह्मको सर्वरूप मानना भ्रम है। छठा प्रकार यह है कि जैसे आकाश सर्वव्यापी है वैसे ब्रह्म भी सर्वव्यापी है तब इसका अर्थ यह हुआ कि आकाशकी तरह ब्रह्म भी उतना ही बड़ा है और घटपटादिकमें आकाश जैसे रहता है वैसे ब्रह्म भी उनमें रहता है लेकिन जैसे घट और आकाशको एक नहीं कह सकते वैसे ही ब्रह्म और लोक को भी एक नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि आकाश का तो लक्षण सर्वत्र दिखाई देता है इसलिये उसका सब जगह सद्भाव माना जा सकता है लेकिन ब्रह्मका लक्षण सब जगह नहीं दिखाई देता इसलिये उसका सद्भाव कैसे माना जा सकता है ? इस तरह विचार करने पर किसी भी तरह एक ब्रह्म संभव नहीं होता। सम्पूर्ण पदार्थ भिन्न भिन्न ही मालूम पड़ते हैं।

यहाँ प्रतिवादीका कहना है कि पदार्थ हैं तो सब एक ही लेकिन भ्रमसे वे एक मालूम नहीं पड़ते। इसमें युक्ति देना भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप युक्तिगम्य नहीं है वचन अगोचर है एक भी है अनेक भी है जुदा भी है मिला भी है उसकी महिमा ही ऐसी है।

परन्तु उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसे और सबको जो प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है उसे वह भ्रम कहता है और युक्तिसे अनुमान करो तो कहता है कि सच्चा स्वरूप युक्तिगम्य नहीं है वचन अगोचर है परन्तु जब वह वचन अगोचर है तो उसका निर्णय कैसे हो ? यह कहना कि ब्रह्म एक भी है अनेक भी है जुदा भी है मिला भी है तब ठीक होता जब किन किन अपेक्षाओंसे ऐसा है ? यह बताया जाता। अन्यथा वह पागलोंका प्रलाप है।

कहा जाता है कि ब्रह्मके पहले ऐसी इच्छा हुई कि 'एकोऽहं

बहुस्यां' मैं एक हूँ बहुत होऊँगा। लेकिन जो पहली अवस्थामें दुखी होता है वही दूसरी अवस्था चाहता है। ब्रह्मने एकरूप अवस्थासे अनेक रूप होनेकी इच्छा की सो ब्रह्मको पहले क्या दुख था? अगर दुख नहीं था और ऐसा ही उसे कुतूहल हुआ तो जो पहले कम सुखी हो और बादमें कुतूहल करनेसे अधिक सुखी हो वह कुतूहल करना विचारता है ब्रह्म जब एक अवस्थ से अनेक अवस्था रूप हुआ तब उसके अधिक सुख कैसे संभव हो सकता है। और अगर वह पहले ही पूर्ण सुखी था तो अवस्था क्यों पलटता है? बिना प्रयोजनके तो कोई कुछ करता नहीं। दूसरे वह पहले भी सुखी था और इच्छानुसार कार्य होने पर भी सुखी होगा, लेकिन जब इच्छा हुई उस समय तो दुखी ही है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मके जिस समय इच्छा होती है उसी समय कार्य होता है इसलिये दुखी नहीं होता यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्थूल कालकी अपेक्षा तो यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मकी इच्छाके समय ही काम होता है परन्तु सूक्ष्म कालकी अपेक्षा इच्छाका और कार्यका होना एक साथ नहीं हो सकता। इच्छा तो तब ही होती है जब कार्य नहीं होता और जब कार्य होता है तब इच्छा नहीं होती इसलिये थोड़े समय तक तो इच्छा रही ही अतः दुःखी अवश्य हुआ होगा। क्योंकि इच्छा ही दुःख है और दुःखका कोई स्वरूप नहीं। इसलिये ब्रह्मको इच्छा की कल्पना करना मिथ्या है।

ब्रह्मकी मायाका खण्डन

यदि यह कहा जाय कि इच्छा होते ही ब्रह्मकी माया प्रकट होती है तो ब्रह्मकी ही माया हुई और इस तरह वह मायावी कहलाया उसका शुद्धरूप कहाँ रहा। दूसरी बात यह है कि ब्रह्मका

और मायाका दण्डी दण्डके समान संयोग संबंध है या अग्नि उष्णके समान समवाय संबंध है। यदि संयोग संबंध है, तो ब्रह्म भिन्न हुआ और माया भिन्न हुई तब अद्वैत ब्रह्म कैसे कहलाया। तथा जिस प्रकार दण्डी दण्डको उपकारी जान ग्रहण करता है वैसे ही ब्रह्म भी मायाको उपकारी जानता है तभी ग्रहण करता है अन्यथा क्यों करे। अतः जिसे ब्रह्म भी ग्रहण करता है उसका निषेध करना कैसे संभव होसकता है वह तो एक उपादेय चीज हुई। अगर समवाय सम्बन्ध है तो जैसे अग्निका उष्ण स्वभाव है वैसे ब्रह्मका माया स्वभाव हुआ। उस स्वभावका निषेध कैसे संभव हो सकता है। वह तो उत्तम वस्तु हुई।

यदि कहा जाय कि ब्रह्म तो चैतन्य है और माया जड है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि समवाय संबन्धमें दो विरोधी स्वभाव नहीं रहते. जैसे आकाश और अन्धकार एक जगह नहीं रह सकते। यह कहा जाता है कि मायासे स्वयं ब्रह्म भ्रमरूप नहीं होता किन्तु अन्य जब भ्रमरूप होते हैं तब तो जैसे कपटी अपने कपटको स्वयं ही जानता है उसके भ्रममें नहीं आता दूसरे ही जब भ्रममें आते हैं। लेकिन कपटी तो वही कहलायगा जो कपट करेगा न कि भ्रममें आने वाले दूसरे जीव? वैसे ही ब्रह्म अपनी मायाको स्वयं जानता है इसलिये वह भ्रमरूप नहीं होता दूसरे ही जीव भ्रममें आते हैं लेकिन मायावी तो ब्रह्म ही कहलायगा उसकी मायासे दूसरे जीव जो भ्रमरूप हुए हैं वे मायावी क्यों कहलायेंगे?

साथ ही एक प्रश्न यह भी उठता है कि जीव और ब्रह्म एक है या अलग अलग हैं? यदि एक हों तो जैसे कोई पागल स्वयं ही अपने अंगोंको पीड़ा पहुंचाता है वैसे ही ब्रह्म अपनेसे अभिन्न जीवोंको मायासे दुखी करता है इसको माया कहा जायगा?

और यदि अजग हैं तो जैसे कोई भूत बिना ही प्रयोजन औरोंको भ्रम पैदा करे पीड़ा दे तो उसे निकृष्ट ही कहा जाता है वैसे ही ब्रह्म माया पैदा कर, बिना प्रयोजन दूसरे जीवोंको पीड़ा देता है उसे क्या कहा जायगा ? इस तरह मायाको ब्रह्मकी बतलाना निरा भ्रम है।

जीवोंको ब्राह्म चेतनताका खण्डन

आगे प्रतिवादी कहता है कि जलसे भरे हुए अलग अलग बर्तनोंमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब अलग अलग दिखाई देता है परन्तु चन्द्रमा एक ही है। वैसे ही अलग २ बहुतसे शरीरोंमें ब्रह्मका चैतन्य प्रकाश अलग २ पाया जाता है। लेकिन ब्रह्म एक ही है। इसलिये जीवोंकी चेतना ब्रह्मकी ही चेतना है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है। जड़ शरीरमें ब्रह्मके प्रतिबिम्बसे यदि चेतना होती है तो घट पट आदि जड़ पदार्थोंमें भी ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ जानेसे चेतना हो जानी चाहिये। यदि कहा जाय कि शरीरों को चेतन नहीं करता जीवको चेतन करता है तो प्रश्न यह है कि जीवका स्वरूप चेतन है या अचेतन ? अगर चेतन है तो चेतनको चेतन क्या करेगा ? यदि अचेतन है तो शरीर, घट और जीवकी एक जाती हुई। दूसरा प्रश्न यह है कि ब्रह्म और जीवोंकी चेतना एक है या भिन्न है ? यदि एक है तो दोनोंमें ज्ञानके अधिकता हीनता क्यों है ? दूसरे यह सभी जीव परस्परमें एक दूसरेकी बात क्यों नहीं जानते ? अगर यह कहा जायगा कि यह उपाधिका भेद है चेतना ही भिन्न भिन्न है तो उपाधि मिटने पर इसकी चेतना ब्रह्ममें मिल जायेगी या नष्ट होजायगी ? अगर नष्ट होजायगी तो यह जीव अचेतन रह जायगा। अगर रहेगा तो इसकी चेतना इसीकी रही ब्रह्ममें क्या मिला ? अगर अस्तित्व नहीं रहेगा तो इसका नाश हुआ कहलाया ब्रह्ममें कौन मिला ? अगर ब्रह्म और

जीवकी चेतना भिन्न २ मानी जायगी तो ब्रह्म और जीव भिन्न २ ठहरे। इस प्रकार जीवोंकी चेतनाको ब्रह्मकी मानना भ्रम है।

शरीर मायाका स्वरूप है इसका खण्डन

शरीरादिकको यदि मायाका कहा जाता है तो माया ही हाड़ मांसादिक रूप होता है या मायाके निमित्तसे और कोई हाड़ मांस रूप होता है ? अगर माया ही हाड़ मांसरूप होती है तो मायाके वर्ण गंधादिक पहलेसे ही थे या नवीन हुए ? यदि पहले से ही थे तो पहले तो माया ब्रह्मकी थी और ब्रह्म अमूर्तिक है वहाँ वर्णादिक कैसे संभव हो सकते हैं ? अगर नवीन हुए तो अमूर्तिकसे मूर्तिक हुआ तब अमूर्तिक स्वभाव सदा नहीं रहा। अगर कहा जायगा कि मायाके निमित्तसे और कोई हड्डी मांसादि रूप होता है तो मायाके सिवाय और कोई पदार्थ तो ब्रह्मवादियों के यहाँ है ही नहीं तब होगा कौन ? अगर यह कहा जायगा कि नवीन पदार्थ पैदा हुए हैं तो वे मायासे भिन्न पैदा हुए हैं या अभिन्न पैदा हुए हैं ? यदि भिन्न पैदा हुए तो शारीरिक मायामयी कैसे हुए ? वे तो उन नवीन उत्पन्न पदार्थमय हुए। यदि अभिन्न पैदा हुए तो माया ही तद्रूप हुई। नवीन पदार्थका उत्पन्न होना क्यों कहा हो ? इस तरह शरीरादिकको मायाका स्वरूप कहना भ्रम है।

प्रतिवादी फिर कहता है कि—मायासे तीन गुण पैदा होते हैं राजस तामस और सात्विक परन्तु यह भी उसका कहना ठीक नहीं है क्योंकि मानादि कषाय रूप भावको राजस कहते हैं, क्रोधादि कषायरूप भावको तामस कहते हैं, मंद कषाय रूप भाव को सात्विक कहते हैं यह भाव प्रत्यक्ष चेतनामयी है और मायाका स्वरूप जड़ कहा जाता है सो जड़से चेतनामयी भाव कैसे पैदा हो

सकते हैं ? अगर जड़के भी यह भाव पैदा हो सकते हैं तो पत्थर आदिके भी होने चाहिये । परन्तु चेतना स्वरूप के ही यह दीखते हैं । अतः यह भाव मायासे पैदा नहीं हो सकते । हां यदि मायाको चेतना ठहराया जाय तो मान सकते हैं लेकिन मायाको चेतन ठहरानेमें शरीरादिक मायासे भिन्न होते हैं यह नहीं माना जा सकता इसलिये उसका निश्चय करना चाहिये । भ्रमरूप मानने में कोई लाभ नहीं है ।

प्रतिवादीका यह भी कहना है कि इन तीन गुणोंसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन देव प्रकट हुए हैं । लेकिन ये ठीक नहीं है क्योंकि गुणीसे गुण तो पैदा होते हैं परन्तु गुणसे गुणी पैदा नहीं होते । पुरुषसे क्रोध होता है लेकिन क्रोधसे पुरुष होता नहीं देखा गया । तथा इन गुणोंकी जब निन्दा की जाती है तब इनसे उत्पन्न हुए ब्रह्मादिक पूज्य कैसे माने जा सकते हैं । दूसरी बात यह है कि गुण तो हैं मायामय और यह तीनों ब्रह्मके अवतार हैं किन्तु इन गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण ये भी मायामय कहलाए । फिर इनको ब्रह्मके अवतार कैसे कहा जा सकता है ? ये गुण जिनमें थोड़े भी हैं उनसे तो इन्हें छोड़नेके लिये कहा जाता है और जो इन्हीं गुणोंकी मूर्ति है उन्हें पूज्य माना जाता है यह तो बड़ा भ्रम है । तथा इन तीनोंके कार्य भी इन्हीं रूपमें देखे जाते हैं । कुतूहलादिक युद्धादिक स्त्रीसेवनादि क्रियाएँ उन रागादिगुणों से होती हैं इसलिये उनके रागादिक गुण मौजूद हैं ऐसा कहना चाहिये । इनको पूज्य कहना या परमेश्वर कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं है । जैसे अन्य संसारी हैं वैसे ये भी हैं । यहां यह कहना भी ठीक नहीं है कि, संसारी तो मायाके अधीन हैं इस लिये बिना जाने ही उन कार्योंको करते हैं किन्तु ब्रह्मादिकके माया आधीन है, वे जानकर इन कार्योंको करते हैं । क्योंकि मायाके

आधीन होनेसे काम क्रोधादिक के सिवाय और क्या पैदा हो सकता है। इन काम क्रोधादिकी ब्रह्मादिकके तीव्रता पाई जाती है। कामकी तीव्रतासे स्त्रियोंके वशमें होकर उन्होंने नृत्य गान आदि किया है, विह्वल हुए हैं, अनेक प्रकार की कुचेष्टाएँ की हैं। क्रोधके वशीभूत होकर अनेक युद्धादि कार्य किये हैं, मानके वशीभूत होकर अपनी उच्चता प्रकट करनेके लिये अनेक उपाय किए हैं, मायाके वशीभूत होकर छल किए हैं, लोभके वशीभूत होकर परिग्रहका खूब संग्रह किया है।

यदि यह कहा जाय कि इनको काम क्रोधादि व्याप्त नहीं होते, यह तो परमेश्वरकी लीला है। सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसे कार्योंको वे इच्छासे करते हैं या बिना इच्छासे करते हैं? यदि इच्छा से करते हैं तो स्त्री सेवनकी इच्छा ही का नाम काम है, युद्ध करनेकी इच्छा ही का नाम क्रोध है इसी तरह और भी समझना चाहिये। अगर बिना इच्छा करते हैं तो बिना चाहे किसी कामका होना पराधीनताका सूचक है, वह पराधीनता उनके कैसे संभव हो सकती है? और अगर यह लीला है कि परमेश्वर अवतार धारण कर इन कार्योंमें लीला करता है तो अन्य जीवोंको इन कार्योंसे छुड़ाकर मुक्त करनेका उपदेश क्यों दिया जाता है। फिर तो क्षमा, शील, संतोष, संयमादिकका उपदेश सब झूठा कहलाया।

लोक प्रवृत्ति या प्राणियोंके निग्रह अनुग्रहके लिये सृष्टि रचना का खण्डन

इस पर अगर यह कहा जाय कि परमेश्वरको तो कुछ मतलब नहीं किन्तु लोकनीतिको चलानेके लिये अथवा भक्तोंकी रक्षा और

दुष्टोंका निग्रह करनेके लिये परमेश्वर अवतार धारण करता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रयोजनके बिना चिउटी भी कार्य नहीं करती परमेश्वर भला क्यों करेगा ? और फिर प्रयोजन भी ऐसा कि लोक प्रवृत्तिके लिये करता है। जैसे कोई पिता अपनी कुचेष्टाएँ पुत्रोंको सिखावे और जब वे चेष्टाएं करें तो उनको मारने लग जाय ऐसे पिताको भला अच्छा कैसे कहा जा सकता है ? वैसे ही ब्रह्म स्वयं काम क्रोध रूप चेष्टासे अपने पैदा किये लोगों को प्रवृत्ति कराता है और जब वे लोग वैसी प्रवृत्ति करते हैं तो उन्हें नरकादिकोंमें डाल देता है। शास्त्रोंमें नरकादिको इन्हीं भावों का फल लिखा है। ऐसे प्रभुको भला कैसे माना जा सकता है ? और यह जो कहा है कि उसका प्रयोजन भक्तोंकी रक्षा और दुष्टों का निग्रह है उसमें भी प्रश्न यह है कि भक्तोंके दुःख देने वाले जो दुष्ट लोग हैं वे परमेश्वरकी इच्छासे हुए हैं या बिना इच्छाके हुए हैं ? यदि इच्छासे हुए हैं तो जैसे कोई अपने सेवकोंको स्वयं ही पिटवावे और पीटने वालेको फिर दण्ड दे भला ऐसा स्वामी अच्छा कैसे हो सकता है वैसे ही जो अपने भक्तोंको स्वयं अपनी इच्छासे दुष्टों द्वारा पीड़ित करावे और बादमें अवतार धारण कर उन दुष्टोंको मारे ऐसा ईश्वर भी अच्छा कैसे होसकता है ? अगर यह कहा जायगा कि बिना इच्छाके ही दुष्ट मनुष्य पैदा हुए तो या तो परमेश्वरको ऐसे भविष्यका ज्ञान न होगा कि दुष्ट मेरे भक्तों को दुःख देंगे या पहले ऐसी शक्ति न होगी जिससे वह इन्हें दुष्ट न होने देता। दूसरी बात यह है कि जब ऐसे कार्य के लिये परमात्माने अवतार धारण किया है। तो बिना अवतार धारण किये उसमें ऐसी शक्ति थी या नहीं ? अगर थी तो अवतार क्यों धारण करता है ? अगर नहीं थी पीछे शक्ति होनेका क्या कारण हुआ ?

महत्ता दिखानेके लिए सृष्टि रचनाका खण्डन

यदि कहा जाय कि ऐसा किए बिना उसकी महिमा प्रकट नहीं हो सकती थी तो इसका मतलब यह हुआ कि अपनी महिमाके लिये अपने अनुचरोंका पालन करता है और शत्रुओंका निग्रह करता है। इसीका नाम रागद्वेष है। और रागद्वेष संसारी जीव का लक्षण है। जब ये रागद्वेष परमेश्वरके ही पाया जाता है तब अन्य जीवोंको रागद्वेष छोड़कर समताभाव धारण करनेका उपदेश क्यों दिया जाता है? और रागद्वेषके अनुसार कार्य करनेमें थोड़ा बहुत समय तो लगता ही है उतने समय तक परमेश्वरके आकुलता भी रहती होगी तथा जैसे जिस कामको छोटा आदमी कर सकता है उस कार्यको राजा स्वयं करे तो राजाकी इसमें महिमा नहीं होती उल्टी निन्दा होती है। वैसे ही जिस कार्यको राजा व व्यन्तर देवादिक कर सकते हैं उस कार्यको यदि परमेश्वर स्वयं अवतार धारण कर करताहै तो इसमें परमेश्वरकी कुछ महिमा नहीं है निन्दा ही है इसके सिवा महिमा तो किसी और को दिखाई जाती है। लेकिन जब ब्रह्म अद्वैत है तब महिमा किसको दिखाता है? और महिमा दिखानेका फल तो स्तुति कराना है तो वह किससे स्तुति कराना चाहता है? तो जब वह स्वयं स्तुति कराना चाहता है तो सब जीवोंको स्तुतिरूप प्रवृत्ति क्यों नहीं कराता। जिससे अन्य कार्य न करना पड़े। इसलिये महिमाके लिये भी कार्य करना ठीक नहीं कहा जासकता।

तर्क—परमेश्वर इन कार्यों को करता हुआ भी अकर्त्ता है, इसका कुछ निर्धारण नहीं है।

समाधान—कोई अपनी माताको बांझ कहे तो जैसे उसका कहना ठीक नहीं माना जाता वैसे ही कार्य करते हुए भी परमेश्वर

को अकर्त्ता मानना ठीक नहीं है। यह कहना कि उसका निर्धारण नहीं है मिथ्या है क्योंकि निर्धारण किए बिना ही यदि उसको माना जायगा तो आकाशके फूल गधेके सींग भी मानने पड़ेंगे। इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशका होना झूठ है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश द्वारा सृष्टिके उत्पादन रक्षण और ध्वंसका खण्डन

प्रतिवादीकी यह भी मान्यता है कि ब्रह्मा तो सृष्टि पैदा करता है, विष्णु रक्षा करता है और महेश संहार करता है। किन्तु उसका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इन कार्योंमेंसे कोई कुछ करना चाहेगा और कोई कुछ करना चाहेगा तो परस्पर विरोध होगा। यह कहना कि यह तो परमेश्वरके ही रूप हैं इनमें विरोध क्यों होगा? ठीक नहीं है क्यों कि जो आदमी स्वयं ही पैदाकर स्वयं ही मारे उसके ऐसे कार्य करनेमें क्या लाभ है? अगर सृष्टि उसे अनिष्ट लगती है तो पैदा ही क्यों करता है? और इष्ट लगती है तो नष्ट क्यों करता है यदि यह कहा जाय कि पहले इष्ट थी तब पैदा करनेके पीछे अनिष्ट लगी तो विनाश किया, तो प्रश्न यह है कि इससे परमेश्वरका स्वभाव अन्यथा हुआ वा सृष्टिका स्वरूप अन्यथा हुआ? यदि पहला पक्ष मानोगे तो परमेश्वरका एक स्वभाव नहीं रहा। तब उस एक स्वभावके न रहनेका कारण क्या है यह भी बताना चाहिये क्योंकि बिना कारणके स्वभावका पलटना नहीं होता। यदि दूसरा पक्ष स्वीकार है तो सृष्टि तो परमेश्वरके आधीन थी उसे ऐसा होने ही क्यों दिया कि अनिष्ट लगे।

दूसरे हमारा पूछना यह है कि ब्रह्मा जो सृष्टि पैदा करता है

उसका तरीका क्या है एक तो यह कि जैसे मन्दिर चिनने वाला चूना पत्थर आदि सामग्री इकट्ठी कर आकारादि बनाता है वैसे ही ब्रह्मा सामग्री इकट्ठी कर सृष्टि रचना करता है तो यह सामग्री जहाँ से लाकर इकट्ठी की वह ठिकाना बताना चाहिये। और अकेले ब्रह्माने ही यदि इतनी रचनाकी तो आगे पीछेकी या अपने शरीरके बहुतसे हाथ आदि बनाकर एक समयमें ही की? यह बताना चाहिये।

दूसरे यह है कि जैसे राजाकी आज्ञानुसार कार्य होता है वैसे ही ब्रह्माकी आज्ञानुसार सृष्टि पैदा होती है। तब प्रश्न यह है कि आज्ञा किसको दी? और जिसको आज्ञा दी वह सामग्री कहाँ से लाया और कैसे रचना की? यह सब मालूम होना चाहिये।

तीसरे यह है कि जैसे ऋद्धिधारी इच्छा करता है और कार्य स्वमेव बन जाता है, वैसे ही ब्रह्मा इच्छा करता है और उसके अनुसार सृष्टि स्वमेव पैदा होजाती है। लेकिन यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्मा तो इच्छाका ही कर्त्ता हुआ, सृष्टि तो अपने आप ही पैदा हुई। दूसरे इच्छा तो परब्रह्मने की तब ब्रह्माका कर्तव्य क्या हुआ? जिससे ब्रह्माको सृष्टिका पैदा करने वाला कहा जाय अगर यह कहा जाय कि परमब्रह्म और ब्रह्म दोनोंने ही इच्छा की तब लोक पैदा हुआ तो ब्रह्मके शक्ति हीनपने का दोष हुआ।

इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न है कि अगर बनानेसे ही लोक बनता है तो बनाने वाला तो सुखके लिये ही बनाता है इसलिये इष्ट ही रचना करता है लेकिन इस लोकमें इष्ट पदार्थ तो कम हैं अनिष्ट बहुत हैं। जीवोंमें देवादिकोंकी रचना तो क्रीड़ा करने व भक्ति कराने आदिके लिए की। परन्तु लट कीड़ी कुत्ते सुअर शेर आदि किस लिए बनाए। ये तो रमणीक नहीं हैं सब प्रकारसे

अनिष्ट ही हैं। तथा दरिद्री दुःखी एवं नारकी आदिके देखनेसे अपनेको जुगुप्सा ग्लानि आदि दुःख पैदा होता है ऐसे अनिष्ट क्यों बनाए ? यदि यह कहा जाय कि यह जीव अपने पापसे लट चींटी दरिद्री नारकी आदि पर्यायोंको भोगता है तो यह तो बादमें पाप करनेका फल हुआ. पहले रचना करते समय इनको क्यों बनाया ? दूसरे, यदि जीव पीछेसे पापरूप परिणत हुए तो कैसे ? अगर स्वयं ही परिणत हुए तो मालूम पड़ता है ब्रह्माने पहले तो पैदा किए बादमें वे उसके आधीन न रहे। इस कारण से ब्रह्माको दुःख ही हुआ। यदि ब्रह्माके परिणाम न करनेसे वे पापरूप परिणत हुए तो ब्रह्माने उन्हें पापरूप परिणत क्यों किया? जीव तो उसके ही पैदा किये हुए थे उनका बुरा किस लिये किया। इसलिये यह भी बात ठीक नहीं है। अजीवों में भी सुवर्ण सुगंधादि सहित वस्तुयें तो रमणके लिये बनाईं पर कुवर्ण दुर्गंधादि सहित दुःखदायक वस्तुएँ किस लिये बनाईं ? इनके दर्शनादिकसे ब्रह्मको भी कुछ सुख पैदा नहीं होता होगा ? यदि पापी जीवोंको दुःख देनेके लिये बनाईं तो अपने ही पैदा किये हुए जीवोंसे ऐसी दुष्टता क्योंकी जो उनके लिये दुःखदायक सामग्री पहले ही बनादी। तथा धूल पर्वतादिक कितनी ही वस्तुएँ ऐसी हैं जो अच्छी भी नहीं हैं और दुःखदायक भी नहीं हैं उनको किस लिये बनाया ? अपने आप तो वे जैसे तैसे बन सकते हैं परन्तु बनाने वाला तो प्रयोजनको लेकर ही बनाएगा। इसलिए ब्रह्मा सृष्टिका कर्ता है यह वचन मिथ्या है।

इसी तरह विष्णुको लोकका रक्षक कहा जाता है यह भी मिथ्या है क्योंकि रक्षक तो दो ही काम करता है। एक तो दुःख पैदा होनेका कारण न होने दे दूसरे विनाशका कारण न होने दे। किन्तु लोकमें दुःखके पैदा होनेके कारण जहाँ तहाँ देखे जाते

हैं और उनसे जीवोंको दुःख ही देखनेमें आता है। भूख प्यास आदि लगते हैं शीत उष्णादिसे दुःख होता है जीव परस्पर दुःख पैदा करते हैं शस्त्रादि दुःखके कारण बनते हैं। तथा विनष्ट होनेके कारण मौजूद हैं। जीवके विनाशके कारण रोगादिक अग्नि विष, तथा शस्त्रादि देखे जाते हैं। और जीवोंके परस्परमें भी विनष्ट होनेके कारण मौजूद हैं। इस तरह जब दोनों प्रकारसे रक्षा नहीं की तो विष्णुने रक्षक बनकर क्या किया ? अगर यह कहा जाय कि विष्णु रक्षक ही है अन्यथा क्षुधा तृषादिकके लिये अन्न जलादिक कहाँसे आते, कीड़ोंको कण और कुंजरको मन कौन देता ? संकटमें सहायता कौन करता मरणका कारण उपस्थित होने पर टिटहरी की तरह कौन उबारता इत्यादि बातों से मालूम पड़ता है कि विष्णु रक्षा करता ही है यह भी भ्रम है क्योंकि अगर ऐसा ही होता तो जहाँ जीवोंको भूख प्यास पीड़ा देते हैं, अन्न जलादिक नहीं मिलते संकट पड़ने पर सहायता नहीं होती थोड़ा सा कारण पाकर मरण होजाता है वहाँ या तो विष्णुको शक्ति नहीं है या उसको ज्ञान नहीं हुआ। लोकमें बहुत से ऐसे प्राणी दुखी होकर मर जाते हैं। विष्णुने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? यह कहना कि वह तो जीवोंके कर्तव्योंका फल है ऐसा ही है जैसे कोई शक्तिहीन लोभी झूठा वैद्य किसीका कुछ भला हो तो उसको अपना किया हुआ माने और बुरा हो मरण हो तो कहे कि उसका होनहार ही ऐसा था। जो कुछ भला हुआ वह तो विष्णुने किया और जो बुरा हुआ वह जीवोंके कर्तव्योंका फल हुआ ? भला ऐसी झूठी कल्पना किस लिए की जाती है ? या तो भला बुरा दोनों विष्णुका किया हुआ मानना चाहिये या दोनों उनके कर्तव्यका फल मानना चाहिए। यदि विष्णुका किया हुआ है तो बहुतसे जीव दुखी और शीघ्र मरते देखे जाते हैं उसको

रक्षक कैसे कहा जा सकता है ? और यदि अपने कर्तव्योंका फल है तो जो करेगा वह पावेगा विष्णु रक्षा क्या करेगा ? यदि कहा जाय कि जो विष्णुके भक्त हैं उनकी रक्षा करता है तो जो कीड़ी कुंजर आदि विष्णुके भक्त नहीं हैं उनको अन्नादिक पहुंचानेमें संकटके समय सहायक होनेमें अथवा मरण होनेमें विष्णुका कर्तव्य मान उसे सबका रक्षक क्यों कहा जाता है केवल भक्तोंका ही रक्षक मानना चाहिए। किन्तु भक्तोंका रक्षक भी नहीं है क्यों कि अभक्त भी भक्त पुरुषोंको पीड़ा देते देखे गए हैं। उनके श्रद्धानुसार यह ठीक है कि कई स्थानों पर प्रह्लाद आदिककी उसने सहायता की है। परन्तु यहां तो हम यह पूछते हैं कि प्रत्यक्ष मुसलमान आदि अभक्त पुरुषों द्वारा भक्त पुरुष पीड़ित होते हैं मंदिरादिकोंको विघ्न होता है वहां विष्णु सहायता क्यों नहीं करता क्या उसमें शक्ति नहीं है या उसे खबर नहीं है ? यदि शक्ति नहीं है तो इनसे भी हीन शक्तिका धारक हुआ यदि खबर नहीं है तो इतनी सी भी खबर न होनेसे अज्ञानी हुआ। यदि कहा जाय कि शक्ति भी है खबर भी है लेकिन उसकी ऐसी ही इच्छा है तो उसे भक्तवत्सल क्यों कहा जाता है इस प्रकार विष्णुको लोकका रक्षक मानना मिथ्या है।

इसी तरह महेशको संहारक माना जाता है यह भी मिथ्या है। पहले तो महेश जो संहार करता है वह सदा ही करता है या महाप्रलयके समय करता है ? यदि सदा करता है तो विष्णुकी रक्षा और संहार आपसमें विरोधी हैं। दूसरे यह संहार कैसे करता है ? जैसे पुरुष अपने हाथ आदिकसे किसीको मारता है या दूसरे द्वारा पिटवाता है वैसे ही महेश अपने अंगोंसे संहार करता है या किसीको आज्ञा देकर संहार कराता है ? अगर अपने अंगोंसे संहार करता है तो संहार तो सारे लोकमें अनेकों जीवोंका

क्षण २ में होता है यह किस प्रकार अपने अंगोंसे या किसीको आज्ञा देकर एक साथ संहार कराता है यदि महेश केवल इच्छा ही करता है और उनका संहार स्वयमेव होजाता है तो उसके सदा मारनेरूप परिणाम ही रहने चाहियें। और अनेक जीवोंको एक साथ मारनेकी इच्छा भी कैसे होती होगी ? यदि महाप्रलयके समय संहार करता है तो परमब्रह्मकी इच्छानुसार करता है या उसकी बिना इच्छाके करता है ? यदि परमब्रह्मकी इच्छानुसार करता है तो उसे ऐसा क्रोध कैसे हुआ जो सबकी प्रलय करनेकी इच्छा हुई क्योंकि बिना किसी कारणके नाशकी इच्छा नहीं होती। और नाश करनेकी इच्छा ही का नाम काम क्रोध है इस लिये उसका कारण बताना चाहिये। यदि बिना कारणके इच्छा होती है तो वह पागलोंकी सी इच्छा हुई। यदि यह कहा जाय कि परमब्रह्मने यह स्वांग बनाया था बादमें दूर किया कारण कुछ भी नहीं है. तो स्वांग बनाने वाला भी उसे जब स्वांग अच्छा लगता है तभी बनाता है जब अच्छा नहीं लगता तब दूर करता है। यदि इसको इसी प्रकार लोक अच्छा या बुरा लगता है तो इसका लोकसे रागद्वेष हुआ। तब साक्षी स्वरूप परब्रह्म क्यों कहा जाता है ? साक्षीभूत तो उसे कहते हैं जो अपने आप ही जैसा हो वैसा देखता जानता हो जो इष्ट अनिष्ट पैदा करे उसे साक्षीभूत कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि साक्षीभूत होना और कर्ता हर्ता होना दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। एकके दोनों बातें संभव नहीं हैं।

दूसरे परमब्रह्मके तो पहले यह इच्छा हुई थी कि 'मैं एक हूँ, बहुत होजाऊँ' तब बहुत होगया था। अब ऐसी इच्छा हुई होगी कि 'मैं बहुत हूँ, एक होजाऊँ'। जैसे कोई भोलेपनसे कार्य कर पीछे इस कार्यको दूर करना चाहता है वैसे ही परमब्रह्मका भी

बहुत होकर एक होनेकी इच्छा करना ऐसा मालूम पड़ता है कि उसने पहले बहुत होनेका कार्य भोलेपनसे किया था भविष्यके ज्ञानसे यदि करता तो दूर करनेकी इच्छा ही क्यों होती यदि परब्रह्मकी इच्छा बिना ही महेश संहार करता है तो यह परब्रह्मका या ब्रह्मका विरोधी कहलाया।

तथा एक प्रश्न यह भी है कि यह महेश संहार कैसे करता है? अपने अङ्गोंसे संहार करता है या उसकी इच्छा होनेसे स्वयमेव ही संहार होता है। यदि अपने अङ्गोंसे संहार करता है तो सबका एक साथ संहार कैसे करता है। यदि इसकी इच्छासे स्वयमेव संहार होता है तो इच्छा तो परब्रह्मने की थी इसने संहार कैसे किया?

तीसरा यह भी प्रश्न है कि सब लोकमें संहार होते समय जीव अजीव कहाँ गये। यदि जीवोंमें भक्तजीव ब्रह्ममें मिल गये और अन्य जीव मायामें मिल गये तो माया ब्रह्मसे अलग रहती है या पीछे ब्रह्ममें मिल जाती है यदि अलग रहती है तो ब्रह्मकी तरह माया भी नित्य हुई अद्वैत ब्रह्म नहीं रहा। और अगर माया और ब्रह्म एक हो जाते हैं तो जीव मायामें मिले थे वे भी मायाके साथ ब्रह्ममें मिल गए। इस तरह महाप्रलयके समय सभीका परमब्रह्ममें मिलना रहा तो मोक्षका उपाय क्यों किया जाय। तथा जो जीव मायामें मिल गये थे वे ही जीव बादमें लोक रचनाके समय लोकमें आयेंगे या वे ब्रह्ममें ही मिले रहेंगे और नए पैदा होंगे। अगर वे ही आवेंगे तो मालूम हुआ कि वे अलग २ रहे मिलना क्या रहा। यदि नये पैदा होंगे तो जीवका अस्तित्व थोड़े ही समय तक रहा मुक्त होनेके उपाय करनेसे क्या लाभ।

लोककी अनादि निधनता

ब्रह्मवादियोंका यह भी कहना है पृथ्वी आदिक मायामें मिल

जाती है। परन्तु यहाँ भी प्रश्न यह है कि वह माया अमूर्तिक सचेतन है या मूर्तिक अचेतन. अगर अमूर्तिक सचेतन है तो इसमें मूर्तिक अचेतन पदार्थ कैसे मिल सकते हैं और यदि मूर्तिक अचेतन है तो यह ब्रह्ममें मिलती है कि नहीं। अगर मिलती है तो इससे ब्रह्म भी मूर्तिक अचेतनसे मिश्रित हुआ। अगर नहीं मिलती तो अद्वैतता नहीं रही। अगर यह कहा जाय कि सब अमूर्तिक चेतन हो जाते हैं तो आत्मा शरीरादिककी एकता हुई. इनकी एकता यह संसारी जीव ऐसे ही मानता है उसको अज्ञानी क्यों कहा जाय ? दूसरा प्रश्न यह है कि लोकका प्रलय होने पर महेशका प्रलय होता है कि नहीं ? अगर होता है तो एक साथ या आगे पीछे ? अगर एक साथ होता है तो स्वयं नष्ट होता हुआ लोकको नष्ट कैसे करता है ? अगर आगे पीछे होता है तो लोकको नष्ट कर यह रहा कहाँ, क्योंकि वह स्वयं भी तो सृष्टिमें ही रहता है। इस तरह महेशको सृष्टिका संहारकर्त्ता मानना असंभव है। तथा इसी प्रकार या अन्य अनेक प्रकारसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशको क्रमसे सृष्टि कर्ता, सृष्टिरक्षक सृष्टि संहारक मानना मिथ्या है। लोकको अनादि निधन ही मानना चाहिये। इस लोकमें जीवादिक पदार्थ भी अलग २ अनादि निधन हैं। उनकी अवस्थाका परिवर्तन होता है इस अपेक्षासे वे पैदा और नष्ट होते रहते हैं। स्वर्ग नरक, द्वीपादिक अनादिसे इसी प्रकार हैं और सदा इसी प्रकार रहेंगे यदि यह कहा जाय कि बिना बनाए ऐसे आकारादिक कैसे संभव हो सकते हैं, यह तो बनानेसे ही बन सकते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि जो अनादिसे ही पाए जाते हैं उसमें तर्क क्या ? जैसे परब्रह्मका स्वरूप अनादि निधन माना जाता है वैसे ही यह भी है। यदि कहा जाय कि जीवादिक व स्वर्गादिक कैसे हुए तो हम भी यह पूछेंगे कि परब्रह्म

कैसे हुआ ? यदि कहेंगे कि इनकी रचना किसने की तो हम कहेंगे कि परब्रह्मको किसने बनाया। यदि परब्रह्म स्वयं सिद्ध है तो जीव स्वर्गादि भी स्वयं सिद्ध हैं। आप कहेंगे कि इनकी और परब्रह्मकी समानता कैसे तो हम पूछेंगे कि इनकी समानतामें दोष क्या है ? लोकको नया पैदा करना उसका विनाश करना आदि बातोंके बारेमें तो हमने अनेक दोष बतलाए। अब यह तुम्हें बताना है कि लोकको अनादि निधन माननेमें क्या दोष है। वास्तवमें परब्रह्म कोई अलग चीज नहीं है, इस संसारमें जीव ही यथार्थ मोक्षमार्गका साधन करके सर्वज्ञ वीतराग होजाता है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशसे उद्धृत)

अद्वैतवाद के विषय में सांख्योंका उत्तर पक्ष

नाविद्यात् अवस्तुना बन्धयोगात् (सां० द० १।२०)

भावार्थ—क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध और नित्य विज्ञानवादी, वेदान्ती ये दोनों अद्वैत वादी हैं क्योंकि ये विज्ञानके सिवाय अन्य पदार्थ नहीं मानते हैं। वेदान्ती एक ही नित्य विज्ञानमय ब्रह्म मानते हैं। और योगाचार बौद्ध अनन्त क्षणिक विज्ञान व्यक्तियोंका एक संतान मानते हैं। ये दोनों अविद्याको बन्धका हेतु मानते हैं। अर्थात अविद्यासे पुरुषको संसारका बन्धन होता है। सांख्य उत्तर पक्षीरूपसे उसको पूछता है कि अविद्या वस्तु,सत् है या असत् है। वह कहता है अवस्तु असत है।तब सांख्य दर्शनाकार कहता है कि यदि अविद्या असत है तो उससे पुरुषका बन्ध नहीं होसकता। स्वप्नमें देखीहुई रज्जुसे (असत रज्जुसे)क्या कोई किसी वस्तुको बान्ध सकेगा ? कदापि नहीं। यदि कहो कि असत अविद्यासे बन्ध भी असत अवास्तविक होगा तो यह भी ठीक नहीं है। बन्ध यदि असत् हो तो उसकी निवृत्तिके लिये योगाभ्यास

आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं होसकती। शास्त्रकारोंने जिन योगाभ्यास आदि साधनोंका बन्धकी निवृत्तिके लिये उपदेश किया है वे सब निष्फल होजायेंगे। इसलिये बन्धअसत नहीं माना जा सकता।

वस्तुत्वे सिद्धान्त हानिः (सां० द० १। २१)

भावार्थ—सांख्यकार कहते हैं कि यदि अविद्याको वस्तुरूप अर्थात् सद्रूप मानोगे तो तुम्हारे सिद्धान्तको हानि पहुंचेगी। क्योंकि तुम अविद्याको मिथ्या मानते हो, तो यह सिद्धान्त बदल जायगा।

'विजातीयद्वैतापत्तिश्च' (सां० द० १। २२)

भावार्थ—योगाचार बौद्ध सजातीय क्षणिक विज्ञानकी अनेक उक्तियाँ तो मानते ही हैं इसलिये सजातीय द्वैत उनके लिए आपत्तिरूप नहीं होसकता किन्तु विजातीय द्वैत तो उनके लिये आपत्तिरूप होगा। अविद्या ज्ञानरूप नहीं है किन्तु वासनारूप है और वासना विज्ञानसे विजातीय है। अविद्याको सत् मानने पर विज्ञान और अविद्या यह दो पदार्थ सिद्ध होने पर विजातीय द्वैतता प्राप्त होगी। वेदान्तियोंके लिये द्वैतता मानना दोषापत्तिरूप है।

'विरुद्धोभयरुपा चेत्' (सां० द० १। २३)

भावार्थ—सांख्य कहते हैं कि अविद्याको सत् या असत् माननेमें दोषापत्ति प्राप्त होनेसे विरुद्ध उभयरूप मान लो, अर्थात् सत्, असत् सदसत् और ससदसत्से विलक्षण ये चार कोटियाँ हैं। इनमेंसे पहिली दो सत् और असत्का तो निषेध हो चुका। तीसरी सत् असत् रूप कोटि परस्पर विरोधी है। सत् से विरुद्ध असत् और असत्से विरुद्ध सत यह तीसरी कोटि तो परस्पर विरुद्ध होनेसे नहीं मानी जा सकती। तब विलक्षण सद्सद्रूप चौथी कोटि मानोगे तो उसका उत्तर नीचे दिया जाता है।

'न तादृक्पदार्थप्रतीतेः' (सां० द० १ । २४)

भावार्थ—जगतमें ऐसा कोई पदार्थ ही प्रतीत नहीं होता है। सापेक्ष सत असत तो मिल सकता है मगर चौथी कोटि वाली निरपेक्ष सत् असत वस्तु परस्पर विरुद्ध होनेसे कहीं भी प्रतीत नहीं होती। अन्य यह भी दोष है कि यदि अविद्याको साक्षात् बन्धका हेतु मानोगे तो ज्ञानसे अविद्याका नाश होने पर प्रारब्ध भोगकी अनुपपत्ति होगी। क्योंकि दुःख भोगरूप बन्धके कारण का नाश होने पर कार्यकी निवृत्ति हो जायगी। हमारे मतसे तो अविद्या जन्मादि संयोग द्वारा बन्धका हेतु होगी। जन्मादि संयोग प्रारब्धकी समाप्तिके बिना नष्ट नहीं होते। इत्यलं विस्तरेण।

ब्रह्मवादके विषयमें नैयायिकोंका उत्तरपक्ष

बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गै निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागम भविष्यातीतं कः शक्त उपपादयितुम् !!

(न्या० वा० भा० ४।१।२१)

अर्थ—ब्रह्मवादी ब्रह्मको जगतका उपादान कारण मानते हैं।

ईश्वर कारणं पुरुषकर्मा फल्यदर्शनात् ॥ ४ । १ । १९ ।

इस सूत्रमें आये हुए ईश्वर शब्दका अर्थ वे ब्रह्म करते हैं।

ईश्वरो ब्रह्म। ईशनायोगात्। ईशना च चेतना शक्तिः क्रियाशक्तिश्च। सा चात्मनि ब्रह्मनीति। ब्रह्म ईश्वरः स एव कारणं जगतः। न च भावो ना प्रधानं वा परमाणवो वा चेतयेते ॥

अर्थ—ईशनायोगसे ईश्वर शब्द निष्पन्न होता है। ईशना

चेतना शक्ति और क्रियाशक्ति दो प्रकारकी है। वह आत्मा और ब्रह्ममें है। ब्रह्म ही ईश्वर है, वही जगतका कारण है । अभाव प्रकृति या परमाणु जगतके कारण नहीं है। ब्रह्मवादियोंका यह पूर्वपक्ष है। नैयायिक इसका उत्तर देते हैं कि आत्माको जानने के लिये आत्माके लिङ्ग रूप. बुद्धि, इच्छा आदि विशेष गुण पाये जाते हैं ब्रह्म तो निरुपाधिक है। उसको जाननेके लिए कोई लिङ्ग या निशानी नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि प्रमाणके बिना प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। ब्रह्मकी सिद्धि तुम किस प्रमाणसे करोगे ? प्रत्यक्ष तो ब्रह्मका नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी भी इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य नहीं है। ब्रह्मको बताने वाला कोई खास हेतु नहीं है, अतः अनुमानसे भी ग्राह्य नहीं होसकता। सर्वसम्मत आगम प्रमाण भी नहीं है। इसलिये भाष्यकार कहते हैं कि—

'प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम्'

प्रमाणके विषयसे रहित ब्रह्मका उपपादन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता ? कोई नहीं। जब ब्रह्मकी उपपत्ति नहीं हो सकती तो उसको उपादानकारण माननेकी बात मूलसे ही उड़ जाती है। 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अर्थात् जहाँ मूल ही नहीं है वहाँ शाखा की क्या बात की जाय ? नैयायिक कहता है कि इस लिये आत्म विशेष रूप ईश्वरको जगतका उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण मान लो। प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार वह जगत् बनाता है । वस्तुतः ईश्वरवादियोंका यही सिद्धान्त है। प्राचीनतम नैयायिक आचार्य तो ईश्वरको नियन्तामात्र ही मानते हैं कर्त्तारूपसे नहीं। इत्यलं विस्तरेण ।

अद्वैतवादके विषयमें जैनियोंका उत्तरपक्ष

अत्राप्यन्ये वदन्त्येव, मविद्या नसतः पृथक
तच्च तन्मात्रमेवेति भेदाभासोऽनिबन्धनः ॥

(शा० वा० स० स्तवक ८।४)

अर्थ—अद्वैतपक्षके विषयमें वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि अविद्या ब्रह्मसे अलग नहीं है। ब्रह्मसे अविद्या अलग मानने पर अद्वैत सिद्धान्त नहीं टिक सकता। सत् यह ब्रह्ममात्र है अर्थात् ब्रह्म की ही सत्ता है। अविद्याकी पृथक सत्ता नहीं है। यदि ऐसी बात है तो घट, पट, स्त्री, पुरुष, पिता, पुत्र, सेठ, नौकर पति पत्नी, इत्यादि जो भेदका आभास होता है उसका क्या कारण है? कारणके बिना कार्य नहीं बन सकता।

सैवाथाऽभेदरूपापि भेदाभासनिबन्धनम्
प्रमाणमन्तरेणैत— दवगन्तुं न शक्यते ॥

(शा० वा० स० ८ । ५)

अर्थ—पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्मके साथ अपने भावको प्राप्त हुई वही अविद्या भेदाभावका कारण होगी। उत्तरपक्षी कहता है कि अविद्या तभी कारण बन सकती है, जब वह स्वयं प्रमाणसे सिद्ध होजाय। अविद्या प्रमेय है और प्रमेय प्रमाणके बिना नहीं जाना जा सकता।

भावेऽपि च प्रमाणस्य, प्रमेयव्यतिरेकतः
ननु नाद्वैतमेवेति, तदभावेऽप्रमाणकम् ॥

(शा० वा० स० ८ । ६)

अर्थ—अविद्या का निश्चय करने वाला प्रमाण कदाचित्

स्वीकार कर लिया जाय किन्तु जब तक प्रमाणसे प्रमेयकी सत्ता का स्वीकार न किया जाय तब तक कार्य कारण भावका निर्वाह नहीं हो सकता। वेदान्ती कहते हैं कि हम ऐसा नहीं कहते हैं कि केवल अद्वैत ही है। यों तो प्रमाण और प्रमेय दोनोंकी व्यवस्था की हुई है। यदि प्रमाणको भी स्वीकार न करें तो अद्वैततत्व भी अप्रमाण होजायगा। उत्तर पक्षी कहता है कि एक और द्वैत और दूसरी ओर अद्वैत इस प्रकारके परस्पर विरोधी कथन उन्मत्तके बिना अन्य कौन स्वीकार कर सकता है ?

विद्याविद्यादिभेदाच्च, स्वतन्त्रेणैव बाध्यते।
तत्संशयादियोगाच्च, प्रतीत्या च विचिन्त्यताम्॥
(शा० बा० स० ८। ७)

अर्थ—विद्यां चा विद्यां च, यस्तद्वेदोभयं सहाविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायांऽमृतमश्नुते यह एक श्रुति है। इसमें विद्या और अविद्याका भेद स्पष्ट बताया हुआ है। विद्याका फल अमृत प्राप्ति और अविद्याका फल मृत्युतरण है। कार्यभेदसे कारणमें भी भेद होता है। इसलिये उक्त श्रुतिसे स्वतन्त्ररूपसे अद्वैततत्वका निरास होजाता है. दूसरी बात यह है कि "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुति अद्वैत बोधक है "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं च" परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कर:" इत्यादि श्रुति सच्ची है या दूसरी ? इस प्रकार आगमप्रमाणसे बाधा और संशय उत्पन्न होनेका संभव होनेसे अद्वैतवाद दूषित ठहरता है। तीसरी बात है प्रत्यक्ष प्रतीतिकी। घट, पट आदि भिन्न भिन्न वस्तुएँ प्रत्यक्षसे दिखाई देती हैं। घट-पटादि भेद की प्रत्यक्ष प्रतीति होती है वह भी अद्वैततत्व खण्डन करती है। वेदान्तियोंका दृष्टि सृष्टिवाद भी बौद्धोंके शून्यवादके बराबर है। कहा भी है कि—

प्रत्यक्षादि प्रसिद्धार्थ विरुद्धार्थाभिधायिनः
वेदान्ता यदि शास्त्राणि, बौद्धैः किमपराध्यते ॥१॥
अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभाव प्रसिद्धये।
अद्वैतदेशनाशास्त्रे निर्दिष्टा नतु तत्वतः ॥

(शा० वा० स० ८। ८)

अर्थ—जैन वेदान्तियोंको कहते हैं कि शास्त्रमें जो अद्वैततत्व का उपदेश दिया गया है वह अद्वैततत्वकी वास्तविकता बतानेके लिये नहीं किन्तु जगतमें मोह प्राप्त करके जीव रागद्वेषको प्राप्त करते हैं उसे रोकनेके लिये और समभावकी प्रतीति करानेके लिये तथा शत्रु मित्रको एक दृष्टिसे देखनेके लिए है वह उपदेश "अत्मै-वेदं सर्वं" इत्यादि रूप है। जगतको असार तुच्छ मानकर सर्वको आत्मसमदृष्टिसे देखनेका उपदेश देना ही शास्त्रकारका आशय है। इससे तुम्हारी एक वाक्यता है। इत्यलम ॥ ‡

आर्य समाजके अनुपम वैदिक विद्वान् श्रीमान् पं० सातवलेकर जी की सम्मति।

यज्ञों में देवों की उपस्थिति।

"आधिभौतिक यज्ञका अर्थात् मानव व्यवहारका रूप (यज्ञका वास्तविक स्वरूप) समझनेके लिये इसका विचार अवश्य करना चाहिये कि देव यज्ञोंमें जाकर स्वयं उपस्थित होते थे या नहीं। ब्राह्मणादि ग्रन्थोंमें और पुराणोंमें भी यही लिखा है कि प्राचीन कालमें देवताएँ स्वयं यज्ञमें आती थीं और हविर्भाग अर्थात् अन्न

‡ नोट—अद्वैतवाद पर विशेष विचार, दर्शन प्रकरणमें किया जायेगा।

भाग स्वयं लेती थीं। परन्तु पश्चात् उन्होंने स्वयं यज्ञमें उपस्थित होना छोड़ दिया। यज्ञोंमें देवोंकी उपस्थिति होनेके वर्णन महाभारतमें भी कई स्थानों पर हैं और अन्यान्य पुराणोंमें भी कई स्थानोंमें हैं। इस विषयमें महाभारतका सुकन्या का आख्यान अथवा च्यवन ऋषिकी कथा देखने योग्य है—

च्यवन ऋषि।

च्यवन ऋषिकी कथा अथवा सुकन्याका आख्यान महाभारत वनपर्व अध्याय, १२१ से १२५ तक है। यह आख्यान वहाँ पाठक विस्तारसे देख सकते हैं। इसका सारांश यह है—

"शर्याति नामक एक राजा था, उसकी सुकन्या नामक एक कन्या थी। इस कन्याने च्यवन ऋषिका कुछ अपराध किया, इसलिये राजाको बड़ा कष्ट हुआ। पश्चात् राजाने अपनी कन्या, च्यवन ऋषिको विवाह करके दान दी। इससे च्यवन संतुष्ट हुआ। च्यवन ऋषि बड़ा वृद्ध था और यह कन्या तरुणी थी। एक समय देवोंके वैद्य अश्विनीकुमार वहाँ गये, उन्होंने सुकन्यासे कहा कि वृद्ध च्यवन को छोड़ दे और हमसे शादी कर। सुकन्या ने माना नहीं। पश्चात् बातचीत होकर अश्विनी कुमारोंने कुछ चिकित्साके द्वारा च्यवनको तरुण बनानेका भार स्वीकार किया। उन्होंने अपनी चिकित्सा द्वारा च्यवनको तरुण बनाया। इस उपकारके बदले अश्विनी कुमारोंको यज्ञमें अन्नभाग देना भी च्यवन ऋषिने स्वीकृत कर लिया। क्योंकि इस समय तक अश्विनीकुमारोंको (वैद्योंको) अन्नभाग लेनेका यज्ञमें अधिकार न था। अन्तमें च्यवन ऋषिने यज्ञ किया, उसमें सब देव आगये, और जिस समय च्यवन ऋषि अश्विनीकुमारोंको अन्न देने लगा उस समय देव सम्राट इन्द्र कहता है—

इन्द्र उवाच—

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्ऽहतः ॥ ९ ॥

च्यवन उवाच—

महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविण वित्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन्वृन्दारकमिवाऽजरम् ॥ १० ॥
ऋते त्वां विबुधांश्चाऽन्यान्कथं वै नार्ऽहतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरन्दर ॥ ११ ॥

इन्द्र उवाच—

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूप समन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्ऽहतः ॥ १२ ॥

लोमश उवाच—

एतदेव तदा वाक्यमाम्रेडयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥ १४ ॥

इन्द्र उवाच—

आभ्यामर्थाय सोमं त्वं ग्रहिष्यसि यदि स्वयं ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूप मनुत्तमम् ॥ १५ ॥
एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत्सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥ १६ ॥

ततोऽसौ प्राहरद्वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥ १७ ॥

म० भा० वन १२४

इन्द्र बोले—यह दोनों अश्विनीकुमार, स्वर्गमें देवताओंकी दवा करते हैं, इसलिये इनको सोमदान करना उचित नहीं है। च्यवन ऋषि बोले—हे इन्द्र ! यह दोनों अश्विनीकुमार बड़े महात्मा, बड़े उत्साही, रूप और धनसे युक्त हैं, इन्होंने मुझे देवताओंके समान वृद्धावस्था रहित–तरुण–बनाया है। हे इन्द्र ! तुम और सब देवता यज्ञ भाग पावें, पर ये क्यों न पावें ? यह भी देवता हैं ? इन्द्र बोले—हे च्यवन ऋषि ! यह दोनों चिकित्सा करने वाले, मनुष्य लोकमें घूमने वाले हैं, तब किस रीतिसे सोम के योग्य है ? लोमश मुनि बोले–ज्यों ही इस वचनको इन्द्र दूसरी बार कहना चाहते थे, त्यों ही भृगपुत्र च्यवनने इन्द्रका अनादर करके अश्विनीकुमारोंको सोम प्रदान किया। तब इन्द्रने कहा—इनके लिये तुम सोम दोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर घोर वज्र मारूँगा ऐसा कहने पर भी इन्द्रकी तरफ देखके, कुछ हँसकर च्यवनने अश्विनीकुमारोंको सोम दिया। तब इन्द्रने च्यवन ऋषि पर वज्र चलाया, उस समय च्यवनने इन्द्रके हाथको स्तंभित किया।"

यह कथा देखनेसे स्पष्ट होता है कि इन्द्रादि देव स्वयं भारतवर्षमें आते थे, यज्ञमें स्वयं उपस्थित होते थे, अपनी मानमान्यता में अथवा अपने आदरमें न्यूनाधिक होने पर परस्पर लड़ते भी थे। और पश्चात् अपने लिये प्राप्त होने योग्य अन्नभाग साथ लेकर चले जाते थे। अर्थात् जिस प्रकार हम मनुष्योंका व्यवहार होता है वैसा ही उनका व्यवहार उस प्राचीन कालमें होता था।

अश्विनीकुमार वैद्य होनेसे वे हर एक रोगीके घरमें जाते थे

इस कारण इनको यज्ञ भाग लेनेमें अयोग्य माना गया था, परन्तु च्यवन ऋषिके प्रयत्नसे उनको अन्न भाग मिलने लगा। इससे स्पष्ट होता है कि कई देवोंका यज्ञमें अधिकार कम, कइयोंका अधिक और कइयोंका बिल्कुल नहीं था।

यज्ञ भाग, हविर्भाग, अन्नभाग, इसका तात्पर्य इतना ही नहीं है कि वहाँ यज्ञके समय ही कुछ अन्नका भाग भक्षण करना, परन्तु उसका तात्पर्य इतना है कि धान्यादि पदार्थोंका भाग भी यहाँसे ले जाना। क्योंकि इन यज्ञोंमें जो धान्यादि उनको प्राप्त होता था, उससे देवोंका गुजारा साल भर चलता था। यदि वहाँ ही पेट भर अन्न उनको मिला, तो उससे उनका गुजारा संभवतः केवल एक दिनके लिये ही होगा, इससे उनका कुछ बनता नहीं।

देवता लोग यज्ञसे जीवित रहने वाले थे इसका तात्पर्य इतने विचारसे पाठकोंके मनमें ठीक प्रकार आ सकता है और निम्न श्लोकका भी आशय स्पष्ट होजाता है।

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तुवः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

भ० गीता० ३।११

"तुम इस यज्ञमें देवताओंको संतुष्ट करते रहो, और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। इस प्रकार एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए दोनों परमश्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त करलो।"

अर्थात् इस यज्ञ द्वारा देवोंकी सहायता आर्योंको और आर्यों की देवोंको प्राप्त होती है और परस्पर सहायताके कारण दोनोंका कल्याण हो सकता है। यह यज्ञ इस प्रकार दोनोंकी संतुष्टि बढ़ाने वाला होता था। यह सब बातें विचारकी दृष्टिसे देखनी चाहिये, क्योंकि यह बात इतने प्राचीन कालकी हैं कि जो समय महाभारत

कालके भी कई शताब्दियाँ पहलेका है। और महाभारतके लेखक को भी इस ऐतिहासिक बातके विषयमें संदेह सा उत्पन्न हुआ था। यहाँ तक कि महाभारतका लेखक संशयसे ग्रस्त था, कि उसको सर्प जातीके लोग मनुष्य थे या साँप थे इस विषयमें भी संदेह था, इसीलिये वह किसी स्थान पर लिखता है कि साँप थे और किसी समय मनुष्यवत् लिखता है। इसी प्रकार देव दानवादिकोंके विषयमें भी उनको कोई निश्चित कल्पना नहीं थी। परन्तु जो कथाएँ उस समय प्रचलित थी उनका लेखन एक दूसरेके साथ जोड़कर उन्होंने किया। अब हमें ही विचार करके निश्चय करना चाहिये कि इतिहासकी दृष्टिसे उन कथाओं द्वारा क्या सिद्ध होता है। देवोंके विषयमें जो बातें हमने यहाँ देखी उससे उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्टतासे व्यक्त हुआ है, कि वे तिब्बतमें रहते थे और भारतवासियोंकी मित्रतामें रहकर उनकी रक्षा करते थे और भारतवासियोंका भी उनसे प्रेम था। अर्थात् आर्य और देव परस्पर मित्र जातियाँ थीं और उनका कल्याण एक दूसरे पर अवलम्बित था। इससे भी सिद्ध होता है कि देव भी मनुष्यके समान मानव जातिके आदमी थे।

स्वर्नदी।

गंगाका नाम "स्वर्ग नदी" किंवा "स्वर्णदी" है। इसके अन्य नाम ये हैं।

मंदाकिनी वियद्गंगा स्वर्नदी सुरदीर्घिका।

अमरकोश १। ४९

"वियद्गंगा, स्वर्णदी, सुरदीर्गिका ये सब शब्द 'देवोंकी नदी' इसी अर्थमें प्रयुक्त होते हैं। "सुरसरित्, सुरनदी, अमरगंगा, देवनदी" आदि शब्द भी इसी गंगानदीके वाचक हैं, ये शब्द

स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यही गंगानदी देवोंके राष्ट्रसे बहती हुई यहाँ आगई है। यह प्रारम्भमें देवोंकी नदी थी, भारतवर्षमें आकर यही नदी आर्योंको सुख देने लगी है। यह गंगानदी वाचक शब्द भी तिब्बत देवोंका लोक है यही भाव व्यक्त कर रहे हैं। नदी वाचक शब्द स्थानका निर्देश स्पष्टरीतिसे करते हैं इसलिये देवोंके राष्ट्रका निश्चय करनेके लिये ये शब्द बड़े सहायक हो सकते हैं।

देवों का अन्न भाग।

अस्तु, इस प्रकार देवनामक मानवजाति (त्रिविष्टप) तिब्बत में रहती थी. अपने अन्नके लिये भारतीय लोगों पर निर्भर रहती थी। भारतीय आर्य लोग यज्ञ याग करते थे और इन्द्रादि देवता के नामसे अन्नकी मुष्टियाँ अथवा अधिक भाग अलग रखते थे, जैसे आजकल मुष्टिफंड होते हैं। देवोंके लिये अन्न भाग अलग रखनेके बिना वे आर्य लोग किसी भी अन्नका सेवन नहीं करते थे। इस प्रकार देवोंके लिये आवश्यक अन्नभाग भारतसे मिलता था। देवोंको अन्नभाग पहुंचानेकी व्यवस्था सब छोटे और बड़े यागोंमें यागके प्रमाणसे तथा यजमानके धनके अनुसार होती थी।

यज्ञ का पारितोषिक।

इस प्रकार यज्ञके द्वारा देवोंको अन्नभाग देनेके कारण देव भारतीय आर्योंकी रक्षा करते थे, यह तो स्पष्ट ही है परन्तु इसके अतिरिक्त भी यज्ञकर्त्ताओंको एक बड़ा भारी पारितोषिक मिलता था, वह "स्वर्गवास" के नामसे प्रसिद्ध है. आज कल "स्वर्गवास" का अर्थ विपरीत ही हुआ है. स्वर्गवास, कैलाशवास, बैकुंठवास आदि शब्द आजकल मरणोत्तरकी स्थिति दर्शाने वाले शब्द समझे जाते हैं, परन्तु जिस समय देवजाति जीवित थी, और

उनका आर्योंसे परस्पर मेलमिलापका संबंध था, उस समय पूर्वोक्त स्वर्गवासादि शब्द मरणोत्तरकी अवस्था बताने वाले न थे। महाभारतमें भी इसके कई प्रमाण मिल सकते हैं—

१—अस्त्र सीखनेके लिये वीर अर्जुन स्वर्गमें गया था, इन्द्रके पास चार वर्ष रहा था, और वहाँ अस्त्र विद्या सीखकर वापस आगया था। यह अर्जुनका स्वर्गवास जीवित-दशामें ही हुआ था। (इन्द्रलोकाभिगमनपर्व—वनपर्व अ॰ ४२—४७)

२—नारदमुनि स्वर्गसे भारतवर्षमें और यहाँ से नागलोकमें कई बार भ्रमण कर चुके थे। उनको देवोंके मुनि कहते थे। इनका राजनैतिक कार्य इतिहासमें प्रसिद्ध है। ये स्वर्गमें रहते हुए भारत में भी रहते थे।

३—लोमश ऋषि स्वर्गमें गये थे और वहाँका वृत्तांत उन्होंने धर्मराजको कथन किया है।

(वनपर्व अ॰ ९१)

ये सब जीवित दशामें ही स्वर्गवासी होगये थे। इस प्रकार कई प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु सब प्रमाण यहाँ रख देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। महाभारतके पाठ करते २ ये प्रमाण पाठकोंके सन्मुख आसकते हैं। तात्पर्य, उस अतिप्राचीन समयमें स्वर्गवास जीतेजी होता था और उसका अर्थ "तिब्बतमें निवास" इतना ही था। यहाँ पाठक पूछ सकते हैं कि स्वर्गका प्रलोभन इतना विशेष क्यों है? वहाँ तो भोजनके लिये अन्न भी पैदा नहीं होता, फिर वहाँ जाकर रहनेसे सुख किस प्रकार होसकता है? इसका उत्तर जिन्होंने हिमालयकी सैरकी है उनको कहनेकी आवश्यकता नहीं है। हिमालयकी पहाड़ियोंमें खाने-पीनेके पदार्थ इतने विपुल नहीं प्राप्त होते, परन्तु वहाँकी जल वायुके सुख और

वहां की शांति अद्वितीय ही है। इस कारण इस समय भी उत्तर भारत के लोग मास दो मास की छुट्टियोंमें पहाड की सैर जरूर करते हैं, तथा धनिक लोग शीतल आदि स्थानोंमें छोटासा मकान बनानेकी इच्छा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि हिमालय और उसके उत्तरभागके स्थानोंमें कुछ विशेष सुख है, जो यहां विपुल धान्य होते हुए भी नहीं मिल सकता। इसीलिये प्राचीन कालके लोग स्वर्गमें अपने लिये कुछ स्थान मिलनेका प्रयत्न करते थे, स्थान मिलने पर वृद्धावस्थामें वहां जाकर आनन्दसे रहते थे। भारतदेश में जीवन कलह है वह वहाँ नहीं, साफ रहना और हवाकी उत्तमता रहनेके कारण आरोग्य स्वभावतः ही रहता है। जलकी निर्मलताके कारण रोग कम होते हैं इत्यादि अनेक सुख स्वर्गदेश के हैं। इसलिये भारतीय लोग स्वर्गमें थोड़ी भूमि प्राप्त करनेके इच्छुक थे और जो बहुत यज्ञयाग करते थे और देवोंको धान्यादिक बहुत देते थे उनको तिब्बतमें थोड़ा स्थान दिया भी जाता था। देखिये इस विषयमें महाभारतकी साक्षी—

अष्टक उवाच—

पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र। यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये॥ ९॥

ययातिरुवाच—

यावत्पृथिव्यां विहितं गवाश्वं सहारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च। तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह॥ १०॥

अष्टक बोले—हे पृथ्वीनाथ! मुझको जान पड़ता है कि तुम

धर्मसे प्राप्त होने वाले सब स्थानोंको जानते हो, अतएव पूछता हूं कि स्वर्गादि लोकमें मेरे पुण्यसे प्राप्त हुए कई स्थान हैं या नहीं ?

ययाति बोले—हे नरेन्द्रसिंह ! सुनो, इस भूमण्डलमें गौ अश्व तथा पर्वतोंके जितने पशु हैं स्वर्गलोकमें उतने ही तुम्हारे पुण्यसे उपार्जित स्थान हैं।

इस संवादसे पता लगता है कि इस कर्मभूमि-भारतवर्षमें यज्ञादि कर्म करके उसमें देवताओंको अन्न संचय देनेसे त्रिविष्टपमें रहनेके लिये उनको स्थान प्राप्त होते थे। इसी प्रकारके स्थान अष्टक राजाको प्राप्त हुए थे, यह बात राजा ययाति स्वर्गमें जीवित दशामें ही गये थे उस समय उन्होंने प्रत्यक्ष देख ली थी और यही बात अष्टकसे उन्होंने कह दी। स्वर्गमें स्थान प्राप्त करनेका साधन यज्ञ करना और उसके द्वारा देवजातिके मनुष्योंका अन्नभाग देना ही एक मात्र था।"

महाभारतकी समालोचना, भाग, २

देवों का अन्न।

यज्ञ उ देवानामन्नम्। श० ब्रा० ८।१।२।१०

"यज्ञ ही देवोंका अन्न है।" अर्थात् यज्ञसे ही देवोंको अन्न मिलता है। इन्द्रके लिये यह अन्न भाग, वरुणके लिये यह अन्न भाग, इस प्रकार हर एक देवताके उद्देश्यसे अलग अलग अन्न भाग रखकर उनको अन्न भाग दे दिये जाते हैं। इस प्रकार जो पुरुष अधिकसे अधिक अन्न भाग देता था, उसके लिये स्वर्ग लोकमें अधिक उत्तम स्थान रहनेके लिए मिलता था।

भारतीय सम्राट् बड़े बड़े यज्ञ करते थे, और उस समय देवों के लिए बहुत ही अन्न भाग मिल जाता था। जो भारतीय सम्राट् सौ यज्ञ करता था, उसको स्वर्गमें सबसे श्रेष्ठ स्थान मिलता

था। इसका तात्पर्य पूर्वोक्त वर्णन पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन समयमें कई यज्ञ सैकड़ों वर्ष चलते थे, और उसमें देवतोंके उद्देश्यसे जो अन्न दान होता था उसका कोई हिसाब ही नहीं था। ये यज्ञ जैसे देवतोंके लिये अन्न दान करनेके लिये रचे थे। उसी प्रकार भारतीय आर्योंके आपसकी संगठना करनेके लिये भी थे; परन्तु इसका विचार किसी अन्य प्रसंगमें किया जावेगा। यहाँ देव जातिके संबंधकी ही बात हमें देखनी है. अतः अन्य बातका यहाँ विचार करना उचित भी नहीं है।

इस सब वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात जम गई होगी. कि भारत वर्षके उत्तर दिशामें तिब्बत देशमें अर्थात् त्रिविष्टपमें "देव" नामक मनुष्य जाती रहती थी और वह जाति भारतीय आर्य जातिकी मित्र जाति थी. तथा यह मित्रता दोनों मित्र जातियों—अर्थात् देवों और आर्यों—का हित बढ़ानेके लिये कारण हुई थी।

असुर भाषामें देव शब्द का अर्थ।

हमने पहिले ही बताया है कि देवोंके राष्ट्रके पश्चिम और उत्तर दिशामें असुरों और राक्षसोंके देश थे। इसलिये हमें पता लगाना चाहिये कि उनकी भाषाओंमें "देव" शब्दका अर्थ क्या है। असुरोंकी भाषा झंद है इस भाषामें देव शब्दका अर्थ 'राक्षस' ही है। क्रूर, दुष्ट, विनाशक. हत्या करने वाला इस अर्थमें देव शब्द असुर भाषामें है। परशियन भाषामें. उर्दू अर्थात् असुर भाषासे उत्पन्न हुई अन्यान्य भाषाओंमें भी देव शब्दका अर्थ राक्षस ही है।

इसका तात्पर्य समझनेके लिए बड़ी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार असुर और राक्षस देवोंके राष्ट्र पर हमला करते थे और दिन रात देवोंको सताते थे. ठीक उसी प्रकार इन्द्र

अपनी देव सेना लेकर असुरोंके देशों पर हमला करते थे, असुरोंके ग्राम जलाते थे, उनके किलोंको तोड़ते थे, उनको कत्ल करते थे। अर्थात् जिस प्रकार असुर जातिके लोग देव जातिके लोगोंके कष्टके हेतु थे, ठीक उसी प्रकार देव जातिके लोग असुर जातिके लोगोंके दुःखके कारण थे। इसीलिए असुर शब्द भाषा (संस्कृत) में भयानक अर्थमें प्रयुक्त होने लगा और देव शब्द असुर भाषाओंमें क्रूर अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। क्योंकि असुरोंके विषयमें जैसा कटु अनुभव देवोंके लिए आता था उससे भी अधिक कड़ुवा अनुभव देवोंके विषयमें असुरोंको आता था। इसलिए परस्परकी भाषाओंमें उक्त शब्द इतने ही विलक्षण अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

इसका एक उदाहरण इस समयमें भी देखा जा सकता है। पठान लोग आनेका डर महाराष्ट्रमें इस समय लड़कोंको दिखाते हैं और पठानोंके देशके मराठोंका डर दिखाते हैं। इसका तात्पर्य इन लोगोंने परस्परके देशमें अत्यधिक घात पात किए थे। कुछ काल तक इन घात पात का स्मरण रहता है और कुछ समय पश्चात रूढ़ शब्दोंका वही अर्थ प्राप्त होता है। अनन्तकाल व्यतीत होनेके पश्चात् मूल कारण भूला जाता है। शब्दकी व्युत्पत्ति करने वाले को मूल इतिहासका पता हुआ तो व्युत्पत्ति ठीक करता है, नहीं तो ऊटपटांग मनगड़ंत व्युत्पत्ति गढ़ते हैं। मूलकारणका ठीक पता न होनेके कारण ऐसा होना स्वाभाविक है। भारतवर्षमें तो इसके उदाहरण अनन्त हैं। क्योंकि देववाणी–देव–भाषा–(संस्कृत भाषा) के शब्दोंमें सप्तद्वीपोंका इतिहास भरा हुआ होनेके कारण हरएक शब्दकी उत्पत्तियाँ और व्युत्पत्तियाँ अनेकोंनेक की गई हैं। उनमें कई इतिहासकी दृष्टिसे ठीक हैं और कई गलत हैं। परन्तु इस समय उसका पता लगानेके लिए ठीक मार्गकी खोज करनी

चाहिये और देखना चाहिये कि उस समय ऐतिहासिक अवस्था किस प्रकार थी। अस्तु। यहाँ हमने "देव" शब्दको असुर भाषा में देखा (Devil देविल) शैतान, अर्थमें वह हमें प्रतीत हुआ। इससे भी अनुमान होता है कि देव जाति भी उसी प्रकार असुर जातिको सताती थी जैसी वह जाति इनको सताती थी। परस्पर शत्रु होनेके कारण ही परस्परके वाचक शब्द परस्परकी भाषामें क्रूर अर्थ बताने वाले प्रसिद्ध हुए।

यद्यपि संस्कृतमें असुर और देव शब्दोंके भले और बुरे भी अर्थ हैं, तथापि असुरका बुरा अर्थ और देव शब्दका भला अर्थ अधिक प्रयोगमें है। इसलिये अल्प प्रयुक्त अन्य अर्थ पूर्वोक्त नियमका बाधक नहीं होसकता। अस्तु! इससे सिद्ध है कि ये दोनों जातियाँ, अर्थात् असुर जाति तथा देव जाति, परस्पर शत्रु जाति थी और मनुष्योंके समान ही उनका आकार था। इसमें अब संदेह नहीं होसकता।

देव भाषा।

जिस भाषाको आज कल संस्कृत भाषा कहते हैं उसका नाम "देवभाषा" भी है। इसके अन्य नाम, "देववाणी," देववाक्, अमरभाषा, सुरगी:, सुरवाणी" इत्यादि बहुत हैं। इनका अर्थ यही है कि यह देव जातिकी भाषा थी अर्थात् जो जाति त्रिविष्टप में रहती थी उस मानव जातिका नाम "देव" था; और उसकी यह बोली थी जो इस समय संस्कृत भाषाके नामसे प्रसिद्ध है।

इस भाषाका प्रयोग सिद्ध कर रहा है कि इस भाषाका प्रयोग करने वाली देव नामक जाति प्राचीन कालमें थी। तथा भाषाका प्रयोग केवल मनुष्य ही कर सकते हैं, अतः सिद्ध है कि देवनाम धारी मनुष्य ही थे। जिस प्रकार आर्योंकी भाषाको आर्यभाषा

कहते हैं, और पिशाचोंकी भाषाको पैशाची भाषा कहते हैं, उसी प्रकार संस्कृतका नाम देवभाषा इस लिये पड़ा था, कि वह देव जातिके मानवोंकी भाषा थी।

देवजातिके मानवोंसे आर्यजातिके मानवों का अति घनिष्ठ संबंध होनेसे देवोंकी भाषा आर्य जातिके पास आ गई और देव जातिके नाशके पश्चात् उस देवभाषाने आर्यदेशोंमें अपना निवास किया। वही देवभाषा असुरादि देशोंमें भी गई थी, परन्तु असुर जातिके विकृत उच्चारणोंके कारण इस देवभाषाकी विकृति असुर देशोंमें बड़ी ही विलक्षण हुई। इस भारतदेशमें प्राकृत भाषाओंके रूपसे भी संस्कृत भाषाका विकृत रूप दिखाई देता है, उससे भी अधिक विकार असुर देशोंमें हुआ है यह आजकल भी देखने वालोंको दिखाई देगा। अर्थात् देवभाषाकी विकृति भारतदेशकी अशिक्षित जनतामें कुछ अंशमें दिखाई देती है।

जिस प्रकार युरुप भरमें फ्रेंच भाषाका प्रचार इस समयमें भी सिद्ध कर रहा है कि फ्रेंचोंकी सभ्यता एक समय सबसे अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थी और फ्रेंचोंका राजनैतिक प्रभाव भी अधिक एक समय युरुपमें था। वही बात देवभाषाका प्रचार जो आजकल असुर देशों और आर्य देशोंमें अपभ्रष्ट शब्दोंके रूपमें दिखाई देता है यह स्पष्टतासे सिद्ध कर रहा है कि देवजातिकी सभ्यता तथा राजनैतिक श्रेष्ठता अति प्राचीन कालमें सबके लिये शिरोधार्य थी। देवजातिकी सभ्यताका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण आर्यजगत् में प्रत्युत असुर जगतमें भी वन्दनीय हुआ था। इस देवजातिकी सभ्यताका समय आर्य सभ्यता के पूर्वकालमें निश्चित करना चाहिये और इससे पूर्व आसुरी सभ्यताका समय है, क्यों कि असुर देवोंसे भी "पूर्व-देव" थे अर्थात् देवोंके भी पूर्वकालीन

देव थे। असुरों का नाम "पूर्व-देव" सिद्ध कर रहा है कि ये देवों से भी प्राचीन समयके देव थे. इसीलिये मानना पड़ता है कि देव-जातिकी सभ्यताके पूर्व कालमें आसुरी सभ्यता प्रभावित हुई थी" श्रीपाद दामोदर सातवलेकरकृत महाभारतकी समालोचना। भाग २

उपरोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होगया कि-इन्द्र, वरुण, अश्विनीकुमार, मरुत, आदि सम्पूर्ण वैदिक देवता तिब्बत आदि देशों के राजाओंकी उपाधियाँ थी। न ये ईश्वर थे और न ईश्वरकी शक्तियाँ। पं० प्राणनाथजी विद्यालंकार (जिनके मतका उल्लेख हम पहिले लिख आये हैं)ने भी करीब करीब, यही सिद्ध किया है।

पाँच प्रकारकी अग्नि।

अग्निं वो देव यज्ययाग्निं प्रयत्यध्वरे। अग्निं धीषु प्रथममग्निमर्वत्यग्निं क्षैत्राय साधसे॥ ऋ० ८। ६०। १२॥

(१) याज्ञिक अग्नि, जो यज्ञ कुण्डमें प्रदीप्त होती है।

(२) अध्वर, अग्नि, अर्थात् अहिंसक अग्नि। अर्थात् अहिंसक तेज, (ओज)

(३) वैदिक अग्नि, अर्थात् ज्ञानाग्नि, आत्माग्नि.

(४) सामूहिक अग्नि, अर्थात् संघ शक्ति, सैनिक शक्ति, अथवा सामाजिक क्रान्ति।

(५) क्षात्रअग्नि, अर्थात् बल, वीर्य, रूप, अग्नि।

अभिप्राय यह है कि वैदिक साहित्यमें अग्नि शब्दसे उपरोक्त पांच प्रकारकी अग्निका ही वर्णन है ईश्वर अथवा ईश्वरकी शक्ति आदिका नहीं है क्योंकि यदि अग्नि शब्दसे ईश्वरका वर्णन होता तो उसका भी उल्लेख होना चाहिये था।

पहिला मानव 'अग्नि'।

त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम् ॥ ऋ० १ । ३१ । ११

इस मन्त्रमें प्रथम मनुष्यको अग्नि कहा गया है । पं० सातवलेकरजीने इस मन्त्रका अर्थ करते हुए लिखा है कि—"देवोंके द्वारा इस प्रकार जो 'पहिला मनुष्य' बनाया गया उसका नाम अग्नि है. और उसकी पत्नी वार्णा है । तात्पर्य मनुष्योंमें भी अग्नि है, अर्थात मानव प्राणी अग्नि शब्दसे वेदमें लिया जाता है । वेद मन्त्रोंमें अग्निके अनेक अर्थ होंगे, परन्तु उसमें एक 'मानव प्राणी' है, इसमें कोई शंका नहीं है ।" ❀

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसिव्रतम् ।
ऋ० १ । ३१ । २ ॥

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ॥ ऋ० १ । ३१ । १

इन मन्त्रोंमें कहा है कि—"पहिला 'अंगिरा ऋषि' अग्नि ही है, यही पहिला मानव समझना चाहिये । पहिला मानव जो अंगिरा ऋषि था वही अग्नि नामसे प्रसिद्ध है । तथा च अंगिरसोंमें सबसे पहिला कवि अग्नि ही है । यही मनुष्योंमें पहिला मानव अग्नि है ।

❀ श्री सायनाचार्यके भाष्यमें लिखा है कि "हे अग्ने ! देवोंने पहले पुरुरवाके मानवरूप धारी पौत्र नहुषको तुम्हें मनुष्य शरीरवान् सेनापति बनाया ।" इससे भी अग्निदेवका मनुष्यत्व ही सिद्ध होता है ।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि—जिसने प्रथम ही धर्मका अथवा मानवताका मार्ग दिखाया उसको वैदिक भाषामें अग्नि कहते हैं, अथवा उसको अग्नि की उपाधिसे विभूषित किया गया था। अभिप्राय यह है कि वेदोंमें अग्नि शब्दसे प्रथम मनुष्यकी स्तुति की गई है। इसके लिये वेद स्वयं कहता है—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता ॥ ऋ० ६ । १ । १
अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ॥
ऋ० ६ । ६ । ४ ॥
अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरे-
ष्वीढ्य !! ऋ० ४ । ७ । १ ॥

इन मन्त्रोंमें अग्निको प्रथम 'मनोता' अर्थात् प्रथम मननकर्ता, प्रथम विचारक तथा प्रथम 'होता' अर्थात प्रथम याज्ञिक, कहा गया है। तथा च 'अध्वरेषु ईड्य' अहिंसकोंमें पूज्य भी यही अग्नि है। इस प्रकार धर्म्म, ज्ञान, सभ्यता व संस्कृति, के प्रथम प्रचारक को यहाँ अग्नि कहा गया है। उसी प्रथम मनुष्यकी वैदिक साहित्य में प्रजापति, ब्रह्म, ज्येष्ठब्रह्म, हिरण्यगर्भ, स्कंभ, आदि नामोंसे स्तुति की गई है। ये ही अहिंसकोंके परमपूज्य हैं। अर्थात् ये ही अहिंसा धर्मके प्रथम प्रचारक श्री ऋषभदेव हैं।

वैश्वानर अग्नि

इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥
ऋ० १ । ६८ । १ ॥
(इतः जातः वैश्वानरः इदं विचष्टे)

अर्थात् इसी समाजसे उत्पन्न हुआ यह नेता, जनताका अगुआ है। (सूर्येण यतते) सूर्यके साथ यत्न करता है, जैसे सूर्य निरलस रह कर सबको प्रकाश देता है, वैसे ही यह नेता आलस्य छोड़कर उन्नतिके कार्यमें दत्तचित्त रहता है।

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य, भाग १०

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतोविभावा ॥

ऋ० १ । ५९ । ७ ॥

अर्थात्–अपनी महिमा (अपने महत्वसे) ही वैश्वानर सब मनुष्योंके अधिपति हैं।

इस मन्त्रका भाष्य करते हुए श्री सायनाचार्य लिखते हैं कि—

विश्वकृष्टि, कृष्टिरिति मनुष्यनाम । विश्वे सर्वे मनुष्याः यस्य स्वभूताः स तथोक्तः ।

अर्थात कृष्टि मनुष्य वाचक शब्द है। सब मनुष्य जिसके लिये अपने ही निज होते हैं वह विश्वकृष्टि है।

तथा स्वामी दयानन्दजी लिखते हैं कि—

वैश्वानरः सर्वनेता । विश्वकृष्टिः विश्वाः सर्वाः कृष्टीर्मनुष्यादिकाः प्रजाः ॥

अर्थात्, वैश्वानर सबका नेता है। विश्वकृष्टि सब प्रजाओंका संघ है।

सारांश यह है कि यह वैश्वानर अग्नि, राष्ट्राग्नि है। अथवा इसीका नाम संघशक्ति है।

इसी राष्ट्राग्निका वर्णन "पुरुष सूक्त" में पुरुष नामसे किया है।

मरुतों, व ऋभुवों, तथा इन्द्र आदिकी तरह यह अग्नि देव भी मनुष्यसे देव बने हैं यह प्रथम मन्त्रमें स्पष्टतया बताया गया है।

वरुण देवता।

इयं दिग्दयिता राज्ञो वरुणस्य तु गोपतेः ॥ १ ॥
याद सामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये ॥
कश्यपो भगवान् देवो वरुणं स्माऽभ्यषेचयत् ॥ २ ॥
महाभारत, उद्योगपर्व, अ० ११० ॥

यह (दक्षिण) दिशा गोपति वरुण राजाकी प्रिय है। जलचरोंका यह राज्य है और समुद्रकी रक्षाके लिये यह नियत है। भगवान कश्यप ऋषिने वरुणका यहाँ राज्याभिषेक किया था।

इससे सिद्ध होता है कि वरुण लोक भी समुद्रके पासके एक प्रान्तका नाम था। और वहाँका राजा वरुण कहलाता था। महाभारत उद्योगपर्वमें कहा है कि 'नारद' मातलि, को वारुणद्वीपकी वारुण्य नगरीमेंसे गुजरकर नागलोकमें ले गये थे।

वरुणेनाऽभ्यनुज्ञातौ नागलोकं विचेरतुः ॥
म० भा० उद्योग पर्व, अ० ९८

वरुणकी आज्ञा प्राप्त कर. (नारद और मातली) नागलोकमें विचरने लगे।

(महाभारतकी समालोचना. भाग, २)

तथा च ब्राह्मणग्रन्थोंमें भी लिखा है कि—

वरुणः (आपः) यच्च वृत्त्वा अतिष्ठंस्तद् वरणोऽभवत् तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गो० पू० १।७॥

अर्थात्—यह जलोंको घेर कर रहता था इसलिये इसको "वरण" कहते थे। वरणको देवोंने परोक्षरूपसे 'वरुण' कहा, क्योंकि देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, और प्रत्यक्षसे घृणा करते हैं। यहाँ भी पानीसे घिरे हुये स्थलको वरुणका स्थान बताया गया है। तथा च यहाँ वरुणका वास्तविक नाम "वरण" कहा है, ग्रीक लोगोंके यहाँ भी इसको "वरण" एवं, 'उरानोस' कहा है। वे लोग इस देवताको सब देवोंका पिता मानते हैं। शक्खर (सिन्ध) में सिन्धु-नदीके किनारे अति प्राचीन एक 'वरना' पीरकी कब्र है, यह जल का पीर माना जाता है। इस मकबरेमें अनेक जल जन्तुओंके चित्र हैं, जिनका यह पीर मालिक है। अतः सिद्ध है कि यह 'वरना' पीर वरुण देवता ही है।

मरुत देवोंका गण

मरुत (मर × उत) मरने तक उठकर लड़ने वाले बड़े भारी वीर हैं। ये समुदायसे रहते हैं। सब मिलकर एक ही बड़े घरमें रहते हैं, साथ साथ शत्रु पर हमला करते हैं, सबकी पोषाक एक जैसी रहती है। खान पान समान होता है. सबके पास शस्त्रास्त्र समान रहते हैं, इनकी कतार सातोंको मिलाकर एक होती है। प्रत्येक कतारके दोनों ओर दो वीर रहते हैं, इनको पार्श्व-रक्षक अर्थात् दोनों बाजुओंसे होने वाले हमलोंको बचाने वाला वीर कहते है। इस तरह १ × ७ × १ × ९ नौ वीरोंकी एक कतार होती है, ऐसी इनकी ७ कतारें होती हैं. अर्थात् ७ कतारोंमें मिलकर (७ × ९) = ६३ सैनिक होते हैं. इनकी संख्याके अनुसार संघ के नाम होते हैं।

१ संघ ७ वीरोंका एक एक पंक्तिके २ पार्श्व-रक्षक मिलकर ९ वीर हुये (१ × ७ × १) = ९ × ७ कतारें = ६३ वीरोंका एक शर्ध

होता है, इसमें (७ × ७) = ४९ सैनिक और (७ × २) = १४ पार्श्व रक्षक मिलकर ६३ वीर होते हैं इनका नाम शर्ध है।

२ = व्रात (६३ × ७) = ४४१ सैनिकका एक व्रात कहलाता है।

३ गण = (६३ × १४) = ८८२ सैनिकोंका अथवा १४ व्रातोंका एक गण कहलाता है।

४ = महागण (६३ × ६३) = ३९६९ सैनियोंका महागण कहलाता है। इस प्रकार सातोंके विविधि अनुपातोंमें इनके अनेक छोटे-मोटे सैनिक-विभाग हैं इस ही महागण मंडल आदि अनेक विभागोंके नाम हैं।

शस्त्रास्त्र

इनके शस्त्रास्त्र ये हैं। ऋष्टि = भाला,वाशी = कुल्हाड़ी, ये शस्त्र अञ्जि-गणवेश भी सबका समान ही रहता है। अन्यत्र अन्य शस्त्रोंका भी वर्णन है। तलवार, वज्र आदि ये भी वर्तते थे और लोहेके शिरस्त्राण भी वर्तते थे।

बल

मरुतोंका बल संघ के कारण है। समूहमें रहना, समूहमें जाना, समूहसे क्रीड़ा करना। आदिके कारण जो इनका संगठन है उसका यह बल है। इस मंत्रका आशय एका से है।

ऋषि कण्वोंसे कहता है कि मरुतोंके काव्योंका गान करो, क्योंकि उनका बल संघसे उत्पन्न हुआ है। तथा ये आपसमें भी लड़ते नहीं, रथोंमें बैठकर वीरताको प्रकट करते हैं।

अर्थात्—इनके काव्योंका गान करने से मानवोंमें संगठनका बल बढ़ेगा। खेलोंमें रुचि बढ़नेकी वृत्ति आनन्दयुक्त बनेगी।

और उससे उत्साह बढ़ेगा। इसलिए मरुतोंके काव्योंका गान करना, वीरताको बढ़ाने वाला है।

२—ये वीर भालें, बर्छियाँ, कुल्हाड़े तथा अपनी अन्य पौशाक सब-समान ही धारण करते हैं और जब बाहर जाते हैं, तब सब सजे-सजाये प्रगट होते हैं। ये कभी अकेले नहीं रहते। इनका सब ही रहना सहना साधिक होता है।

३—ये हाथोंमें चाबुक लेकर अपने घोड़ोंको दौड़ाते हुए आते है उस समय इनके कोड़ोंका शब्द दूरसे भी सुनाई देता है। युद्धके समय तो इनकी वीरता विशेष ही प्रकट होती है।

४—वीरोंका संघ बल बढ़ानेके लिए शत्रु पर हमला करनेके के लिए और प्रतापकी सामर्थ्य वृद्धिगत करनेके लिए इन वीरोंके काव्योंका गान करते जाओ। वीरोंके काव्य गाने सुनने वालोंमें वीरता बढ़ जाती है। यह है वीरोंके काव्योंका महत्त्व।

५—गौ के दूध आदि, गोरसमें एक बड़ी भारी सामर्थ्य है। संघके रहनेसे और एक बल बढ़ता है पहिला बल गोरस पीनेसे बढ़ता है। और दूसरा साधिक जीवनसे बल बढ़ता है इन सब प्रकारके बलकी वृद्धियाँ करनी चाहिये। कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे शक्तिका नाश होजाय।

६—ये वीर, भूमि और आकाशको हिला छोड़ते हैं ये सब समान होनेके कारण आपसमें किसीको छोटा या बड़ा नहीं मानते. इनमें एक भी वीर ऐसा नहीं है जो शत्रुको न हिलाता होगा।

७—इनका हमला शत्रु पर होने लगा तो साधारण मानव किसीके आश्रममें जाकर रहते हैं। क्योंकि ये वीर पहाड़ोंको भी उखाड़ देते हैं। अर्थात् इनके हमलोंसे सभी भयभीत होजाते हैं।

८—इनके हमलों के समय भूमि भी काँप उठती है और मरियल बालकके समान सभी भय-भीत होते हैं।

९—इनका जन्म स्थान सुस्थिर है, पर ये दूर दूर जाकर हमले करनेकी तैयारीमें दौड़ते हैं। जिस प्रकार पत्तीके छोटे छोटे बच्चे भक्ष्यके लिये दूर जाते हैं, तो भी अपनी माताके ऊपर उनका ध्यान रहता है। वैसे ही ये वीर भी दूर हमलेके लिए गए तो भी मातृभूमि पर उनका ध्यान रहता ही है।

१०—ये बड़े वक्ता हैं ये अपने पराक्रममें अपनी पराकाष्ठा करते हैं, जिस तरह घुटने पानीमें गौयें घूमती हैं, उसी तरह सर्वत्र ये वीर भी घूमते हैं और पराक्रम करते रहते हैं।

११-ये वायुरूप बड़े भारी घोड़ोंको तितर-बितर कर देते हैं वैसे ही ये वीर शत्रु कितना ही प्रबल हुआ उसको भी उखाड़ फेंकते हैं।

१२—जो बल इनका शत्रुओंको हटाता है, वह बल पर्वतों को भी लाँघता है।

१३—ये वीर जब कतारोंमें मार्ग पर चलते हैं, तब आपसमें इतनी छोटी आवाज़में बोलते हैं, कि उस समय कोई तीसरा इनके शब्द सुन नहीं सकता। दो वीर आपसमें बात करने लगें तो तीसरा सुन नहीं सकता है।

ऋग्वेदका सुबोध, भाष्य, भाग ५ पृ० १५

इन्द्र देवता के गुण

(१) वज्री,—वज्र धारण करने वाला।

(२) हिरण्यय:—सुवर्णके आभूषण धारण करने वाला।

(३) उग्र:—शूरवीर, बड़ा प्रतापी वीर।

(४) सत्रादावन्,—एक साथ अनेक दान करने वाला।

(५) वृषा--बलवान, सुखोंकी वृद्धि करने वाला।

(६) अप्रतिष्कुत,—विरोध न करने वाला, निषेध न करने वाला।

(७) ईशानः—स्वामी, प्रभु, अधिपति।

इसमें 'हिरण्ययः' पदसे इन्द्रकी पोशाकका ज्ञान होता है। वह सुवर्ण। भूषण तथा सुनहरी बेल बूटेके वस्त्र पहनता था। वज्र धारण करता, बलवान होता हुआ भी अनुयायियोंका विरोध नहीं करता, और उनको यथेच्छ दान देता था।

इन्द्र की लूट

(सः) सतर्ता इव शत्रूणां रत्नं अविदत्।

ऋ० मं० १। ५३। १

अर्थ—असावधया सोने वाले शत्रुओंके धनको यह इन्द्र प्राप्त करता है। इन्द्र अपने सैनिकोंको साथ लेकर शत्रु पर हमला करता था, शत्रुको परास्त करनेके पश्चात् उसकी सम्पत्ति लूटकर लाता था, और वह धन अपने लोगोंमें यथायोग्य रीतिसे बांट देता था।

इन्द्र मायावी था

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः। ऋ० १। १५१। ५॥

(त्वं (तान्) मायिनः मायाभिः अप अधमः)

इन्द्रने उन कपटी शत्रुओंको कपटसे ही नीचे गिरा दिया।

(कपर्टीके साथ कपट युक्तियोंसे और कुशल शत्रुओंसे कुशलतापूर्वक युद्धमें लड़ना चाहिये)

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य. भाग, ६

इन्द्र देवताके गुण

सुरूपकृत्नुः—सुंदर रूप करने वाला, रूपको सौन्दर्य देने वाला, जो करना है वह अत्यन्त सुंदर बनाने वाला। यह इन्द्रकी कुशल कारीगरीका वर्णन है। मनुष्य भी अपने अन्दर इस तरह के कर्म करनेमें कुशलता लावे और बढ़ावे।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते।' (ऋ० ६।४७।१८)

इन्द्र अपनी कुशलताओंसे अनेक रूप होकर विचरता है। इन्द्र अनेक रूप इतनी कुशलताके साथ कर लेता है कि पहिचाना नहीं जाता। ऐसा बहुरूपिया इन्द्र है। यह भी इन्द्रकी कुशलता का ही उदाहरण है। वैसी ही कुशलता इस पदमें वर्णन की है। इन्द्र जो बनाता है, वह सुन्दर बनाता है।

२—सोमपाः—सोमरस का पान करने वाला।

३—गोः-दाः—गौवें देने वाला।

४—अ-स्तृतः—अपराजित, जिसको कोई पराजित नहीं कर सकता ऐसा अजेय वीर।

५—विपश्चित्:—ज्ञानी, विद्यावान।

६—विप्रः—मेधावान, प्रज्ञावान (निघं० ३।१५।) जिसकी बुद्धि ग्राहक शक्ति विशेष है। जिसकी विस्मृति नहीं होती।

७—शतक्रतुः—सैंकड़ों कर्म करने वाला, बड़े-बड़े कर्म करने वाला।

८—वाजी—बलवान्, अश्ववान्।

९—दस्म—शत्रुका नाश करने वाला, सुन्दर।

इन पदों द्वारा कर्मकी कुशलता, गौओंका दान करनेका स्वभाव, अपराजित रहनेका बल, ज्ञान और धारणासे युक्त अनेक बड़े कार्य करनेकी शक्ति, सामर्थ्यवान, शत्रुका नाश करना, आदि गुणोंका वर्णन हुआ है। ये गुण मानवोंके लिये अत्यन्त ही आवश्यक हैं। जिन वाक्यों द्वारा इन्द्रके गुणोंका वर्णन इस सूक्तमें किया गया है उन्हें देखिये—

१०—ऊतये जुहूमसि—हमारी सुरक्षाके लिये इन्द्रको बुलाना। अर्थात् इन्द्रमें जनताकी सुरक्षा करनेकी शक्ति है।

११—रेवतः मदः गोदाः—धनवानका आनन्द गायोंका दान करना है। धनवान इन्द्र है वह गौका दान करता है। धनवान अपने पास गौवें बहुत रखे और उनका प्रदान भी करे।

१२—ते अन्तमानां सुमतीनां विद्याम—इन्द्रके पास जो उत्तम बुद्धियां हैं उनको हम प्राप्त हों। वीर बुद्धिमान हो और वह उत्तम मंत्रणा या परामर्श दूसरोंको देवें।

१३—सखिभ्यः वरं आ (यच्छति)—मित्रोंको इष्ट और श्रेष्ठ वस्तुओंको प्रदान करता हैं। मित्रोंको कल्याणकारी वस्तु ही दी जावे।

१४—इन्द्रस्य शर्मणि स्याम—इन्द्रके सुखमें हम रहें इन्द्र सुख देता है। वैसा सुख वीर सब लोगोंको देवें।

१५—वृत्राणां घनः—घेरने वाले शत्रुका विनाश करने वाला, वीर अपने शत्रुका विनाश करे।

१६—वाजेषु वाजिनं प्राव:, वाजेषु वाजिनं वाजय:—युद्धोंमें बल दिखाने वाली सुरक्षा करें।

१७—धनानां साति:—इन्द्र धनको प्रदान करता है। वीर धन कमाता चले उसका जनताकी उन्नतिके लिये दान भी करे।

१८—राय: अवनि:—धनकी सुरक्षा करे,

१९—महान् सुपार:—दु:खोंसे उत्तम पार ले जा।

इन्द्र के घोड़े

इन्द्रके रथमें दो घोड़े जोते जाते थे (मं० २५)

परन्तु सहस्रों घोड़े उनके पास होनेका वर्णन मंत्र २४ में है।

इन्द्रके पास अश्व शालामें सहस्रों घोड़े होंगे। परन्तु एक समय में उसके रथको दो ही घोड़े जोते जाते होंगे। रथको एक दो, तीन, चार, पांच, और सात तक घोड़े जोते जाने की संभावना है। चार तक घोड़े आज भी जोतते हैं।

इन्द्र का मोल

पञ्चम मंत्र में 'शुल्क ले कर भी इन्द्रको मैं नहीं दूंगा' ऐसा एक भक्तका वचन है। देखिये—

त्वां महे शुल्काय न परा देयाम्

शताय, सहस्राय, अयुताय, च न परा देयाम्।

(मं० ५)

'हे इन्द्र! तुझे मैं बड़े मूल्य में भी नहीं दूंगा, नहीं बेचूंगा। सौ, सहस्र, और दश सहस्र मूल्य मिलने पर भी मैं नहीं दूर करूँगा, नहीं बेचूंगा, इस मंत्रमें शुल्काय न परा देयां' ऐसा पद

है। मूल्य के लिये भी नहीं दूंगा, इसका अर्थ बेचना ही प्रतीत होता है। इस पर सायन भाष्य ऐसा है।

महे महते शुल्काय मूल्याय न परा देयाम्।

न विक्रीणामि। (सा० भाष्य ८।१।५)

'बड़ा मूल्य मिलनेपर भी मैं तुझे नहीं बेचूंगा' (I would notsell thee for a mighty price ग्रिफिथ, विल्सन) 'परा दा' धातुका अर्थ बेचना है और देना या दूर करना भी है। शुल्क लेकर इन्द्रको दूर करने का भाव यहाँ पर स्पष्ट है।

कितना भी धन का लालच मिले तो भी मैं इन्द्र की भक्ति नहीं छोड़ूंगा, यह आशय हमारे मतसे यहाँ स्पष्ट है। कितना ही धन मिले, परन्तु मैं इन्द्र ही की भक्ति करूँगा। यह भक्तिकी दृढ़ता यहां बतलाई है।

परन्तु कई लोग 'यहां इन्द्रको बेचने' की कल्पना करते हैं। इन्द्र की मूर्तियाँ थी, ऐसा इनका मत है और वे मूर्तियाँ कुछ द्रव्य ले कर बेची जाती थीं, ऐसा इस मंत्र से ये मानते हैं।

मंत्रोंके शब्दोंसे यह भाव टपक सकता है, इस में संदेह नहीं है। 'शुल्काय न परा देयां' मूल्य मिलने पर भी मैं नहीं बेचूंगा। 'शुल्क' का अर्थ वस्तु मूल्य है। यदि यह बात मानी जावेगी, तो देवताओं की मूर्तियाँ थीं। और उनकी पूजा और जलूस होते थे। ऐसा मानना पड़ेगा। इस मतकी पुष्टिके लिये इन्द्रका रथमें बैठना, वस्त्र पहनना, यज्ञ स्थान पर जाना, आदि मंत्रोंका वर्णन उत्सव मूर्तिके जलूस जैसा मानना पड़ेगा। अग्निके रथमें बैठ कर अन्य देवता आते हैं, यह भी वर्णन जलूसका होगा। क्योंकि देवताओं की छोटी-छोटी मूर्तियाँ होगीं, यों ही रथमें सब देवोंका बैठना संभव है।

(ऋग्वेदका सुबोध भाष्य, भाग २)

कौशिक 'इन्द्र'

आतू न इन्द्र कौशिक मन्द सानः सुतं पिब ॥

ऋ० १० । १ । १२

अर्थ—हे कौशिक इन्द्र ! हमारे पास आ, आनन्दसे सोमरस का पान कर। यहाँ इन्द्रको कौशिक कहा गया है। कौशिक शब्द का अर्थ होता है 'कुशिक' का पुत्र। अतः यह सिद्ध होगया कि 'इन्द्र देवता' कुशिक ऋषिके पुत्र थे। विश्वामित्र ऋषि भी कौशिक थे। क्योंकि ये भी कुशिक कुलमें उत्पन्न हुए थे। अर्थात् विश्वामित्रके पिताका नाम 'गाधी' था तथा 'गाधी'के पिता कुशिक' थे। इसी प्रकार इन्द्रदेव भी कौशिक थे। पं० सातवलेकरजीने 'कौशिक' शब्दका अर्थ "कौशिकों की सहायता करने वाला देव" ऐसा किया है ऐसा माननेसे भी इन्द्रदेव ईश्वर नहीं रहते अपितु एक देवता विशेष ही रहते हैं। तथा च ये देवता तिब्बतमें रहने वाली एक मनुष्य जाती ही थी यह आपने सिद्ध किया ही है. अतः दोनों अर्थोंमें विशेष अन्तर नहीं है। यहां यह भी सिद्ध हो गया कि वैदिक समयमें भी वर्तमान समयकी तरह ही पृथक २ कुलोंके पृथक २ देवता थे।

देवों के लक्षण

(ऋ० मं० १ सूक्त १४, में) देवोंके लक्षण किये गये हैं।

(१) 'यजत्रा' सतत यज्ञ करने वाले, याजक प्रशस्त कर्म करने वाले।

(२) (ईड्याः)—प्रशंसा करनेके लिये योग्य।

(३) (उषर्बुधः) उषः कालमें आजाने वाले, उषः कालमें उठकर अपना कार्य शुरू करने वाले।

(४) (होता) हवन करने वाला, देवताओंको बुलाने वाला।

(५) (मनुर्हितः) मनुष्योंका हित करने वाला। जनताका हित करनेमें तत्पर।

(६) (ऋतावृधः) सत्यमार्गके बढ़ाने वाले।

(७) (पत्नीव्रतः) गृहस्थाश्रमी। ❀

देवों के कार्य

तृतीय मन्त्रमें कुछ देवोंके नाम गिनाये हैं। 'इन्द्र', शत्रुका नाश करने वाला। (वायुः) गतिमान्, प्रगति करने वाला, (बृहस्पतिः) ज्ञानी वक्ता, (मित्रः) हित करता। (अग्निः) प्रकाश देने वाला, मार्गदर्शक, (पूषा) पोषण करने वाला। (भगः) ऐश्वर्यवान। (आदित्याः) लेने वाला धारणकर्ता। (मारुतोगणः) संघसे रहने वाला।

"मनुष्योंको इन गुणोंको अपनाना चाहिये। जिससे उनमें देवत्वका विकास होगा।"

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य. भाग २ पृ० २१

उपरोक्त लेखसे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले मनुष्य विशेष ही 'देव' कहलाते हैं।

अश्विनौ देवों के गुण

"यहां दोनों अश्वि देवोंका वर्णन है।

(१) अश्वोंका घोड़ोंका पालन करने में ये चतुर थे।

❀ उपरोक्त गुणोंसे भी देवता उत्तम मनुष्य ही सिद्ध होते हैं।

(२) ये (पुरु भुजा) विशाल भुजा वाले हैं।

(३) (शुभस पती) शुभ कर्मोंको करने वाले।

(४) (द्रवतपाणी) अपने हाथोंसे अतिशीघ्र कार्य करने वाले।

(५) (पुरु दंससा) अनेक कार्यके निभाने वाले।

(६) (धिष्ण्या) अत्यन्त बुद्धिमान तथा धैर्य युक्त।

(७) (नरा) नेता. अनुयायियोंको उत्तम मार्गसे ले जाने वाले।

(८) (दस्रा) शत्रुका नाश करने वाले।

(९) (नासत्या. न-असत्या) कभी असत्यका अवलंबन न करने वाले।

(१०) रुद्र-वर्तनी) शत्रुका नाश करने के लिये भयानक-मार्ग का अवलंबन करने वाले।

(११) (यज्वरीः इष चनस्यतं) ये यज्ञीय पवित्र अन्नका सेवन करते हैं।

(१२) (शवीरया धिया गिरः वनतं) अपनी एकाग्र बुद्धिसे अनुयायियोंके भाषण सुनते हैं।

(१३) (यवा कवः वृक्त वर्हिषः सुताः) सोम रस पीनेके लिये यजमानके पास जाते हैं।

अश्विनौ देवता वेदमें औषधि प्रयोग द्वारा आरोग्य देने वाली कही है अश्विनौ, देवता में दो देव हैं, पर वे साथ साथ रहते हैं। कभी पृथक नहीं रहते। दो तारिकायें हैं जिनको अश्विनौ बोलते हैं और जो मध्य रात्रिके पश्चात् उदय होते हैं। ये अश्विनौ हैं ऐसा कहा जाता है। मध्यरात्रिके उपरान्त इनका उदय होता है, ऐसा वेदका वर्णन है। दो वैद्य अश्विनौ हैं ऐसा कई मानते हैं, एक ओषधि प्रयोग करने वाला और दूसरा शस्त्र कर्म करने

वाला है। ये दोनों मिल कर चिकित्सा करते हैं। दो राजा हैं ऐसा भी कइयोंका मत है। परन्तु दो तारकायें हैं, यह मत अधिक (विशेष) ग्राह्य है। ये दोनों तारकायें साथ साथ रहती हैं. साथ २ उदयको प्राप्त होती हैं. मध्य रात्रिके पश्चात् उदय होती हैं। अतः इनका नाम अश्विनौ होना संभवनीय है।...... अश्वि देवोंके विषयमें इतने मत भेद हैं, तथापि इनका उदय मध्य रात्रिके पश्चात् है यह निश्चित है। ये दो तारकायें हैं ऐसा भी (वेदमें) अनेक बार कहा है।"

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य, भाग, १ पृ० ३९

ऋभु देवोंकी कथा

ऋभु देवोंके संबंधमें ऐतरेय ब्राह्मणमें निम्नलिखित कथा मिलती है।

ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथं अभ्य जयंस्तेभ्यः प्रातः सवने वाचि कल्पयंस्तानग्निर्वसुभिः प्रातः सवना दनुदत...तृतीये सवने वाचि कल्पयस्तान विश्वे देवा अनोनुद्यान्त, नेह पास्यन्ति, नेहेति, स प्रजापति रब्रवीत् सवितारं, तव वा इमेऽन्ते वासास्त्वमेवैभिः सं पिबस्वेति। स तथेत्य ब्रवीत्सविता तान्वैं त्वमुभयतः परिपिबेति मनुष्य-गन्धात्। (ऐ ब्रा ३। ६)

ऋभुदेव प्रारंभमें मनुष्य थे। तप करके देवत्वको प्राप्त हुए। प्रजापति और उसके साथ अपनी संमति रखने वाले देव, इन देवोंमें ऋभुओंको प्रातः सवनमें देवोंकी पंक्तिमें बिठला कर सोम पान करानेका यत्न किया। परन्तु आठों वासुदेवोंने उन को अपनी

पंक्तिमें बैठने नहीं दिया । पश्चात् माध्यंदिन सवनमें ग्यारह रुद्रोंने उनको अपनी पंक्तिमें बैठने नहीं दिया, इसी तरह प्रजापति ने ऋभुओंको आदित्योंकी पंक्तिमें बिठलानेका यत्न, तृतीय सवन में किया, पर सभी देवोंने उनको अपनी पंक्तिमें बिठलानेसे इन्कार किया। (नेह पास्यन्ति नेहेति) यह ऋभु यहां बैठ कर सोमपान नहीं करेंगे, कदापि यह बात नहीं होगी, एसा सब देवों ने कहा। तब प्रजापति सविताके पास गया और उन्होंने उससे कहा कि हे सविता। ये तेरे साथ रहने वाले और अच्छे कार्य करने वाले हैं, अतः तू अपने साथ इनको बिठला कर सोमपान करो और इनको करने दो। सविताने कहा कि इन ऋभुओंमें (मनुष्य -गन्धान्) मनुष्योंकी बू आ रही है इस लिये यह देवों में कैसे बैठ सकते हैं ? पर यदि हे प्रजापते ! तुम स्वयं इनके साथ बैठ कर सोमपान करोगे, तो मैं भी ऐसा करूंगा । और एक बार यह प्रथा चल पड़ी तो चलती रहेगी। प्रजापतिने वैसा ही किया, तब से ऋभु देवत्वको प्राप्त हुए।

यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण में है। इस में यदि कुछ अलंकार होगा, तो उसका अन्वेषण करना चाहिये। ऋ १ । ११० । ४ में कहा है

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाधतो मर्तासः सन्तो अमृतत्व मानशुः सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥

'शान्ति पूर्वक शीघ्र कार्य करनेमें कुशल और ज्ञानी ऐसे ये ऋभु, प्रथम मर्त्य होने पर भी देवत्वको प्राप्त हुये। ये सुधन्वाके पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी ऋभुदेव सांवत्सरिक यज्ञमें अपनी कर्म कुशलताके कारण संमिलित हो गये।

अंगिराके पुत्र सुधन्वा, और सुधन्वाके पुत्र ऋभु, विभु और वाज ये तीन थे। इन में से ऋभु बड़े कारीगर थे इस लिये उन की कारीगरीके कारण इनको देवों में शामिल किया गया था। देव नामक जातिका—एक दिग्विजयी राष्ट्र था, उस राष्ट्रमें मानव जाती के लोगों को बसनेका अधिकार नहीं था। कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर कई मानव जातिके लोगोंको उसमें जाकर बसनेका अधिकार मिलता था, इसी तरह ऋभुओंको मिला था। ऋभु उत्तम कारीगर थे उत्तम रथ बनाते थे, उत्तम शस्त्र बनाते थे, गौओंको अधिक दूध देने वाली बनाते थे, वृद्धोंको जवान बनाने की औषधि योजनायें जानते थे देव जातिके लिये ऐसे कुशल कारीगरोंकी आवश्यकता थी अतः प्रजापतिने उन ऋभुओंको अपनी देव जातिमें लेनेका यत्न किया। प्रथम देवोंने इस प्रस्ताव का स्वीकार नहीं किया परन्तु पश्चात् प्रजापतिका प्रस्ताव देवोंने मान लिया और ऋभुओंकी गणना देवोंमें होने लगी।

आज कल अमेरिकामें भारत वासियोंको स्थायी रूपसे रहने की आज्ञा नहीं है। पर अब इस युद्धके कारण भारतीयों को आज्ञा देनेका विचार वहां करने लगे हैं। इसी तरह यह ऋभुओं की बात दीख रही है।

देव लोक

"इस त्रिविष्टप (तिब्बत) में अर्थात् स्वर्गलोकमें देव रहते थे। प्रायः 'लोक' शब्द संस्कृतमें 'देश' किंवा 'राष्ट्र' वाचक है, इससे यह अर्थ बनता है कि 'देवलोक' शब्द 'देवोंका देश' अथवा 'देवोंका राष्ट्र' इस अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। 'देव-राष्ट्र' शब्द संस्कृतमें भी है। तथा महाराष्ट्रमें 'देवराष्ट्र' नामकी

एक जाति भी है और इस नामका ग्राम भी है। जिला सताराामें देवराष्ट्र डाकखाना भी है। यह ग्राम प्रथमतः उन लोगोंने बसाया जो कि पूर्वोक्त देवोंके राष्ट्रसे वीर यहाँ आकर बसे थे। हम आगे जाकर बतायेंगे कि इस तिब्बतकी देवजातिके लोगोंने भारतवर्षमें आकर कई ग्राम व नगर बसाये हैं, उनमेंसे यह भी एक नगर है। तिब्बतमें इस प्राचीन समयमें जो मनुष्य रहते थे वे अपने आपको 'देव' नामसे संबोधित करते थे। यह एक बात यदि ठीक प्रकार समझमें आवेगी तो बहुत सारी पुराणकी कथायें समझमें आ सकती है।

जिस प्रकार बंगालके लोग अपने आपको बंगाली कहते हैं, चीन देशके लोगोंको चीनी कहते हैं उसी प्रकार देवराष्ट्र किंवा देवलोकके निवासियोंका नाम 'देव' था। अर्थात ये भी मनुष्य ही थे। इतनी सीधी बात बहुतसे लोग भूलते हैं, इस कारण महाभारतकी कई कथायें उनके समझमें नहीं आती और किसी समय बहुत लोग अर्थका अनर्थ भी करते हैं।"

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य भाग, २ पृ० ३१

जिस प्रकार इस ऐतिहासिक तथ्यको जाने बिना पुराणोंकी कथा महाभारत आदिकी कथायें समझनेमें नहीं आसकती और अनेक विद्वान् अर्थका अनर्थ करते है, ठीक यही बात वेदोंके विषयमें भी है। वेदोंमें भी, अग्नि, इन्द्र, वरुण, आदि शब्दों द्वारा पूर्वोक्त देवजातिका इतिहास बताया गया है। इस तथ्यको न समझ कर अनेक विद्वानोंने (विशेषतया आर्यसामाजिक पण्डितोंने) अर्थका घोर अनर्थ करनेका प्रयत्न किया है।

'वैदिक-स्वर्ग'

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य । छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोधि यज्ञः ॥ १ ॥

ब्रह्म इस ओदनका सिर है, बृहत इसकी पीठ है, वामदेव्य उदर है, छन्द दोनों पक्ष (पासे) हैं, सत्य इसका मुख है विष्टारी यज्ञ तपसे उत्पन्न हुआ है।

भाष्य—बृहत और वामदेव्य साम विशेष हैं. सायण ब्रह्मसे रथन्तर साम और सत्यसे सत्य-साससे अभिप्राय लेना है।

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् । नैषां शिश्नं प्रदहित जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैण मेषाम् ॥ २ ॥

हड्डियोंसे रहित हुए, निर्मल हुए, पवित्र करने वाले से पवित्र किये हुए चमकते हुए वे (याज्ञिक) चमकते हुए लोककी ओर जाते हैं, जातवेदा (अग्नि) उनके शिश्नको नहीं जलाता है स्वर्ग-लोकमें बहुत स्त्री समूह उनका होता है।

भाष्य—हड्डियोंसे रहित अर्थात जो इन सब यज्ञोंको करते हैं मरनेके अनन्तर उनको दिव्य शरीर मिलता है। ये हड्डियों आदि वाला भौतिक शरीर नहीं। जब भौतिक शरीर ही नहीं, तो शिश्न आदि भी अलंकार रूपमें वर्णित जानने चाहिये—इत्यादि।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान वर्तिः सचते कदाचन । आस्ते यम उपयाति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ।३।

जो विष्टारी ओदनको पकाते हैं, उनको अजीविका (दरिद्रता) कभी नहीं चिपटती, (ऐसा पुरुष) यमके पास बैठता है, देवोंकी

ओर जाता है, सोम पीनेवाले गन्धर्वोंके साथ आनन्द मनाता है।

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥

जो विष्टारी ओदनको पकाते हैं, यम उनके बीजको उनसे नहीं छीनता है. वह रथोंका स्वामी होकर रथके मार्गों पर घूमता है और पक्षी होकर सारे आकाशको लाँघ जाता है।

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश। आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उपत्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

यज्ञोंके मध्यमें बढ़िया ले जाने वाला यह फैला है विष्टारीको पकाकर वह स्वर्गमें प्रवेश करता है. आण्डीक, कुमुद फैलाता है, बिस, शालूक, शफक, मुलाली, ए सारी धाराएँ, मधु वाली होकर पुष्टि हुई, स्वर्गलोकमें तुझे मिलें, और चारों ओर वर्तमान कमलों वाले सरोवर तुझे मिलें।

भाष्य—कौ० के अनुसार ओदनमें ह्रद और कुल्या बनाकर उनमें आण्डीक आदि डाले जाते हैं। ये सब पानीके पौधे हैं आण्डीक, अन्डेके से कन्द वाला, कुमुद रात्रीको खिलने वाला श्वेत कमल, बिस पद्मकन्द, शालूक, नीलोफरका कन्द, शफक, खुरकी सी आकृति वाले कन्द वाला, मुलाली-मृणालभिस । ये ह्रद और कुल्या स्वर्गके ह्रद और कुल्याओंके प्रतिनिधि हैं।

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा० ॥ ६ ॥

घीके ह्रदों वाले, मधुके कनारों वाले, सुराके पानियों वाले, दूधके, पानीसे, दहीसे, भरे हुए, ये सारी धाराएँ।

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्ण उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उपत्वा धारा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ ७॥

चार घड़े चार प्रकारसे। अलग अलग चार दिशाओंमें रख देता हूँ दूधसे, दहीसे, पानीसे भरे हुए, ये सारी धाराएँ०।

इम मोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्। स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपाधेनुः कामदुघा मे अस्तु॥

लोकके जीतने वाले, स्वर्गको पहुंचाने वाले, इस विष्टारी ओदनको मैं ब्राह्मणोंमें अमानत रखता हूँ, स्वधाके साथ बढ़ता हुआ यह ओदन मत क्षीण हो। यह मेरे लिए सारे रूपों वाली धेनु काम दुधा कामनाओंका दूध देने वाली हो।

(तर्क तीर्थ पं० लक्ष्मण शास्त्रीकी सम्मति।)

"हिन्दू धर्म में देव कल्पना"

"हिन्दू धर्मकी इसकी अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ देव कल्पना है। वह है वस्तुके भाव-रूप तत्व, यह दूसरे प्रकार की देवताओं की उपासना प्रसिद्ध है वस्तुओंकी चेतन-रूप शक्ति अथवा तत्व को देवता मानना, यह कल्पना वेदोंसे ही उद्भूत हुई है। इन्द्र है बलदेवता, वरुण है साम्राज्य देवता, सविता है आज्ञा रूप प्रेरणा-रूप देवता, सरस्वति है पुष्टि देवता है या वाग्देवता और श्री है सर्व वस्तुओंके उत्कृष्ट गुणोंका रहस्य देवता जिसमें एकत्रित है (शतपथ ११ ब्राह्मण)। प्रजापति यानि सर्व वस्तुमय जनन शक्ति, ब्रह्म

यानी निर्माण शक्ति, विष्णु यानी रक्षण शक्ति और रुद्र यानी संहार शक्तिके रूपसे देवताकी उपासना ब्राह्मण ग्रंथों और पुराणोंके तात्विक निरूपणमें कही गई है। इससे देवताको सूक्ष्म स्वरूप प्राप्त हुआ है।

देवताओंमें मनुष्यता का या सूक्ष्मताका आरोप करने वाला हिन्दू धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें मुख्यतासे वर्णित है इन देवताओं का परस्पर सम्बन्ध जोड़कर उनकी भक्ति करने वाला अथवा उन देवताओंमेंसे किसी एक देवताको चुनकर उसे ही सर्वशक्ति सत्ता देने वाला धर्म ऋग्वेदमें प्रगल्भ दशाको पहुंचा हुआ दिखाई देता है।

हिन्दू-धर्ममें अनेक देवताओंकी उपासना करने वाले सम्प्रदाय प्रगल्भ दशाको पहुंचे। साथ ही साथ विधि-निषेध गंध, माला, वेश, आदि विशिष्ट प्रकारके सम्प्रदाय चिन्ह और भिन्न भिन्न सम्प्रदायके परस्पर व्यवहारके नियम भी अस्तित्वमें आये। उनकी पवित्रता अपवित्रता की मर्यादा ठहराई गई।

हिन्दू-धर्म संस्थाका सबसे वरिष्ठ और श्रेष्ठ एक और स्तर है। उसमें ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद और तत्ववाद यह तीन भेद हैं।

सब देवता एक ही सर्व व्यापी तत्व में समाये हुये हैं। सब देवता उसी एक तत्वके भाग हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक ही सत्व तत्वसे उद्भूत होते हैं, वहीं स्थिर होते हैं और वहीं लीन होजाते हैं। ये तत्व-विश्व-रूप हैं। इस विचारको ब्रह्मवाद या सद्वाद कहते हैं। ऋग्वेदके अन्तमें दशवें मण्डलमें यह उदित हुआ और उपनिषद् (छान्दोग्योपनिषद्)में परिणतको पहुंचा मानवीय आत्मा जैसा हो परन्तु उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ, सर्व-शक्ति सम्पन्न, सर्वगुण-सम्पन्न, परमात्म व्यक्तिकी अपेक्षा ब्रह्म अधिक सूक्ष्म है।

वह व्यक्ति (magic) नहीं तत्व है। उसका ज्ञान हुआ कि मनुष्यका जीवन कृतार्थ हो गया। उसके ज्ञानके लिये धार्मिक-कर्म-काण्डकी अपेक्षा संयम, शान्ति, उदारता आदि गुणोंकी ही अधिक आवश्यकता है, स्वर्ग, मोक्ष, सुगति, दुर्गति आदिके कर्ता कृपालु, दयाघन परमेश्वरकी अपेक्षा ब्रह्म अव्यक्त है। क्योंकि वहाँ अहंभाव या व्यक्तित्व नहीं है।

हिन्दू धर्ममें उच्चतम लक्षण एकेश्वरवाद है, सर्व-जगतका शास्ता और सर्व-शक्तिमान अन्तरात्मा ही एक परमेश्वर है, बाकी सब उसके आधीन हैं। इस सिद्धान्तको एकेश्वरवाद कहते हैं। शैव और वैष्णव सम्प्रदायोंका यही सिद्धान्त है। परमेश्वरकी भक्ति अनन्य भावसे करना या सर्वदा उसकी शरणमें जाना ही मनुष्यके उद्धारका एक मात्र मार्ग है। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, इन्द्रिय-दमनके योगसे परमेश्वरकी सच्ची भक्ति सधती है। इसलिये ये नीति-तत्व-धर्मके गर्भमें हैं। परमेश्वरकी कृपासे ही सुख और श्रेयस् और अकृपासे दुःख और अधोगति प्राप्ति होती है। यह भावना उपनिषदों (छान्दोग्योपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्) के कुछ स्थानोंमें दिखाती है। एकेश्वरवादी सम्प्रदाय मूलमें अवैदिक हैं। वैदिक-कर्म-काण्डसे और औपनिषद् ज्ञान-मार्गसे असम्बद्ध कई अवैदिक सम्प्रदाय प्राचीन कालमें थे। उनमेंसे ही वैष्णव, शैव, शाक्त आदि एकेश्वरवादी सम्प्रदाय उत्पन्न हुये हैं। भगवद्गीता, वासुदेव (भागवत) सम्प्रदायका वैदिक मार्गसे समन्वय होने पर तैयार हुई है।

हिन्दू धर्मकी तीसरी उच्चतम शाखा तत्ववाद है। कपिल सांख्यका प्राचीन सम्प्रदाय इस वादका मुख्य प्रतिनिधि है। यह ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता है। मनुष्यका आत्मा विश्व-तत्वों की जानकारी प्राप्त करके ही मुक्त होता है। यह उसका मुख्य-सार है। तत्वोंकी जानकारी शुद्ध-चित्तसे होती है।

चित्त-शुद्धि सात्विक आचरणसे, संयमसे, और सत्य-अहिंसा अस्तेय, आदि नैतिक आचरणोंसे होती है इस तत्ववाद सम्प्रदायमें जैन और बौद्ध तत्वोंके ज्ञानोंका अन्तर्भाव होता है। ये सम्प्रदाय भी ईश्वर अस्तित्व को नहीं मानते।

हिन्दू धर्मकी समीक्षा पृष्ठ १११-११३

'यातु विद्या और धर्म'

'सुवर्ण-शाखाकी पहिली आवृत्तिमें फ्रेजरने लिखा है कि जादू (magic) धर्मकी बिल्कुल पहिली अवस्था है। बहुत-सी जंगली जातियोंकी यातु-विधिमें मूर्त-जीव-वादकी कल्पना नहीं रहती। उनमें इस कल्पनाका देरसे प्रवेश हुआ है। इसीलिए जादूको धर्मकी पहिली ही अवस्था बतलाया गया है, उक्त ग्रन्थके दूसरे संस्करणमें फ्रेजरने यातु-विद्याको विज्ञानकी पूर्वावस्था कहा है। सृष्टिकी शक्तियों पर अधिकार करके उनको अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए विनियोग करना विज्ञानका उपयोग है, जादूका उद्देश्य ही ऐसे कार्य करना है। विज्ञान निसर्गके नियमों पर निर्भर करता है। विज्ञानको भरोसा रहता है, कि निसर्गके नियमोंको योग्य-रीतिसे काममें लाया जाये तो वह निश्चय ही फलदायी होगा। जादूगर भी अपने मंत्र, तंत्र, यंत्रों पर और उस क्रियासे संबद्ध प्रकृतिकी वस्तुओंके स्वभाव पर ऐसा ही निर्भर रहता है। जब जादूकी व्यर्थता की खातिरी होने लगी, या जानकारी होने लगी तब धर्म उत्पन्न हुआ। प्रकृतिकी अलौकिक शक्ति लहरी स्वभाव की है, उसका कुछ ठिकाना नहीं। उसकी शरणमें जाना चाहिये, यही भावना धर्मको जन्म देती है। फ्रेजरने धर्म और जादूकी विषमता पर और जादूकी समानता पर जोर देकर धर्म, जादू और विज्ञानको मनोविज्ञान बतलाया है।

जादू, धर्म और विज्ञानके पौर्वापर्य्य अथवा साम्य वैषम्यके विषयमें पंडितोंका मतभेद है। तो भी यह निश्चित है, कि इनके बीज एकत्र मिलते हैं। बेबलोनिया और भारतवर्षमें वैद्यक, कानून जादू और धर्म एक ही धन्वेसे निर्माण हुए। इतिहास बतलाता है कि बेबिलोनियामें पहले वैद्यक जादू-टोनेके रूपमें था, भारतवर्षके अथर्ववेदमें बतलाये हुए, 'अथर्व' वैद्यक, जादू और पुरोहिताई ये तीनों काम करते थे। जादू, वैद्यक, (चिकित्सित) धार्मिक संस्कार और यज्ञ-याग ये क्रियाएँ एकत्रित मिली हुई स्थितिमें अथर्ववेद और कौशिक ग्रह्य-सूत्रमें दिखलाई देती हैं। भारतवर्षमें तो हजारों वर्षोंसे कानून भी धर्मका भाग रहा है। उसका दैवी क्रियाओंसे और पारलौकिक गतिसे संबंध जुड़ा हुआ था। न्याय-निर्णयका दिव्य या सौगन्ध एक प्रमाण था न्याय-निर्णयका मुख्य अधिकार ब्राह्मणोंके हाथमें था।

हिन्दू धर्म समीक्षा पृष्ठ० ३९, ४०

'हिन्दू धर्मके विविध स्तर'

संसारके प्रायः सारे जंगली अथवा पिछड़े हुये मानव-समूहमें जादू (magic) प्राथमिक धर्मके रूपमें पाया जाता है। इस समयके सुधरे हुए पाश्चात्य और पूर्वीय राष्ट्रोंमें भी समाजके पिछड़े हुये स्तरोंमें थोड़ा बहुत जादू-टोना दिखलाई देता है। मनुष्यकी अत्यन्त अनाड़ी स्थितिमें इस जादू-टोनेका अवतार होता है। सृष्टिके वास्तविक कार्य-कारण-भावका गूढ़ अज्ञान इसका आदि कारण है. जादू दो तरहका होता है. एक देवता-वादके पूर्वका और दूसरा उसके बादका। हिन्दू धर्ममें दोनों तरह का यातु-धर्म है। अथर्व-वेद और गृह्य सूत्रोंके धर्ममें यातु या जादूकी क्रियाका स्थान है। इतर तीन वेदोंमें भी जादू अथवा

तत्सदृश क्रियाएँ कही गई हैं। कुछ यज्ञ जादू सरीखे ही हैं। कम से कम उनमें जादूके अवशेष तो हैं ही। वर्षा, शत्रुनाश-समृद्धि. रोग-निवारण, गर्भधारण, सन्तान, पशु लाभ आदि फलोंकी प्राप्तिके लिये यज्ञ और होम बतलाये गये हैं। अभिचार नामके यज्ञ. अथवा कर्म सब वेदोंमें कहे गये हैं। गर्भाधान, पुन्सवन आदि संस्कारोंके मूल स्वरूप एक प्रकारके जादू ही हैं जादू यानी साधना। इष्ट सिद्धिके लिये अथवा अनिष्ट-निवारणके लिये विशिष्ट वस्तु विशिष्ट क्रिया अथवा विशिष्ट मंत्रोंका उनमें अद्भुत शक्ति है, इस कल्पनासे विशिष्ट परिस्थितिमें उपयोग करना साधना है। पहिले एक ऐसा समय था, जब कि लोग वनस्पति, धातु या क्षार आदि भौतिक द्रव्योंके रोग-निवारण गुणोंको नहीं जानते थे। कार्य-कारण-भावसे अजान थे, तब वैद्यकीय-क्रियाएँ तक जादू थीं। अथर्ववेद और गृह्य-सूत्रोंके कई रोग-निवारक कर्म इसीतरह के हैं। जादूकी वनस्पतियाँ और मंत्र उनमें बतलाये हैं।

निसर्ग-वस्तु-पूजा हिन्दू धर्म की दूसरी प्राथमिक स्थिति का अवशेष है, पाषाण, पर्वत, नदी, वृक्ष, पशु पक्षी, तारे आदि निसर्ग की वस्तुओं में कुछ चमत्कारिणी शक्ति है, इस विश्वास से यह पूजा प्रारम्भ होती है। गंडकी नदी के कोल, शक्ति ग्राम नर्मदाके ताम्र वर्ण गोटे, अनेकों छिद्र वाली लम्ब गोल-कोमल गांगोटी, पहाड़, गंगा, यमुना कृष्णा और सिन्धु आदि नदियाँ ऊमर, पीपल, बड़, बेल, तुलसी, आँवला आदि वनस्पतियां; बैल गाय, बन्दर, महिष, मछली, कछुआ, बराह, सिंह, बाघ, घोड़ा, हाथी, नाग, गरुड़, हंस, मयूर आदि पशु-पक्षी; सूर्य, चंद्र मंगलआदि आकाशस्थ गोल, अग्नि-वायु वर्षा आदि निसर्ग घटनाएं; इन सबकी पूजा करनेकी पद्धती हिन्दू-धर्ममें है। शालिग्राम नर्मदाके गोटे अथवा लम्ब-गोल-गांगोटीकी पूजा, विष्णु,

गणपति अथवा शिव के नाते अब भी चालू हैं। अर्थात एकेश्वरी-भक्ति सम्प्रदाय में उनका प्रतीकके रूपमें उपयोग होता है। परन्तु उक्त वस्तुएं असल में गणपति अथवा शिवस्वरूप से पूज्य नहीं थीं उनको स्वतन्त्र ही पूज्यत्व प्राप्त था. पीपल, बड़, आँवला आदि वृक्षोंकी पूजा तो अब भी मूल कल्पनासे ही की जाती है। यद्यपि पुराणोंने उन वस्तुओंका स्तोत्रोंमें विकसित धर्मों के देवों विष्णु, शिव आदिसे सम्बन्ध जोड़ दिया है, परन्तु उनका स्वतन्त्र पूज्यत्व अब भी टिक रहा है। नाग और गाय अब भी बिलकुल स्वतन्त्र देव बने हुये हैं। मत्स्य, कच्छप, सिंह, बाघ, गरुड़, हंस, मयूर आदिकी पूजा यद्यपि नहीं की जाती, तो भी उनकी प्रतिकृतियोंकी पूजा रूढ है। सूर्य, चंद्र, मंगल आदि नव ग्रहोंकी आराधना और साधना तो विद्यमान हिन्दूधर्मकी महत्व-पूर्ण वस्तु है। पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे हिन्दू नेता गाय और तुलसीकी पूजाको हिन्दूधर्मका उदात्त लक्षण प्रतिपादन करते हैं। इस निसर्ग-वस्तु-पूजाका आरम्भ प्राथमिक जंगली अवस्था में कुल लक्षण-पूजा (Tobemism) अथवा देवक-पूजासे होता है। ब्राह्मणोंके घर विवाह और उपनयन-संस्कारमें पहिले देवक-स्थापना की जाती है। यह देवक (अविघ्न-कलश) कच्ची मिट्टीका (घड़ा) होता है। जो ब्राह्मणोंकी जंगली अवस्थाका अवशेष है। इस कुल-लक्षण-पूजावादका स्वरूप पहले व्याख्यानमें विवृत किया गया है। विशिष्ट-जड़-वस्तु-विशिष्ट-पशु, विशिष्ट-पक्षी, आदि कुछ न कुछ शुभाशुभकारक सामर्थ्य होता है, इस दृष्टिसे यह पूजा उत्पन्न होती है। कुछ वस्तुएँ शुभ-सूचक और कुछ वस्तुएँ अशुभ-सूचक हैं। यह कल्पना अज्ञानतामें ही उत्पन्न होती है, ऋग्वेद और अथर्ववेदमें कल्पना है कि कौआ और कपोतका दर्शन मृत्यु-सूचक है। विशिष्ट-पदार्थों या जातियों के दर्शन या स्पर्शनसे पवित्रता होती है, स्मृतियोंमें इस कल्पनाकी

मुख्यता दिखलाई देती है। जंगली लोगोंमें माना (mana) और टाबू (taboo)की जो कल्पना मिलती है, वही हिन्दू-धर्ममें शेष बच रही है। गाय, गोमूत्र गोबर ब्राह्मण गंगगोदक. सुवर्ण आदि धातु, पीपल, तुलसी आदिके स्पर्शसे पवित्रता प्राप्त होती है. और शूद्र अन्त्यज, रजस्वला गर्दभ, काक.प्याज लसुन. गाजर. बैंगन आदि के स्पर्श से अपवित्रता आती है। स्मृतियों की यह कल्पना जंगली अवस्था में टाबू और माना की कल्पनाओं का विस्तृत रूप हैं। स्मृतियों के भक्षाभक्ष और स्पृश्यास्पृश्य-विवेक को बहुत कुछ इस मूर्खतापूर्ण विश्वास में ही गिनना चाहिए।

हिन्दू-धर्ममें कुछ निसर्ग-वस्तुएँ अथवा उनकी प्रतिकृतियाँ पहिले से ही पूजनीय हैं, और कुछ उत्तर कालीन उदात्त-धर्मके संस्कारसे कुछ परिवर्तित होकर पूज्य हो गई हैं। जैसे-गरुड़. बैल और बन्दर। गरुड़को विष्णुका और बैलको शिवका वाहन मानकर और बन्दरको रामका दूत समझ कर लोग पूजते हैं। वस्तुतः मूलमें ये स्वतन्त्र रूपसे पूज्य थे। नन्दीकी पूजा तो हिन्दू स्वतन्त्र रूपसे भी करते हैं। बहुतसे हिन्दू मारुतकी पूजा भी स्वतन्त्र रूपसे करते हैं। वृक्ष. सूर्य पर्वत पृथ्वी. नदी और ग्रहोंकी पूजा अत्यन्त प्राचीन कालसे अब तक बिना किसी अन्तरके चालू है।

पशु-पक्षियोंकी पूजाकी जड़ प्राथमिक अवस्थामें मिलती है जिस समय मनुष्यको अपने आस-पासके पशु-पक्षी अपनी अपेक्षा समर्थ और श्रेष्ठ जान पड़ते हैं। उस समय यह पूजा शुरू होती है। जब यह मनुष्यको ज्ञान हो जाता है कि उसका स्थान प्रकृतिके इतर प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है. तभी उसमें भवितव्य पर सत्ता चलाने वाली और अपनी कक्षासे बाहरकी शक्तियोंमें अर्थात् देवताओंमें पशु पक्षियोंके गुणोंका आरोप करनेकी प्रवृत्ति कम होने लगती है। मनुष्यने बंदर. सिंह. हाथी. गरुड़.

नाग, बैल, वराह आदिके रूप अथवा अवयव धारण करने वाले देवताओंको मनुष्यकी महान सामर्थ्यको अच्छी तरह समझनेसे पहिले उत्पन्न किया था। जब मानव-संघ स्थिर राष्ट्र और स्थिर समाजके रूपमें दृढ़मूल होगया, तब उसने मनुष्य-देह-धारी और मानव-गुण-युक्त देव मानव-बुद्धिसे अवतरित किये। विद्या और कलाके योगसे जिसने अपने आस-पासकी सृष्टि पर आधिपत्य जमा लिया और अपने गुणोंके मांगल्यकी जिसे प्रतीत होगई, ऐसे मनुष्यने मनुष्य सदृश्य देवता बनाए। पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, अग्नि, सूर्य, आदि देवताओंका बाह्य स्वरूप ज्योंका त्यों रखकर भी उनका अन्तरंग मानवी-विकारों-विचारोंसे भरा हुआ है; ऐसी कल्पना वह करने लगा। मानवोंका मानवी पराक्रम ही अतिशयोक्तिके साथ देवताओंमें दीखने लगे। इस स्थिति तक आनेके लिये मनुष्य-जातिको युगके युग बिताने पड़े।

पशु-पक्षी सरीसृप प.प.ण आदि वस्तुओं के समान ही अग्नि सूर्य, वर्षा, वायु आदि निसर्ग देवता वास्तविक कार्य-कारण भाव के अज्ञान से अस्तित्वमें आए। दावानल, तीव्र, सूर्योदय, आंधी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, समुद्रका ज्वार-भाटा सूर्य चंद्र का उदयास्त आदि की गूढ़ता के कारण देवताओं की कल्पना-निर्माण होने तक अशक्य ही थे। तब तक मनुष्य को एक या अनेक देवताओं की कल्पना पर निर्वाह करना पड़ा। पूजा करना, यज्ञ करना, और प्रार्थना करना ही उस परिस्थितिमें तरणोपाय था, और यही उस समयका धर्म था।

भूत-पूजा या पितृ-पूजा तीसरा धर्म है संघके बड़े-बूढ़े मनुष्यों के अधीन छोटोंका जीवन निर्वाह होता है। संघके बड़े-बूढ़े ही उनके जीवनके लिये सारी तैयारी कर देते हैं। उनका अधिकार छोटोंपर रहता है। संघके उक्त बड़े मुखिया जब मृत्युके मुँहमें जा पड़ते हैं

सब संघकी बहुत बड़ी हानि होती है। इसे संघका प्रत्येक मनुष्य बड़ी तीव्रतासे महसूस करता है। और इसके कारण उनके हमेशा के लिये सम्पूर्ण नाशकी कल्पना असह्य होती है। स्वप्नमें और एकान्तमें उनके अस्तित्वका भास होता है. संघ पर किसी प्रकारका संकट आनेपर ऐसा मालूम होने लगता है कि उक्त मरेहुए बड़े,बूढ़ों की असन्तुष्ट वासना की बाधा है. तब उन पितरोंकी वासना तृप्त करने या पूजा करनेकी इच्छा पीछे रहने वाले लोगोंको होती है। मृतोंके मरणोत्तर अस्तित्व की भावना की उपपत्ति पहले मूर्त्ति-पुरुषवाद (animism) शीर्षकके नीचे बतलाई जा चुकी है। जड़देहमें देहकी अपेक्षा निराला देह सरीखा चेतन पुरुष अथवा चेतन द्रव्य है. और वह मृत्युके अनन्तर भी रहता है. इस कल्पनाके आधारसे भूत-पूजा अथवा पितृ-पूजा अस्तित्वमें आती है. इस कल्पनामें भूत-प्रेत, पिशाच, वेताल आदिकी कल्पनाएँ अन्तर्भूत हैं देवता और पुनर्जन्मकी कल्पना भी इसी मूर्त पुरुष-वादसे उत्पन्न हुई हैं। पहाड़, नदी, वृक्ष, भूमि, क्षेत्रको वेदोंमें अलौकिक प्रामाण्यकी पदवी पर पहुंचाया गया। समाज-संस्थाका प्राण उसके नियमों रीति-रिवाजों, आचारों, कर्मकाण्डों और विचार-पद्धति की स्थिरता पर ही अवलम्बित था। उनकी पूर्णता और अबाध्यता स्थापित करनेके लिये आर्योंने उन्हें वेदमूलक ठहराया, और वेदोंको अनादि-नित्यत्व और स्वतः प्रामाण्य अर्पण किया।

जैमिनीने पूर्व-मीमांसाके प्रारम्भमें धर्म-प्रमाणका निर्ण किया है। उन्होंने पहिले कहा कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे धर्म प्रमाण नहीं है, फिर कहा कि वेद-रूप उपदेश ही धर्मका स्वत सिद्ध इतर निरपेक्ष प्रमाण है. और ब्रह्म सूत्रकार बादरायण का भी यही मत है। स्मृतियाँ तक वेदानुवादक हैं. और इसलिये

वे धर्म-निर्णय के साधन हैं। वैदिक लोगों के रीति-रिवाज तक वेदमूलक होने से प्रमाण हैं, ऐसा मीमांसक मानते हैं। ❀

शबर, कुमारिल और शंकरकी प्रमाणोपपत्ति

शबरस्वामी व कुमारिल भट्ट ने जैमिनीय सूत्रों की विस्तार के साथ टीका की है। ऐतिहासिकोंका अनुमान है, कि जैमिनीय सूत्र ई० पूर्व पहिली शताब्दीके लगभग बने होंगे। शबर स्वामी का काल चौथी और कुमारिल भट्ट का सातवीं शताब्दी माना जाता है।

इन आचार्यों के मत से, मनुष्य-बुद्धि द्वारा अगम्य ऐसे कार्य-कारण भाव कहने के लिए वेद प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें डर था कि यदि हम यह मान लेंगे कि मानव-बुद्धिगम्य तत्व ही वेद कहते हैं, तो वैदिक संस्थाका उन्मूलन हो जायगा। कुमारिलभट्ट कहते हैं। (तंत्र वार्तिक, १।१।३) कि मनुष्य बुद्धि को एक बार भी वेद में स्थान दिया, तो नास्तिक विचारों का प्रावल्य होकर वैदिक मार्ग नष्ट होजायगा। ऐसा न हो इसलिए वेदों का विषय अदृष्ट ही मानना चाहिए, कुमारिल और शंकराचार्य के पहिले ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, अदृष्ट इत्यादि धर्मकी मूलभूत कल्पनाओं को युक्ति से समर्थन करने वाले बहुत से आचार्य थे। परन्तु ये तत्व मानव-बुद्धि गम्य नहीं हैं, इस बात को कुमारिल और शंकराचार्य ने ही बुद्धिवादके व्यापक और सूक्ष्म तत्वों के आधार से सिद्ध किया। उन्होंने इस मुद्दे पर बहुत अधिक

❀ यह है वैदिक देवताओंका वास्तविक स्वरूप।

विद्वान् लेखकने यहां स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि प्रथम अवस्था में वैदिक देवता जडात्मक ही थे। आध्यात्मिक आदि रूप उनको बहुत काल के पश्चात प्राप्त हुआ। तथा उसके बाद ईश्वरकी कल्पना की गई।

ध्यान दिया, कि ये तत्व वेद गम्य ही हैं। या तो ये तत्व मनुष्य की केवल कल्पनाओंके आभास या खेल हैं। अथवा ये मनुष्य बुद्धिगम्य नहीं हैं, इनमेंसे कोई एक पक्ष स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव परम्परागत धर्म-संस्थाकी स्थिरताके लिये और अपने मान्य अध्यात्मवादके समर्थनके लिये दूसरा पक्ष ही कुमारिल और शंकराचार्यने स्वीकार किया, और उन तत्वोंको केवल वेद गम्यत्व ही अर्पण किया। यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि वेदको मानव-कृत मान लेने पर उक्त तत्व निराधार ही ठहर जाते हैं।"

क्योंकि वैदिक समयमें ईश्वरकी कल्पना नहीं थी। परन्तु जब ईश्वरकी कल्पना की गई, उस समय भी देवताओंको ईश्वर नहीं मानागया। सभी वैदिक महर्षियोंने देवताओं और ईश्वरमें स्पष्ट भेद बताया है। तथा वैदिक वांगमयमें और वैदिक दर्शनोंमें एवं संपूर्ण संस्कृत साहित्यमें देवताओंकी एक पृथक जाति मानी गई है। * इसके लिये हम शतशः प्रमाण दे चुके हैं।

तथा च इस विषयमें एक लेख सुप्रसिद्ध मासिकपत्र 'कल्याण' (वर्ष, २० अंक ६) में प्रकाशित हुआ है उसे यहाँ उद्धृत करते हैं।

---

* उनके रहनेका स्थान भी इस लोकसे पृथक एक स्वर्ग लोक माना गया है, जिसका वर्णन हम पृ० २०५ पर कर चुके हैं। उस वर्णनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक स्वर्ग और 'कुरान' की वहिश्तमें बहुत कुछ सादृश्य है।

देवता और ईश्वर

(ले०—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न)

(१)

मनुष्य-शरीरसे देव-शरीरमें वैलक्षण्य

हिंदू-शास्त्रके अनुसार मानव-शरीर और देवशरीर दोनों पाञ्चभौतिक होते हैं। पृथ्वी-तत्वकी प्रधानताके कारण मानव-शरीर 'पार्थिव' कहा जाता है, किन्तु देव-शरीर तेजस्तत्वकी प्रधानताके कारण 'तैजस' कहा जाता है।

देव-शरीर और मानव-शरीर दोनों ही कर्मानुसार मिलते हैं, किन्तु मानव-शरीर श्रीमद्भागवतके—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
मातुः प्रविष्ट उदरं पितू रेतःकणाश्रयः ॥

इस वचनके अनुसार रजोवीर्यविनिर्मित होता है, और देव-शरीर महाभारतके—

तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम् ।
कर्मजान्येव मौद्गल्य न मातृपितृजान्युत ॥

इस वचनके अनुसार रजोवीर्यविनिर्मित नहीं होता।

पार्थिव मानव-शरीरमें खान-पानके परिणामरूप, स्वेद, मूत्र और पुरीष होते हैं, किन्तु तैजस देव-शरीरमें ये नहीं होते। देवताओंको तैजस शरीरधारी होनेके कारण भूख-प्यास नहीं लगती—

न क्षुत्पिपासे न ग्लानिर्न शीतोष्णभयं तथा ।

अमृत नामक तैजसद्रव्यके पानद्वारा उनके शरीर अपनी आयु पर्यन्त अजर और अमर बने रहते हैं। स्वर्गलोकके अन्यान्य भोज्य पदार्थ भी अमृतके समान तैजस ही हैं।

मनुष्योंके पलक लगते हैं, देवताओंके नहीं। मनुष्य भूमिको स्पर्श करके खड़े होते हैं, देवता इस प्रकार खड़े नहीं होते। मनुष्य की छाया पड़ती है, देवताकी नहीं। मनुष्यके शरीर और वस्त्रोंपर धूल लग जाती है, देवताके शरीर और वस्त्र नीरज ही रहते हैं। मनुष्यके शरीरकी माला मुरझाती रहती है, देवताके शरीरसे सम्पृक्त माला खिली रहती है। महाभारतमें लिखा है, कि दमयन्ती मनुष्य और देवताओंके वैलक्षण्यसे परिचित थी। जब उसने नल और इन्द्रादिमें वैषम्य देखा तो उसने नलके स्वरूपका निश्चय हो जाने पर उसीके गलेमें जयमाला डाल दी—

सापश्यद् विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान् ।
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ॥
छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ।
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमेषेण च सूचितः ॥

(महाभारत)

इसी प्रकार श्रोहिद्रौणिकपर्वमें देव-शरीर-विषयक उल्लेख है कि—

न च स्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च ।
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥

मनुष्य योग-सिद्धि प्राप्त करके अनेक शरीर धारण कर सकता है, जैसा कि वचन है—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥

किन्तु देवतामें अनेक शरीर धारण करनेकी योग्यता स्वयंमेव होती है। आचार्य शङ्करने वेदान्तके—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है—

स्मृतिरपि प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति किमु वक्तव्यमाजानसिद्धानां देवानाम् ।

मनुष्योंमें पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, पुत्रसे पिताकी उत्पत्ति नहीं हुआ करती; किन्तु देवता एक दूसरेसे उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये यास्कने निरुक्तमें देवताओंके विषयमें कहा है—

'इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः ।'

साधनसम्पन्न मनुष्य मायाका आश्रय लेकर अपने रूपका परिवर्तन कर सकता है । मारीचका मृगरूप धारण करना रामायणमें सुप्रसिद्ध है। इसी प्रकार देवता भी मायासे अपने रूप का परिवर्तन कर सकते हैं। दमयन्तीके स्वयम्वरमें इन्द्रादि चार दिक्पालोंका नल-रूप-धारण महाभारतमें प्रसिद्ध है। देवताओंके इसी रूप-परिवर्तनको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कह रही है कि—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।'

मनुष्यमें जिस प्रकार चेतन आत्माका अचेतन शरीरसे संयोग शास्त्रसम्मत है, उसी प्रकार देवतामें भी आत्म—शरीर-संयोग है। देवतामें भी मनुष्यके समान देह-देहि-भाव होता है।

जिस प्रकार मनुष्य अपनी आयुके अन्तमें एक शरीरका त्याग कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है, उसी प्रकार देवता भी अपनी आयुके अन्तमें एक शरीरका त्यागकर दूसरा शरीर ग्रहण करता है। देव-शरीरमें मनुष्य शरीरके समान हानोपादान होते हैं। गीताके—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

इस वचन से मनुष्य का देव-शरीर-ग्रहण और देवता का मनुष्य-शरीर-ग्रहण करना सिद्ध है।

देव-शरीर का आकार देखनेमें मनुष्य-शरीर के सदृश्य होता है। यास्कने—

'अथाकारचिन्तनं देवानाम्'

कहकर, चार विभिन्न मतोंका प्रदर्शन करते समय, देवताओं की पुरुषविधताका सर्वप्रथम उल्लेख किया है—

'पुरुषविधाः स्युरित्येकम्'

(७)

देव-शरीरसे ईश्वर-शरीरमें वैलक्षण्य

ईश्वरका शरीर देव-शरीरके समान तेजोमय, भौतिक और

प्राकृत नहीं होता। वह तो षाड्गुण्यमय, दिव्य और अप्राकृत होता है, अतएव वह ईश्वरका स्वरूप, शुद्धतत्त्वमय और सच्चिदानन्दमय कहलाता है।

देव-शरीरके समान ईश्वरका शरीर जड़ नहीं होता। वह चेतन, स्वयंप्रकाश और ज्ञानात्मक होता है।

देवताओंको जिस प्रकार रूपादि साक्षात्कारके लिये चक्षुरादि इन्द्रियोंके साहाय्यकी अपेक्षा है, उस प्रकार ईश्वरको नहीं होती। उसका रूपादि-साक्षात्कार स्वयमेव होता है।

देवतामें जिस प्रकार देह और देहीका भेद होता है, उस प्रकार ईश्वरमें नहीं होता। ईश्वरमें जो देह है, वही देही है, और जो देही है वही देह है।

'देहदेहिभिदा चात्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्।'

देव-शरीरका जिस प्रकार हानोपादान होता है, उस प्रकार ईश्वर-शरीरका नहीं। यह नित्य और हानोपादानहीन है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥

ईश्वरके लिये शरीर-शब्दका प्रयोग औपचारिक है। शरीरका अर्थ है शीर्ण होने वाला। ईश्वर कभी शीर्ण नहीं होता, इसलिये ईश्वरका शरीर न कह कर विद्वान् लोग ईश्वरको व्यक्ति, अथवा विग्रह आदि कहा करते हैं। व्यक्ति शब्दका प्रयोग प्राचीन है। महाभारतका वचन है—

एषोऽहं व्यक्तिमास्थाय तिष्ठामि दिवि शाश्वतः।

भक्तों की—

किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान् ।

किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मकः शक्त्यात्मकः ।

इस रहस्याम्नाय-सूक्तिमें भी व्यक्ति-पदका प्रयोग प्राचीन ही है। वैष्णवतन्त्रके—

जितं ते पुण्डरीकाक्ष पूर्णषाड्गुण्यविग्रह ।

आदि वाक्योंमें विग्रह-शब्दका प्रयोग सुप्रसिद्ध है। देव-शरीर के समान भगवद्-व्यक्ति कर्मज नहीं होती—

जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा ।

(विष्णुपुराण)

प्रत्युत स्वेच्छामयी होती है। श्रुतिने भगवद्विग्रहको—

'मनोमयः'

(छान्दोग्योपनिषद्)

कहा है अर्थात् वह विग्रह भगवानकी अपनी भावनाके अनुसार ही है। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीका वचन है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।

इसका भी यही अभिप्राय है कि श्रीभगवद्वपु पाञ्चभौतिक नहीं है, प्रत्युत स्वेच्छामय है। श्रुतिने ईश्वरको—

'अकायमव्रणमस्नाविरम् ।'

कहकर उसकी प्राकृत देहहीनता बतायी है और—

'यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।'

कह कर उसके दिव्यरूपका प्रतिपादन किया है । श्रुतिने जहाँ ईश्वरके लिये शरीर शब्दका प्रयोग किया है, वहाँ साथमें प्राण शब्द जोड़ दिया है । इस प्रकार ईश्वरको—

'प्राणशरीरः'

(छान्दोग्योपनिषद्)

कहा गया है । जिसका आशय है, कि ईश्वर-विग्रह उपचारसे ही शरीर कहा जासकता है, साक्षात् नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं प्राण-जीवन-चैतन्यमय है । ईश्वरविग्रहकी सत्ताके लिये बाह्य वायु की अपेक्षा नहीं है । वह स्वयं प्राणरूप है ।

भौतिक शरीरके समान ईश्वर-विग्रहमें न वृद्धि है और न ह्रास । उसका संवर्धन-संरक्षण उन रसादि शुक्रान्त धातुओं पर निर्भर नहीं है जो यकृत-प्लीहादि यन्त्रोंमें बना करते हैं ।

भक्तोंकी भावनासे परिस्रावित पत्र-पुष्प-फल-जलको श्रीभगवान अङ्गीकार करते हैं अवश्य, किन्तु वह नैवेद्य, भौतिक शरीरान्तर्गत द्रव्यके समान रुधिरादि धातुओंमें परिणत न होकर, सूक्ष्मरूपसे उनके श्रीविग्रहमें ही विलीन रहता है । इसमें आश्चर्य क्यों हो—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो
जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।

और उनके उदरेन्दीवरदलसम्पृक्त श्रीनाभिसे जगदुदयवेलामें दिव्य सुगन्धमय आद्यकमलके रूपमें विकसित हो जाता है ।

ईश्वरका आकार भी पुरुषविध ही है—

'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः'
(बृहदारण्यक ४ । १)

किन्तु यह आकार घनीभूत ब्रह्म ही हैं, अतएव उसकी रचना सर्वांशमें मानवदेहके संघटनके समान ही मानना नितान्त अनुपयुक्त है। वह पार्थिव-शरीरोंसे ही क्या, प्राकृतिक तैजस-शरीरोंसे भी अत्यन्त विलक्षण है। वह सत्य, शिव और सुन्दर है। वह निरतिशय सौन्दर्यका आकार है, दिव्य माधुर्यका आधार है, परम लावण्यका आगार है, और अनवधिक वात्सल्यका पारावार है।

श्री भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। वे सब कुछ कर सकते हैं। वे प्राकृत शरीर धारण कर सकते है, किन्तु किया नहीं करते। जिस प्रकार गंगा-जल में स्नान करके पूजाके आसन पर सन्ध्योपासन के लिये विराजमान कोई ब्रह्मर्षि काक-विष्ठा से ऊर्ध्वपुण्ड्र लगा सकनेकी शक्ति और योग्यता होनेपर भी वैसा न करके गोपी-चंदनसे ही ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाया करता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् प्रकृतिके विकृतिरूप पंचभौतिक शरीर धारण नहीं किया करते हैं—

प्रकृतेर्विकृते रूपं भूतसंघातनामकम् ।
शरीरं सत्यसंकल्पपुरुषस्येच्छयापि न ॥
सम्बन्धोऽपुरुषार्थत्वाज्जीवानां तु स्वकर्मणा ।
सुखदुःखादिभोगार्थं बलाद् देहोऽपि युज्यते ॥
देहः स तु स्वाभिमतः स्वानुरूपः सदोज्ज्वलः ।
अप्राकृतो हरेस्तेन न दोषो कोऽपि युज्यते ॥
(श्रीभाष्यवार्त्तिकम्)

ईश्वर का अवतार-विग्रह भी दिव्य और अप्राकृत ही होता है, किन्तु दर्शकोंको उसकी मानवता [भौतिकता] ही प्रतीत होती है। श्रीभगवान्‌की अघटनघटनापटीयसी योगमायाके वैभव और चमत्कार को कौन जान सकता है? स्वयं लोक-पितामह ब्रह्म-देवको श्रीकृष्णभगवानकी बाल-लीलाएं देखकर उनकी ईश्वरतामें सन्देह हो गया था। श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुखसे यही कहा है-

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

श्रीभगवान् अपने श्रीविग्रहमें हमारा अनुराग नित्य-नूतन बनाये रक्खें।"

इस लेखमें विद्वान् लेखकने ईश्वर और देवताओंका स्पष्टरूप से भेद बता दिया है। तथा वेदने भी यह घोषित किया है, कि अग्नि देवता है न कि ईश्वर या ईश्वरकी शक्तियाँ। और न साधक भेद से ही देवताओंका भेद कहा गया है, ये सब निराधार कल्पनायें हैं। वैदिक साहित्यके मननसे यह सिद्ध होजाता है, कि इस देवतवादकी तीन अवस्थायें हैं।

(१) सबसे प्रथम ये साधारण जड़ पदार्थ ही हैं।

(२) उसके पश्चात् इन जड़ पदार्थोंमें ही विशेष शक्तियोंकी अथवा अलौकिक शक्तियोंकी कल्पना की जाने लगी।

(३) इन्हीं जड़ पदार्थोंका पृथक पृथक अभिमानी चेतन देवता माना जाने लगा। तथा प्रत्येक वैदिक कवि अपने अपने देवताको सर्वश्रेष्ठ व सर्वकर्ता, व सब देवोंका अधिपति, सिद्ध करनेके लिये सूक्तोंकी रचना करने लगा। इसीको मीमांसाकी परिभाषामें अर्थवाद कहते हैं।

आज भी भक्तजन अपने अपने उपास्यकी स्तुति करते समय

अपने उपास्यमें उन सर्व गुणों का आरोप करते हैं, जिनको कि अन्य उपास्य में माने जाते हैं। दृष्टान्त के लिये हम विष्णु सहस्र नाम और शिव सहस्र नाम तथा जैनों के प्रथम तीर्थ कर आदिनाथ जी के १००८ नामों को ले सकते हैं। उपरोक्त सभी उपास्यों के नाम व काम आदि एक से ही कहे गये हैं, परन्तु इतने मात्र से वे सब एक नहीं हो जाते। इसी प्रकार प्रत्येक उपासक, सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओंको भी अपने उपास्यके साथ नत्थी कर देता है। जैसे कि भगवान महावीर के साथ सीता की अग्नि परीक्षा और द्रौपदी के चीर बढ़ने की घटना को नत्थी कर दिया जाता है। एक भक्त भगवान महावीर की स्तुति करते हुये आनन्द में मग्न होकर "सीता प्रति कमल रचाया, द्रौपदी का चीर बढ़ाया" आदि पद गाता है, यद्यपि उपरोक्त घटनायें महावीर भगवानके हजारों व लाखों वर्ष पूर्वकी हैं। इसी प्रकार वैदिक समयमें भी सम्पूर्ण महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं को भक्तजन अपने अपने उपास्य देवता के साथ नत्थी करते रहते थे। जिस प्रकार उन नामों के एक होने से तथा चीर आदि बढ़ाने की घटनाओं के नत्थी करने से सब महा पुरुष एक नहीं हो सकते उसी प्रकार एक प्रकारका वर्णन होनेसे वैदिक देवता भी एक नहीं हो सकते। तथा न वे एक द्रव्य की शक्तियां ही हो सकती हैं।

देवोंकी मूर्तियां

वैदिक समय में 'इन्द्र' आदि देवों की मूर्तियां भी बनती थी तथा उनकी पूजा होती थी। तथाच उन मूर्तियों को रथ पर बिठाकर उनके जलूस निकाले जाते थे। संहिताओं के हजारों मन्त्रों में जो इन्द्र का रथ में बैठाना व उसका वस्त्र तथा आभूषण आदि पहनने का जो उल्लेख है, वह उत्सवोंमें मूर्तियों के

सजाने का ही वर्णन है। इसी प्रकार "अग्नि के रथ पर बैठकर देवगण आते हैं" इत्यादि कथन भी उन जलूसों का वर्णन है, जो उस समय मूर्तियों के निकाले जाते थे।

उपरोक्त कथन की पुष्टि निम्न मन्त्र से होती है।

महे च न त्वामद्रिवः पराशुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

ऋग्वेद मं० ८। १। ५ ॥

अर्थात् 'हे इन्द्र! तुझे मैं बड़े मूल्य पर भी नहीं बेचूंगा। सौ, सहस्र और दस हजार मिलने पर भी मैं तुझे नहीं बेचूंगा। इस मन्त्र का भाष्य करते हुये श्री सायनाचार्यजी ने लिखा है कि—

'महे महते शुल्काय मूल्याय न परा देयाम् न विक्रीणामि।'

यहाँ 'परा दा' धातु का अर्थ बेचना है। ❀

❀ ऋ० ४। २४। १०। में लिखा है, कि—दस गायें देकर मेरा यह इन्द्र कौन खरीदेगा। तथा वृत्रकी सेना को मारने के पश्चात् मेरे इन्द्र को लौटा दे।

(क मं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि जंघनदथैनं मेपुनर्ददत्)

इस प्रमाणसे सिद्ध है कि, वैदिक समयमें रामलीला की तरह इन्द्र-लीला भी होती थी, और उसमें वृत्र तथा उसकी सेना को मारा जाता था। उस लीला के लिए इन्द्र आदि की प्रतिमायें किराये पर लाई जाती थीं।

अतः स्पष्ट हो गया कि उस समय इन्द्र आदि देवताओं को बेचा जाता था। यह प्रथा आज भी भारत में प्रचलित है। जयपुर आदि में आज भी देवताओं की प्रतिमायें बना बना कर बेची जाती हैं तथा उनके जलूस आदि निकाले जाते हैं। शायद उस समय राजा लोग संग्राम में जाते समय अपने अपने देवताओं की प्रतिमाओं को भी रथों में बिठा कर साथ ले जाते थे, और अपनी विजय को अपने देवताओं की विजय कहते थे। यही देवों का विजय था। आज भी भक्त जन अपनी सफलता को अपने अपने उपास्य देवता की कृपा का फल मानते हैं। और यदि पराजय अथवा असफलता प्राप्त होती है, तो अपने भाग्य का दोष बताते हैं। उसी प्रकार उस समय भी इन्द्र आदि के भक्त-जन अपनी विजयों को तथा अपनी सफलताओं को अपने अपने कुल देवता की विजय और सफलता मानते थे।

अन्नादि देवता

वेदों में, अग्नि, इन्द्र, वरुण, आदि देवताओं की तरह ही अन्न, ऊखल, मूसल, आदि पदार्थों को भी देवता माना गया है, तथा उनका वर्णन भी अग्नि देवताओं की तरह ही किया गया है। यथा ऋग्वेद मं० १ का २८ वां सूक्त ऊखल और मूसल की स्तुति में ही लिखा गया है। इसके मन्त्र सात में ऊखल और मूसल को अन्न दाता आदि कहकर इनकी स्तुति की गई है। इसी प्रकार अन्न की स्तुति करते हुये वैदिक ऋषियों ने अन्नको ही सर्व देव मय माना है। ऋग्वेद मं० १ सूक्त, १८७ अन्न की ही स्तुति में लिखा गया है। उसके प्रथम मन्त्रों में ही लिखा है कि—

यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ १।१८७।१॥

अर्थात्—सर्वाधार बलात्मक अन्नदेव की शक्ति से ही त्रित

देव या इन्द्र ने वृत्र की सन्धियां काटकर उसका बध किया था।

इस प्रकार से यहां इन्द्र आदि देवों को अन्न के आधीन बताया गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि इन्द्र आदि देवता मनुष्य ही थे तथा अन्न से ही उनमें शक्ति का संचार होता था।

यही नहीं अपितु अन्न को साक्षात ब्रह्म भी कहा गया है—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् ॥
अन्नं न निन्द्यात् ॥

ये तैत्तिरीयोपनिषद् की श्रुतियां हैं। इनमें स्पष्टरूप से अन्नको ब्रह्म व सबका उत्पादक बताया गया है। तथाच ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्न के विषय में लिखा है कि—

अन्नं वै प्रजापतिः। श० ५। १। ३। ७
यत्तदन्नमेष स विष्णुर्देवता। श० ७। ५। १। २१
अन्नं वै पूषा। कौ० १२। ८
अन्नं वै कम्। ऐ० ६। २१।
तदन्नं वै विश्वं प्राणोमित्रम्। जै० ३०। ६। ३।
अन्नं वै श्रीविंराट्। गो० पू० ५। ४

अर्थात्—अन्न ही प्रजापति है। अन्न ही विष्णु देवता है। अन्न ही पूषा देवता है। अन्न ही सुख है। और अन्न ही विश्व प्राणरूप मित्र है। तथा अन्न ही श्रीः है और अन्न ही विराट पुरुष है। गीता में लिखा है कि—

यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्न संभवः।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि० गीता, ३। ४॥

तथा मनुस्मृति में भी लिखा है कि—

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अर्थात—यज्ञ से वर्षा होती है और वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। इस प्रकार से अन्न का प्रजापतित्व बताया गया है। यहां यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जो नित्य प्रति खाया जाता है, अर्थात गेहूं, चावल आदि अन्न को ही प्रजापति व ब्रह्म आदि कहा गया है। यदि इस पर भी किसी को संशय रह जाय तो उसका कर्तव्य है कि वह तैत्तरीयोपनिषद् के उपरोक्त प्रकरण का अध्ययन करे।

तथा च प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि—

अन्नं वै प्रजापति स्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १ । १४ ॥

अर्थात—अन्न ही प्रजापति है, उसी से यह वीर्य होता है। उस वीर्य से ही यह सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि इसी जो, चावल आदि अन्न को ही प्रजापति कहते हैं। अभिप्राय यह है कि—वैदिक साहित्य में इसी प्रकार गाय, बैल, घोड़ा, ऊखल, मूसल, अग्नि, जल, रथ; आदि सम्पूर्ण पदार्थों की स्तुति की गई है। उस समय इन सबको ईश्वर नहीं माना जाता था, और न ईश्वर की शक्तियां ही।

याज्ञिक आदि मत

अभिप्राय यह है, कि वैदिक समय में देवता विषयक चार मत मुख्य थे।

(१) याज्ञिक,—ये लोग मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं मानते थे। अपितु जादू, टोने की तरह मन्त्रों का व्यवहार करते थे। तथा ये लोग मानते थे, कि—इन मन्त्रोंके बलसे स्वर्गके देवगण यज्ञों में आते हैं, और यजमान आदि को फल प्रदान करते हैं।

(२) भौतिक,—ये लोग देवों को भौतिक अग्नि आदि ही मानते थे, तथा इनका एक साम्प्रदाय अग्नि आदि का एक एक अभिमानी चेतन देवता मानता था। जैसा कि वेदान्त दर्शन में आया है।

(३) ऐतिहासिक,—ये लोग अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं को ऐतिहासिक महापुरुष मानते थे।

(४) आध्यात्मिक,—ये इन्द्र आदिका वर्णन आलंकारिक रूप से आत्म शक्तियोंका वर्णन मानते हैं। निरुक्तकार, यास्क के समय तक इस मत का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। उस समय के सभी वैदिक ऋषियों के मत से वेदों में आध्यात्मिक मन्त्र अत्यन्त अल्पतम थे। निरुक्तकार के समय के पश्चात् तथा उपनिषदों के समयमें इस मत का अधिक प्रचार हुआ।

अवैदिक नवीन मत

उसके पश्चात् शनै-शनै नवीन मतों का आविष्कार हुआ। जैसे—

(१) अद्वैतवाद, सम्पूर्ण वैदिक देवों को एक ही सत्ता की शक्तियां अथवा रूपान्तर माना जाने लगा।

(२) द्वैतवाद, ईश्वर, जीव और प्रकृति की प्रथक प्रथक सत्ता का स्वीकार।

(३) इन दोनों के मिश्रण से 'द्वैताद्वैत' आदि अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हुए। ये सब अवैदिक हैं। ये लोग अपनी पुष्टि में पुरुष सूक्त आदि वैदिक सूक्तोंका प्रमाण देते हैं। अतः अब उन्हीं सूक्तोंका विवेचन किया जायेगा, ताकि पाठकगण सत्यासत्य का निर्णय कर सकें।

ॐकार स्वरूप

हम वैदिक देवता प्रकरणमें यह सिद्ध कर चुके हैं. कि—वैदिक देवोंमेंसे एक भी देव ऐसा नहीं है। जिसको वर्तमान ईश्वरका रूप दिया जा सके। वेदोंमें एकेश्वरवादके स्थान पर अनेक देवता वाद है। ※ तथा ये सब देव पूर्व समयमें भौतिक ही थे। पुनः उन नामोंसे मुक्तात्माओं व महात्माओं, एवं राजाओं, तथा विद्वानोंका भी वर्णन होने लगा, परन्तु वैदिक समयमें मानुषी बुद्धिने ईश्वरकी रचना नहीं की थी। यह सब सिद्ध होने पर भी अनेक विद्वानोंका कथन है, कि वैदिक साहित्यमें 'ॐ' शब्द ईश्वरका ही वाचक है। श्री स्वा० दयानन्दजीने भी सत्यार्थ प्रकाशमें इस शब्दकी ईश्वर परकी ही व्याख्याकी है। तथा इसको ईश्वरका मुख्यनाम माना है। अतः आवश्यक है कि वैदिक साहित्वमें 'ॐ' शब्दसे किस वस्तुका ग्रहण होता है, यह जाना जाये।

ओम् (ॐ) किं वा ओंकार

"यह शब्द "अ+उ+म्" इन तीन अक्षरोंसे बनता है, इनका अर्थ मांडूक्य-उपनिषद्में निम्न प्रकार दिया है—

※ इसीको 'पॉलीथीज़म' (बहुदेववाद) कहते हैं। प्रत्येक जातिमें प्रथम इसी का प्रचार होता है, तत्पश्चात् 'मॉनोथीज़म' (एकेश्वरवाद) का आविष्कार होता है।

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमकारोऽधि मात्रं पादा मात्रा मात्रश्च पादाअकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥ जागरित स्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ॥ ९ ॥

स्वप्न स्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभय-त्वाद्वा० ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा०॥११

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एव-मोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

(मांडूक्य-उपनि०)

"ॐकारकी चार मात्राएँ और आत्माके चार पाद परस्पर एक दूसरेसे संबंधित हैं। मात्राओंसे पाद और पादोंसे मात्रा अकार उकार और मकार परस्पर संबंधित हैं। अकार पहिली मात्रा है, इसका जागृति स्थान वैश्वानर रूप है। यह पहिली मात्रा (ॐकारमें) है। यह अकार सबमें आदि और सबमें व्याप्त है। दूसरी मात्रा उकार है, इसका स्वप्न स्थान है, और तैजस् स्वरूप है, यह उत्कर्षका हेतु होती है और उभय स्थानों-अर्थात् एक ओर जागृति और दूसरी ओर सुषुप्तिके साथ संबंध रखती है। मकार तीसरी मात्रा है, इसका सुषुप्ति स्थान और प्राज्ञ स्वरूप है, यह सबको नापता है, और एक हो जाता है। चतुर्थ मात्रासे जो दर्शाया जाता है, वह अव्यवहार्य, प्रपंच की शांति करने वाला शिव, अद्वैत है, इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है, जो यह जानता है; वह स्वयं आत्मामें ही प्रविष्ट होता है।"

"अ, उ, म्, अर्ध मात्रा" ये ओंकारके चार पाद हैं। और जागृत स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या ये चार अवस्थाएँ आत्माकी हैं।

ॐकार की चार मात्राओंसे उक्त चार अवस्थाएँ जानी जाती हैं, इसलिये ॐकार आत्माका वाचक है, यह उक्त वचनोंका तात्पर्य है। हरएक जीव जागृतिका अनुभव लेता है, स्वप्न और सुषुप्तिकी स्थिति भी देखता है। इन तीन अवस्थाओंका जो अनुभव लेता है, वह तीनों अवस्थाओंसे भिन्न है, अतः उसकी चतुर्थ (तुर्या) अवस्था है, और शुद्ध आत्माका वही स्वरूप है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिका अनुभव प्रतिदिन हरएक जीव लेता है, परन्तु तुर्यावस्थाका अनुभव आनेके लिये नाना प्रकारके योगादि साधन करना आवश्यक है।

समाधि-सुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता। (सांख्यदर्शन)

"समाधि, सुषुप्ति और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है।" यह दर्शनोंका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तका बोधक वाक्य उक्त उपनिषद्में (अपीतः) "एक हो जाता है" अर्थात् निःसंग, मुक्त हो जाता है; यह है।

इससे पाठकों को पता लगेगा, कि उक्त चार अवस्थाएँ जीवात्मा की हैं, हरएक जीवात्मा इन अवस्थाओंका अनुभव प्रति दिन लेता है, इसलिये इस विषयमें शंका ही नहीं हो सकती। जिस कारण इन चार अवस्थाओंके निदर्शक चार अक्षर ॐकारमें हैं, उस कारण ओंकार जीवात्माका वाचक है। इसमें कोई शंका नहीं हो सकती। अस्तु, इस प्रकार ॐकारका अर्थ जीवात्मा और परमात्मा (मुक्तात्मा) है, यह हमने देखा; तथापि अधिक दृढ़ताके लिये कुछ और भी वचन देखेंगे।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सं प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या भितप्ताया एतान्यक्षराणि सं प्रास्रवंत भूर्भुवस्वरिति ॥ २ ॥ तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यः ॐकारः सं प्रास्रवत्० ॥ ३ ॥ (छान्दो० उप० २।२३)

"प्रजापतिने तीनों लोकोंको तपाया, उन तपे हुए तीनों लोकों से तीन विद्याएँ निकल आयीं; फिर उन विद्याओंको तपाया, उन से भूः भुवः स्वः ये तीन अक्षर निर्माण हुए। फिर उनको तपाया उनसे ॐकार (अर्थात) अ, उ, म ये तीन अक्षर निर्माण हुए।"

अर्थात्—यह ॐकार सब लोकों और सब क्रियाओंका सार है। सब वेदोंका सत्व इसमें है।

इस प्रकार यह सारोंका सार किंवा तत्वोंका तत्व है। सत्का भी यह परम् सत् है। और इसका अर्थ मांडूक्य उपनिषद्में बताया ही है, कि यह जीवात्मा की तीन अवस्थाएँ बताकर चौथी असली अवस्था की ओर इशारा करता है। इतना होने पर भी किसीको शंका हो सकती है कि, ॐकारसे परब्रह्म परमात्माका ही बोध केवल हो सकता है। और किसी अन्य पदार्थका नहीं, उसको उचित है कि, वह प्रश्नोपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य देखे—

एतद्वै सत्य काम परं चापरं च ब्रह्म यद् ओंकारः० ॥
(प्रश्न० उप० ५।२)

"हे सत्यकाम! यह 'ॐकार' परब्रह्म (मुक्तात्मा) और अपर ब्रह्मका बद्धात्मा वाचक है।"

और उससे जीवात्माकी चार अवस्थायें (१) जागृति (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति और (४) तुर्या बतायी है। ॐकार

की महत्वपूर्ण विद्याका प्रत्यक्ष अनुभव करना हो तो इन चार अवस्थाओं का विचार करके आत्मानुभव करना चाहिए. इन चार अवस्थाओंमें भी तीन विनाशी हैं। और चतुर्थ अवस्था ही शुद्ध है. इस विषयमें प्रश्नोपनिषद्का कथन मननीय है—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः। (प्रश्न० उप० ५ । ६)

"ॐकारकी तीन मात्राएँ (अर्थात् अ+उ+म् ये तीन मात्राएँ) मरण धर्म वाली हैं. ये एक दूसरेके साथ मिली-जुली भी हैं।" तीनों अक्षरोंका मेल होनेसे ही "ॐ" शब्द बनता है और यह ॐ शब्द 'जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति के मिश्रित अनुभवका बोधक है। जागृतिमें स्वप्न और सुषुप्तिका भी अनुभव होता ही है। अर्थात् तीनों अवस्थाओंका मेल जागृतिमें होता है. स्वप्नका संबंध एक ओर जागृतिके साथ और दूसरी ओर सुषुप्तीके साथ होता है तथा सुषुप्ति-अवस्था उत्तम व्यतीत होगई, तो आगे जागृतिमें करनेके कार्य उत्तम हो सकते हैं. इत्यादि विचार करनेसे इन तीनों अवस्थाओंका एक दूसरेके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है, यह स्पष्ट हो जाता है. और यह घनिष्ठ संबंध व्यक्त करनेके लिये ही 'अ+उ+म" की मिश्रित ध्वनि "ॐ" बनाया गया है। उक्त अवस्थाओंमें आत्माका अभिन्न संबंध है। यह गुप्त बात इसप्रकार व्यक्तकी गई है। पाठक इसका विचार करें और जानें कि ॐकार किस प्रकार आत्माका वाचक है। और उसकी तीनों अवस्थाएँ मरण धर्म वाली होने पर भी वह तीनों अवस्थाओंका अनुभव करने वाला होनेके कारण कैसा अज और अमर है। अस्तु इस प्रकार ॐकार जीवात्माका वाचक निश्चित सिद्ध हुआ। यही ॐ शब्द यजुर्वेदके अन्तिम मन्त्रमें आ गया है—

ॐ खं ब्रह्म। (यजु० अ० ४०। १७)

"ॐ शब्दसे वाच्य (खं) आकाशरूप (ब्रह्म) ज्ञानपूर्ण ब्रह्म है" किं वा यहाँ ॐ शब्दका 'रक्षक" अर्थ भी हो सकता है। अर्थात् "रक्षक आकाश रूप ज्ञानपूर्ण ब्रह्म" है। यहाँ का ॐ शब्द और ब्रह्म शब्द भी परमात्मा वाचक और साथ - जीवात्मा वाचक होनेमें कोई शंका नहीं है। संपूर्ण ईशोपनिषद् दोनोंका वर्णन कर रहा है. और यहाँ ये तीनों शब्द दोनोंके वाचक हो सकते हैं। ब्रह्म शब्द 'पर और अपरब्रह्म" नामसे प्रश्नोपनिषद्‌में प्रयुक्त होनेसे जीवात्मा-परमात्माका दर्शक निःसंदेह है। इसके अतिरिक्त "ब्रह्म" शब्दका मूल अर्थ "ज्ञान" है। वेद मंत्रोंमें प्रायः यह "ब्रह्म" शब्द ज्ञान अर्थ में भी आता है। ज्ञान और चित् एक ही गुण है। जीवात्मा परमात्माका स्वरूप ज्ञानरूप किंवा चिद्रूप सुप्रसिद्ध है। जड़ प्रकृतिके आत्मतत्वका जो भेद है. वह इसी कारण है, इसलिये ज्ञान रूप होनेके कारण ब्रह्म शब्दका अर्थ जीवात्मा निःसंदेह है। इस प्रकार "ॐ और ब्रह्म" शब्दोंका अर्थ जीवात्म परक हुआ, अब रहा "खं" शब्द यह "आकाश" वाचक है।

'ख' (आकाश)

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः० ॥ ८ ॥

अयं वाव स योऽय मन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्ण० ।९।

(छांदोग्य० उप० ३।१२)

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशउभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अंतरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसा वुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चाऽस्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम् ॥३॥ (छांदोग्य० उप० ८।१)

"यही है वह हृदयके अंदरका आकाश"। "जितना आकाश वाहरके विश्वमें है, उतना ही गहरा आकाश हृदयके अन्दर है। और इस हृदयाकाशमें द्युलोक और पृथिवी लोक अन्दर ही अंदर समाये हैं; अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, नक्षत्र आदि सब जो कुछ हैं, वह सब इसमें समाया है।"

यह अन्दरके आकाशके विषयमें ऋषिओंका अनुभव है, ध्यान धारणा करने वाला मनुष्य इस बातका अनुभव स्वयं ले सकता है। मनुष्यके हृदयमें जो आकाश है, उसमें अंशरूपसे उतने ही तेजस्वी पदार्थ हैं, जो कि, वाह्य आकाशमें हैं। हृदयाकाशमें यह रहता है। वाहर सूर्यादि बड़े बड़े तेजस्वी तारे जैसे हैं, वैसे ही उन सबके अंशरूप प्रतिनिधि अपने अन्दर हृदयाकाशमें हैं। तात्पर्य आकाश जीवात्माके देहरूपी क्षेत्रमें भी है। तथा और देखिये—

य एव विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान मादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेतेतानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद् गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः।

(बृहदारण्य, उप० २।१।१७)

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते० ॥

(बृहदारण्य० उप० ४।२।२२)

"यह विज्ञान मय पुरुष आत्मा प्राणों (और इन्द्रियों) से विज्ञान प्राप्त कर हृदयके अन्दरके आकाशमें रहता है, तब उसको गाढ़ निद्रा होती है. उस समय प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि वहां ही उसके साथ रहते हैं।"

इन विचारों से स्पष्ट हो रहा है, कि जीवात्मा के रहने का स्थान यह हृदयाकाश है. उसमें यह रहता है. इसी का नाम "खं" है। अब यजुर्वेद का मन्त्र पाठकों को स्पष्ट हुआ होगा, और उनको पता लगा होगा कि, 'ओं खं ब्रह्म' ये तीनों शब्द जीवात्मा के विषय में देह में किस प्रकार घटते हैं। जब यह ज्ञान ठीक ठीक होगा, तब अपने आत्मा की शक्ति का ज्ञान भी होगा, और उस शक्ति के विकाश का मार्ग खुल जायगा। "वैदिक अध्यात्मविद्या" से यही लाभ है। यह विद्या अपनी आत्मिक शक्ति का विकाश करने का सीधा मार्ग बतलाती है और अपने अन्दर जो गुह्य शक्तियां गुप्त रूप से हैं, उनका भी सत्य ज्ञान प्रकट करती है।

ॐ—सुख

"ॐ" शब्द इस रीतिसे "आत्मा" किंवा जीवात्माका वाचक है। और यही आत्मा अमृत, प्रिय, सुखमय व आनन्दमय है, इसी लिये वेदमें "ओमान, ओमासः" ये शब्द कि जिनके अन्दर "ॐ" है, सुख विशेषके ही वाचक है, देखिये—

(१) ओमानं शंयोर्भमकाय सूनवेत्रिधातुशर्मवहतं शुभस्पती।
(ऋ० १।३४।६)

(२) तथा—ओमानमापोमानुषीरमृक्तं धाततो काय तनयाय शंयोः (ऋ० ६।५०।७)

(३) ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत।
(ऋ० १।३।७)

(१) "हे ! (शुभस्पती) कल्याणके स्वामियो ! (शं–योः) शांतिसे पूर्ण और (ओमानं) रक्षक सुखसे युक्त (त्रिधातु शर्म) ‡ कफ, पित्त, वातकी समतासे उत्पन्न होने वाला कल्याण मेरे पुत्रके लिये (वहतं) ला दीजिये।"

यह मंत्र "अश्विनौ" देवता का है, और अध्यात्ममें अश्विनौ का स्थान नासिका है, क्योंकि ये दो देव श्वास और उच्छ्वास ही हैं। यहाँ यह मन्त्र योग्य प्राणायाम द्वारा उत्तम आरोग्य प्राप्तिके यौगिक प्रयोगका सूचक है, और उसके सूचक शब्द "ओमानं, त्रिधातुशर्म" ये हैं।" ❀

क्योंकि माण्डूक्योपनिषद्में लिखा है कि—

सोऽयमात्माचतुष्पाद्। १। १

अर्थात्—यह आत्मा चार पाद (अवस्था) वाला है। तथा ॐ की तीन मात्राओंका कथन करते हुए लिखा है कि—

---

‡ वास्तवमें यहां त्रिधातुका, अर्थ, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र-रूप रत्नत्रय है।

❀ यह लेख पं० सातवलेकरजी रचित वैदिक अध्यात्म विद्या के आधार से लिखा है।

एक एव त्रिधास्मृतः।

अर्थात्—एक ही आत्माकी ये (बहिष्प्रज्ञः, अन्तः प्रज्ञः और प्रज्ञानघन) तीन अवस्थायें कही गई हैं। अभिप्राय यह है कि, 'ॐ' शब्द भी आत्माका ही वाचक है, ईश्वरका नहीं।

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तेजसः।
घन प्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥

अर्थात्—विभु, विश्व बहिः प्रज्ञ है, तेजस्, अन्त प्रज्ञ है, तथा प्रज्ञ घन प्रज्ञ है, प्रज्ञान घन है, इसी प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकारसे कहा गया है। यहाँ भी ॐ की तीन मात्राएँ हैं। अभिप्राय यह है, कि जहाँ कहा गया था कि—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । १ । १

उसके आगे ही कहा गया कि—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म ।
सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ॥ मा० । १ । २

अर्थात्—यह सब ब्रह्म है और यह आत्मा भी ब्रह्म है, और वह चतुष्पाद है। तथा च उसी आत्माका वर्णन ॐद्वारा किया है, ॐकी तीन मात्राएँ हैं, उन तीन मात्राओंसे आत्माकी अवस्थाओं का कथन है। उसीकी तीन अवस्थायें हैं।

बहिः प्रज्ञ, अन्तप्रज्ञ, तथा घन प्रज्ञ।

इसीको जैन परिभाषामें बहिरात्मा, अन्तरात्मा, व परमात्मा कहा गया है। तथा वेदान्तकी परिभाषाओंमें जीव,ईश्वर एवं ब्रह्म कहते हैं।

अतः यहाँ परमात्मा, अर्थात् मुक्तात्माका कथन है—

इसी आत्माके आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यानसे अथवा जागृत स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य (मोक्ष) भेदसे, इसको चतुष्पाद कहा है, तथा च संसारी और मुक्त भेदसे इसीके दो भेद किये हैं।

यथा—

द्वावेव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं च।

अर्थात्—मूर्त्त, संसारी और अमूर्त्त मुक्तात्मा। इसी मूर्तको बहिरात्मा कहा गया है।

स ओतः प्रोतः विभु प्रजासु।

यह विभु, बहिरात्मा संसारमें ओत प्रोत हो रहा है।

अर्थात—संसार रूप ही होरहा है। जिस प्रकार पानी और दूध एकमेक हो रहे हैं, उसी प्रकार यह आत्मा संसार-मग्न हो रहा है।

इसी बहिरात्माको गीतामें 'क्षर' तथा शुद्धात्माको "अक्षर" नामसे कहा गया है।

इसीको साम ब्रह्म तथा शबल ब्रह्म भी कहते हैं।

उसी आत्माको निश्चयनयकी दृष्टिसे, "एकं, शिवं, शान्तं, सत्यं शिवं सुन्दरम्" आदि शब्दोंसे कहा जाता है। अभिप्राय यह है, कि इस ॐकार द्वारा आत्माके तीनों रूपोंका कथन किया जाता है, इस ॐ में तीन मात्राएँ हैं।

'अ' से अजर, अमर, अभय, अजन्मा, अविकारी आदि शुद्धात्मा का ग्रहण होता है। अकार के उच्चारण में सम्पूर्ण मुख खुल जाता है, यह इस बातका द्योतक है कि, अकार वाच्य आत्मा-पूर्ण स्वतन्त्र अर्थात मुक्त है, अर्थात उस से मुक्त आत्मा का ग्रहण होता है, तथा उकार के उच्चारण में आधा मुख खुलता है। अतः

यह अर्ध बंधे हुये अंतरात्मा का द्योतक है, तथा च अनुस्वार के उच्चारण करते समय ओठ बिल्कुल बंद हो जाते हैं। अतः यह पूर्ण बंधन को प्रकाशित करता है, अतः यह बहिरात्मा है। इस लिए ॐकार से आत्मा के तीन रूपों का कथन किया गया है।

इस प्रकार कठोपनिषद् में आत्मा का प्रकरण होने से 'ॐ' शब्द द्वारा आत्मा का वर्णन है।

"न हन्यते हन्यमाने शरीरे" कठ० उ० २ । १८ ।

यहाँ स्पष्ट शरीर (आत्मा) का कथन है, जिसको बहिरात्मा कहा है।

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है, कि 'ॐ' शब्द भी वैदिक वांगमय में आत्मा का वाचक है। वर्तमान ईश्वर का नहीं।

श्रीमान् पं० भगवद्दत्तजीकी सम्मति

प्रजापति=पुरुष=ब्रह्म

"ब्राह्मणोंमें आत्माके वर्णनका संक्षेपसे उल्लेख कर दिया गया है, अब आत्माके भी अन्तरात्मा, परमात्माके विषयमें ब्राह्मण क्या कहते हैं, यह लिखा जाता है। वैदिक धर्म आस्तिक धर्म है। वैदिक ऋषि परमात्माके स्मरण किये बिना कोई काम आरम्भ ही न करते थे। परमात्माका निजनाम ॐ है। इस नाम की उन्होंने इतनी महिमा गाई है, कि यज्ञोंमें जहाँ मौन रहना पड़ता है, वहाँ किसी प्रश्नके उत्तरमें ॐ कह कर अपनी स्वीकारी जतानेकी प्रथा चलाई है। इसी ओम् से सब व्याहृतियाँ और उनसे सब वेदोंका प्रकट होना लिखा है। इसलिये इस तत्त्वका वर्णन करना भी अत्यावश्यक है।

ब्राह्मणोंमें साक्षात् ब्रह्मवादके कहने वाले अनेक मन्त्र भिन्न २ कर्मोंमें विनियुक्त किये गये हैं। अर्थ उनका चाहे और पदार्थोंमें भी घटे पर ब्रह्मपरक तो है ही। श० ३। ६। ३। ११। में कहा है—

अग्नेनय सुपथारायेऽस्मान्…। यजु० ४०। १७॥

अर्थात्—हे प्रकाश-स्वरूप-परमात्मन हमें भले मार्गसे मुक्तिके ऐश्वर्यके लिये ले चल।

अतः इस मन्त्रके इस प्रकरणमें आजानेसे यह निश्चित है कि ब्राह्मणों वाले ब्रह्मवादके मन्त्रोंका भी विनियोग अपने २ कर्मोंमें कर लेते थे। अब देखो, ब्राह्मण प्रजापति नामसे ब्रह्मका ही कथन करता है—

अष्टौवसवः। एकादशरुद्रा द्वादशादित्या इमेऽएव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंꣳशयो त्रयस्त्रिंꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंꣳशस्तदेनं प्रजापतिं करोत्येतद्वाऽअस्त्येतद्ध्यमृतं तद्ध्यस्त्येतदु तद्यन्मर्त्यंꣳस एष प्रजापतिः सर्वं वै प्रजापतिस्तदेनं प्रजापतिं करोति। श० ४। ५। ७। २॥

अर्थात्—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, यह भी दोनों द्यौ और पृथ्वी तेतीसवें हैं। तेतीस ही देव हैं। प्रजापति चौतीसवां है। तो इस (यजमान) को प्रजापतिका (जानने वाला) बनाता है। यही वह है जो अमृत है, और जो अमृत है, वही यह है। जो मरणधर्मा है, वह भी प्रजापति (का ही काम) है। सब कुछ प्रजापति है। तो इस (यजमान) को प्रजापति (का जानने वाला) बनाता है।

इसी भाव का विस्तार श० ११ । ६ । ३ । ५ । —१० । और श० १४ । ६ । ६ । ३—१० । में है। इन दोनों स्थानों में प्रजापति यज्ञ का वाची है। परन्तु इस अर्थ में यह ३३ देवों के अन्तर्गत है । ३४ वां देव ब्रह्म = परमात्मा है। वही ३४ वां देव पूर्वोक्त प्रमाण में प्रजापति है। तां ब्रा० १७ । ११ । ३ । में भी कहा है—

प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशो देवतानाम् ।

अर्थात्—देवताओंका प्रजापति चौतीसवां है।

तै० ब्रा० १ । ८ । ७ । १ । में भी कहा है—

त्रयस्त्रिंशद्वै देवताः । प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः ।

अर्थात्—तेंतीस देवता हैं। प्रजापति चौतीसवां है। फिर एक स्थलमें प्रजापति और पुरुष दोनों शब्द पर्याय रूपसे आये हैं। और ब्रह्म अर्थात् परमात्माके वाचक हैं—

सोऽयं पुरुषः प्रजापति रकामयत । भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स श्रान्तस्तेपानोब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याꣳसैवास्मै प्रतिष्ठा भवत्तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति । श० ६ । १ । १ । ८ ।

अर्थात्—वह जो यह (पूर्ण) पुरुष प्रजापति है, उसने कामना की। मैं बहुत अर्थात् महिमा वाला हो जाऊँ, प्रजा वाला होऊँ। उसने (जगतके परमाणुओंको क्रिया देनेका) श्रम किया उसने (ज्ञान रूप) तप तपा। उसके थकने पर (क्रियाका चक्कर चल पड़ने पर) और (ज्ञानरूप) तप होने पर ब्रह्म = वेद को उसने सबसे पहले उत्पन्न किया, इसी त्रयी विद्याको। वही उसकी प्रतिष्ठा है (अर्थात् आधार है। व्याहृतियों और वेद मन्त्रों परसे

सारा संसार फिर बना)। इसी लिये कहते हैं कि वेद सारे संसार का आधार है।

इसी प्रकार फिर प्रजापति नामसे परमात्माका वर्णन है।

प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत् । एक एव सोऽकामयत ।

(श० ६ । १ । ३ । १ ॥)

अर्थात्—प्रजापति परमात्मा ही इस (विकृति रूप संसार बनने से) पहले था। एक ही (वह था) उसने कामना की।

श०७। ४। १। १६—२०। में इसी प्रजापति परमात्माको मन्त्र की व्याख्या करते हुए हिरण्यगर्भ नामसे स्मरण किया है।

फिर अन्यत्र भी शतपथमें लिखा है—

प्रजापतिर्ह वाइदमग्रऽएक एवास । स ऐक्षत । २।२।४।१।

अर्थात्—प्रजापति परमात्मा ही इस (जगत् बननेसे पहले एक ही था) उसने (प्रकृतिमें) ईक्षण किया।

न वै प्रजापतिं सवनैराप्तुमर्हत्येकधैवैन माप्नोति नर्च-मन्वाह न यजुर्वदति न वै प्रजापतिं वाचाप्तुमर्हति मनसैवैन माप्नोति । का० सं० २६ । ६ ।

अर्थात्—प्रजापति = परमात्माको सवनोंसे प्राप्त नहीं कर सकता। एक ही प्रकारसे इसे प्राप्त करता है। ऋचा इसको नहीं कहता, यजु भी नहीं बोलता। प्रजापतिको वाणीसे भी प्राप्त नहीं कर सकता। मनसे ही उसे प्राप्त करता है। यह निःसन्देह परमात्माका वर्णन ही है। क्योंकि उपनिषदोंमें भी ऐसा ही लिखा है-

मनसैवेदमाप्तव्यम् । कठ० उप० ४ । ११ ।

अर्थात—मनसे ही यह (ब्रह्म) प्राप्त करना चाहिये।

मनसैवानुद्रष्टव्यम् । बृ० उप० ४ । ११ ।

अर्थात्—मन से ही (उस ब्रह्मको) देखना चाहिये ।

प्रजापतिर्वाऽअमृतः । श० ६ । ३ । ६ । १७ ।

अर्थात्—परमात्मा अमृत, अजन्मा, अनादि, अनन्त है । इसी प्रजापति परमात्माकी रची हुई यह विविध प्रकारकी सृष्टि है ।

समीक्षा.—ब्राह्मण ग्रंथों से भी वर्तमान ईश्वरको खोज निकालने में पं० भगवद्दत्त जी नितान्त असफल रहे हैं । जिन श्रुतिओं के अर्थोंमें आपने परमेश्वर का कथन किया है, वे ही श्रुतियाँ आप के सिद्धान्त का खंडन कर रही हैं । प्रथम तो आपने वे श्रुतियां लिखी हैं कि जिनमें प्रजापति को चौंतीसवां देवता माना है। आप कहते हैं कि यह चौंतीसवां देवता परमेश्वर है । परन्तु आपका यह कथन वैदिक वांगमय के सर्वथा विरुद्ध है । क्योंकि वैदिक साहित्य (जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं) में कहीं भी ईश्वरका कथन नहीं है । तथा यहां चौंतीसवाँ देवता आत्मा माना गया है । आपने यहां एक बात स्पष्ट करदी इसके लिये आपको धन्यवाद देते हैं ।

आपने यहां सिद्ध कर दिया कि;-आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य पृथिवी और द्यौ ये तेतीस देव परमेश्वर नहीं हैं, अपितु प्रजापति ही चौंतीसवां परमेश्वर है। अतः अब जो भाई, वसु, रुद्र, आदित्य आदि नामों का भी ईश्वर अर्थ करते हैं, यह उनकी भारी भूल है । वास्तव में तो चौंतीसवां देवता मानना ही अवैदिक है । क्योंकि मन्त्र संहिताओंमें कहीं भी चौंतीस देवोंका कथन नहीं है, अपितु तेतीस ही देवता माने गये हैं । यथा—

आना सत्या त्रिभिरेकादशैरिह । ऋ० १ । ३४ । ११

हे अश्विनो ! आप मधुपानके लिये ३३ देवोंके साथ आवें ।

तथा सू० ४५ के मन्त्र २ में भी ३३ देवोंका उल्लेख है। एवं—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्येकादशस्थ ।
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्।
ऋ० १ । १३९ । ११

यहाँ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गके ग्यारह ग्यारह देवता बताये गये हैं। अतः तीनों लोकोंके तेतीस देवता माने गये हैं।

इसी प्रकार तैत्तरीय संहिता (१।४।१।१०) में उपरोक्त प्रकारसे ही तीनों लोकोंके ११-११ देवता माने गये हैं। तथा ऐतरेय ब्राह्मण २। २८। में ११ प्रयाज, ११ अनुयाज, और ११ उपयाज इस प्रकार ३३ देवता माने हैं। ये असोमप देव हैं। तथा ३३ सोमप माने गये हैं।

त्रयस्त्रिंशद् वै सर्वा देवताः । कौ० ८ । ६ ।

तथा च तां० ब्राह्मण (६ । १ । ५) में तेतीस देवताओंमें ही प्रजापति गिना गया है। यहाँ, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, और प्रजापति और वषट्कारको मिलाकर ३३ देव पूरे किये गये हैं।

इसी प्रकार ऐतरेयमें भी—

त्रयस्त्रिंशद्—अष्टौवसवः, एकादशरुद्राः, द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट कारश्च । २ । १८ । ३७ ।

तथा गोपथमें वाक् और स्वरको मिलाकर ३३की गणना पूरी की गई हैं।

वाग् द्वात्रिंशी स्वरस्त्रयस्त्रिंशद् । गो० ३ । २ । १३ ।

अभिप्राय यह है कि—वैदिक साहित्यमें ३३ देवताओंका

अथवा तीन देवोंका सिद्धान्त मान्य है। यह ३४ वां देववाद की कल्पना है, फिर भी इसका अर्थ यहाँ यज्ञ आदि है। आपका कल्पित ईश्वर नहीं। आपने भी इसी स्थलमें लिखा है कि-"इन दोनों स्थलोंमें प्रजापति यज्ञका वाचक है" अतः सिद्ध है, कि यहाँ यज्ञ अर्थ है ईश्वर नहीं।

तथा आपके लिखे हुए मन्त्रमें भी लिखा है कि, (प्रजापतिं करोति) अर्थात्—यजमान प्रजापतिको बनाता है। तो क्या आपका ईश्वर भी बनाया जाता है। इसीलिये आपको 'प्रजापतिं करोति' का अर्थ 'प्रजापतिको जानने वाला बनाता हूँ' करना पड़ा जो कि बिलकुल ही मिथ्या है। परन्तु दुःख तो इस बातका है, कि फिर भी आप अपने मनोरथको पूर्ण करनेमें सर्वथा असफल रहे। क्योंकि आपके इस प्रमाणमें लिखा है कि—यह प्रजापति मरण धर्म्मा भी है। तो क्या आपका ईश्वर भी मरता रहता है! अतः आपको फिर यहाँ मिथ्या अर्थ करना पड़ा और आपने लिखा है कि-'जो मरन धर्म्मा है वह भी प्रजापति (का ही काम) है।' यहाँ आपने (का ही काम) यह शब्द अपनी तरफसे कोष्टकमें लिखकर अल्पज्ञोंमें भ्रम उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया है। अतः इस प्रकारके मिथ्या प्रयत्नोंसे किसीका मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकता है। आगे आपने लिखा है कि— वह जो यह पूर्ण पुरुष प्रजापति है उसने कामना की कि, मैं बहुत अर्थात् महिमा वाला हो जाऊँ प्रजा वाला होऊं, उसने जगतके परमाणुओंको क्रिया देनेका श्रम किया, उसने ज्ञानरूप तप किया उसके थकने पर (क्रियाका चक्कर चल पड़ने पर) और ज्ञानरूप तप होनेपर ब्रह्म =वेदको उसने सबसे पहले उत्पन्न किया इसी त्रयी विद्याको यही उसकी प्रतिष्ठा है अर्थात् आधार है। व्याहृतियों और वेद

मन्त्रों परसे सारा संसार फिर बना, इसीलिये कहते हैं कि वेद सारे संसारका आधार है।"

समीक्षा,—बहुत दिनोंसे एकाकी रहते रहते बेचारे ईश्वरका दिल घबरा गया था, इसी लिये उसने भारी परिश्रम और कठोर तप करके वेदोंका निर्माण कर ही डाला। यहाँ ईश्वर यह बताना भूल गया कि—ये वेद ईश्वरने किसीको पढ़ाये अथवा अपने आप ही पढ़े थे। क्योंकि अन्य शरीर धारी पढ़ने वाला तो उस समय था ही नहीं। तथा वेद मन्त्रोंसे सारा जगत बन गया, यह भी नया आविष्कार है। इसके लिये ईश्वरको नोबलप्राइज मिलना चाहिये। वास्तवमें इन ईश्वर वादियोंके यह इसी प्रकारके प्रयत्न हैं। भला इनसे कोई पूछेकि सबसे पहिले वेद उत्पन्न हुये यह कहाँ का सिद्धान्त है। क्या लेखक अथवा इनके अनुयायी अपने इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें एक भी प्रमाण वैदिक साहित्यमेंसे उपस्थित कर सकते हैं। यहाँ, ब्रह्म, के अर्थ, वेद करके ही यह अनर्थ किया है। वास्तवमें यहाँ प्रजापति, ब्रह्म, के अर्थ आत्माके हैं, जिसने इस शरीरको उत्पन्न किया है। इसको विस्तार पूर्वक यथा प्रकरण लिखेंगे। इसी प्रकार आपकी अन्य श्रुतियें भी आत्माका कथन करती हैं, आपके कपोल-कल्पित ईश्वरका नहीं। तथा 'ॐ' यह शब्द भी आत्माकी ही तीन अवस्थाओंको बतलाता है। जैसा कि—

माण्डूक्योपनिषद् आदि के अनेक प्रमाणोंसे हम सिद्ध कर चुके हैं। इसी प्रकार अग्नि शब्द भी वेदोंमें तथा ब्राह्मण आदिमें ईश्वर वाचक नहीं है। यह हम अग्नि देवता प्रकरणमें दिखा चुके हैं।

प्रजापति हिरण्यगर्भ आदि

अनेक विद्वानोंने प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष, परमेष्ठी आदि

शब्दोंसे ईश्वरका अर्थ या अभिप्राय निकाला है, अतः आवश्यक है, कि इस पर जरा विशेष विचार किया जाये। वेदोंके स्वाध्यायसे यह ज्ञात होता है कि, पहले ये प्रजापति आदि शब्द अन्य अग्नि आदि देवताओंके विशेषण मात्र थे। तत्पश्चात् कालान्तरमें यह एक मुख्य देवता माने जाने लगे।

तथा च अथर्ववेदमें लिखा है कि—

ये पुरुषे ब्रह्मविदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् । यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्। ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कंभ मनु सं विदुः ॥ १० । ७ । १७ ।

अर्थात्—जो ज्ञानी पुरुष शरीरमें ब्रह्म (आत्मा)को जानता है वह परमेष्ठी, (हिरण्यगर्भ) को जानता है। जो परमेष्ठीको जानता है, वह प्रजापतिको जानता है। वह ज्येष्ठ ब्रह्माको तथा स्कंभको जानता है। अभिप्राय यह है कि ये सब उस अन्तरात्मा के ही नाम या शक्तियाँ हैं। अतः आत्माको ही प्रजापति आदि कहते हैं। अथवा यहाँ प्रजापति आदि मन व बुद्धि आदिके नाम हैं। और आत्मा जिसका नाम यहाँ स्कंभ' है वह इनसे परे है। आगे इसी प्रकरणमें लिखा है कि—

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जनाविदुः।
स्कंभस्तदग्रे प्रासिंच द्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ।

श्रीमान् पं० राजारामजी इसका अर्थ करते हैं कि—'लोग हिरण्यगर्भको ही सबसे ऊँचा और वाणीकी पहुंचसे परे मानते

है, (तत्व यह है कि) कि उस हिरण्यगर्भ को पहले स्कंभने ही लोकके अन्दर डाला ।'

सारांश यह है कि—अथर्ववेदके समय अनेक नये देवताओंका आविष्कार हुआ था, उनमेंसे एक यह स्कंभ भी है। संभवतः यह शुद्धात्मभावका द्योतक है। तथा पुरातन प्रथाके अनुसार इस स्कंभ भक्तने भी स्कंभकी स्तुति करतेहुए अन्य सभी देवताओं को निकृष्ट बताया है। तथा च उसने कहा कि जो लोग हिरण्य-गर्भको परमात्मा आदि मानते हैं यह उनका भ्रममात्र है. वास्तव में स्कंभ ही सबसे बड़ा देव है, उसीने प्रजापति आदि सब देवोंकी रचना की है। यदि आत्मपरक अर्थ करें तो भी प्रजापति आदि वर्तमान ईश्वरका स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि उस अवस्था में प्रजापति, मनु आदि इन्द्रियोंके वाचक सिद्ध होंगे। अतः उप-रोक्त मन्त्रोंसे यह सिद्ध है कि प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नामोंसे वेदोंमें परमेश्वरका कथन नहीं है।

तथा च—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च । विश्वाधिपो रुद्रोमहर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् । सनो बुद्धया शुभया संयुनक्तुः ॥ श्वे० ३० । ४ ।

रुद्रकी स्तुति करते हुए ऋषिने कहा कि—रुद्र ही देवोंकी उत्पत्ति आदिका कारण है वही रुद्र महर्षि संसारका एक मात्र कारण है. उसीने प्रथम हिरण्य गर्भको उत्पन्न किया था। वह रुद्र हमको शुभ बुद्धिसे युक्त करे। यहाँ महर्षि विशेषण लगाकर रुद्रको भी मनुष्य सिद्ध किया गया है।

कालसे

कालोह ब्रह्म भूत्वाविभर्ति परमेष्ठिनम् ।

अथर्ववेद कां० १६।५३।६-१०

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् । स्वयंभू कश्यपः कालात् तपः कालाद् जायत ।

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपोदिशः ।

कालेनोदेति सूर्य काले निविशते पुनः ॥

अ० कां० १४ । १

अर्थ—कालभक्त कवि कहता है कि—काल ही ब्रह्म बनकर परमेष्ठीका भरणपोषण करता है। कालने ही प्रजाओंको उत्पन्न किया, उसीने प्रथम प्रजापतिको उत्पन्न किया, उसीने स्वयंभूको उसीने कश्यपको उत्पन्न किया, तथा कालसे ही तप उत्पन्न हुआ। तथा च कालसे जल उत्पन्न हुये, काल ही से ब्रह्म, तप, दिशायें, आदि सब संसार उत्पन्न हुआ। कालसे ही सूर्य उदय होता है। तथा उसीमें विलीन होजाता है।

अभिप्राय यह है कि जिन देवताओंको परमेश्वर बताया जाता है, उन सबकी उत्पत्ति यहाँ बताई गई है। अतः प्रजापति, ब्रह्म, परमेष्ठी, धाता, विधाता, आदि देव ईश्वरके बोधक नहीं हैं, क्योंकि ये सब उत्पन्न हुये हैं, और मरण धर्मा हैं।

तथा कोकिलेश्वर भट्टाचार्य; एम० ए० ने अपने' उपनिषद्के उपदेश' के खंड ३ में, वेदान्तभाष्यमेंसे एक पंक्ति उद्धृत की है, जिसका अर्थ है कि—"मनुष्य आदिमें (साधारण पुरुष में) तथा

हिरण्यगर्भ आदिमें, ज्ञान, ऐश्वर्य आदिकी अभिव्यक्ति की उत्तरो उत्तर विशेषता होती है। अर्थात् जैसे जैसे आत्माके आवरणों का क्षय होता है वैसे वैसे ही उसके ज्ञान आदिकी अभिव्यक्ति होती जाती है। यह अभिव्यक्ति हिरण्यगर्भ. प्रजापति आदिमें अधिक होती है।"

(तथा मनुष्यादि ष्वेव हिरण्यगर्भ पर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्या-द्यभि व्यक्तिःपरेण परेण भूयसी भवति। वे०भा०१।३।१०।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ये हिरण्य गर्भ मनुष्य शरीर धारी व्यक्ति विशेष है, परमेश्वर नहीं। तथा च

ब्रह्मादेवानां प्रथमः संबभूव। विश्वस्य कर्ता भुवनस्य-गोप्ता। मु० ३० । १ । १ ।

अर्थात्—सम्पूर्ण देवताओंसे पूर्व अथवा श्रेष्ठ. ब्रह्मा हुआ। वह इस जगतका स्रष्टा तथा पालन पोषण करता था। इस पर शंकराचार्यजी लिखते है कि—

"अस्य गोप्ता पालयितेति विशेषणं ब्रह्मणो विद्यास्तुतये"

अर्थात्—गोप्ता पालयिता विशेषण ब्रह्मा की विद्या स्तुति के लिए है। अर्थात् यह वास्तविक नहीं है। अपितु उसकी प्रशंसा मात्र है, अथवा उसने उपदेश द्वारा जगत की रचनाकी और उसका पालन-पोषण किया। तथा त्रिदेव-निर्णय में आर्य-समाज के प्रख्यात-वैदिक-विद्वान पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ लिखते हैं कि—"यहब्रह्मा ऋषि की प्रशंसा मात्र है। निःसंदेह विद्वान लोग अपनी विद्या से जगत के कर्ता गोप्ता होते हैं।" अतः स्पष्ट हैकि वेदोक्त, हिरण्यगर्भ, प्रजापति. ब्रह्मा पुरुष, आदि मनुष्य ही हैं, निराकार ईश्वर नहीं। तथा उनका सृष्टि कर्तृत्व कथन उनकी

मात्र है वास्तविक नहीं। अथवा उपदेश द्वारा सृष्टिके ज्ञान कराने को सृष्टि-सृजन कहा गया है।

तथा च महाभारत में लिखा है कि—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

शान्तिपर्व, अ० ३४९

'हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषः छन्दसि स्तुतः।'

अ० ३४२।

योगैः यं पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः। ९६।

अर्थात्—योगमार्ग के प्रथम प्रचारक हिरण्यगर्भ ऋषि हुए हैं। उनसे पुरातन अन्य नहीं। उनसे पूर्व योग-मार्ग प्रचलित नहीं था।

यह वही हिरण्यगर्भ ऋषि हैं जिनकी योगी लोग नित्य पूजा करतेहैं। तथा जो लोकमें विभु के नाम से प्रसिद्ध है। तथा जिनकी महिमाका वखान वेद करता है।

श्रीमद्भागवत स्कन्द ५।१९।१३ में भी इसी का समर्थन है। तथा वायुपुराण, ४। ७८ में भी उपरोक्त कथन ही है। उपरोक्त श्लोक में, "छन्दसि स्तुतः", और "सच लोके विभुः स्मृतः" ये दो पद बड़े महत्व के हैं। क्योंकि इनसे सिद्ध होगया है कि जिसको संसार विभु, परमात्मा आदि कहता है; तथा जिसकी हिरण्यगर्भ सूक्तमें अथवा प्रजापति आदिके नामसे वेदोंमें महिमा गाई गई है वह हिरण्यगर्भ ऋषि हैं। अर्थात्—इन नामोंसे वेदोंमें ईश्वरका कथन नहीं अपितु महापुरुषोंकी स्तुति है। तथा च जैन मुनि योगी शुभचन्द्राचार्यने अपने ज्ञानार्णवके आदिमें कहा है कि—

'योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ।'

यहां श्री ऋषभदेवजीको (जिनका नाम हिरण्यगर्भ भी है) योगका प्रवर्तक ही माना है। तथा च यही बात योगके अन्य ग्रन्थों में भी है। यथा—

श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोग-विद्या । हठयोगप्रदीपिका ।

यहां भी श्री आदिनाथ (ऋषभदेव) को ही योगका आदि प्रचारक माना है।

तथा अनेक योगके भाष्यकारोंने भी महाभारतके उपर्युक्त श्लोक उद्धृत करके यही सिद्ध किया है। अतः यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि हिरण्यगर्भ ऋषि हुये हैं; जिसका वर्णन वेदोंमें है। अमरकोषमें इनके निम्नलिखित नाम लिखे हैं।

ब्रह्मात्मभूः स्वरः श्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः ।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः ॥

अर्थात्—ब्रह्मा, आत्मभूः, स्वरःश्रेष्ठ, परमेष्ठी. पितामह हिरण्य-गर्भ, लोकेश, स्वयंभू, चतुरानन आदि प्रजापतिके नाम हैं।

वेदान्त मत में

श्री शंकर मतके अनुसार—

'अविद्योपाधिको जीवः, मायोपाधिक ईश्वरः ।'

अर्थात्—अविद्यायुक्त जीव और माया लिप्त ईश्वर है (माया-

विद्या रहित ब्रह्म) तथा माया और अविद्यासे रहित ब्रह्महै। स्वरूपतः ब्रह्म और जीवमें अभेदहै, जब जीवकी अविद्या नष्ट हो जाती है तो यही ईश्वर हो जाताहै। पुनः मायाके नष्ट होने पर ब्रह्म हो जाताहै। यहां भी ईश्वरका अर्थ जीवनमुक्तात्मा ही है *यही जगतकी रचना आदि करताहै।

प्रजापति और ब्राह्मण ग्रन्थ

उपरोक्त अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि–प्रजापति महापुरुषका नाम है। तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी यह शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यथा—

अग्नि—एषो वै प्रजापति यदग्निः। तै० १।१।५।५

हृदय—एष प्रजापतिर्यद्हृदयम्। शा० १४।८।४।१

मन—प्रजापति वैं मनः। कौ० १०।१।२६।३

वाक्—वाग् वै प्रजापतिः। श० ५।१।५।६

सम्वत्सर—स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः।

श० १४।४।३।१२

सविता—प्रजापति वैं सविता। तां० १६।५।१७

प्राण—प्राणः प्रजापतिः। शत० ८।४।१।४

अन्न—अन्नं वै प्रजापतिः। शत० ५।१।३।७

वायु—वायुरेव प्रजापतिस्तदुक्तमृषिणा पवमानः प्रजापतिरिति। ऐ० ४। २६

---

* ईश्वर का अर्थ जैन परिभाषामें भी तीर्थङ्कर है।

प्रणेता—प्रजापतिः प्रणेता । तै० २।५।७।३

भूत—प्रजापति वैं भूतः । तै० २।१।६।३

चन्द्रमा—प्रजापति वैं चन्द्रमा । शत० ६।१।३।१६॥

सोम—सोमो वै प्रजापति । श० ५।१।३।७

मनु—प्रजापति वैं मनुः । श० ६।६।१।१६

वसिष्ठ—प्रजापति वैं वसिष्ठः । कौ० २५।२

विश्वकर्मा—प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत् ।
ऐ० ४।२२

चाक्षुषपुरुष—यो वै चक्षुषि पुरुषः, एष प्रजापतिः ।
जै० उ० १।४३।१०

अथर्वा—अथर्वा वै प्रजापतिः । गो० पू० १।४

आत्मा—आत्मा वै प्रजापतिः । श० ४।५।६।२

पुरुषः—पुरुषः प्रजापतिः । श० ६।२।१।२३

भरत—प्रजापति वैं भरतः । यजुर्वेद० १२।३४

धाता—प्रजापति वैं धाता । श० ६।५।१।३८

जमदग्नि—प्रजापति वैं जमदग्निः । श० १३।२।२।१४

कः—को वै प्रजापतिः । गो० उ० ६।३

विप्रः—प्रजापति वैं विप्रो देवा विप्राः ।
श० ६।३।१।१६

तथा च यजुर्वेदमें है कि—

विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । ११।४

यहाँ भाष्यकार लिखते हैं कि—

"प्रजापतिर्विप्रः बृहद् विपश्चिदित्युच्यते ।"

अर्थात्—प्रजापति विप्रको विपश्चित् कहते हैं ।

अतः यहाँ विद्वान् ब्राह्मणका नाम प्रजापति है ।

क्षत्र—प्रजापति वै क्षत्रम् । श० ८।२।३।११

एक—प्रजापति वै एकः : तां० ३।८।१६।१

यहाँ एकका नाम प्रजापति है ।

तद् यदब्रवीत् (ब्रह्मा) प्रजापतेः प्रजा सृष्ट्वा पालयस्वेति, तस्मात्प्रजापतिरभवत् तत्प्रजापतेः प्रजापतित्वम् ।

गो० पू० १.४

सृष्टि रचकर ब्रह्माने प्रजापतिसे कहा कि इसका पालन करो, इससे वह प्रजापति हुआ यही प्रजापतिका प्रजापतित्व है । ब्रह्मा प्रजापतिका मन है ।

षोडशकला अथ य एतदन्तरे प्राणः संचरति स एव सप्तदश प्रजापतिः । श० १०।४।१।१७

षोडशकला प्राण (जो कि शरीरमें संचरित हैं) तथा सतरहवाँ प्रजापति, (आत्मा) है ।

प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि सृष्ट्वा रिरिचान इव मेने समृत्यो बिभयां चकार । श० १०।४।२।२

इन सब भूतों (इन्द्रियों) को रचकर प्रजापति (आत्मा) मृत्यु से भयभीत हुआ ।

यदरोदीत् (प्रजापतिः) तदनयोः द्यावापृथिव्योः रोदस्त्यम् । तै० २।२।६।४

द्यावा पृथिवीको बनाकर इसके गिरनेके भयसे प्रजापति रोया, क्योंकि प्रजापति रोया अतः इनका नाम रोदसी हुआ ।

(अथर्ववेद कां० ४ । १ । ४ में भी यही लिखा है)

यह सिद्ध है कि—वैदिक साहित्यमें (प्रजापति) इत्यादि शब्दोंका अर्थ वर्तमान ईश्वर नही है ।

अपितु वैदिक वांगमयमें उपरोक्त अर्थोंमें ही प्रजापति आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है ।

तथा च श्वेताश्वतर उपनिषदमें लिखा है कि—

"हिरण्यगर्भं पश्यतः जायमानम् । हिरण्यगर्भं जनयामासपूर्वम् ।"

अर्थात्—उत्पन्न होते हुये हिरण्यगर्भको देखो । तथा प्रथम हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया ।

लिंग शरीर

यजुर्वेद, अ० २७ मन्त्र २५ के भाष्यमें, आचार्य उवट व महीधरने "हिरण्य गर्भके अर्थ 'लिंग-शरीर' किये हैं । इससे वैदिक साहित्यमें जितने भी सृष्टि, उत्पत्ति विषयक कथन हैं उन सबका रहस्य प्रकट हो जाता है । हम इसको वहीं विस्तार पूर्वक लिखेंगे ।

विराट पुरुष

गोपथ ब्राह्मणके पूर्वभागके ५।८ में लिखा है कि—

(सपुरुषमेधेनेष्ट्वा विराट् इति नाम धत्त)

अर्थात उस यजमानने पुरुषमेध यज्ञ करके 'विराट' उपाधि अथवा पदको प्राप्त किया। पुरुष-सूक्तमें भी पुरुषमेध यज्ञका कथन है तथा उसमें लिखा है कि—(ततो विराट जायत) अर्थात् उस पुरुषमेध यज्ञसे विराट उत्पन्न हुआ। उसी विराट पुरुषसे यहां सृष्टि उत्पत्तिका वर्णन है। अतः गोपथ-ब्राह्मणके मतसे जिस यजमानने विराट पद्वी प्राप्त की है, उसकी यह स्तुति है। मीमांसकोंके शब्दोंमें यही अर्थवाद कहलाताहै। अभिप्राय यह है कि यहां सृष्टि उत्पत्तिका कथन नहीं है; अपितु महापुरुषोंकी प्रशंसा मात्र है।

यहां ता प्रजापतिने सृष्टि उत्पन्नकी. इसका अर्थ है उसका व्यवहार बताया। तथा आलङ्कारिक कथन भी है। जिसको आज जानना असम्भव नही तो कठिन तो अवश्य है।

हिरण्यगर्भ आदि

हिरण्य गर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु, विरिंचिरित चाप्यजः॥
महानात्मा मतिविष्णु, शंभुश्च वीर्यवान् तथा।
बुद्धि प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्याति धृतिः स्मृतिः॥
पर्याय वाचकोः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते।

महाभारत, अनुगीता अ० २६

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवता मयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्य जायत ॥

कठ० उप० २।१।७

इसका भाष्य करते हुये श्री शंकराचार्यजीने लिखा है—

"प्राणेण" हिरण्यगर्भ रूपेण"

अर्थात् जो देवता मयी अदिति प्राणरूप (हिरण्यगर्भ रूप) से प्रकट होतीहै तथा जो बुद्धि रूप गुहामें प्रविष्ट हो कर रहने वाली और भूतों (इन्द्रियों) के साथ ही उत्पन्न हुई है उसे देखो निश्चय यही वह तत्वहै। यहां प्राणका नाम हिरण्यगभ है।

तथा ऊपरके श्लोकोंमें बुद्धि आदिका नाम हिरण्यगर्भ है।

धाता, विधाता, दो स्त्रियां हैं

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च कृष्णाः सिताश्च तंतवस्ते । रात्र्यहनी यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ते ॥ १६६ ॥ महाभा० आदि० अ० ३

धाता और विधाता ये दो स्त्रियांहैं. श्वेत और काले धागे दिन और रात्रिका समयहै, बारह आरों वाला चक्र जो छै कुमारों द्वारा घुमाया जाताहै. वह सम्वतसर चक्रहै।

यहां ऐसा कहा गयाहै कि "धाता और विधाता" ये दो स्त्रियां हैं. और मन्त्रोंमें ऊषा और नक्ता' ये दो स्त्रियां होनेका वर्णन है। इस विषयमें यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऊषः काल और 'सायंकाल' का ही दूसरा नाम क्रमशः 'धाता और विधाता' है।

पं० सातवलेकरजी लिखित महाभारतकी समालोचना, प्रथम भाग, पृ० ५० उपरोक्त लेखसे स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक साहित्य में 'धाता और विधाता' शब्दके अर्थ रात्री और दिनके हैं। अतः

"सूर्याचन्द्र मसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्"

इस श्रुतिका यह अर्थ हुआ कि, ऊषाने सूर्य को और रात्री ने चंद्रमाको उत्पन्न किया। यह अर्थ युक्ति युक्त तथा वैदिक पद्धति के अनुकूल भी है।

हिरण्यगर्भ

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥१॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।३।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥

येनद्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।५।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम।६।

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ततो देवानां समवर्तता सुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम।८

मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मो जजान यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्यामपतयोरयीणाम्।१०।

१—सबसे पहले केवल परमात्मा व हिरण्यगर्भ थे। उत्पन्न होने पर वह सारे प्राणियोंके अद्वितीय अधीश्वरथे। उन्होंने इस पृथ्वी और आकाशको अपने-अपने स्थानोंमें स्थापित किया। उन "क" नाम वाले प्रजापति देवता की हम हविके द्वारा पूजा करेंगे अथवा हम हव्यके द्वारा किस देवता की पूजा करें।

२—जिन प्रजापतिने जीवात्माको दिया है, बल दिया है. जिन की आज्ञा सारे देवता मानतेहैं जिनकी छाया अमृत-रूपणि है, और जिनके वशमें मृत्युहै उन"क" नाम वाले···

३—जो अपनी महिमासे दर्शनेन्द्रिय और गति शक्ति वाले जीवोंके अद्वितीय राजा हुए हैं; और जो इन द्विपदों और चतुष्पदों के प्रभु हैं, उन "क" नाम वाले···

४—जिनकी महिमासे ये सब हिमाच्छन्न पर्वत उत्पन्न हुए हैं,

जिनकी सृष्टि यह स सागरा धरित्री कही जाती है और जिनकी भुजाएँ ये सारी दिशाएँ हैं, उन "क" नाम वाले···]

५—जिन्होंने इस उन्नत आकाश और पृथिवीको अपने-अपने स्थानों पर दृढ़रूपसे स्थापित किया है, जिन्होंने स्वर्ग और आदित्यको रोक रक्खा है; और जो अन्तरिक्षमें जलके निर्माता हैं। उन "क" नाम वाले···

६—जिनके द्वारा द्यौ और पृथिवी, शब्दायमान होकर, स्तम्भित और उल्लसित हुए थे; और दीप्तिशील द्यौ और पृथिवीने जिन्हें महिमान्वित समझा था। तथा जिनके आश्रयसे सूर्य उगते और प्रकाश करते हैं, उन "क" नाम वाले···

७—प्रचुर जल सारे भुवनको आच्छन्न किये हुए था। जलने गर्भ धारण करके अग्नि वा आकाश आदि सबको उत्पन्न किया। इससे देवोंके प्राण, वायु उत्पन्न हुए। उन "क" नाम वाले···

८—बल धारण करके जिस समय जलने अग्निको उत्पन्न किया, उस समय जिन्होंने अपनी महिमासे उस जलके ऊपर चारों ओर निरीक्षण किया तथा जो देवोंमें अद्वितीय देवता हुए, उन "क" नाम वाले···

९—जो पृथिवीके जन्मदाता हैं, जिनकी धारण-क्षमता सत्य है, जिन्होंने आकाशको जन्म दिया और जिन्होंने आनन्दवर्द्धक तथा प्रचुर परिमाणमें जल उत्पन्न किया, वह हमें नहीं मारें। उन "क" नाम वाले···

१०—प्रजापति तुम्हारे अतिरिक्त और कोई इन समस्त उत्पन्न वस्तुओंको अधीन करके नहीं रख सकता। जिस अभि-

लाषासे हम तुम्हारा हवन करते हैं, वह हमें मिले। हम धनाधिपति हों।"

हिरण्यगर्भ रहस्य—"सृष्टिकी आदिमें एक हिरण्यगर्भ था। यह हिरण्यगर्भ और कुछ नहीं, एक परम विशाल 'नीहारिका' था जो अपने अक्ष पर बड़ी तेजीसे घूमता था। जिस प्रकार आतिशबाजी की घूमती हुई अग्निकी चिनगारियाँ टूट टूट कर निकलती हैं। और उसी चरखीके आस-पास घूमने लगती हैं, उसी प्रकार उस घूमते हुये आदि हिरण्यगर्भमेंसे किरोड़ों सूर्य टूट टूट कर निकले और उसीके आस पास घूमने लगे और फिर इसी विधिसे प्रत्येक सूर्यसे और और टुकड़े होकर उनके सौर चक्र बने। हमारा सौर चक्र (अर्थात् सूर्यके साथ आठों-ग्रहों आदिका झुंड) शौरी नामक एक बहुत बड़े सूर्यकी ओर बड़ी तीव्रगतिसे भागा चला जा रहा है।" (कल्याणके शिवांकसे।)

तथा पं० जयदेवजी विद्यालंकारने यजुर्वेद अ० १३ में इस मन्त्रके भाष्यमें लिखा है कि—

"राष्ट्रके पक्षमें—(हिरण्यगर्भः) सुवर्णकोश का ग्रहण करने वाला उसका स्वामी समस्त राष्ट्रके उत्पन्न प्राणियोंका एक मात्र पालक है। वही (पृथिवीम्) पृथिवीस्थ नारियों और (द्याम्) और सूर्यके समान पुरुषोंको भी पालता है। उसी प्रजापति राजा की हम (हविषा) अन्न और आज्ञा पालन द्वारा सेवा करें।"

यहां हिरण्यगर्भके अर्थ सुवर्णमय कोशके स्वामी, राजा, किया है। तथा 'पृथिवी' और 'द्याम' के जो विलक्षण अर्थ किये हैं, उसकी समालोचना करके हम व्यर्थ समय नहीं खोना चाहते। तथा अथर्ववेद कां० १०में केन सूक्त है उसमें निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है।

तस्मिन् हिरण्ये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते । तस्मिन्यद्यक्ष-मात्मन् वत्तद्वै ब्रह्म विदो विदुः ॥ ३२ ॥

उस तीन अरों वाले, तीन सहारों वाले, सुनहरी कोशमें जो आत्मा (मन) सहित यक्ष निवास करता है उसको आत्मज्ञानी ही जानते हैं। पं० सातवलेकरजीने 'वेदपरिचय' के तीसरे भागमें इस सूक्तकी सुन्दर व्याख्याकी है। यहाँ आत्माका तथा उसके शरीरस्थ कोशोंका मनोरम वर्णन है । पं० जी लिखते हैं कि— "इनमें जो हृदयकोश है, उस कोशमें "आत्मन्वतयक्ष" रहता है, इस यक्षको ब्रह्म ज्ञानी ही जानते हैं। यही यक्ष केनोपनिषद्में है और देवी भागवतकी कथामें भी है। यह यक्ष ही सबका प्रेरक है यह "आत्मवान्यक्ष" है । यह सब इन्द्रियों और प्राणोंको प्रेरणा करके सबसे कार्य कराता है। यह अन्य देवोंका अधिदेव है, शरीरमें जो देवोंके अंश हैं उन सब देवोंको नियंत्रण करने वाला यही आत्मदेव है। यही आत्माराम है। इस रामकी यह दिव्य-नगरी अयोध्या नामसे सुप्रसिद्ध है।" यही मण्डुकोपनिषद्में है।

हिरण्मये परेकोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो विदुः । २।२।६

वह निर्मल और कलाहीन ब्रह्म (आत्मा) हिरण्मय ज्योतिर्मय (बुद्धि विज्ञान प्रकाशे) इति श्री शंकराचार्य—

अर्थात्—बुद्धिरूपी विज्ञानमय कोशमें विद्यमान है॥ वह आत्मा शुद्ध और सब ज्योतियोंमें एक सर्व श्रेष्ठ ज्योति है। उसे आत्मज्ञानी ही जानते हैं । इस प्रकार वैदिक साहित्यमें हिरण्य-गर्भ, हिरण्यकोश आदि शब्दों द्वारा आत्माका वर्णन किया गया है।

श्री हीरेन्द्रनाथदत्तने वेदान्त रहस्यमें इस कोशका वर्णन निम्न प्रकार किया है।

ब्रह्मपुर

देह को पुर कहते हैं और पुरमें रहनेसे देही जीवको पुरुष कहते हैं।

पुरिवसति शेते वा पुरुषः

गीताने 'नवद्वारेपुरेदेही' श्लोकमें देहरूपपुरमें देहीके रहनेका उल्लेख किया है। देहरूप पुरके-आँखें, कान, मुँह, प्रभृति नव दरवाजे हैं। इसीसे उपनिषद्ने कहा है:—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। श्वेत ३।१८

जीव रूप हंस इस नवद्वार के पुरमें क्रीड़ा करता है ब्रह्मरन्ध्र और नाभिरन्ध्र को कहीं देह-पुरका ग्यारहवाँ दरवाजा कहा गया है।

पुरमेकादशद्वारं अजस्यावक्रचेतसः। कठ० ५।१।१

केवल मनुष्य रूप जीवके रहनेका घर ही पुर नहीं है; बल्कि पशु, पक्षी कीट, पतंग सब प्रकारके जीवोंकी देहको पुर कहा गया है।

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्॥

बृह० २,५।१८

ब्रह्माने द्विपदका पुर बनाया और उसने पक्षी बन कर पुरमें प्रवेश किया। पुरुषका अर्थ है नर-नारी। पक्षी, इतर प्राणियों

पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादिका उपलक्षण है। इस पुर-प्रवेशका वर्णन ऐतरेय उपनिषद्में इस तरह है—

सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्या मूर्च्छयत्। तमभ्यतपत्। तस्याभि तप्तस्यमुखं निरभिद्यत। नासिके निरभिद्येतां अक्षिणी निरभिद्येतां कर्णौ निरभिद्येतां त्वङ् निरभिद्यत हृदय निरभिद्यत नाभिर्निरभिद्यत शिश्नं निरभिद्यत। ऐतरेय १।२-४

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वानासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापोरेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशत्। ऐतरेय २।४

स ईक्षत कथं न्विदं मद्दते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदम दर्शमिति। ऐत० ३।११-१३

उस (परमात्मा) ने जलसे पुरुषमूर्ति उद्धृत करके उसे संमूर्छित कर दिया—उसे अभितप्त किया। उस अभितप्त मूर्तिका मुख निर्भिन्न होगया. नाक निर्भिन्न होगई. कान निर्भिन्न होगये, त्वचा निर्भिन्न होगई, हृदय निर्भिन्न होगया, नाभि निर्भिन्न हो गई, शिश्न निर्भिन्न होगया। तब इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंने उस मूर्तिमें प्रवेश किया। वाक् इन्द्रियके रूपमें अग्निने मुखमें प्रवेश किया। प्राणरूपसे वायुने नासिकामें प्रवेश किया। चक्षुरूप

से सूर्यने आँखोंमें, वनस्पतियोंने लोम-रूपसे त्वचामें प्रवेश किया। चन्द्रमाने मनरूपसे हृदयमें प्रवेश किया, मृत्युने अपान-रूपसे, प्रवेश किया. जलने रेतरूपसे शिश्नमें प्रवेश किया, तब परमात्माने देखा कि बिना मेरे यह देह किस तरह रह सकती है? वह सोचने लगा कि मैं प्रवेश किस तरह करूँ। वह इस सीमा (मस्तक) को चीरकर, उसी द्वार होकर, प्रविष्ट होगया। उस द्वारका नाम विद्रति (ब्रह्मरन्ध्र) है। उससे उक्तपुरुषने ब्रह्मको (शरीरमें) स्थित देख लिया।

इस विवरण से मालूम हो जायगा कि ब्रह्म ही जीव रूप से पुर में प्रवेश करता है। वह पुर का स्वामी है। इसके द्वारा जीव और ईश्वर तात्विक ऐक्य प्रतिपन्न होता है इस संबध में गीता ने साफ साफ कह दिया है कि जीव ब्रह्म का ही अंश है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता १५।७

सनातन जीव ब्रह्म का ही अंश है।

गीता में अन्यत्र कहा गया है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्व्वभूताशयस्थितः। गीता १०।२०

हे अर्जुन! सबभूतों की बुद्धि में स्थित आत्मा(जीव) मैं ही (भगवान) हूँ।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। गीता १३.२

हे अर्जुन! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे (आत्मा को) जानना।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्त- शरीरस्थं तान् विद्यासुर निश्चयान्॥

गीता १७.६

जो लोग आसुरिक साधक हैं; शरीर के भूतग्राम (इन्द्रिय समूह) को और शरीरस्थ इस आत्माको क्लेस देते हैं। यहाँ पर 'भूत ग्राम' शब्द इन्द्रिय समूहके लिये ही प्रयुक्त हुआ है। अतः भूतोंका अर्थ इन्द्रियाँ करना युक्तियुक्त है। इसलिये वैदिक साहित्य में जहाँ जहाँ पंच भूतोंकी उत्पत्तिका कथन है वहाँ वहाँ पाँच इन्द्रियोंकी उत्पत्तिसे अभिप्राय समझना चाहिये।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

गीता १३।२२

इस देहमें परमपुरुष परमात्मा महेश्वर विराजमान है, जो साक्षी अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता भी है। यहाँ जीवको ही परमात्मा, व महेश्वर आदि कहा गया है।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षरात् विविधाः सोम्यभावाः* प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥ मुण्डक २।१।१

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मनः सर्व्वे प्राणाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे देवाः सर्व्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। (बृह० २।१।२०)

---

* यहाँ भाष्यकारोंने 'भावाः' शब्दका अर्थ जीव ही किया है। इससे सिद्ध है कि वैदिक साहित्यमें विचारोंको भी जीव कहते हैं। अतः जहाँ जहाँ ब्रह्मसे जीवोंकी उत्पत्तिका वर्णन है वहाँ वहाँ आत्मासे भावोंकी उत्पत्तिका वर्णन है।

जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से एक ही सी हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष (ब्रह्मसे) विविध विचार उत्पन्न होते हैं और उसीमें विलीन होजाते हैं।

जिस प्रकार अग्निसे छोटी २ चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार उस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब देवता और सब भूत (इन्द्रियाँ) निकलते हैं।

यह जीव देहरूप पुरमें रहता है। इसीसे तो हृदयका नाम हृद् अयं है।

स वा एष आत्मा हृदि । तस्य एतदेव निरुक्तम् । हृदि अयमिति । तस्मात् हृदयम् । छान्दोग्य, ८।३।३

वह आत्मा हृदयमें विराजमान है। उस की निरुक्ति ऐसी ही है। वह हृदय में है, इसी लिये हृदयको हृद् अयं कहते हैं।

गीतामें भी श्रीकृष्णने बारम्बार यही उपदेश दिया है—

हृदि सर्व्वस्य । धिष्ठितम् । गीता १३ । १७
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः । गीता १५ । १५
ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्जु तिष्ठति । गीता १८।६१

वह सबके हृदयमें अधिष्ठित है, सबके हृदयमें सन्निविष्ट है और सब भूतोंके हृदयमें विराजमान है।

इस हृदयको उपनिषदने स्थान स्थान पर गुहा कहा है—

गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम् ।

कहीं कहीं पर इसका नाम पुण्डरीक अथवा हृत्पद्म है—

हृत्पद्मकोशे विलसत् तडित्प्रभम् । (भागवत)

पद्मकोश प्रतीकाशं सुषिरञ्चाप्यधोमुखम् ।
हृदयं तद्विजानीयाद् विश्वस्यायतनं महत् ॥

ब्रह्मोपनिषद् ,४०

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्यमध्ये विशदं विशोकम् । कैवल्य १।५

पद्मकोश प्रतीकाशं हृद्यं चाप्यधोमुखम् । नारायण १२।१

ततो रक्तोत्पलाभासं पुरुषायतनं महत् ।
दहरं पुण्डरीकं तद्वेदान्तेषु निगद्यते ॥ छुरिका १०

उस हृत्पद्मको थियासफिस्ट लोग Auric bady कहते हैं। यही जीवका चरमकोश है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

साधारण जीवोंके जिन पाँच कोषों का उल्लेख पाया जाता है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—वह कोष उनके भीतर भी है। इसीसे इसे परकोष कहा गया है। यह ज्योतिर्मय, विद्युत्की भांति चमकीला है। इसीलिये इसे हिरण्मय कहा गया है। इस कोशको लक्ष्य करके नारायण उपनिषद्ने इस प्रकार कहा है।

नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
नीवारशूकवत् तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥

यह कोश बहुत ही सूक्ष्म, नये उपजे धानके अगले भागकी

तरह और बिजलीकी तरह चमकीला है इसीमें जीवात्माका निवास है।

तस्याः शिखाया मध्ये तु परमात्मा व्यवस्थितः।

मैत्रायणी उपनिषद्में यही बात लिखी है—

हृद्याकाशमयं कोशं आनन्दं परमालयम्। मैत्र० ६।७

नारायण उपनिषद्का भी यही उपदेश है।

दहं विपापं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्।
तत्रापि दहं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्॥
१३। ३

अर्थात्—देहरूप पुरमें एक बहुतसी सूक्ष्म पुण्डरीक विराजमान है। उस पुण्डरीकमें जो परम देवता शोकतीत, पापहीन, गगन सदृश अधिष्ठित है उसकी उपासना करनी चाहिये।

यह पर-देवता ही ब्रह्म है और इसीलिए देहको ब्रह्मपुर कहते हैं। इस सम्बन्धमें छान्दोग्यउपनिषद्का यह उपदेश है—

अथ यदिदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन् अन्तर् आकाशः। तस्मिन् यदन्तः तद् अन्वेष्टव्यम् तद् विजिज्ञासितव्यम्। छान्दोग्य, ८।१।१

इस ब्रह्मपुर (देह) में क्षुद्र पुण्डरीक रूप एक घर है; वहाँ छोटासा अन्तर आकाश है। उसके जो भीतर है उसका अन्वेषण अनुसंधान करना चाहिये। तो यह अन्तराकाश क्या चीज है? श्री शंकराचार्य इसी आकाशको ब्रह्म कहते हैं। इस आकाशके सम्बन्धमें छान्दोग्य उपनिषद् कहता है—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्व्वं तदस्मिन् समाहितम् इति। छा० ८।१।३

वह अन्तर-हृदयका आकाश इसी आकाशकी तरह वृहत् है। स्वर्ग, मर्त्य, अग्नि, वायु चन्द्र, सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र-जो कुछ हैं; और जो नहीं हैं—सब उसीके अन्तर्गत है।

अन्यत्र देहको देवालय कहा है—

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।

मैत्रयी २।१

देहको इस लिए देवालय कहते हैं कि यहाँ पर सदाशिव अधिष्ठित है। देह जिस देवताका आलय है वे देव स्वयं भगवान हैं। उपनिषद्में उनका केवल देव शब्द द्वारा अनेक स्थानों पर निर्देश किया गया है। वह द्युतिमान् देवता है, ज्योतिका ज्योति है, इसीसे उसका नाम देव (दिव द्योतने) है। वह (ज्ञानसे) सर्वव्यापी हैं और सारे जगत्में अनुस्यूत है; इसीसे वह देव (दिव व्याप्तौ) है। इसलिये उसका एक नाम विष्णु (वैवष्टि इति विष्णुः) है। श्वेताश्वतर उपनिषद्का कथन है—

उपरोक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि—हिरण्यगर्भ, परमात्मा, महेश्वर, सब नाम इसी जीवात्माके हैं, तथा इस जीवके प्राण आदिकी रचनाको ही हिरण्यगर्भकी सृष्टि रचना कहा जाता है।

—:o:—

पुरुष सूक्त

—:※:—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्य तिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतमृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥ २ ॥

एता वानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहा भवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमि मथोपुरः ॥ ५ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जात मग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्यांश्च ये ॥ ८ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्य जुस्तस्मादजायत ॥ ६ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्यते ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू उदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्र श्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत । १३ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन्॥१४॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

१—अर्थ—विराट्पुरुष सहस्र (अनन्त , शिरों अनन्त चक्षुओं और अनन्त चरणों वाले हैं । वह भूमि (ब्रह्माण्ड) को चारों ओरसे व्याप्त करके और दश अंगुलि-परिमाण

अधिक होकर अर्थात् ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त होकर अवस्थित हैं।

२—जो कुछ हुआ है और जो कुछ होने वाला है, सो सब ईश्वर (पुरुष) ही हैं। वह देवत्वके स्वामी हैं; क्यों कि प्राणियों के भोग्यके निमित्त अपनी कारणावस्था को छोड़ कर जगदवस्था को प्राप्त करते हैं।

३—यह सारा ब्रह्माण्ड उनकी महिमा है—वह तो स्वयं अपनी महिमासे भी बड़े हैं। इन पुरुषका एक पाद (अंश) ही यह ब्रह्माण्ड है—इनके अविनाशी तीन पाद तो दिव्य लोक में हैं।

४—तीन पादों वाले पुरुष ऊपर (दिव्य धाममें) उठे और उनका एक पाद यहाँ रहा। अनन्तर वह भोजन-सहित और भोजन-रहित (चेतन और अचेतन) वस्तुओंमें विविध रूपों से व्याप्त हुये।

५—उन आदि पुरुषसे विराट (ब्रह्माण्ड-देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड-देहका आश्रय कर के जीव-रूपसे पुरुष उत्पन्न हुए। वह देव-मनुष्यादि-रूप हुए। उन्होंने भूमि बनाई और जीवों के शरीर (पुरः) बनाये।

६—जिस समय पुरुष-रूप मानस हविसे देवों ने मानसिक यज्ञ किया, उस समय यज्ञ में बसन्त-रूप घृत हुआ ग्रीष्म-रूप काष्ठ हुआ और शरद् हव्य-रूपसे कल्पित हुआ।

७—जो सबसे प्रथम उत्पन्न हुए, उन्हीं (यज्ञ-साधक पुरुष) को यज्ञीय-पशु-रूपसे मानस यज्ञमें दिया गया। उन पुरुषके द्वारा देवों-साध्यों (प्रजापति आदि) और ऋषियोंने यज्ञ किया।

८—जिस यज्ञमें सर्वात्मक पुरुषका हवन होता है, उस मानस

यज्ञसे दधि मिश्रित घृत आदि उत्पन्न हुए। उससे वायु देवता वाले वन्य (हरिण आदि) और ग्राम्य (कुक्कुर) आदि उत्पन्न हुए।

९—सर्वात्मक पुरुषके होमसे युक्त उस यज्ञसे ऋक् और साम उत्पन्न हुए। उससे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए और उसीसे यजुः की भी उत्पत्ति हुई।

१०—उस यज्ञसे अश्व और अन्य नीचे-ऊपर दाँतों वाले पशु उत्पन्न हुए। गौ, अज और मेष भी उत्पन्न हुए।

११—जो विराट् पुरुष उत्पन्न किए गये, वह कितने प्रकारोंसे उत्पन्न किये गये? इनके मुख, दो हाथ, दो उरू और दो चरण कौन हुए।

१२—इनका मुख ब्राह्मण हुआ, दोनों बाहुओंसे क्षत्रिय बनाया गया, दोनों उरुओं (जघनों) से वैश्य हुआ और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ।

१३—पुरुषके मनसे चन्द्रमा, नेत्रसे सूर्य, मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायु उत्पन्न हुए।

१४—पुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्ष, शिरसे द्यौ (स्वर्ग) चरणों से भूमि श्रोत्रसे दिशाएँ आदि बनाये गये।

१५—प्रजापतिके प्राणादि-रूप देवोंने मानसिक यज्ञके सम्पादन-कालमें जिस समय पुरुषरूप पशुको बाँधा उस समय सात परिधियाँ (ऐष्टिक और आहवनीयकी तीन और उत्तर वेदीकी तीन वेदियाँ तथा एक आदित्य वेदी आदि सात परिधियाँ वा सात छन्द) बनायीं गयीं और इक्कीस (बारह मास, पाँच ऋतुएँ तीन लोक और आदित्य) यज्ञीय काष्ठ वा समिधाएँ बनायीं गई।

१६—देवोंने यज्ञ (मानसिक-संकल्प) के द्वारा जो यज्ञ किया वा पुरुषका पूजन किया, उससे जगत रूप विकारोंके धारक और

मुख्य धर्म हुए। जिस स्वर्गमें प्राचीन साध्य (देव जाति विशेष) और देवता हैं उसे उपासक महात्मा लोग पाते हैं। ऋ० १०।९०

श्री० सायणाचार्यके मतसे यह विराट पुरुष, राष्ट्र है आप लिखते हैं कि—

"सर्व प्राणी समष्टि रूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यः पुरुषः सोयं सहस्रशीर्षा"

अर्थात्—सर्व प्राणी समष्टिरूप ब्रह्माण्ड देह वाला यह विराट नामक पुरुष सहस्रशीर्षा है। इसीका नाम राष्ट्रपुरुष है।

समाज

अथर्ववेदके भाष्यमें इसी सूक्तका भाष्य करते हुए पं० जयदेवजी विद्यालंकार लिखते हैं कि—

"किसी प्रजापतिके शरीरके मुख आदि अवयवोंसे बालकके समान ब्राह्मण आदि वर्णोंके उत्पन्न होनेका मत असंभव होनेसे अप्रमाणित है। यह केवल समाजरूप प्रजापति पुरुष जिसकी हजारों आँखे और पैरों आदिका प्रथम मन्त्रमें वर्णन किया है उसके ही समाजमय शरीरके अंगोंका वर्णन किया गया है।"

राजा

यजुर्वेदके भाष्य अ० ३१ में इन्हीं मन्त्रोंका अर्थ राजा परक भी किया है। आपने लिखा है कि—

"※ (सहस्र०) वह राजारूप पुरुष, हजारों शिरों वाला, हजारों आंखों वाला, हजारों पैरों वाला है।"

इसी प्रकार सम्पूर्ण मन्त्रोंके अर्थ राजा, व राजसभा, परक किये हैं। तथा च सामवेदमें; एवं अथर्ववेदमें आपने इन मन्त्रोंके अर्थ जीवात्मा परक भी किये हैं। अतः यहां ईश्वरका कथन इन विद्वानोंको भी सन्देहास्पद है। तथा च भारतीय ईश्वरवादमें, पाण्डेय रामावतार शर्म्मा लिखते हैं कि—

"ऋग्वेदके पुरुष व नासदीय सूक्त विद्वानों द्वारा सांख्यमतके मूल कहे गये हैं। और वेदान्ती भी वेदान्तके मूलमें उन सूक्तोंको स्वीकार करते हैं।"

※ (१) मूर्त (२) अमूर्त, (द्वा वेव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवा। मूर्तं च मर्त्यं चामृतं च) इस श्रुतिके दो अर्थ किये गये हैं एक अधिदैवत दूसरे अध्यात्म अधिदैवतमें आकाश और वायु को ब्रह्म (पुरुष) कहा गया है और उन्हींको अमूर्त और अमृत, आदि कहा गया है। तथा श्री शंकराचार्यने अपने भाष्यमें लिखा है कि—"पक्ष पुच्छादि विशिष्ट स्यैव लिंगस्य पुरुष शब्द दर्शनात्"। अर्थात् तैत्तिरीय श्रुति में लिंग शरीर को ही पुरुष कहा गया है। तथा च यहाँ एक श्रुति को भी उद्धृत किया गया है (न वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजाः प्रजनयितु मिमान् सप्त पुरुषा नेकं पुरुषं करवामेति त एतान् सप्त पुरुषानेकं पुरुषम कुर्वन। अर्थात्, "इस प्रकार हम पृथक २ रहते हुए प्रजा उत्पन्न नहीं कर सकते अतः इन सात पुरुषोंको (श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक, और मनको) हम एक करदें। ऐसा विचार कर उन्होंने इन सात पुरुषोंको एक कर दिया।" यहां स्पष्ट रूपसे इन्द्रियोंका और मनका ही नाम पुरुष कह कर अन्य कल्पित अर्थोंका खंडन कर दिया है। अतः यह सिद्ध है कि वैदिक साहित्य में पुरुष शब्द वायु आदिके लिये तथा इन्द्रियों व मन अथवा जीवात्माके लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

यह निश्चित है कि सांख्यवादी विद्वान पुरुषको कर्ता नहीं मानते तथा ईश्वरका वे प्रबल युक्तियोंसे खंडन करते हैं। यही अवस्था मीमांसा दर्शनकी है। जैमुनि ऋषिके मतसे भी वेदों में सृष्टि कर्त्ता ईश्वरका कथन नहीं है।

उनके मतमें यह कथन केवल यजमान व देवताकी स्तुति मात्र है। तथा च वेद परिचयमें पं० सातवलेकरजी लिखते हैं कि—

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्ध्वं छतं ते प्राणा सह स्रं व्यानाः।
यजु० १७।७१

"इस मन्त्रका सहस्राक्ष अग्नि आत्मा है। शतक्रतु, इन्द्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मा वाचक ही हैं। सहस्रातेजों का धारण करने वाला आत्मा ही सहस्राक्ष अग्नि है।

प्राण, उदान, व्यान आदि सब प्राण सैकड़ों प्रकारकेहैं। प्राण का स्थान शरीरमें निश्चित है। हृदयमें प्राण है, गुदाके प्रान्त में अपान है, नाभिस्थानमें समान है, और कंठमें उदान है, और सब शरीरमें व्यान है प्रत्येक स्थानमें छोटे २ भेद सहस्रों हैं।"

इसी लिये जीवात्माको 'सहस्राक्ष' आदि कहा गया है। तथा च ब्राह्मण ग्रन्थोंमें लिखा है कि—

आत्मा हि एवं प्रजापतिः। शत० ४।६।१।१

इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों पर भी इसी आत्माको प्रजापति कहा है इसी प्रकार, हिरण्यगर्भ, ब्रह्म, पुरुष, विश्वकर्मा आदि सब नाम आत्माके ही हैं। तथा च, ऋ० ३० (२।३।) में पुरुष (ब्रह्म) के दो रूपोंका वर्णन है।

मुण्डकोपनिषद्

एतस्माज्जायते प्राणो मनो सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

तस्मादग्निः समिधोयस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजा पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

यस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षा यज्ञाश्चसर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। सम्वत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः, साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि प्राणापानौ व्रीहि यवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्ताचर्षिः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका ये प्रचरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

अर्थ—इस जीवात्मासे, प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, तथा आकाश, वायु, जल, पृथिवी, आदि उत्पन्न हुये इस आत्माका

अग्नि मस्तक है, चन्द्र व सूर्य नेत्र हैं. दिशायें कान हैं, और वाणी इसकी वेद हैं।

इस आत्माका वायु, प्राण है; सम्पूर्ण विश्व इसका हृदय है, उसी आत्माके चरणोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई. यह आत्मदेव सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है।

उसी आत्मासे सूर्य जिसकी समिधा है ऐसा अग्नि उत्पन्न हुआ. सोम (चन्द्रमा) से मेघ और मेघसे पृथिवी पर औषधियाँ उत्पन्न हुई। पुरुष स्त्रीमें (औषधियोंसे उत्पन्न हुआ) वीर्य सींचता है. इस प्रकार आत्मासे ही यह प्रजा उत्पन्न हुई है।

इसी आत्मासे, वेद, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान, लोक आदि उत्पन्न हुये हैं।

उसीसे देवता व साध्यगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान आदि उत्पन्न हुये हैं।

उसी आत्मासे, सप्तप्राण, (मस्तकस्थसात इन्द्रियाँ) उत्पन्न हुये। आत्मासे ही उनकी सात ज्योतियाँ, सात समिधा (विषय) सप्तहोम (विषय ज्ञान) और जिनमें वे संचार करते हैं वे सात स्थान प्रकट हुए हैं। प्रति देहमें स्थापित ये सात ७ पदार्थ इस जीवात्मासे ही उत्पन्न हुये हैं।

इस प्रकार उपनिषदोंमें आत्माकी स्तुति की गई है। ये श्रुतियां पुरुष सूक्तके अनुवाद स्वरूप हैं। अतः यह सिद्ध है कि पुरुष सूक्तमें भी इसी आत्माकी स्तुति है न कि किसी काल्पनिक ईश्वरका कथन। उपरोक्त श्रुतिका अर्थ सभी विद्वानोंने जीव परक किया है अतः यह प्रकरण जीवका है यह निर्विवाद है यथा—

मनोमयः प्राण शरीर नेता प्रतिष्ठितोऽन्तेहृदयं सन्निधाय।
तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्
विभाति ॥ २।२।७

अर्थ—यह आत्मा मनोमय (ज्ञानमय) है, प्राण और शरीर का नेता है, हृदयमें स्थित है तथा अन्नमें प्रतिष्ठित है धीर लोग शास्त्र द्वारा उसे जानते हैं। अतः यह सिद्ध है कि यह आत्मा का प्रकरण और वर्णन है।

पुरुष सूक्तकी अन्तः साक्षी

भाष्यकारो ने इस पुरुषसूक्तके अनेक परस्पर विरोधी अर्थ किये हैं, अतः हम उनसे किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। इसलिये आवश्यक है कि हम इसकी अन्तः परीक्षा करें। जब हम इसकी अन्तः परीक्षा करते हैं तो हमे स्पष्ट विदित हो जाता है कि यहां वर्तमान ईश्वरका संकेत भी नहीं है। क्योंकि निम्न लिखित मन्त्र इस कल्पनाका उच्चस्वरसे विरोध कर रहे हैं। यथा—

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रमें ही आया है कि—

'अतिष्ठद् दशांगुलम्'

अर्थात् यह पुरुष दशाँगुल ऊपर ठहरा है। इसका अर्थ करते हुये, महीधर व उव्वट आदि सभी प्राचीन भाष्यकारोंने लिखा है कि

"दश च तानि अंगुलानि, इन्द्रियाणि, तथा च केचिद् दशांगुल प्रमाणं हृदयस्थानम्। अपरेतु नासिकाग्रं दशांगुलमिति।"

अर्थात् दश अंगुलिका अर्थ यहां दस इन्द्रियां हैं, उन इन्द्रियों से परे आत्मा है।

तथा अन्य ऋषियोंका मत है कि—दशांगुल हृदय स्थान है, उसमें अथवा उससे परे यह आत्मा है।

एवं कई ऋषियोंका मत है कि दशांगुलसे अभिप्राय यहां नासिका अग्रभागसे है। वहाँ ध्यान करनेसे यह आत्मा प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ जीवात्माका कथन है।

तथा च—उपनिषद्में है कि—

पुरमेकादश द्वारमजस्यावक्र चेतस०। कठ० उ० २।१

अर्थात्—यह शरीररूपी पुर (नगर) ग्यारह दरवाजों वाला है। इस पुरका स्वामी (आत्मा) दस दरवाजोंको लांघ कर रहता है। अभिप्राय यह है कि उपनिषद्कार ऋषिने उपरोक्त मन्त्रके ही भावको व्यक्त किया है। इसी प्रकार अथर्ववेदमें भी—

"अष्टा चक्रा नव द्वारा"

से इस आत्माके नगरका वर्णन किया है।

सायणाचार्य

सर्व वेद भाष्यकार सायणाचार्यने अथर्ववेदमें आये हुए इस सूक्तके आत्मपरक अर्थ भी किये हैं।

आप लिखते हैं कि—

"अत्रदशांगुल शब्देन हृदयाकाशम् उच्यते, तद् अत्यतिष्ठत्। पूर्वं हृदयाकाशे परिच्छिन्न स्वरूपः सन् स्वानुष्ठित क्रतु सामर्थ्यात् परिच्छिन्नाकारतां परित्यज्य सर्वाति शायि स्वरूपोऽभवद् इत्यर्थः।"

अर्थ—"यह पुरुष पहले हृदयाकाशमें स्थित परिच्छिन्न रूप वाला था, पुनः अपने अनुष्ठित यज्ञ द्वारा सर्वाति शायिरूप वाला होगया।"

अभिप्राय यह है कि यह आत्मा अपने तप आदिसे मुक्त हो गया, उसी मुक्त आत्मा परमात्माका यह पुरुष नामसे वर्णन है। यह तो हुआ परमेश्वर परक अर्थ तथा जीवात्मा परक अर्थ भी इसके किये हैं। जिसका उल्लेख हम अगले मन्त्रोंके अभिप्रायोंमें लिखेंगे।

पुरुष शब्दका उपरोक्त अर्थ ही उपनिषदोंमें किया है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं।

अतः स्पष्ट है कि यहाँ परमेश्वर, पुरुष, आदिका अर्थ मुक्तात्मा है।

तथा च यह वर्णन संसारी आत्माका भी माना जाता है। ये दोनों ही अर्थ हमें अभिष्ट हैं। तथा च जो विद्वान् इसका अर्थ काल्पनिक ईश्वर परक अर्थ करतेहैं वे सब प्राचीन मर्यादाके विरुद्ध होनेसे त्याज्य हैं। यह तो हुआ प्रथम मन्त्रका अर्थ—अब इसका दूसरा मन्त्र लीजिये।

मन्त्र २—में लिखा है कि—

"यदन्नेनाति रोहति"

यह पुरुष अन्नसे बढ़ता है।

अतः स्पष्ट है कि यह अन्नसे बढ़ने वाला ईश्वर नहीं हो सकता। अतः स्वा० दयानन्दजी इसका अर्थ करते हैं कि—

"(यत् अन्नेन) पृथिव्यादिना (अति रोहति) अत्यन्तं वर्धते।"

भावार्थमें लिखा है कि—"जो पृथिवी आदिके सम्बन्धसे अत्यन्त बढ़ता है।"

संस्कृतमें तो अन्नसे अत्यन्त बढ़ना है, यह पुरुषके साथ सम्बन्धित था किन्तु भाषाकारोंने आरोहति क्रियाका कर्ता जगत को बना दिया। जो कुछ भी हो यह बात पं० सातवलेकरजीको खटकी अतः उन्होंने इसका अर्थ किया है कि—"यत् जो अमर पन (अन्नेन) अन्नके द्वारा (प्राप्त होने वाले सुखसे) (अति-रोहति) बहुत ही ऊपर ऊँचा है।"

तथा च यहाँ (प्राप्त होने वाले सुखसे) इस पदका अध्या-हार भी किया गया है। तथा च सूक्तके भाष्यमें एवं आगे सूक्तके आशयमें, शंकरमतके (अद्वैत) की पुष्टि की गई है। (वेद-परिचय) भाग, २।

पं० जयदेवजी विद्यालंकारने सामवेद भाष्यमें लिखा है कि—

"वही अमरजीव इस संसारका स्वामी है जो अन्नद्वारा कर्म फल भोगके द्वारा (अतिरोहति) मूलकारणसे कार्यको उत्पन्न करता है। अर्थात् संसारको उत्पन्न करता है।" आपने 'आरो-हति' का अर्थ उत्पन्न करना है करके पहलेकी सम्पूर्ण भूलोंको सुधारनेका प्रयत्न किया है।

तथा सामवेद भाष्यमें, पं० तुलसीरामजीने लिखा है कि—

"(यत्) (अन्नेन) प्राणिनां भोग्येन (अति रोहति) जीवति तस्य (उत) अमृत (तस्य) मोक्षस्य (ईशानः) अधिष्ठातापि स एव।"

भाषामें लिखा है कि—"जो कुछ अन्नसे उपजता है उसका और मोक्षका अधिष्ठाता परमात्मा ही है।"

संस्कृतमें था—

'प्राणिनां भोग्येन जीवति'

अर्थात्—प्राणियोंके भोग्यसे जीता है।

उसीको भाषामें लिखा है "जो कुछ अन्नसे उत्पन्न होता है।" यह भेद क्यों किया गया है यह उनकी दिवंगत आत्मा ही जानती होगी।

सायणाचार्य—

"अन्नेन प्राणिनां भोग्येन निमित्तेनाति रोहति स्वकीयां कारणावस्थामति क्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति"

अर्थात—प्राणियोंके भोग्यके निमित्तसे स्वकीय कारण अवस्थाको त्यागकर यह पुरुष स्थूल जगद्वस्थाको प्राप्त होता है। प्राणियोंके कर्मफलके देनेके लिये उसने कार्य अवस्था ग्रहण की है परन्तु इसकी यह अपनी निज अवस्था नहीं है।

महीधर—ने सायणाचार्यकी नकल मात्र की है।

उवट—आपने लिखा है कि—

"यत् अन्नेन अमृतेन, अति रोहति अति रोधं करोति"

अर्थात्—आपने अन्न का अर्थ अमृत किया है तथा अति रोहतिका अर्थ अतिरोध किया है।

अभिप्राय यह है कि जितने भाष्य उतने ही अर्थ। परन्तु दुःखसे लिखना पड़ता है कि ये सब भाष्यकार केवल अन्धेरेमें पत्थर फेंक रहे हैं।

वास्तविक अर्थ

तपसा चीयते ब्रह्म ततो अन्नमभि जायते। अन्नात्प्राणो-मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ मु० १।१।८

अर्थात्—यह आत्मा तपसे कुछ फूलसा जाता है। पुनः उससे अन्न उत्पन्न होताहै;और अन्नसे प्राण, मन, सत्यलोक; और कर्म आदि उत्पन्न होते हैं। तथा कर्मसे अमृतनामक कर्मफल (देवयोनि) प्राप्त होता है।

यही इस पुरुषका अन्नसे बढ़ना है। यहाँ अन्नका अभिप्राय कारण प्राणसे है जिसको भाव प्राण कहते हैं। उससे—

अन्यप्राण, मन, सत्यलोक, आदि सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियाँ तथा स्थूल प्राण उत्पन्न होते हैं। तथा च—

स वा एष महानज आत्मान्नादो वसु दानो विन्दते वसु य एवं वेद। बृ० उ० ४। ४। २४

अर्थात्—यह महान आत्मा, अन्न भर्त्ता; और कर्मफल देने वाला है। जो ऐसा जानता है उसे सम्पूर्ण कर्मोका फल प्राप्त होता है।

मूलमें 'वसु दान' शब्द है जिसका अर्थ धन दाता होता है, परन्तु श्री शंकराचार्य एवं श्री रामानुजाचार्य आदिने इसके अर्थ कर्मफल दाता किये हैं; अतः हमें कुछ आपत्ति नहीं है। और जो भाष्यकारोंने यहाँ कर्मफलदाता अर्थ करके ईश्वर परक अर्थ किया है वह सर्वथा भ्रममात्र है। क्योंकि वैदिक वांगमयमें कहीं भी कर्म फलके लिये ईश्वरकी आवश्यक्ता नहीं मानी गई है। तथा उपरोक्त श्रुतिमें भी इस आत्माको अन्नाद अर्थात् अन्न खानेवाला कहा है

यहाँ सभी भाष्यकारोंने यही अर्थ किया है। अतः यह अन्नाद्-जीव, ईश्वर नहीं है। वास्तवमें तो यहाँ वसु शब्दके अर्थ अष्टकर्म ही सुसंगत हैं। कर्मोंका फल आत्मा स्वयं किस प्रकार देता है इसका वर्णन हम उसी प्रकरणमें करेंगे। तथा च वेदान्तसूत्रोंसे जो ईश्वर फल प्रदाता निकाला जाता है यह भी ठीक नहीं है। इसका भी विस्तारपूर्वक विवेचन वहीं होगा।

अन्नाद् वै प्रजायन्ते······अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते।···

स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तै० उ० २। २। १

अर्थात्—अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है फिर वह अन्नसे ही जीती है। अन्नसे ही प्राणि उत्पन्न होते हैं, तथा अन्नसे ही बढ़ते हैं। इस अन्नरसमय पिण्डसे, उसके भीतर रहने वाला दूसरा शरीर प्राणमय है। उसके द्वारा यह (अन्नमय कोश) परिपूर्ण है। अन्नमय कोशकी पुरुषाकारताके अनुसार ही यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है। आदि। इस प्राणमयकोशसे अन्नमय कोशकी रचनाका नाम ही पुरुषकी सृष्टि रचना कहलाती है। यह सम्पूर्ण कार्य अन्नसे ही होते हैं अतः इसीको 'अन्नेन अति रोहति' श्रुतिमें अन्नसे बढ़ता है, यह कहा है।

मन्त्र तीसरा—

"एतावानस्य महिमा"

इस मन्त्रमें कहा है कि इस पुरुषके चार पाद हैं, इसके एक पादमें सम्पूर्ण संसार है, तथा तीन पाद द्युलोकमें अमर हैं। यहाँ भी इसी आत्माकी चार अवस्थाओंका वर्णन है जैसा कि हम

'ॐ' की व्याख्यामें लिख चुके हैं। अर्थात् वहिष्प्रज्ञ, अन्त-प्रज्ञ, और प्रज्ञानघन, ये तीन मात्रायें ॐ की तथा चतुर्थ मात्रा इनसे ऊपर जिसको तुरीय अवस्था कहते हैं, वह आत्माकी शुद्धावस्था है। इस आत्माकी प्रथम अवस्थामें ही सब संसार है।

इसीको वहिरात्माव संसारी कहते हैं। इसकी अन्य अवस्थाओं में संसारका नाश हो जाता है।

अर्थात्—यह संसारसे विरक्त होजाता है। यही मन्त्र छा० उ० ३।१२।६ में भी आया है। वहाँ श्री शंकराचार्य लिखतेहैं कि—

"पुरुषः सर्व पूर्णात् पुरिशयनाच्च।"

अर्थात्—सबको पूर्ण करनेसे व पुर (शरीर) में शयन करने से यह पुरुष है। तथा च यजुर्वेदभाष्यमें 'उवट' लिखते हैं कि—

"त्रयोंशाः अस्य पुरुषस्य अमृतम् ऋग्यजुः सामलक्षणम् आदित्य लक्षणं वा दिवि द्योतते इति।"

अर्थात्—इस पुरुषके तीन अंश (ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, लक्षण वाले, अथवा सूर्यरूप) द्युलोकमें है। इसी प्रकार अन्य भाष्यकारोंने भी अनेक कल्पनायें की हैं। परन्तु छान्दोग्य उपनिषद्ने इसे स्पष्ट कर दिया है। यथा—

यद् वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद् यदिदमस्मिन्न अन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदाषड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ॥५॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ६ ॥

अर्थ—जो भी इस पुरुषमें शरीर है वह यही है जो इस अन्तः पुरुषमें हृदय है, क्योंकि इसीमें प्राण प्रतिष्ठित हैं, और इसीका अतिक्रमण नहीं करते। यह गायत्री चार चरणों वाली और छः प्रकारकी है यह मन्त्रों द्वारा कहा गया है। यह सब (उक्त) महिमा इस पुरुषका (आत्माकी) है। (अस्य विश्वा भूतानि) यह सब इन्द्रियें और प्राण आदि इसके एक अंशमें है और तीन भाग इसके स्वआत्मामें लीन हैं। यह जीवन मुक्त पुरुषका वर्णन हुआ। यहाँ मन्त्र ४ के अर्थमें स्वामी शंकराचार्यजीने स्वयं लिखा है कि—

"भूत शब्द वाच्याः प्राणाः"

अर्थात्—यहाँ भूत शब्द वाच्य प्राण हैं।

तथा च गीतामें है कि—

"कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।" १७।६

यहाँ भूतग्रामका अर्थ इन्द्रिय समूह ही किया गया है। अतः मन्त्रमें भूतानिका अर्थ इन्द्रियाणि ही है। इस प्रकार यह मन्त्र भी आत्मा वाचक ही है। अब इस आत्मासे विराट पुरुष (मनदेव) की उत्पत्ति बताई गई है।

विराट

तस्माद् विराट जायत विराजो अधि पूरुषः ॥ ५ ॥

अर्थात्—उस आत्माके एक पादसे विराट पुरुष उत्पन्न हुआ। और उस विराटके ऊपर एक अधिष्ठाता पुरुष हुआ। अथर्ववेद भाष्यमें सायणाचार्य लिखते हैं कि—

"अध्यात्मपक्षे अग्रे सृष्टयादौ विराट् विविधं राजन्ति वस्तूनि यस्मिन्निति स विराट् मनः संज्ञकः प्रजापतिः सहस्र बाहु पुरुषः इति प्रकृतात् महापुरुषाद् अजायत।"

अर्थात्—"अध्यात्मपक्षमें इसका यह अर्थ है कि उस सहस्र-बाहुः (सहस्रा क्ष०) पुरुषसे विराटनामक मनरूपी प्रजापति उत्पन्न हुआ।" आगे आप लिखते हैं कि—

'श्रुयते हि "स मान सीन आत्मा जनानाम्" मानसीनः मनसानिष्पन्न इत्यर्थः।"

अर्थात्—वह मनुष्योंकी मनसे निष्पन्न होने वाली आत्मा है। तथा महीधर लिखते हैं कि—

"सर्ववेदान्त वेद्यः परमात्मा स्वमायया विराड् देहम् ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवद् इत्यर्थः। एतच्चाथर्वणोत्तरतापनीय-स्पष्टमुक्तम्। सवा एष भूतानि इन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वात्र प्रविष्टः इव विहरति।"

अर्थात्—"सर्व वेदान्त ग्रन्थोंसे ज्ञातव्य ब्रह्म अपनी मायासे ब्रह्माण्डरूप विराट देह रचकर उसमें जीवरूपसे प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्ड अभिमानी देव जीव बन गया। यह भूतरूपी इन्द्रियोंकी तथा अन्नमय प्राणमय आदि कोशोंको रचकर उसमें प्रविष्ट हुआ सा विचरता है।"

शुद्ध ब्रह्मको जीव क्यों बनना पड़ा इसका उत्तर तो आज तक किसीने नहीं दिया।

अतः हम भी यहाँ विस्तारभयसे इन प्रश्नोंको नहीं उठाते। परन्तु इतना तो यहाँ स्पष्ट है कि यह जीवात्माका कथन है। फिर वह कैसे, क्यों, और कब जीव बन गया यह यहाँका प्रकरण नहीं है।

इससे आगे चलकर इस विराट पुरुषसे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न कराई गई है। उसके विषयमें आर्यसमाजके सुयोग्य विद्वान चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेवजी विद्यालंकार लिखते हैं कि—

"किसी प्रजापतिके शरीरके मुख आदि अवयवोंसे गर्भसे बालकके समान ब्राह्मण आदि वर्णोंके उत्पन्न होनेका मत असंभव होनेसे अप्रमाणित है। यह केवल समाजरूप प्रजापति पुरुष जिसकी हजारों आँखों और पैरों आदिका प्रथम मन्त्रमें वर्णन किया है उसके ही समाजमय अंगोंका वर्णन किया गया है।"

(अथर्वभाष्य)

यहाँ पं०जी ने ईश्वरकी कल्पनाका प्रत्यक्ष खंडन कर दिया है।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषंपशुम् ॥ १५ ॥

इस मन्त्रका भाष्य करते हुये स्वामीजी लिखते हैं कि—

"हे मनुष्यो! जिस मानुष यज्ञको विस्तृत करते हुये विद्वान लोग (पशुम्) जानने योग्य परमात्माको हृदयमें बाँधते हैं।"

इनके पश्चात इनके शिष्योंने भी इसी अर्थका अनुसरण किया। पं० सातवलेकरजी लिखते हैं कि—"पुरुषं (पशुम्) परमात्मारूपी सर्वद्रष्टाको अपने मानस यज्ञमें बाँध दिया अर्थात् अपने मनमें ध्यानसे स्थिर किया।"

स्वामीजीने इस ईश्वरको बन्धवा दिया इसके लिये संसार आपका कृतज्ञ है। क्योंकि यह बहुत बे काबू होगया था।

'उवट' के मतमें इन्द्र आदि देवोंने जब पुरुषमेध यज्ञमें मनुष्य रूप पशुको बाँधा, यह अर्थ है।

(सप्तास्यासन्) का अभिप्राय सात समुद्रोंसे अधिष्ठित यह भारतवर्ष है। क्योंकि ये यज्ञ भारतमें ही होते थे। अभिप्राय यह है कि यह सूक्त उस मनुष्यकी स्तुति परक है जिसका अभी बलिदान होना है। तथा च वैदिक 'इतिहासार्थ निर्णय' में पं० शिवशंकरजी लिखते हैं कि—

"सप्तपदसे नयन द्वय, कर्णद्वय, घ्राणद्वय, और सप्तमी जिह्वा का ग्रहण है।...इस जीवको चारों तरफसे घेरकर इस शरीरमें रखने हारे यही सातों इन्द्रियगण हैं। और इन सातोंके उत्तम, मध्यम अधमके भेदसे २१ प्रकारके विषय हैं ये ही मानो समिधायें हैं।"

यहाँ जीवात्माका वर्णन स्पष्ट है। उपरोक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि न तो यहाँ परमेश्वरका कथन है और न सृष्टि उत्पत्ति का ही जिकर है।

निरुक्त

इस पुरुष सूक्तका अन्तिम १६ वाँ मन्त्र निरुक्तमें आया है।

"यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः। धर्म्माणि प्रथमान्यासन्॥

निरुक्त—अग्निना, अग्निम् अयजन्त देवाः। अग्नि पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्। तेहनाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाःसाधनाःद्युस्थानोदेवगणाः, इति नैरुक्ताः पूर्वदेव युगमिति आख्यानम्।" निरुक्त०अ० १२

अर्थात्—पूर्व समयमें देवताओंने अग्निसे अग्निका यज्ञ किया। ब्राह्मणमें भी लिखा है कि—

पहिले अग्नि ही पशु था उसीसे देवोंने यज्ञ किया। ये पूर्व-समयके धर्म्म थे। तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंमें आया है कि—

(अग्नि हिं देवानां पशुः) ऐ० १। १५

पशुरेष यदग्निः। शत० ६। ४। १। २

इत्यादि. यहाँ यास्काचार्यका संकेत पुरुष सूक्तमें कथित विराटपुरुषको अग्निका वर्णन बता रहा है। क्योंकि मन्त्र १५ में जो पुरुषरूपी पशुको बांधनेका उल्लेखहै उसीको यहाँ अग्नि बताया गया है।

हमने अग्नि देवताके तथा सूर्य देवताके वर्णनमें अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि प्रजापति आदि नाम अग्नि आदिके ही हैं। अतः यास्कके मतसे यहां पुरुषके रूपकसे अग्निका ही वर्णन है।

तथा यजुर्वेदके इसी प्रकरणमें निम्न मन्त्र आया है।

प्रजापतिश्चरतिगर्भेऽन्तर जायमानो बहुधा विजायते।१९।

अर्थात्—यह प्रजापति, (जीवात्मा) अजन्मा होता हुआ भी अनेक प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेता रहता है।

तैतरीय आरण्यकमें इसी श्रुतिको स्पष्ट करने के लिये लिखा है कि—

शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः

तै० आ० १०।१।१

अर्थात्—यह आत्मा (ज्योतींषि) दिव्य प्राणोंके साथ, शुक्र (वीर्य) द्वारा गर्भमें प्रविष्ट होकर जन्म धारण करता है। अतः अब इस विषयमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं रहा कि यह वर्णन जीवात्माका ही वर्णन है।

तथा च प्रश्नोपनिषद्में लिखा है कि—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रति तिष्ठसि। २।७

अर्थात्—हे प्राण तू ही प्रजापति है, तू ही गर्भमें संचार करता है, तू ही जन्म ग्रहण करता है। ये सब प्रजायें (इन्द्रियाँ) तेरेको ही बलि समर्पण करती हैं। क्योंकि तू समस्त इन्द्रियोंके साथ शरीरमें स्थित है। अर्थात प्राण ही इन्द्रियरूपी प्रजाका स्वामी है। इसका भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि-

"गर्भे चरसि, पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सम्प्रति जायसे।"

अर्थात्—यह प्रजापति माता पिताके अनुरूप जन्म लेता है।

अतः उपनिषद्कारने भी यह सिद्ध कर दिया है कि—इस प्रकरणमें प्रजाका अर्थ इन्द्रियाँ हैं, और प्रजापतिका अर्थ प्राण है।

यहाँ स्पष्टरूपसे जीवात्माका वर्णन है क्योंकि वही कर्मवश नाना योनियोंमें जन्मता रहता है।

अतः यहां ईश्वर अर्थ करना अपने ही सिद्धान्तका घात करना है। क्योंकि ईश्वरको जन्म लेने वाला ईश्वरवादी भी नहीं मानते। इसीलिये श्रीमान पं० सत्यव्रतजी सामाश्रमीजीने ऐतरेया लोचनमें लिखा है कि—

"प्रजापतिश्चरतिगर्भेअन्तः, इति श्रुतेः जीवोऽपि प्रजापति रिति गम्यते।"

अर्थात— प्रजापतिश्चरतिगर्भे इस श्रुतिसे यह जाना जाता है कि जीव भी प्रजापति है। पृ० १५७

तथा प्रश्नोपनिषद्की टीकामें लिखा है कि—

"यः प्रजापतिर्विराट सोऽपि त्वमेवेत्यन्वयः" ।२।७।

अर्थात—जो प्रजापति विराट है वह भी प्राण ही है। अतः स्पष्ट है कि उपनिषदकारने उपरोक्त—वेद मन्त्रका ही खुलासा किया है और उसी पुरुषको प्राण बताया है।

पुरुष

बृहदारण्यकोपनिषद्में विश्व सृज पुरुषकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वन्पाप्मन औषततस्मात् पुरुषः १।४।१

इसका भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्यजी लिखते हैं कि—

स च प्रजापति रतिक्रान्त जन्मनि सम्यक् कर्म ज्ञान भावानुष्ठानैः साधकावस्थायां यद् यस्मात्कर्मज्ञान भावनाऽनुष्ठाने प्रजापतित्वं प्रतिपित्सूनां पूर्वः प्रथमः सन्।

अस्मात्प्रजा पतित्व प्रतिपत्सु समुदायत् सर्वस्माद् आदौ औषद् दहत् । किम् आसङ्गा ज्ञान लक्षणान्सर्वान्पाप्मनः प्रजापतित्व प्रति बन्धकारण भूतान् । यस्मादेवं तस्मात्पुरुषः पूर्व मौषदिति पुरुषः ।

अर्थात्—प्रजापतिने अपने पूर्व जन्ममें साधक अवस्थामें सम्यक्-कर्म (चारित्र) ज्ञान और सम्यक् दर्शन द्वारा प्रजापति बनने की भावनासे, प्रजापतित्वके बन्धन भूत अज्ञानादि सम्पूर्ण पापोंको दग्ध कर दिया था। इसीलिये इसको पुरुष कहते हैं।

अर्थात्—पूर्वमें ऊपन दग्ध किया इसलिये पुरुष कहलाया।

जिस प्रकार वैदिक पुरुष सूक्तमें पुरुषसे सब जग रचा गया है, यहाँ भी उस पुरुषसे जिसने प्रजापति पदको प्राप्त किया है उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिकी रचनाकी गई है। इसी पुरुषके धाता, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, विश्वसृज्, विश्वकृत्, आदि नाम बताये गये हैं। अतः यह सिद्ध है कि पुरुष सूक्त आदिमें तथा अन्य स्थानों जहाँ उपरोक्त नामोंसे जगतकर्ताका वर्णन है, वह यही अन्तरात्मा पुरुष है। जिसको जैन दर्शनमें अर्हन्त, केवली, जीवन मुक्त आदि कहा गया है। उसने अर्थात् प्रथम प्रजापतिने जीवोंको सम्पूर्ण संसारकी वस्तुओंका ज्ञान कराया था, इसलिये उसको विश्वकृत्, विश्वसृज्, आदि नामोंसे भी सम्बोधन करते हैं और वास्तवमें न तो सृष्टि उत्पन्न हुई और न किसीने उत्पन्न की यह तो अनादि निधन है।

विश्वकर्मा

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होतान्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥१॥

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्। यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्व तस्पात् सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ३ ॥

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्ट-तक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्य दध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥ ४ ॥

ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्व कर्मन्नु-तेमा शिक्षा सखिभ्यो हविषिस्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥ ५ ॥

विश्व कर्मन् हविषा वा वृधानः स्वयं यजस्व पृथिवी मुतद्याम्। मुह्यं त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥ ६ ॥

वाचस्पतिं विश्व कर्माणि मूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ ७ ॥

१—हमारे पिता और होता विश्वकर्मा प्रथम सारे संसारका हवन करके स्वयं भी अग्निमें बैठ गये। श्रोत्रादिके द्वारा स्वर्ग-धन की कामना करते हुए वे प्रथम सारे जगतसे अग्निका आच्छादन

करके पश्चात् समीपके भूतोंके साथ स्वयं भी हुत होगये वा अग्नि में पैठ गये ।

२—सृष्टि कालमें विश्वकर्माका क्या आश्रय था ? कहाँसे और कैसे उन्होंने सृष्टि कार्यका प्रारम्भ किया ? विश्वदर्शक देव विश्व-कर्माने किस स्थान पर रह कर पृथिवीको बनाकर आकाशको बनाया ?

३—विश्वकर्मा की आँखें, मुँह, बाँहें और चरण सभी ओर से हैं। अपनी भुजाओं और पदोंसे प्रेरणा करते वह दिव्य पुरुष द्यावा भूमिको उत्पन्न करते हैं। वह एक हैं।

४—वह कौन वन और उसमें कौनसा वृक्ष है, जिससे सृष्टि कर्ताओंने द्यावा पृथिवीको बनाया ? विद्वानों अपने मनसे पूछ देखो कि, किस पदार्थके ऊपर खड़े होकर ईश्वर सारे विश्वको धारण करते हैं।

५—यज्ञभाग-ग्राही विश्वकर्मा यज्ञ कालमें हमें उत्तम, मध्यम और साधारण शरीरोंको बतादो। अन्नयुक्त तुम स्वयं यज्ञ करके अपने शरीर पुष्ट करते हो।

६—विश्वकर्मा, तुम द्यावा पृथिवीमें स्वयं यज्ञ करके अपनेको पुष्ट किया करते हो वा यज्ञीय हविसे प्रवृद्ध होकर तुम द्यावा पृथिवीका पूजन करो। हमारे यज्ञ विरोधी मूर्छित हों। इस यज्ञमें धनी विश्वकर्मा स्वर्गादिके फल-दाता हों।

७—इस यज्ञमें, आज उन विश्वकर्माको रक्षाके लिये हम बुलाते हैं। वह हमारे सारे हवनोंका सेवन करें। वह हमारे रक्षण के लिये सुखोत्पादक और साधु कर्म वाले हैं।

ऋग्वेद मं० १० के सू० ८१, व ८२, विश्वकर्माके सूक्त हैं। तथा यजुर्वेद अ० १७ के मन्त्र १७ से ३२ तक १६ मन्त्र विश्व-कर्मा के हैं।

निरुक्त

निरुक्तकारके मतसे विश्वकर्मा मध्यमस्थानीय देवता है। वहां लिखा है कि—

विश्वकर्मा, तार्क्ष्यः, मन्युः, दधिका, सविता, त्वष्टा, वातः, अग्निः, आदि मध्यम स्थानीय देवता हैं।

निरुक्त—विश्वकर्मा, सर्वस्य कर्ता। अथैष वैश्वकर्मणो विश्वानि मे कर्माणि कृतानि आसन् इति विश्वकर्मा हि सोऽभवत ॥ तस्य एषा भवति।

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्न आपः॥ ऋ० १०।८२।६

अर्थात—विश्वकर्मा आदि ये मध्यम स्थानीय देवता हैं। यह सर्वका कर्त्ता है इसलिये इसको विश्वकर्मा कहते हैं। यह सबका कर्त्ता कैसे है इस पर भाष्यकार कहते हैं कि—"पृथिवी जल, तेज-वायु इन चार पदार्थोंसे शरीरका निर्माण होता है। और उसीके द्वारा सब क्रियायें होती हैं, जिसके कारण यह कर्त्ता कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि—पृथिवी और जल ये दो धातु पहले मिलते हैं, और इन दोनों मिली हुई धातुओंको अग्नि तत्व पकाता है, जिससे इनकी दृढ़ता होती है, इसके अनन्तर विश्वकर्मा देवता अपने वायुरूप शरीरसे उस शरीरमें प्रवेश करके इस सब अद्भुत जगतको करता है, जो आत्मविचारसे रहित पुरुषोंको अचिन्त्य या दुर्ज्ञेय है। अर्थात् मध्यम लोकका देवता वायु है और उसीके अनुप्रवेशसे सब अन्य तत्व चलते हैं या क्रिया करते हैं, अतः उसीके आधीन सब जगत बनता है, इसीलिये मध्यम लोकका देवता वायु ही विश्वका करने वाला होनेसे विश्वकर्मा है। मन्त्रमें भी यही कहा है।

"तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः"

अर्थात्—जलोंने उसीको आश्रय करके प्रथम गर्भ धारण किया।" ❀

यहां पर निरुक्तकारने अपनी पुष्टिमें अन्य प्रमाण भी दिये हैं जिनसे विश्वकर्माका मध्यम स्थानीय देव (इन्द्र व वायु) होना सिद्ध होता है। तथा च यास्काचार्यने विश्वकर्मा देवता वाले मन्त्रों का अध्यात्म अर्थ भी किया है। यथा—

"अथाध्यात्मम्—विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयिता इन्द्रियाणामेषाम् इष्टानि वा कान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा अन्नेन सह मोदन्ते यत्र इमानि सप्त ऋषीणानि इन्द्रियाणि एभ्यः पर आत्मा तानि एतस्मिन् एकं भवन्ति इति आत्म गति माचष्टे।"

विश्वकर्मा विमनाआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्। तेषा मिष्टानिसमिषामदन्ति यत्रासप्त ऋषीन् पर एकमाहुः॥ १०।८२।२

निरुक्तकारने इस मन्त्रकी व्याख्यामें उपरोक्त कथन किया है।

अर्थात्—"विश्वकर्मा, (विमना) विभूतमना है। (विशाल हृदय वाला है) तथा सर्व प्रकारसे महान है इसलिये यह धाता, विधाता तथा इन्द्रियोंका द्रष्टा, जो कि अन्नसे मोदको प्राप्त होती है। इन्द्रियोंसे परे आत्मा है, उसीमें ये सप्त ऋषि (इन्द्रियाँ) एकीभावको प्राप्त होती है।"

❀ नोट—निरुक्त पर दुर्गाचार्य का भाष्य देखें।

निरुक्तकारने इन सूक्तोंके दो ही प्रकारके अर्थ किये हैं, अतः स्पष्ट है कि उस समय तक इन मन्त्रोंके अर्थ सृष्टिकर्त्ता ईश्वर परक नहीं थे। इसी प्रकार 'हिरण्यगर्भ' को भी यास्काचार्यने मध्यम स्थानीय (वायु) देवता ही माना है। जिस प्रकार यहाँ है (तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपः) उसी प्रकार वहाँ भी (आपोह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्) मन्त्र ७

उपरोक्त कथनके अनुसार यहाँ भी यह सब कार्य वायु द्वारा ही होते हैं।

अस्तु अध्यात्म प्रकरणमें भी निरुक्तकारने स्पष्टरूपसे विश्वकर्माका अर्थ जीवात्मा ही किया है। क्योंकि यहाँ जीवात्मा 'विश्व' अर्थात सब इन्द्रियोंकी रचना करता रहता है। अतः यह सिद्ध है कि-

यह सूक्त भी वर्तमान ईश्वरका द्योतक नहीं है।

ज्येष्ठ ब्रह्म व स्कंभदेव

कुछ विद्वानोंका कहना है कि—ब्रह्म आदि शब्दोंसे जीव आदिका ग्रहण होता है, परन्तु वेदोंमें ज्येष्ठ ब्रह्म व स्कंभ आदि शब्दोंसे तो केवल ईश्वरका ही वर्णन किया गया है। हम प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ व ब्रह्म आदि शब्दोंका तो विचार कर चुके, इन शब्दोंसे वैदिक साहित्यमें ईश्वरका कथन नहीं किया गया। अब हम इन ज्येष्ठ ब्रह्म, व स्कंभ, सूक्तों पर भी दृष्टिपात करते हैं। अथर्ववेदके कां० १० सूक्त ७ और ८ स्कंभ सूक्त हैं इसी स्कंभका नाम यहाँ ज्येष्ठ ब्रह्म भी आया है।

इन दोनों सूक्तोंका विनियोग आदि नहीं मिलता, तथा न इस स्कंभका किसी अन्य संहितामें कथन है तथा नहीं ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख प्रतीत होता है अतः यह सूक्त नवीनतर है यह निश्चित है। पं० राजारामजीने अपने अथर्ववेद भाष्यमें

लिखा है कि—"सूक्त, ७-८ दोनों परस्पर सम्बन्ध है। दोनोंमें स्कंभका वर्णन है। स्कंभ, खंभा, सहारा (सारे विश्वका) परब्रह्म ब्रह्माका भी आदिभूत, इसीसे इसको ज्येष्ठ ब्रह्म कहा है। सारा विश्व इसमें स्थित है, यह सारे विश्वमें आविष्ट है, विराट भी इसीमें टिका हुआ है, इसीमें सारे देवता स्थित हैं. यही सबके जीवनका मूलस्रोत है इत्यादि रूपसे स्कंभका वर्णन है। ये दोनों सूक्त उपनिषदोंमें कही, अध्यात्मविद्याका मूल है, यहाँके यक्ष (आश्चर्यमयी सत्ताका विस्तार केनोपनिषद्‌में है।"

इस कथनसे यह तो सिद्ध होगया कि—ब्रह्मा, विराट, पुरुष, हिरण्यगर्भ आदि देवता कोई भी ईश्वरपद वाच्य नहीं है क्योंकि उन सबका निर्माण कर्ता ये स्कंभदेव हैं। अतः अब इन सूक्तोंमें जो स्कंभ देवका कथन है क्या वह वर्तमान ईश्वर अर्थका वाचक है। यही विचारणीय है। जब हम इन सूक्तों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट ज्ञात होजाता है कि यह स्कंभ भी परमेश्वर नहीं अपितु जीवात्मा ही है।

हम इन सूक्तोंमें से कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं।

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अ० १०।७।३६

अर्थ—श्रम और तपसे उत्पन्न होकर जिसने सम्पूर्ण लोकोंको प्राप्त किया है (सम्पूर्ण इन्द्रिय आदिको प्राप्त किया है) तथा जिसने सोम (सोमरस) को केवल (अपने लिये) बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको हमारा नमः हो। इस मन्त्रमें स्पष्टरूपसे ज्येष्ठ ब्रह्म उस ज्ञानीको कहा गया है जिसने महान परिश्रमसे तथा

कठोर तपसे इन लोकोंको (शरीर आदि को) अथवा इनके ज्ञान को प्राप्त किया है। यह जीवात्माके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यदि इसको ईश्वर माना जाय तो क्या ये लोक उसको प्राप्त न थे जो इस गरीबको इनकी प्राप्तिके लिये इतना परिश्रम और घोर तप करना पड़ा। तथा ज्ञात होता है कि इस ईश्वरको सोम रस बड़ा प्रिय था तभी तो उसने इसको केवल अपने लिये बनाया था, परन्तु वैदिक ऋषि तथा इन्द्र आदि देवता भी इस सोम पर मुग्ध हुये बिना न रह सके, उन्होंने इस निराकार ईश्वरको तो सोम देना बन्द कर दिया और अपने आप इसका रसास्वाद लेने लगे नहीं नहीं इसीमें तल्लीन होगये।

शायद इसीलिये ईश्वरने यह सोम उत्पन्न करना बन्द कर दिया। तथा च. कां० ११।५।२३ में इस ज्येष्ठ ब्रह्मकी उत्पत्तिका कथन किया है।

(तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठम्)

इसका अर्थ पं० राजारामजीने ही किया है कि—"(उससे ब्राह्मणोंका ज्येष्ठ ब्रह्म उत्पन्न हुआ)"

अतः यह उत्पन्न होने वाला व्यक्ति ईश्वर नहीं होसकता।

यह तो हुई सूक्त ७ की अवस्था अब आप थोड़ी सी व्यवस्था सूक्त ८ की देख लें। उसमें लिखा है कि—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ १०।८।२७

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। तदासत् ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवः॥॥। ८। ६

उपरोक्त दोनों मन्त्रोंको प्रायः सभी भाष्यकारोंने तथा अन्य विद्वानोंने भी जीवात्मा परक ही माना है।

अर्थ—(हे ज्येष्ठ ब्रह्म) तू स्त्री है तू पुरुष है, तू कुमार व कुमारी है, तू बुढ़ापेमें डंडेसे चलता है, तू उत्पन्न होकर सब ओर मुख वाला होता है। अर्थात् सब ओर कामनाओं वाला होता है ॥ २७ ॥

तिरछे बिल वाला और ऊपरकी ओर पेंदे वाला एक चमस (सिर) है उसमें सब प्रकारका यश (इन्द्रिय जन्य ज्ञान) है, उस चमस (सिर) में सात ऋषि (चक्षु आदि इन्द्रियाँ) रहते हैं, जो इस (अस्य महतः गोपाः) ज्येष्ठ ब्रह्मके रक्षक हैं। यहाँ स्पष्टरूपसे सूक्तकार ऋषिने इस ज्येष्ठ ब्रह्मको जीवात्मा ही बताया है। अतः अन्य देवताओंकी तरह ही यहाँ भी ईश्वरका वर्णन नहीं है। सप्त ऋषियोंका अर्थ पं० राजारामजी आदि तथा सायण आदिने भी चक्षु आदि इन्द्रियां ही किया है। तथा इसका विशेष विचार हम प्राणोंके वर्णनमें कर चुके हैं, वाचक वृन्द वहीं देखें। इन मूल सूक्तोंके अलावा उपनिषदोंमें भी आत्माका ही कथन है, इस कल्पित ईश्वरकी तो उस समय तक सृष्टि ही नहीं हुई थी।

उपरोक्त सूक्त ८ का 'तिर्यग्बिलश्चमस' यह मन्त्र, बृ० उ० २। २। ३ में भी आया है, वहाँ स्वयं महर्षि याज्ञवल्क्यने इसका निम्न भाष्य किया है। यथा—

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्व बुध्न-स्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति।······प्राणा वै यशो विश्वरूपम् प्राणानेतदाह तस्या सप्त ऋषय सप्त तीर इति। प्राणा वा ऋषयः।···

यहाँ श्री शंकराचार्यजी लिखते हैं कि—

प्राणाः परिस्पन्दात्मकाः, त एव च ऋषयः ।

अर्थात्—उपरोक्त मन्त्रमें आये हुये 'यश' और सप्त ऋषयः' शब्दोंका अर्थ परिस्पन्दात्मक प्राण हैं। तथा च चमस. का अर्थ स्वयं श्रुतिमें ही सिर किया गया है। इससे अगली श्रुतिमें इसको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। उसमें इन सप्त ऋषियोंके नाम भी बता दिये हैं। वहाँ दो कान दो आँख, दो नासिकायें और एक रसना. इनको सप्त ऋषि कहा गया है। अतः स्पष्टरूपसे यहाँ जीवात्माका वर्णन है यह सिद्ध हुआ। तथा आर्य समाजके महान वैदिक विद्वान पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थने अपनी पुस्तक वैदिक इतिहासार्थ निर्णयके पृ० १८१ पर उपरोक्त मन्त्रके अर्थ जीवात्मा परक ही किये हैं। वहाँ आप लिखते हैं कि—

'यहाँ पर उर्ध्व' पद शिरोगत सप्त प्राणोंका ही ग्रहण करवाता है।"

तथा निरुक्त अ० १२।४ में उपरोक्त मन्त्रके अधिदैविक अर्थ तथा अध्यात्म परक अर्थ किये हैं। वहाँ अधिदैविकमें सूर्य देवता अर्थ किया, तथा अध्यात्ममें जीवात्मा अर्थ किया है। वहाँ इसी शरीरके प्राणोंको ऋषि तथा यश' का अर्थ ज्ञान किया है। अतः यह स्कंभ सूर्य अथवा आत्मा वाचक है। इसमें कल्पित ईश्वरको कोई स्थान नहीं है।

केनोपनिषद् और ब्रह्म

केनोपनिषद्में—

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः। केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥" १।१

इत्यादि श्रुतियोंसे प्रारंभमें आत्माका उपदेश है।

तथा तीसरी श्रुतिमें कहा है कि—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न विजानिमः ॥ ३ ॥

अर्थात्—उस ब्रह्म तक न चक्षु जा सकता है न वाणी और न मनकी ही पहुंच है। आचार्य कहते हैं कि—वह बुद्धि गम्य होनेसे हम उसको नहीं जानते तथा नहीं कुछ कह सकते हैं। जो कुछ अनुमान या शब्द प्रमाण द्वारा जाना गया है उसीको कहा जाता है। यहां शंका उत्पन्न हुई कि-आत्मा किस प्रकार ब्रह्म हो सकता है, क्योंकि आत्मा तो कर्मादिमें लिप्त संसारी जीवको कहते हैं। यह कर्मसे अथवा उपासनासे स्वर्गकी अथवा प्रजापति इन्द्र आदि देवत्वकी कामना वाला है। अतः उपास्य और उपासना करने वाला एक नहीं होसकता। इस लिये ब्रह्म आत्मासे भिन्न है।

श्री शंकराचार्यने इस शंकाको निम्न शब्दोंमें लिखा है।

"कथं वात्मा ब्रह्म। आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय देवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति। तत् तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति न त्वात्मा लोक प्रत्ययविरोधात्। यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मा इत्याचक्षते।" मेवं शंकिष्ठाः।

इस शंकाका स्वयं उपनिषद्ने उत्तर दिया है। (उत्तर) ऐसी शंका मत करो, क्योंकि श्रुति कहती है कि—

यद् वाचा नभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ । ४

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् । ॥ ५

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंसि पश्यति ॥ ॥ ६

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् । ॥ ७

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते । ॥ ८

अर्थ—जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती किन्तु जिसके द्वारा वाणी अपना कार्य करती है, उसीको ब्रह्म जानो, जिन देवादिकी उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है।

मन जिसका मनन नहीं कर सकता, जिसके द्वारा मन मनन करता है...

आँखें जिसको नहीं देख सकतीं जिससे आँखें देखती हैं उसीको...

जिसको कान नहीं सुन सकते जिसकी कृपासे कान सुनते हैं उसीको...

जो प्राणके आश्रय नहीं है अपितु प्राण जिसके आश्रय है उसी को...

तथा च अन्य श्रुतियोंमें भी इसी आत्माको ब्रह्म कहा है। यथा

योवाचमन्तरोयमयति । बृ० ३।७।१७

न हि वक्तु वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते० बृ० ४।३।२६

तस्यभासा सर्वमिदं विभाति । मु० उ० २।२।१०

अभिप्राय यह है कि केन उपनिषद् तथा अन्य सब श्रुतियोंमें

भी इसी जीवात्माको ब्रह्म कहा है श्रुतिमें 'एव' यह अव धारणार्थ अव्यय है, जिससे अन्यदेव विष्णु, शिव, प्रजापति, आदि देवोंको ब्रह्म माननेका निषेध किया गया है। अतः यह सिद्ध है कि स्वात्मासे भिन्न ब्रह्म कोई अन्य जातीय पदार्थ नहीं है। यही अभिप्राय अथर्ववेदके उपरोक्त सूक्तोंका है।

उपनिषदोंकी श्रुतियाँ स्पष्टरूपेण उच्चस्वरसे घोषणा करती हैंकि-

अन्योऽसावन्योऽहस्मीति न सवेद। बृ० १।४।१०

यथा पशुरेव स देवानाम्। बृ० १।४।१०

येऽन्यथातो विदुरन्य राजा नस्ते क्षय्यलोका भवन्ति।
छा० ७।२५।२

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति। क० उ० २।१।१०

अर्थात्— जो यह जानता है कि परमात्मा अन्य है और मैं अन्य हूँ वह उस ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता। अपितु वह पशुके समान देवताओंका पशु ही है।

जो अपनेसे ईश्वरको भिन्न जानते हैं, वे अन्य राजा वाले (दास) हैं अतः वे क्षीण लोक वाले होते हैं अर्थात् निरन्तर जन्मते मरते रहते हैं। तथा च जो अज्ञानी परमात्माको अपनेसे भिन्न समझता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता रहता है।

विष्णुदेव

वैदिक साहित्यमें विष्णुदेवका भी मुख्य स्थान है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें विशेषतया यज्ञको ही विष्णु कहा गया है।

विष्णुर्यज्ञः। गो० उ० १।१२। तै० ३।३।७।६

विष्णुर्वैयज्ञः। ऐ० १।१५। श० १३।१।८।८

यज्ञो वै विष्णु । कौ० ४।२। तां० ६।६।१०

इत्यादि शतशः प्रमाण दिये जा सकते हैं, जिनमें यज्ञका नाम विष्णु आया है।

यजुर्वेदमें भी यज्ञके लिये विष्णु शब्दका प्रयोग हुआ है।

सूर्य और विष्णु

अग्निर्वा अहः सोमो रात्रि रथयदन्तरेण (अह्नो रात्रेश्च-योऽन्तरालः कालः) तद्विष्णुः । श० ३।४।४।१५

अर्थात् दिनका नाम अग्नि और रात्रिका नाम सोम है, तथा दिन व रात्रिके मध्य (सन्ध्या) समयका नाम विष्णु है। अभि-प्राय यह है कि सायंकालके सूर्यका नाम विष्णु है।

निरुक्त

निरुक्तकारने सूर्यका नाम विष्णु बताया है।

निघण्टुमें, सविता भग, सूर्य, पूषा, विष्णु, ये नाम सूर्यके बताये हैं।

इनका निर्वचन करते हुये निरुक्तकार लिखते हैं कि—

'सविता' व्याख्यातः, तस्य कालो यदा द्यौः अपहत तमस्काकीर्णरश्मिर्भवति ।

"अधोरामः सावित्रः" इति पशु समाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् स मान्यात्, इति अधस्तात् तद्वेलायां तमो भवति एतस्मात् सामान्यात् ।

"कृकवाकुःसावित्रः" इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते कस्मात् सामान्यात् । इति कालानुवादं परीत्य कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणं वचो उत्तरम् ॥

भगः—'भगः' व्याख्यातः तस्यकालः प्राग् उत्सर्पणात् ।

पूषा—अथ यद् रश्मि पोषं पुष्यति तत् 'पूषा' भवति ।

विष्णु—अथ यद् विषितो भवति तद् 'विष्णुः' ।

विशतेर्वा । व्यश्नोतेर्वा । तस्य एषा भवति ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । यजुर्वेद, ५।१५

अर्थ—सविताकी व्याख्या हो चुकी. उसका समय उषाकाल है. तथा च श्रुतिमें अधो भाग काला तथा ऊर्ध्व भाग श्वेत पशुको सविताका पशु कहा है. इस समानतासे भी सविताका समय निश्चित होता है । तथा च 'मुर्गे' को भी श्रुतिमें सविताका कहा है. इससे भी सविताका काल जाना जाता है. अर्थात् जिस समय (प्रातःकाल) मुर्गा बोलता है वही काल सविता का है. अर्थात उस समयके सूर्यको सविता' कहते हैं ।

भगः—इसका काल उत्सर्पण ऊपर आकाश देशमें चढ़नेसे पहले है । अर्थात—मध्यान्हसे पहलेके सूर्यकोभगकहते हैं ।तथा उसके पश्चात उसकी सूर्य संज्ञा है ।

पूषा—जब सूर्य तेजसे पूर्ण होकर रश्मियोंको धारण करता है. उस समय वह 'पूषा' कहलाता है ।

विष्णु—उसकेपश्चात् उसीसूर्यकानाम विष्णु होता है । अर्थात सायंकालके सूर्यका नाम विष्णु है । जो बात ब्राह्मणकार

ऋषिने कहीं थी उसीकी पुष्टि निरुक्तकारने की है। निरुक्तकारने विष्णु शब्दका तीन धातुओंसे सिद्धि की है।

(१) विष्. (२) विश. प्रवेशने. से (३) वि. पूर्वक अश. धातु से। तीनों प्रकारके अर्थोंको सूर्य परक घटित किया है। साथ ही अपनी पुष्टिमें "इदं विष्णु विचक्रमे" यह प्रसिद्ध मन्त्र दिया है।

इस मन्त्रका अर्थ करते हुए 'और्णवाभः' ऋषि कहते हैं कि-

"समारोहणे, विष्णुपदे गयशिरसि इति और्णवाभः।"

समारोहण = उदयगिरिमें उदय होता हुआ विष्णुदेव एक पद धरता है, मध्यान्ह कालमें विष्णुदेव आकाशमें दूसरा पैर रखते हैं, और सायंकालमें 'गय शिर' (अस्तगिरि = अस्ताचल) पर तीसरा पैर रखते हैं।

उपरोक्त प्रमाणोंसे सूर्यका नाम ही विष्णु है इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं रह जाता है। तथा च पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थने 'त्रिदेव निर्णय' नामक पुस्तकमें पुराण आदिके शतशः प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि, श्रीराम, कृष्ण आदि विष्णुके अवतारोंका जितना भी वर्णन है वह सब सूर्यका ही वर्णन है।

हमने विस्तारभयसे उन सबका यहां उल्लेख नहीं किया है। जो पाठक विस्तारसे इसका अध्ययन करना चाहें वे वहाँ देख सकते हैं।

पं० सातवलेकरजीने 'महाभारतकी समालोचना' भाग २ में विष्णुको उपेन्द्र माना है तथा उसका ऐतिहासिक वर्णन किया है, पाठकोंकी जानकारीके लिये उसको हम यहाँ उद्धृत करते हैं।

"जिस प्रकार हरएक जाति वाला मनुष्य अपनी जातिकी दृष्टि

से ही देखता है और संपूर्ण हिंदु समाजकी दृष्टिसे कोई नहीं देखता; उसी प्रकार देवोंकी गण संस्थामें भी वही दोष था। इस कारण देवोंके गणोंमें परस्पर विद्वेष, झगड़े फिसाद आदि थे और समय समय पर बढ़ भी जाते थे। और असुर लोगोंका विजय इन देवोंके आपसके फिसादके कारण हो जाता था। असुरोंसे परास्त होने पर देव आपसमें संघठन करते थे और अपना बल बढ़ाते थे और असुरों पर विजय प्राप्त करते थे इसके वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थोंमें और पुराणोंमें भी बहुत हैं।

(१) ते चतुर्धा व्यद्रावन्, अन्योन्यस्य श्रिया अतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः सोमो रुद्रैः, वरुण आदित्यैः इंद्रो मरुद्भिः, बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः।

(२) तान्विद्रुतानसुररक्षमान्यनुव्येयुः॥ १॥

(३) ते विदुः पापीयांसो वै भवामोऽसुररक्षमानि वै नोऽनुव्यवागुः द्विषद्भ्यो वै रध्यामः।

(४) हंत संजानामहा, एकस्य श्रियै तिष्ठामहा इति।

शा० ब्रा० ३।४।२।२

(५) ते होचुः। हन्तेदं तथा करवामहै, यथा न इदमाऽदिवमेवाजयममदिति॥

(६) ते इंद्रस्य श्रिया अतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता, इन्द्रश्रेष्ठा देवाः। शा० ब्रा० ३।४।२।१—४

(१) उनके चार पक्ष बन गये, वे एक दूसरेकी शोभामें असन्तुष्ट हुए; अग्नि वसुओंसे, सोम रुद्रोंसे, वरुण आदित्योंसे, इन्द्र मरुतोंसे और बृहस्पति विश्वेदेवोंसे।

(२) वे परस्परोंका द्वेष कर रहे हैं यह देखकर असुर और राक्षस उन पर हमला करने लगे।

(३) तब उन देवोंके समझमें बात आगई कि हम मूर्ख बन गये, और असुर राक्षस हम पर हमला करते हैं और हम न सुधरे तो शत्रुओंसे हम पीसे जायँगे।

(४) तब उन्होंने निश्चय किया कि हम संघठन करेंगे, और परस्परकी शोभा बढ़ानेके काममें लगेंगे।

(५) वे कहने लगे कि हम वैसा करें कि जिससे यह (संघठन) कभी न टूटे अर्थात् हमेशा रहने वाला हो।

(६) वे इन्द्रकी श्री के लिये खड़े होगये. इसी लिये कहते हैं कि इन्द्र हो सब देवता हैं।"

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इस प्रकारकी कई कथायें हैं और यही ध्वनि पुराणों और इतिहासोंमें आई है. इससे सिद्ध है कि देवोंके गणों में आपसमें झगड़े बहुत थे इस कारण उनमें राष्ट्रीय कमजोरी भी बहुत थी। अतः वे समय समय पर आपसमें संघठन करते थे और अपना सांघिक बल बढ़ाते थे और अपने शत्रुओंका मुकाबला करते थे। गणसंस्थाके कारण गणोंके अंदर यद्यपि सांघिक बल था तथापि गणोंका परस्पर आपसमें झगडा और फिसाद होनेके कारण सब देवजातिमें जैसा चाहिये वैसा सांघिक बल न था। तथापि शत्रु उत्पन्न होने पर वे आपसमें समझौता कर लेते थे और अपनी संघटना करके शत्रुको भगा देते थे।

इन्द्र और उपेन्द्र

जिस प्रकार अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होते हैं, मन्त्री और उपमन्त्री होते हैं, उसी प्रकार इन्द्र और उपेन्द्र भी होते थे, इसका वर्णन पाठक निम्न श्लोकमें देख सकते हैं—

विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः ॥ १८ ॥
उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः ॥ २० ॥

अमरकोष १ । १

"विष्णु नारायण. कृष्ण. वैकुण्ठ. विष्टरश्रवाः. उपेन्द्र. इन्द्रावरज. चक्रपाणि चतुर्भुज ।" ये सब नाम विष्णुके हैं और इनके नामोंमें "उपेन्द्र. इन्द्रावरज" ये नाम इनका उपाध्यक्ष होना सिद्ध कर रहे हैं। इन्द्र स्वयं देवोंके अध्यक्ष और उपेन्द्र देवोंके उपाध्यक्ष थे। उपेन्द्र इन्द्रकी अपेक्षा छोटा था यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि यह बात उक्त शब्दोंसे ही सिद्ध हो रही है। तथापि "इन्द्र + अवर–ज" यह उसका नाम ही सिद्ध कर रहा है कि यह विष्णु इन्द्रसे छोटा है और इन्द्रके पीछे बनाया जाता है। "इन्द्रावरज" शब्द इन्द्रसे छोटे उपाध्यक्षका ही भाव बताता है। आजकल विष्णुका मान इन्द्रसे भी अधिक समझा जाता है. परन्तु वास्तवमें अध्यक्षके सन्मुख जितना मान उपाध्यक्षका होना संभव है, उतना ही मान इन्द्रके सामने उपेन्द्र का होना संभव है। परन्तु यहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि देवों के राजा मुख्य इन्द्र सम्राट् भारतवर्षमें बहुत कम आते थे. भारतवर्षमें आना और यहाँका कार्यप्रबन्ध देखना यह कार्य "उपेन्द्र" का होता था। यह बात विष्णुके कई नाम देखनेसे स्पष्ट होती है।

नारायण

नारायण शब्दका अर्थ इस विषय पर बड़ा प्रकाश डाल रहा है। इसका अर्थ यह है—(नारे) नरोंके मनुष्योंके संघोंमें जिसका (अयन) गमन होता है, उसका नाम नारायण है। मनुष्योंके संघोंमें जानेका कार्य उपेन्द्रके आधीन था। जिस प्रकार इस

समयके भारतीय सम्राट् हिन्दुस्थानमें बहुत कम आते हैं, परन्तु उनका यहाँका कार्य भारत सचीव अथवा बड़े लाट साहेब करते हैं, ठीक उस प्रकार देव सम्राट् भगवान् इन्द्र स्वयं यहां कम आया करते थे, परन्तु यहांका सब कार्य उपेन्द्र अर्थात् विष्णुदेव के सुपुर्द था, और इसी कारण उसका नाम "नारायण" (नर समूहोंमें गमन करने वाला) था। इस नामका यह अर्थ बिलकुल स्पष्ट है और उस समयकी राजकीय अवस्था स्पष्ट बता रहा है।

नराणां समूहो नारं तदयनं यस्य।

अमरटीका (भट्टोजी०) १।१।१८

नरा अयनं यस्य। अमरटीका १।१।१८

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु० १।१०

(१) नरोंके समूहमें जाने वाला, (२) मनुष्योंमें जानेका स्थान है जिसका, वह नारायण कहलाता है, (३)... नाराका अर्थ है नरोंके पुत्र, उनमें जिसका गमन है उसको नारायण कहते हैं।

इन सब अर्थोंका तात्पर्य यही है कि जो उपेन्द्र मनुष्योंके समूहोंमें आता जाता रहता है, उसको नारायण कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि देवोंके अध्यक्ष इन्द्र तो मानवोंके देशमें आते जाते नहीं थे अथवा कम आते जाते होंगे। परन्तु यहाँ आने जाने का कार्य उपाध्यक्ष अर्थात् उपेन्द्रका हो था। उपेन्द्र इन्द्रावरज (छोटा इन्द्र, इन्द्रसे छोटा अधिकारी), नारायण, विष्णु आदि नाम एक ही व्यक्तिके हैं। पुराणोंमें हमेशा नारायण भूमिके निवासियोंके दुःख हरण करता है, ऐसी कथायें बहुतसी आती हैं, इस कथा भागका तात्पर्य यही है कि पूर्वोक्त देव राज्यके उपाध्यक्ष यहाँ आते थे और भारतवर्षके

निवासियोंकी रक्षा असुरराक्षसादिकोंका पराभव करके करते थे। इसलिये इन्द्रकी अपेक्षा नारायण उपेन्द्र पर प्रेम भारतनिवासियों का अधिक था। क्योंकि इन्हींका साक्षात् संबंध भारतीयोंसे सदा होता था और भारतीय जनता अपने दुःख इनके पास जाकर ही सुनाती थी, भगवान् सम्राट् इन्द्रके पास साधारण जनताकी पहुंच नहीं थी। इसी लिये अन्य देवोंकी अपेक्षा उपेन्द्र नारायण पर भारतीय जनताकी भक्ति अधिक थी। ब्रह्मलोक किंवा ब्रह्मदेशके ब्रह्मदेव, भूतलोक किंवा भूतानके ईश महादेव, ये भी नारायण उपेन्द्रकी ही शरण लेते थे और उनकी प्रार्थना करते थे कि "आप कृपा करके भूमि निवासियोंकी रक्षा करें।" क्योंकि सब जानते थे कि ये ही सबसे अधिक सामर्थ्यवान् हैं और आर्यावर्तमें सदा आने जानेके कारण वहाँकी अवस्थाका उनको ही पूरा पता है। भूमि, हिमगिरीकी चढ़ाई और ऊपरला त्रिविष्टप प्रदेश इन तीनों प्रदेशोंमें विक्रम अर्थात् पराक्रम ये करते थे इसी लिये इनका "त्रि-विक्रम" नाम था। पूर्वोक्त तीनों स्थानोंको "त्रिपथ" किंवा तीन मार्ग कहा जाता था। भारतका भूपथ, हिमालयका गिरिपथ और त्रिविष्टपका द्युपथ ये तीन पथ अर्थात् तीन मार्ग थे. इन पथोंसे गुजरनेके कारण ही गंगा नदीका नाम "त्रि-पथ-गा" अर्थात् पूर्वोक्त तीनों मार्गोंसे गुजरने वाली नदी है। इन तीनों प्रदेशोंमें विक्रम करने वाले पूर्वोक्त उपेन्द्र ही थे। इस कार्यके लिये देवोंके मुख्य इन्द्रको फुरसत नहीं थी। अब हमें देखना चाहिये, कि उपेन्द्र विष्णु किस युक्तिसे यह कार्य करते थे—

विष्वक्सेन

उक्त बात पूर्णतासे ध्यानमें आनेके लिये "विष्वक्सेन" यह विष्णुका अथवा उपेन्द्रका नाम बड़ा सहाय्यकारी है। इस

शब्दका अर्थ यह है कि "जिसकी सेनायें चारों ओर थोड़ी थोडी विभक्त हुई हैं।" चारों दिशाओंमें जितने देश हैं उनमें जिसकी सेनाएँ खड़ी हैं। अर्थात् यह उपेन्द्र अपने स्थानमें रहता हुआ अपनी विविध सेनाओं द्वारा संपूर्ण देशका संरक्षण करता था। जिस प्रकार इस समय अंग्रेजोंकी सेनाएँ भारतवर्षमें कई स्थानोंमें रखी जाती हैं और उनके द्वारा सब देशकी रक्षाका प्रबन्ध करने की योजना की गई है. उसीप्रकार देवोंके उपाध्यक्ष उपेन्द्र महाराज अपनी विविध स्थानोंमें रखी हुई सेनाओं द्वारा भारतवर्षकी जनताकी रक्षा करते थे। उपेन्द्रको अर्थात् विष्णुको मानवोंका रक्षक माना है इसका कारण यही प्रतीत होता है। ब्रह्मदेव विष्णु और महादेव ये तीन देव त्रिदेवोंके अंदर हैं. उनमेंसे विष्णु ही उपेन्द्र हैं और सबकी रक्षा करने वाले हैं। ब्रह्मदेवका राष्ट्र ब्रह्म-देश ही है क्योंकि इसकी पूर्व दिशा मानी गई है। महादेवका स्थान कैलास पर्वत सुप्रसिद्ध है और इस उपेन्द्र विष्णुका स्थान किसी हिमालयकी पहाड़ीमें होना संभव है. जिसका उस समयका नाम वैकुण्ठलोक सुप्रसिद्ध है। इस स्थानमें रहता हुआ उपेन्द्र जैसा अपना विक्रम भारत भूमि पर करता था उसीप्रकार तिब्बत में भी जाकर करता था। जिस प्रकार मुख्य राजाकी अपेक्षा उसका मुख्य सचिव विशेष राजकारण पटु होता है अथवा होना चाहिये; उसी प्रकार उपेन्द्र विष्णु देवोंके इन्द्र सम्राट्की अपेक्षा पुराणोंमें अधिक राजनीतिज्ञ बताया है। कमसे कम भारत-वासियोंके हित संबंधको देखकर हम कह सकते हैं कि भारत-वासियोंके लिये उपेन्द्र ही अधिक सहायता करते थे और हरएक प्रकारसे लाभकारी होते थे। इसी लिये हरएक कठिन प्रसंगमें भारतवासी विष्णुकी ही शरण लेते थे।

—·—

उपेन्द्र के अन्य नाम

विष्णु—(उपेन्द्र)—के नाम अनेक हैं जो महाभारतमें प्रसिद्ध हैं उनमें निम्न लिखित नाम इस प्रसंगमें विचार करने योग्य हैं—

१—(मेदिनीपतिः) पृथ्वीका राजा, (क्षितीशः) भूमिका मालिक, ये शब्द "भूपति" अर्थ बता रहे हैं।

२—(लोकाध्यक्षः) लोकोंका अध्यक्ष, (लोकस्वामी) लोकों का स्वामी, (लोकनाथ) लोगोंका नाथ, (लोकबंधु) जनताका भाई ये शब्द इसके साथ जनताका सम्बन्ध बता रहे हैं।

३—(सुराध्यक्षः) सुरोंका अध्यक्ष, (त्रिदशाध्यक्षः) देवोंका प्रधान ये शब्द इसके अध्यक्ष किंवा उपाध्यक्ष होनेकी सूचना कर रहे हैं।

४—(धर्माध्यक्षः) धर्मकी रक्षा करने वाला, धर्म विषयक सब प्रबन्ध करने वाला ये शब्द इसका धार्मिक क्षेत्र बता रहे हैं।

५—(इन्द्रकर्मा) इन्द्रके कार्य करने वाला यह शब्द उपेन्द्रके कर्म इन्द्रके समान हैं यह आशय व्यक्त कर रहा है।

६—(अग्रणी) मुखिया, (ग्रामणी) ग्रामका नेता ये शब्द इसका ग्रामोंका अधिकारी होना सिद्ध कर रहे हैं।

७—(महाबलः) बड़े सैन्यसे युक्त, (सु-षेणः) उत्तम सेनासे युक्त ये शब्द इसके सैन्यके बलके द्योतक हैं।

विशेष सैन्यसे युक्त होनेके कारण ही यह (जेता) विजयी, (समितिंजयः) युद्धमें विजयी और (अपराजितः) कभी पराभूत न होने वाला है।

८—(महोत्साहः) बड़े उत्साहसे युक्त, (सुरानंदः) देवोंको

आनन्द देने वाला (शास्ता) उत्तम राजशासन करने वाला, ये नाम भी पूर्व नामोंके साथ ही पढ़ने योग्य है।

१०—(वीरहा) शत्रुके बड़े वीरोंका नाश करने वाला, (नैकमायः) अनेक कार्य कुशलताके साथ करने वाला ये शब्द उसका कार्य कौशल बता रहे हैं।

इस प्रकार उपेन्द्रके नाम जो महाभारतके अनुशासनपर्व में प्रसिद्ध हैं देखनेसे उसके कार्यका पता लगता है। इससे भी अधिक इनके बहुतसे नाम हैं जो इनके अन्यान्य गुणोंका वर्णन कर रहे हैं उन सबको यहाँ उद्धृत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उपेन्द्रके कार्य

उपेन्द्र विष्णुके नामोंमें "दैत्यारि, मधुरिपु बलिध्वंसी, कंसाराति, कैटभजित्," इत्यादि नाम उसके कार्यके दर्शक हैं। दैत्यों का पराभव इन्होंने किया था; मधु, बलि कंस, कैटभ आदि दुष्टों का इन्होंने नाश किया था। इन नामोंके अतिरिक्त इनके बहुतसे नाम प्रसिद्ध हैं कि जो इनके कार्योंके द्योतक हैं। उन सबका यहाँ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। यदि पाठक उन नामोंका विचार करेंगे तो उनको उक्त बातका पता लग सकता है।

इन्द्रके नामोंका विचार करनेसे इसी प्रकार उनके कार्योंका पता लग सकता है। वृत्रादि राक्षसोंका वध करना तथा देवों और आर्योंकी रक्षा करना इनका प्रधान कार्य था और यही इतिहासों और पुराणोंमें विविध कथा प्रसंगोंसे व्यक्त किया है इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

महादेव

पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थने 'त्रिदेव निर्णय' में रुद्र (महादेव) को अग्निका रूपान्तर सिद्ध किया है।

अर्थात्—वेदोंमें रुद्र आदि नामोंसे अग्निका ही आलंकारिक वर्णन है।

कई विद्वानोंका मत है कि. शिवलिंगकी जो जलेरी है वह यज्ञ कुण्डका ही विकृतरूप है, तथा 'लिंग' अग्नि शिखाका रूपान्तर है।

वेदसे भी इस मतकी पुष्टि होती है।

(त्वमग्ने रुद्रः): ऋ० २.१६

तस्मै रुद्राय नमोस्त्वग्नये। अ० कां० ७।८७।१

इन मन्त्रोंमें स्पष्टरूपसे अग्निको रुद्र कहा गया है।

निरुक्त और रुद्र

निरुक्तमें रुद्रको मध्य स्थानीय देवता माना है। यथा—

वायुः, वरुण, रुद्रः, इन्द्रः, पर्जन्य, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः,

ये सात मध्यम स्थानीय देवता हैं। इनमें वायु मुख्य है।

यदरुदत तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्। (काठकश्रुति)

यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्। (यह हारिद्रु विक् श्रुति है)

अर्थात्—जो रोया सो रुद्रका रुद्रपना है।

इन श्रुतियोंके अनुसार इतिहास भी है, कि वह रुद्र अपने पिता प्रजापतिको बाणोंसे विंधे हुये देखकर शोकसे रोया था, इसीसे इसका नाम रुद्र प्रसिद्ध हुआ।

रुद्रः रौति-इति सतः रोरूयमाणो द्रवति, इति वा। रोदयतेर्वा ॥

अर्थात्—जो रोता है वह रुद्र है। अथवा बार बार या अतिशय रोकर चलता है, इससे रुद्र है। अथवा रोदयति प्राणियों को रुलाता है इससे रुद्र है। १०। १। ५

अभिप्राय यह है कि. (१) जो रोया. (२) जो रोता हैं. (३) जो रोता हुआ चलता है. (४) जो रुलाता है। वह रुद्र है निरुक्तकार के मतसे यह मध्यम स्थानीय 'वायु' देवता है। क्योंकि वायु शब्द करता हुआ चलता है। आगे निरुक्तकारने—

"अग्नि रपि रुद्र उच्यते"

कह कर अग्निका नाम भी रुद्र सिद्ध किया है. तथा अपने इस मतकी पुष्टिमें अथर्ववेदका मन्त्र भी लिख दिया है। अतः निरुक्तकारके मतमें 'रुद्र' अग्नि अथवा वायुका नाम है ईश्वरका नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थ और रुद्र

अग्निर्वै रुद्रः। श० ५।३।१।१०

रुद्रो अग्निः। तां० १२। ४। २४

एष रुद्रः, यदग्नि। तै० १। १। ५। ८

प्राणा वै रुद्राः प्राणाहीदं सर्वं रोदयन्ति।

जै० उ० ४। २। ६

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा। इति श० ११। ६। ३। ७

एषा (उदीची) वै रुद्रस्य दिक्। तै० १।७।८।६
रुद्रस्य बाहू (आर्द्रानक्षत्रमिति सायणः) तै० १।५।१।१

पं० भगवद्दत्तजीने वैदिक कोषमें लिखा है कि—

"तान्येतान्यष्टौ (रुद्रः सर्वः पशुपति, उग्रः, अशनि, भवः महान्देवः, ईशानः, अग्निरूपाणि, कुमारोनवमः) (कुमारः= स्कन्दः रुद्रपुत्रोऽग्नि पुत्रः अमरकोशे)

महाभारते वनपर्वणि, २२५। १५–१६"

रुद्रः—अग्नि वै स देवस्तस्यैतानि नामानि, शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते भव इति यथा वाहिकाः पशूनां पतिः, रुद्राऽग्निरिति। श० १।७।३।८

अर्थात्—"अग्निका नाम रुद्र है, तथा प्राणोंका नाम रुद्र है क्योंकि ये निकलते समय रुलाते हैं। रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भवः, महादेव, ईशानः, आदि सब अग्निके रूप हैं।

कुमार=स्कन्द, को जो कि शिवजीके पुत्र हैं उनको अग्निका पुत्र लिखकर दोनोंकी एकता प्रदर्शित की है। रुद्रकी उत्तर दिशा है, तथा आर्द्रा नक्षत्र रुद्रके हाथ हैं।

इसी अग्निको पूर्व दिशा वाले 'शर्व' कहते हैं, और किसी प्रान्त वाले 'भव' और कोई इसको 'रुद्र' तो अनेक इसी अग्निको 'पशुपति' आदि नामसे पुकारते हैं।"

सारांश यह है कि ऋग्वेद, अथर्ववेद, निरुक्त, सम्पूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ, तथा महाभारत और अमरकोश आदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें, अग्नि, वायु, प्राण, व प्राण सहित संसारी आत्माका नाम ही रुद्र है, किन्तु वर्तमान ईश्वरकी कल्पनाका संकेतमात्र भी नहीं है। तथा च—

ऋग्वेदके समयमें यह रुद्र अग्निका विशेषण मात्र था। पुनः यह अग्निका परिवर्तित रूपमें प्रकट हुआ, और यजुर्वेदके समयमें वैदिक कवियोंने, अग्नि, वायु, प्राण, आत्मा, तथा उत्तर दिशाका राजा आदिके गुणोंको आरोपित करके इस रुद्रको एक नये देवता का रूप प्रदान कर दिया।

पुनः पुराणकारोंने इसको और भी भयानक रूप दे दिया।

यही प्रजापति, विष्णु, आदि वैदिक देवोंकी अवस्था है।

ऐतिहासिक राजा रुद्र

जैसा कि—ऊपर लिखा जा चुका है, ब्राह्मण ग्रन्थोंमें रुद्रकी उत्तर दिशा बताई गई है।

इससे प्रतीत होता है कि यह उत्तर दिशाका एक राजा था। वे लोग, चोरी, डाका, आदिका ही कार्य करते थे संभवतः इसी लिये वेदोंमें इसको चोर, डाकुओं आदिका अधिपति कहा है।

नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये नमः।

यजुर्वेद० १६। २२

यजुर्वेदका यह पूरा अध्याय ही रुद्रकी स्तुतिमें लिखा गया है, इसीलिये इस अध्यायका नाम ही रुद्राध्याय है। इसमें स्पष्ट-रूपसे रुद्र (महादेव) को चोर, व डाकु आदियोंका अधिपति बताया है। पं० सातवलेकरजीने 'महाभारतकी समालोचना' में इसके ऐतिहासिक रूप पर अच्छा प्रकाश डाला है, अतः हम उसको अक्षरशः यहाँ उद्धृत करते हैं। आप लिखते हैं कि—

भूतनाथ

"महादेवके नामोंमें भूतनाथ, भूतेश, भूतपति आदि नाम

सुप्रसिद्ध हैं। "भूत नामक जातिका एक राजा" इतना ही भाव ये शब्द बता रहे हैं। भूतनामक जातिका राष्ट्र भूतान किंवा भूत-स्थान है। यह जाति इस समयमें भी अपने भूतानमें विद्यमान है इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। इस भूतजातिके राजा महादेव नामसे प्रसिद्ध थे। यद्यपि आज-कलका भूतान छोटा सा प्रदेश है तथापि प्राचीन कालमें और इस समयमें भी ये भूतिया लोग तिब्बतके दक्षिण भागमें रहते थे और रहते हैं। इसी कारण उनके राजा महादेवने अपनी राज-गद्दी मानस तालके समीप वाले कैलास पर्वत पर अथवा कैलास के पास बनाई थी। यहाँ रहते हुए भूतनाथ महादेव सम्राट् अपना शासन पूर्व दिशामें भूतनाथ पर तथा पश्चिम दिशामें पिशाच जाति पर करते थे।

"गिरीश" इसका नाम स्पष्टतासे बता रहा है कि यह पहाडी पर रहने वाला राजा था। गिरी अर्थात पहाड़ोंका राजा गिरीश कहलाता है। इसकी धर्मपत्नी भी पार्वती नामसे प्रसिद्ध है। "पार्वती" शब्द यही भाव बताता है कि यह पहाड़ी स्त्री थी। पहाड़ी राजाका विवाह पहाड़ी स्त्रीसे होना ही स्वाभाविक है।

इस महादेवका काल निश्चित करना चाहिये। इसका काल निर्णय हम इनके नामोंसे और इनके व्यवहारसे कर सकते हैं—

कृत्तिवासाः

यह शब्द इस कार्यके लिये बड़ा उपयोगी है। इसका अर्थ यह है—"कृत्तिः चर्म वासः यस्य।" जिसका कपड़ा चर्म ही है अर्थात् कपड़ेका कार्य चमड़ेसे करने वाला. अथवा चमड़ेको कपड़ेके समान पहनने वाला यह महादेव था। यह कृत्ति शब्द यद्यपि सामान्यता चमड़ेका वाचक है तथापि हाथीके या हिरनके

कच्चे चमड़ेका वाचक मुख्यतया है। ताजे पशुको मारकर उसका चमड़ा उतारकर उसी कच्चे चमड़ेका पहनना इस शब्दसे व्यक्त होता है। पाठक ही विचार कर सकते हैं कि यह भूतानी राजाकी रहने सहनेकी पद्धति सभ्यताके किस स्थान पर होना संभव है। हमारा तो यह विचार है कि कपासके या ऊन के कपड़े बुनने और पहननेकी प्रथा शुरू होनेके पूर्व युगका यह वर्णन है, क्योंकि जो मनुष्य एक बार ऊनी या सूती कपड़े पहननेकी सभ्यतामें आ गये, वे कच्चा चमड़ा पहननेके पूर्व युगमें जा ही नहीं सकते. मनुष्य कितनी भी उदासीनतामें रंगा क्यों न हो, वह कच्चा चमड़ा पहन ही नहीं सकता, यदि एक बार वह कपड़ोंकी सभ्यतामें आ गया हो। महादेवके वर्णनमें उस चमड़ेसे रक्तकी बूँदे चारों ओर टपकनेका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि वह बिलकुल कच्चा चमड़ा ही पहनता था। कई दिनोंके पश्चात वही चमड़ा सूख जाना भी संभव है, परन्तु यह शब्द उस समयकी सभ्यताकी दशाका वर्णन स्पष्टतासे कर रहा है. इसमें किसीको कोई शंका हो ही नहीं सकती। भूतानकी उस समयकी ही यह सभ्यता मानना उचित है; क्योंकि अन्य लोगोंमे राजाकी अवस्था कुछ अच्छी ही होना सदा ही संभवनीय है और जिनका राजा ही कच्चा चमड़ा पहनता है उन लोगोंकी सभ्यताकी अवस्था उससे अच्छी माननेका कोई कारण नहीं है। अस्तु। अब इस शब्दके साथ ही "कपाल-भृत" शब्द देखना चाहिये—

कपालभृत्

"कपालभृत, कपाली, कपालधारी" आदि शब्द समानार्थक ही हैं। कपाल अर्थात् खोपड़ी हाथमें धारण करने वाला। हाथमें बर्तनके स्थानमें खोपड़ीका उपयोग करने वाला। यह रिवाज भी

पूर्वोक्त अवस्थाकी ही सूचना करता है। जो कच्चा चमड़ा पहनने वाला है वही खोपड़ीके बर्तन उपयोगमें ला सकता है। दूसरा नहीं लायेगा। मिट्टी, ताँबे, पीतलके बर्तनोंका संबंध ऊनी या सूती कपड़ोंके साथ ही है। जिस सभ्यतामें कपड़ोंका स्थान चमड़े ने लिया है उसीमें बर्तनोंका स्थान खोपड़ी ले सकती है।

इसीके साथ "रुण्डमाला धारी" यह शब्द भी देखने योग्य है, खोपड़ियों अथवा हड्डियोंकी माला पहनने वाला, हड्डियोंके टुकड़े ही आभूषणोंके स्थानमें बरतने वाला। यह शब्द भी पूर्वोक्त सभ्यताके युगका सूचक है।

इसके साथ "खड्वांगपाणि" शब्द देखने योग्य है। इसका अर्थ है—"खटियाका भाग हाथमें धारण करने वाला" अर्थात् शस्त्रके रूपमें खटियाकी लकड़ी बर्तने वाला। इस शब्दके साथ बलरामजी का वाचक "मुसली, हली, हलायुध" आदि शब्द भी विचार करने योग्य हैं। चावल साफ करनेका मूसल, भूमि हलने का हल इनके शस्त्र बर्तने वाला बलराम था। अर्थात् साधारण घरके कार्यमें आने वाले पदार्थ मूसल हल या चारपाई आदि उन्हींको शस्त्रके स्थान पर बर्तने वाला। हलका उपयोग शस्त्रके समान करनेके लिये तथा चारपाईका उपयोग शस्त्रके समान करने के लिये प्रचण्ड शक्ति चाहिये इसमें संदेह नहीं है, परन्तु यहाँ हम देख रहे हैं कि जो सभ्यता विविध साधनोंके बर्तनेके कारण समझी जाती है उस सभ्यताकी अपेक्षा इनकी सभ्यता किस दर्जे पर थी। विचार करने पर पता लग सकता है कि वे महापुरुष उस सभ्यताके समयके हैं कि जिस समय लोग वस्त्रोंके स्थान पर चर्म, बर्तनोंके स्थान पर खोपड़ियाँ बर्तते और शस्त्रोंके स्थान पर चारपाईकी लकड़ियाँ भी उपयोगमें लाते थे।

यद्यपि महादेवके शस्त्रास्त्रोंमें हम देखते हैं कि इनके पास

"परशु, त्रिशूल, धनुष्यबाण, तथा अन्य शस्त्र" थे "पाशुपतास्त्र" नामक बड़ा तेजस्वी अस्त्र महादेवके पास था, तथापि साथ साथ हम पूर्वोक्त शब्दोंको भी भूल नहीं सकते। पांडवोंका अर्जुन वीर महादेवके पास शस्त्रास्त्र सीखनेके लिये जाता है और उनसे शस्त्र प्राप्त करके अपने आपको अधिक बलवान अनुभव करता है। ये बातें भी हमें इस समय विचार कोटीमें लानी चाहियें। परशु, त्रिशूल बाण ये शस्त्र अच्छा फोलाद बनाने वालोंका युग बता रहे हैं। और पूर्वोक्त "कृत्तिवासाः" आदि शब्द बहुत पूर्वकालकी ओर हमें ले जा रहे हैं। इसलिये हम अनुमानके लिये दोनों युगों के मध्यका काल इस सभ्यताके लिये मान सकते हैं।

भूमि पर एक ही समय विभिन्न अवस्थाओंकी सभ्यतायें विभिन्न देशोंमें रहती हैं। देखिये इस समय युरोपमें विमानों और मोटरोंकी सभ्यता है, भारतमें बैलगाड़ीकी सभ्यता है और तिब्बत में पैदल चलनेकी सभ्यता है। परन्तु भारतवर्षमें युरोपीयनोंके कारण विमान और मोटरें आती हैं और कई धनी भारतीय लोग भी मोटरोंकी सवारी उपभोगते हैं। तथापि यह माना नहीं जायगा कि इस समय भारतकी सभ्यता मोटरोंकी है, क्योंकि यहाँ भारतियोंको बुद्धिमतासे मोटरें तो क्या परन्तु मोटरका एक भी भाग बनता नहीं है। इसी प्रकार आफ्रिदी लोग युरोपकी उत्तम बंदूकें बर्तते हैं, परन्तु वे स्वयं उन बंदूकोंको बना नहीं सकते। पठान लोग स्वयं करीब कच्चे चमड़े की सभ्यतासे थोड़े ऊपर रहते हुए भी विमानोंके युगकी बंदूकें बर्त सकते हैं। इसका कारण यही है कि अन्य देशके बने हुए पदार्थ दूसरे देशमें लाये जाते हैं और वहां उसका उपयोग किया जाता है; इसी प्रकार भूतिया लोग बहुत प्राचीन कालमें कच्चे चमड़े बर्तनेकी अवस्था में रहते हुए भी बाहरके देशसे बने हुए फोलाद आदि लाकर कुछ

प्रयोग विशेषसे अपने शस्त्रास्त्र बनाते होंगे। परशु, त्रिशूल, बाण और पाशुपतास्त्रके उपयोगके कारण उनकी सभ्यताका दर्जा बहुत ऊँचा मानना कठिन है। क्योंकि इनके साथ साथ कच्चे चमड़ोंका कपड़ोंके समान उपयोग, खोपड़ीका बर्तनोंके समान उपयोग हड्डियोंका आभूषणोंके समान उपयोग करनेकी प्रथा भी उनका विशिष्ट दर्जा निश्चित करती है। भूत और पिशाच जातिके लोग उस समयके असभ्य अवस्थाके लोग थे, यह बात महाभारतादि ग्रन्थ पढ़नेसे उसी समय ध्यानमें आजाती है, परन्तु महादेवादि वीर महापुरुष उनसे विशेष उच्च अवस्था पर मानना योग्य है क्योंकि इनकी मान्यता अन्य रीतिसे भी उस समय सबको मान्य हुई थी।

क्रतुध्वंसी

महादेवका विचार करनेके समय उसका यज्ञविध्वंसक गुण भी देखना चाहिये। "क्रतु-ध्वंशी" शब्दका अर्थ यज्ञका नाश करने वाला है। महादेव यज्ञका नाशक प्रसिद्ध है। दक्षप्रजापतिके यज्ञका नाश उसने किया था। दक्षप्रजापति उसका संबंधी भी था। यज्ञका विध्वंस करनेके हेतु इस महादेवके विषयमें थोड़ी शंका उत्पन्न होती है और वह शंका दृढ़ होती है कि जिस समय हम देखते हैं कि महादेव सदा असुरों और राक्षसोंकी सहायता करता है। बाणासुरादिकोंको महादेवकी सहायता हुई थी और उसी कारण देवों और आर्योंको बड़े कष्ट हुए थे। बाणासुर जैसे वासियों राक्षसों को महादेवसे सहायता मिलती थी और इस कारण वह प्रबल होकर देवों और आर्योंको सताते थे। महादेवका यज्ञ विध्वंस करनेका स्वभाव और असुरोंको देवों और आर्योंके विरुद्ध प्रबल बनानेकी राजनीति स्पष्ट सिद्ध कर रही है कि ये प्रारंभ में न तो देवोंके पक्षपाती थे और न आर्योंके सहायक थे।

परन्तु बहुत समय तक अपने ढङ्गसे चलने वाले स्वतन्त्र और देवों या आर्योंके कल्याणके विषयमें पूर्ण उदासीन हो रहे थे। परन्तु उपेन्द्र विष्णुके प्रयत्नसे अनेक बार असफलता प्राप्त होने के कारण महादेवने अपने आपको देवोंके पक्षमें रखना योग्य समझा और तत्पश्चात् उनसे देवों और आर्योंको कोई कष्ट नहीं हुए। अर्थात् ये पूर्व आयुमें राक्षसोंके सहायक थे परन्तु पश्चात्की वृद्धावस्थामें देवों और आर्योंके हितकारी बन गये।

यज्ञभागके लिये युद्ध

इससे पूर्व बताया ही है कि महादेव "क्रतुध्वंशी, यज्ञहन, यज्ञघाती" आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। दक्ष प्रजापतिका यज्ञ इन्होंने नष्ट भ्रष्ट किया था। इसकी कथायें रामायण महाभारत आदि इतिहासोंमें प्रसिद्ध हैं और प्रायः पुराणोंमें भी हैं। इसका वृत्तांत यह है—

"दक्षप्रजापतिने यज्ञ किया था उन्होंने संपूर्ण देवोंको निमंत्रण दिया था, परन्तु महादेवको निमन्त्रण देना भी उसने उचित न समझा। इस पर झगड़ा हुआ और झगड़ा बढ़ते बढ़ते युद्धमें परिणत हुआ। महादेवने अपने भूतगणोंको अपने सेनापतिके साथ यज्ञके स्थान पर भेजा और उन्होंने वहां जाकर यज्ञमंडप और संपूर्ण यज्ञका नाश किया—

केचिद्बभंजुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे।
सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥ १४ ॥
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन्।
कुण्डेष्वमूत्रयन्केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥ १५ ॥

अबाधन्त मुनीनन्य एके पत्नीरतर्जयन् ।
अपरे जगृहुर्देवान्प्रत्यासन्नान्पलायितान् ॥ १६ ॥

श्री भागवत ४ । ५

"कईयोंने यज्ञशालाके बांस तोड़ दिये पत्नीशालाका भेदन किया, सभास्थान, आग्नीध्रशाला और पाकशालाका नाश कईयों ने किया, कईयोंने यज्ञपात्र तोड़े, दूसरोंने अग्नियोंको बुझाया, यज्ञकुंडोंमें कईयोंने मूत्र किया, वेदी मेखला कईयोंने तोड़ दिये, ऋषि मुनियोंको कईयोंने धमकाया। पत्नीयों—स्त्रियोंका अपमान भी कईयोंने किया, अन्योंने देवोंको पकड़ कर खूब ठोक दिया।

इस बलवेमें देवोंको भी खूब चोटें लगीं कई देवोंके दांत टूट गये, कईयोंको बड़ी जखमें होगई, कईयोंके आंख फट गये इसका वर्णन भी देखिये—

जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताऽक्षिणी भगः ।
भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥ ५१ ॥
देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः ।
भवतानुगृहीतानामाशु मन्योस्त्वनातुरम् ॥ ५२ ॥

श्री० भागवत ४ । ६

"यजमान जीवे, भगके आँख ठीक हों, भृगुकी मूछियाँ ठीक हों, पूषाके दांत पहिले जैसे हों, पत्थरोंसे फटे देवोंके गात्र और ऋत्विजोंके अंग ठीक हों।" इस वर्णनसे पता लगता है कि यजमान दक्ष प्रजापति बहुत घायल हुआ था, यहां तक कि उसके जीवित रहनेमें भी शंका उत्पन्न हुई थी, भग देवताके आंख टूट गये थे, पूषाके दाँत टूट गए थे, भृगुकी दाढ़ी मूछें काटी गई थीं और अन्यान्य देवोंके शरीरोंपर अन्यान्य स्थानोंमें बड़े भारी भारी

जखम बने थे । इस झगडे से महादेव को जो यज्ञ भाग प्राप्त हुआ उसका भी वर्णन यहां देखिये—

एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै ।
यज्ञस्ते रुद्र भागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥ ५० ॥

श्री० भागवत । ६४ ।

"हे यज्ञघात करने वाले रुद्र महादेव ! यज्ञ का उच्छिष्ट अन्न-भाग आपका होगा । इससे यज्ञ बढे ।"

अर्थात् यज्ञका उच्छिष्ट अन्नभाग महादेव और उनके भूतगणों को देने का निश्चय करने से महादेव और भूतगणों ने आगे कभी यज्ञका घातपात नहीं किया । उच्छिष्ट अन्नभाग का तात्पर्य झूठा अन्न ऐसा ही समझने का कोई कारण नहीं है, उसका इतना ही तात्पर्य दीखता है कि अन्यान्य देवों का अन्नभाग देने के पश्चात् जो अन्नभाग अवशिष्ट रहेगा वह रुद्र को दे देना । इतने अन्नभाग पर भूतगणों की संतुष्टी हुई । युद्ध करके अन्न का भाग किंवा अन्नका अग्र भाग भी नहीं लिया, परन्तु यज्ञके उच्छिष्ट भागपर ही संतुष्ट हो गये ।

दक्षादि आर्य लोग देवों का सत्कार करते थे और उनको अन्न भाग देते थे । परंतु भूत लोगोंको या उनके भूतनाथ महादेवको न कोई यज्ञ में निमंत्रण देता था और न अन्नभाग देते थे । यज्ञ के समय देवजाती के लोग यज्ञमंडप में आकर प्रधान स्थान में बैठते थे और ताजा अन्न का भाग भक्षण करते थे । आर्य लोग भी उस प्रकार यज्ञमें समिलित होते थे और शेष बचा अन्न भूमिमें गाडते या जल में बहा देते थे । परंतु भूत लोगों को यज्ञमंडप में आने की और अन्न भाग प्राप्त करने की आज्ञा न थी । आजकल भी जिस प्रकार द्विजोंके यज्ञादि कर्म करने के स्थानमें अंत्यज, ढेड

चमार, अथवा म्लेच्छ, यवन आदि अन्य धर्मीय लोग नहीं आ सकते हैं, उस प्रकार पूर्व समय की यह बात होगी। इसलिए भूत लोग यज्ञमंडपके आस पास अन्नकी इच्छासे धूपमें तडपते और बरसातमें भींगते हुए भ्रमण करते रहते होंगे। परंतु घंमडी आर्य शक्तिके अभिमानी देव इन भूतोंकी भूखसे पीडित अवस्थाका कुछ भी ध्यान नहीं करते थे। पाठक देख सकते हैं और विचार कर सकते हैं कि भूखे लोग इतना अपमान और कष्ट कितने दिन तक बरदाश्त कर सकते हैं? अंतमें इन भूत लोगोंने यज्ञमंडप पर पत्थर फेंके और एकदम अंदर घुस कर यज्ञकी बड़ी खराबी की।"

ईश्वर विषयक

आर्य समाजके महान् वैदिक विद्वान् श्रीमान् पं० सातवलेकर जी का मत।

आप 'ईश्वरका साक्षात्कार' पुस्तकके प्रथम भागमें लिखते हैंकि

"ये सभी (वैदिक) ऋषि 'ईश्वर विश्वरूप है' ऐसा ही कह रहे हैं। पाठक यहाँ यह बात स्पष्ट रीतिसे समझें कि, ईश्वर विश्वमें व्यापक है' ऐसा इनका भाव यहाँ नहीं है। प्रत्युत जो विश्वरूप दीख रहा है, या अनुभवमें आ रहा है, वही प्रत्यक्ष ईश्वरका स्वरूप है। ऐसा ही इनका कथन है। आज ईश्वरको अदृश्य माना जाता है, पर विश्वरूप दृश्य होनेसे वैदिक ईश्वर भी दृश्य ही है। यही उपनिषद् और गीताके 'विश्वरूप' वर्णनसे स्पष्ट होता है। आजकल की प्रचलित कल्पनासे यह सर्वथा विभिन्न है, इसमें सन्देह नहीं है।" वर्तमान माननायें,

(१) ईश्वर बहुत दूर है, (२) ईश्वर हरएक वस्तुमें है, (३) ईश्वर अन्दर है और बाहर भी है, (४) ईश्वर सबमें है और सब ईश्वर

में हैं, (५) ईश्वर ही सब कुछ है। इनमें अन्तिम धारणा वैदिक है।" पृ० ६ *

एक ईश्वरकी सार्व भौम सत्ता मानने पर, तथा ईश्वरको सर्व-व्यापक मानने पर दूसरी सृष्टिकी सत्ता मानना कठिन है। क्योंकि एक ही स्थानमें दो वस्तुओंका रहना असंभव है। जहाँ सृष्टि है वहाँ ईश्वर नहीं और जहाँ ईश्वर होगा, वहां सृष्टि नहीं ऐसा मानने की ओर प्रवृत्ति होती है। सब भूतोंमें ईश्वर है ऐसा माननेसे इसका अर्थ सब भूत खोखले हैं। अतः वहां खोखले पनमें ईश्वर रहा है ऐसा होता है।

इसी तरह ईश्वरमें सब भूत हैं, ऐसा कहते ही ईश्वरमें ऐसा स्थान है, जहां सब भूत रह सकते हैं, ऐसा ही मानने पड़ेगा।

दो या तीन पदार्थ ईश्वरके अतिरिक्त हैं और उनके साथ ईश्वर भी सर्व व्यापक है, इस कथनका तर्क दृष्टिसे कुछ भी मूल्य नहीं है। तथापि ये लोग तथा द्वैतसिद्धान्तको मानने वाले सब सम्प्रदाय ऐसा ही मानते आये हैं।

ये ईश्वर, प्रकृति और जीवको अनादि मानते हैं और वैसा मानते हुये ईश्वरको सर्वव्यापक भी मानते हैं।" पृ० ९८

यहाँ आर्य समाजके मूल सिद्धान्तको ही तर्क और वेद विरुद्ध सिद्ध किया गया है।

चोर आदि सब ईश्वर हैं

आगे आप लिखते हैं कि—

"घातक, चोर, डाकू, लुटेरे, ठगने वाले, धोखेबाज, फरेबी, मक्कार, कपटी, छल करने वाला, नियमोंका उल्लंघन करने वाला,

* इसमें तृतीय और चतुर्थ सिद्धान्त आर्य समाजका है, जिसको स्पष्टरूपसे अवैदिक बनाया गया है।

रात्रिके समय दुष्ट इच्छासे भ्रमण करने वाला, निःसन्देह ये दुष्ट भाव वाले मानवोंके वाचक (शब्द) हैं। परन्तु ये भी रुद्रके ही रूप हैं। जिस तरह ज्ञानदाता ब्राह्मण, सबके पालन करने वाले क्षत्रिय, सबके पोषणकर्ता वैश्य, और सबकी सहायतार्थ कर्म करने वाले शूद्र, रुद्रके रूप हैं, उसी प्रकार चोरी करके लोगोंको लूटने वाले रुद्रके ही रूप हैं पाठकोंको यह माननेके लिये बड़ा कठिन कार्य है। चोर भी परमात्माका अंश है। क्या यह सत्य नहीं है। पृ० १६३

चार वर्णोंके मानवोंका जीव जैसा परमात्माका अंश है, वैसा ही चोर, डाकू, लुटेरोंका जीव भी परमात्माका अंश है।...

वेदका कथन है कि—जिस तरह चार वर्णोंमें विद्यमान जनता संसेव्य है, इसी तरह चोर, डाकू, आदि भी वैसे ही संसेव्य हैं।"

पृ० १६४

जन्म आदि कर्मसे नहीं है

"आजकल जो बताया जाता है कि—पूर्व कर्मके पापके भोग भोगनेके लिये जीव शरीर धारण करता है, अर्थात् जन्म पाप मूलक है, यह वेदका सिद्धान्त नहीं है। यह जैन, बौद्धोंकी कल्पना वैदिक धर्मियोंके अन्दर घुस गई है।" पृ० २७८

इस प्रकार आपने यह सिद्ध कर दिया कि—ईश्वर विषयक वर्तमान सम्पूर्ण मान्यतायें अवैदिक हैं।

इसके लिये हम आपको शतशः धन्यवाद ही देंगे। किन्तु यदि आप थोड़ा और विचार करते तो आपको अपनी यह नवीन कल्पना भी अवैदिक और तर्क हीन प्रतीत होती।

मुक्ति नहीं

आप लिखते हैं कि—"समूचा विश्व एक ही सत्ता है (एकं

सत) यहाँ विभिन्न सत्ताके लिए स्थान नहीं। सब मिलकर एक ही सत्तामें परिणत होनेसे मुक्ति सबकी मिलकर एक होगी।" पृ०४५५

इस प्रकार आपने कर्म सिद्धान्त तथा मुक्ति, और मुक्ति के साधन, तप आदिके लिए सन्यास धारण आदि सबको वैदिकधर्म पर जैनियों की अमिट छाप, बताया है। परंतु इस प्रश्न का इनके पास कोई उत्तर नहीं है कि यह ईश्वर बिना कारण चोर, डाकू लुटेरा, व्यभिचारी, घातक आदि बननेके लिए क्यों प्रवृत्त होता है॥

तथा आपके सर्वैक्यवाद के मानने पर पाप और पुण्य आदि की व्यवस्था का आधार क्या है ?

क्योंकि आपके मतसे जन्म कर्म मूलक तो है नहीं! अपितु आपके मतानुसार तो ईश्वर बिना प्रयोजन, और बिना किसी कारण के स्वयं ही प्रत्येक समय गधा, घोड़ा, कुत्ता बिल्ली पशु पक्षी व मनुष्य आदि का रूप धारण करता रहता है। इस प्रकार अनेक शंकायें हैं जिनका विवेचन हम आगे वेदान्त दर्शन प्रकरण में करेंगे। यहां तो यही कहना है कि आपकी यह मान्यता भी अवैदिक है। क्योंकि आपने जिन वैदिक मंत्रोंके आधारसे अपने मतकी स्थापना की है, हमने उन सब मन्त्रोंके यथार्थ अर्थ लिख कर सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि सब कथन जीवात्मा की अवस्थाओंका है। अर्थात् किसी जगह तो निश्चय नयसे शुद्धात्मा (परमात्मा) का वर्णन है, और कहीं अन्तरात्मा (आत्मज्ञानी महात्मा) का कथन है, तो कहीं वहिरात्मा, अर्थात् संसारी आत्मा (संसार में लिप्त का वर्णन है।

॥ यह वर्णन रुद्रका है, जिसको आपने स्वयं (महाभारतकी समालोचना में) भूत जाति (भूटान) का तथा पिशाच जातिका राजा सिद्ध किया है अतः यह चोरी व डाका डालने वाली जातियोंका अधिपति था यह सिद्ध है। इसको ईश्वर कहना ईश्वरका मजाक उड़ाना है।

प्राण महिमा

इसी विषयको विशेष स्पष्ट करनेके लिए हम वैदिक साहित्यमें जो प्राणोंकी महिमाका वर्णन है, उसको लिखते हैं। इस वर्णनसे पाठकोंको वैदिक अध्यात्म विद्याका भी रहस्य समझमें आजाएगा, तथा वेदोंमें जो सृष्टि रचना के मन्त्र प्रतीत होते हैं उनका भेद भी प्रकट हो जायगा।

प्राणोंका माहात्म्य:

"(वैदिक वांगमयमें)—सूर्यके जितने अश्व, वृषभ, हंस आदि आरोपित नाम आते हैं जीवात्मा को भी उन नामों से पुकारते हैं। सूर्य्यके सप्त प्रकार किरण हैं। जीवात्माके भी दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकायें, एक वाणी ये सप्त किरण सम हैं। सूर्य्यके साथ भी कहीं प्राण और मन, कहीं प्राण, मन और वाणी, कहीं प्राण, मन, वाणी, और विज्ञान, कहीं चक्षु श्रोत्र, मन वाणी, कहीं पंचेन्द्रिय षष्ठ मन इत्यादि समानता है। जैसे सूर्य्यके द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी तीन लोक हैं। तद्वत् जीवात्माके पैरसे कटि पर्यन्त एक पृथिवी लोक, मध्यशरीर दूसरा अन्तरिक्षलोक, तीसरा द्युलोक। अथवा एक स्थूल शरीर, दूसरा इन्द्रिय, तीसरा मन ये तीन लोक हैं भाव यह है कि जीवात्मा और सूर्यको अनेक प्रकारसे परस्पर उपमित करते हैं। यह जीवात्मविशिष्ट जो नयन, कर्ण, नासिका, रसना आदिक गण हैं। वे यहाँ प्राण नामसे उक्त हैं।

प्राण ही सुपर्ण (पक्षी) है:

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्।
अनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति ॥

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः ।
स माधीरः पाकमत्राविवेश ॥ नि० । ३ । १२ ॥

यहां यास्काचार्य्य सूर्य्य और जीवात्मा दोनोंका वर्णन करते हैं सूर्य्य पक्षमें सुपर्ण=किरण । आत्मपक्षमें सुपर्ण=इन्द्रिय । जीवात्म विशिष्ट प्राण ही पक्षी है ।

पुरश्च क्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् । बृ०।२।५।१८

इस प्राण सहित जीवात्माके द्विपद, चतुष्पद सब ही पुर (ग्राम) हैं अतः यह पुरुष कहाता है। पक्षी ही के सर्वत्र प्रविष्ट है।···

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीना मृषिर्विप्राणां महिषी मृगाणाम् । श्येनी गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन ॥ नि० परि० २ । १३ ॥

इस ऋचामें ब्रह्मा, पदवी, ऋषि महिष, श्येन, स्वधिति और सोम ये सब जीवात्माके ,नाम और देव, कवि, विप्र, मृग, गृध्र, वन ये सब इन्द्रियोंके नाम हैं । ऐसा यास्काचार्य कहते हैं ।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होतावेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् । निरुक्त ।

यहाँ हंस आदि प्राण सहित जीवात्माके नाम कहे गये हैं ।

प्राण ही सप्त ऋषि हैं

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ।
सप्त रक्षन्ति सद् मप्रमादम् ॥

सप्ताप: स्वपतो लोकमीयुः ।

तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ नि०दै०६।३७

यहाँ भी दोनों पक्षों में घटाते हैं। सूर्य रूप शरीर में सात किरण ही सप्त ऋषि हैं। वे ही किरण प्रमाद रहित हो सम्वत्सर की रक्षा करते हैं। सूर्य के अस्त होने पर भी ये ही सात (आप:) सर्वत्र व्यापक होते हैं। सूर्य और वायु दोनों जगते रहते हैं। इत्यादि सूर्य पक्ष में (षड्+इन्द्रियाणि+विद्या+सप्तमी) छः इन्द्रिय और सप्तमी विद्या ये सातों ऋषि हैं। ये ही शरीर की रक्षा करते हैं, सोजाने पर ये सातों आत्म रूप लोक में रहते हैं प्राज्ञ और तैजस आत्मा सदा जगते रहते हैं प्राज्ञ=जीवात्मा। तैजस=प्राण यहाँ यास्क छः इन्द्रिय कहते हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, षष्ठ मन।

तिर्य्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्ववुध्नो।

यस्मिन् यशो निहितं विश्व रूपम् ॥

अत्रासत ऋषयः सप्त साकम्।

ये अस्य गोपा महतो वभूवुः ॥ नि० दै० ६ । ३७ ॥

यहाँ भी यास्क दोनों पक्ष रखते हैं। आत्म पक्षमें सप्त ऋषि पदसे सप्त इन्द्रिय लेते हैं। दो नयन, दो घ्राण, दो नासिकायें और एक जिह्वा प्रायः ये ही सात अभिप्रेत हैं।

इसकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मणमें भी है परन्तु यहाँ पाठ इस प्रकार है।

अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्ववुध्नः।

तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ॥

तस्या सप्त ऋषयः सप्त तीरे।

वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥

इस शरीरमें जो शिर है वही चमस (पात्रवत्) है (अर्वाग्-बिल) इसका मुखरूप बिल (छिद्र) नीचे है। मूल ऊपर है। इस शिरोरूप चमस पात्रमें प्राणरूप सम्पूर्ण यश स्थापित है। इसके तट पर प्राण रूप सात ऋषि हैं। और अष्टमी वाणी वेद (ब्रह्म-आत्मा) से सम्वाद करती हुई विद्यमान है। आगे इन सातोंके नाम भी कहते हैं। दोनों कर्ण = गौतम, भरद्वाज। दोनों चक्षु = विश्वामित्र, जमदग्नि। दोनों नासिकायें = वसिष्ठ, कश्यप। वाणी = अत्रि।

प्राण ही ऋषि हैं

अतएव ब्राह्मण ग्रन्थोंमें

"प्राणा वै ऋषयः" शत० ६। १ "प्राणा वै ऋषयः"

इस प्रकारका पाठ बहुत आता है।

प्राणा उ वा ऋषयः ॥८।४॥ प्राणा वै वालखिल्याः॥८॥

इत्यादि शतपथादि ब्राह्मणोंमें देखिये।

शत पथब्रा० के अष्टम काण्डके आरम्भमें ही लिखा है।

"प्राणो भौवायनः। प्राणो वै वसिष्ठऋषिः। ६। मनो वै भरद्वाजः। चक्षुर्वैजमदग्नि ऋषिः। वाग् वै विश्वकर्माऋषिः

इत्यादि अनेक प्रमाणसे सिद्ध होता है कि वेदोंमें जो वसिष्ठ आदि पद आए हैं वे प्राणोंके, अथवा प्राण विशिष्ठ जीवात्माके नाम हैं।

प्राण ही सप्त शीर्षण्य प्राण हैं

सप्त वै शीर्षन् प्राणाः। ऐतरेय ॥ २ ॥ २ ॥

"सप्त शीर्षण्याः प्राणाः"

ऐसा पाठ ब्राह्मणोंमें बहुत आता है दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और एक वाग् ये ही सप्त शीर्षण्य प्राण हैं।

प्राण ही भूर्भुवादि सप्त लोक हैं

प्राणायाम के समयमें

"ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम्"

यह मन्त्र पढ़ते हैं।

प्राण + आयाम = प्राणोंके अवरोध करनेका नाम प्राणायाम है भू आदि प्राणोंके नाम हैं।

१४—चतुर्दश लोकोंका जो वर्णन है वह प्राणोंका ही वर्णन है। ये ही सात प्राण—दो चक्षु, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और वाग् ऊपर के लोक हैं, + और दो हाथ दो पैर एक मूत्रेन्द्रिय मलेन्द्रिय और एक उदर ये सात नीचेके सात लोक। अतल, वितल, सुतल, महातल, रसातल और पाताल नामसे पुकारे जाते हैं।

प्राण ही ४६ वायु हैं

महाभारतादिकों में गाथा है कि कश्यपकी स्त्री दितिको जब गर्भ रहा तब "इन्द्र यह जान कर कि इससे उत्पन्न बालक मेरा घातक होगा" दितिके उदरमें प्रविष्ट हो गर्भस्थ बालकको प्रथम ७ सात खण्ड कर पुनः एक एकको सात २ खण्ड कर वाहर निकल आया। दिति ने इसके साहसको देख अपने ४६ पुत्रों को इन्द्र के साथ कर दिया तब ही से वे मरुत् वा मारुत् कहाते हैं और इन्द्र के सदा साथ रहते हैं। भाव यह है कि:— दिति नाम व्यष्टि शरीर

का और अदिति नाम समष्टि शरीरका है। (दो अखखण्ड ने) जो सीमा बद्ध, विनश्वर शरीर है वह दिति तद्भिन्न अदिति। इन्द्र नाम जीवात्मा का है । इन्द्रिय शब्द का अर्थ इन्द्र लिङ्ग है अर्थात इन्द्रका चिन्ह करण द्वारा इन्द्र (जीवात्मा) का बोध होता है अतः इस नेत्रादिक समूहको इन्द्रिय कहते हैं। इस से विस्पष्ट सिद्ध है कि इन्द्र नाम जीवात्मा का भी है । मनुष्य से लेकर कीट पर्यन्त का जो शरीर वह दिति, क्यों कि यह सीमाबद्ध खण्डनीय और विनश्वर है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका जो अखण्ड, असीम, अविनश्वर शरीर है वह अदिति है। इस अदिति के पुत्र जीवके सदगुण आदि देव हैं। अतः ये भी अविनश्वर हैं । और दितिके पुत्र राक्षस हैं। वे विनश्वर हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि जो शरीरके धर्म हैं वे ही यहां राक्षस हैं। इन दोनोंमें सदा संग्राम रहता है। परन्तु प्राण (नयन, कर्ण नासिका इत्यादि) भी तो भौतिक हैं अतः ये भी दितिके पुत्र हैं फिर प्राणों और जीवात्मा में बड़ा विरोध रहना चाहिये। परन्तु रहता नहीं । यद्यपि ये भौतिक और विनश्वर हैं तथापि ये सदा जीवात्मा इन्द्रके साथी हैं। भौतिक होनेके कारण ही ये ही इन्द्रिय कभी २ असुररूप धारण कर जीवात्मासे घोर संग्राम करते हैं, इसी भावके दिख-लानेके लिये इस आख्यायिका की सृष्टि हुई है। इस शरीरमें मुख्य एक ही प्राण है। जीवात्माके योगसे यही एक प्राण सात होते हैं, दो नयन, दो कर्ण, दो नासिकाएँ और एक जिह्वा, पुनः इन सातोंकी अनन्त विषय वासनाएँ हैं। इसीको ७ + ७ सातको सातसे गुणाकर ४९ दिखलाया है । विनश्वर होनेके कारण मरुत् = मरण शील कहाता है और ये सदा इन्द्रके साथ रहते हैं। इन्द्र बिना इनका अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः वेदोंमें भी इन्द्रको मरुत्वान् कहा है।

—०—

प्राण ही सप्त होता हैं

येभ्यो होत्रां प्रथमा मायेजे । मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ॥ १० । ६३ । ७ ॥

मनु=जीवात्मा । (समिद्धाग्नि) जिसने हृदयरूप अग्निको प्रदीप्त किया है वह (मनुः) जीवात्मा (मनसा + सप्तहोतृभिः) मन और सप्तेन्द्रिय रूप सप्त होताओंके साथ (प्रथमाम) उत्तम (होत्राम + आयेजे) यज्ञ सम्पादन करता है ।

होत्रा=हूयन्ते हवींषि यत्र सा होत्रा यज्ञः । माष० ॥

येन यज्ञस्तायते सप्त होता । यजुः ।

जिस यज्ञमें चक्षु आदि सप्त होता है । वेदों और शतपथादि ब्राह्मणोंके देखनेसे यह प्रतीत होता है कि यज्ञादि विधान भी केवल प्रतिनिधि स्वरूप हैं । अध्यात्म यज्ञों के स्थान में विविध ऋत्विकोंके साथ बाह्य यज्ञ करके दिखलाए जाते हैं । कहाँ तक वर्णन किया जाय । सप्तसिन्धु, सप्तलोक, सप्तराशि, सप्तार्चि, सप्ताग्नि, सप्तहोत्र आदि पदोंसे भी सप्तेन्द्रियोंका ही ग्रहण है । बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्य कहते हैं ।

१—वाग्वै यज्ञस्य होता । २—चक्षुर्वै यज्ञस्याऽध्वर्युः । ३—प्राणो वै यज्ञस्य उद्गाता । ४—मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा ।

यहाँ पर देखते हैं वाग्, चक्षु, प्राण, और मन ये ही चार होता है, अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा है ।

पुनः वाह्य यज्ञ तीन प्रकारकी ऋचाएँ तीन समयमें पढ़ी जाती हैं वे पुरोनुवाक्या १ याज्या २ और शस्या कहाती हैं ।

याज्ञयल्क्य कहते हैं,

"प्राण एव पुरोऽनुवाक्या; अपानोयाज्या, व्यानः शस्या"

प्राण ही पुरोऽनुवाक्या है, अपान याज्या है और व्यान-शस्या है। ऐतरेय ब्राह्मण ६, १४ में कहा है।

प्राणो वै होता। प्राणः सर्व ऋत्विजः। ६। ३ में वाग्वै सु ब्रह्मण्या. २। २८ में, मनो वै यज्ञस्य मैत्रा वरुणः। २। २७ में, प्राणा वै ऋषयो दैव्यासः। १। ७ में प्राणा पानौ अग्नीषोमौ चक्षुषी एव अग्नीषोमौ।

प्राण ही गौ, धेनु और विप्र हैं। और आत्मा सोम है।

सोमं गावो धेनवो वावशानाः।
सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः॥
सोमः सुतः पूयतेऽअज्यमानः।
सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः संनवन्ते। नि० परिशिष्ट २॥

सूर्य पक्षमें गौ, धेनु और विप्रपदसे किरणोंका, और आत्म-पक्षमें इन्द्रियोंका ग्रहण है।

इसी प्रकार हंस, समुद्र, कृपा आदि दोनोंके नाम कहे गए हैं।

प्राण ही चन्द्रमा है।

विधुं दद्राणं समने बहूनां।
युवानं सन्तं पलितो जगार॥
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान।
नि० परि० २।

(पलितः) आदित्य (समने बहूनां + दद्राणम्) आकाश में विविध नक्षत्रोंके मध्यमें दमनशीला (युवानम् + सन्तं +

" विधुम्) युवा चन्द्रमा को (जगार) निगल जाता है। (देवस्य + महित्वा + काव्यम् + पश्य) सूर्यके महान् सामर्थ्यको देखो (अद्य + ममार) चन्द्रमा आज मरता है। (ह्यः + सः + सम् + आन) परन्तु कल ही पुनः जी उठता है (समने) संहाररूप संग्राममें जो प्राण (बहूनाम् + दद्राणम्) बहुतोंको दमन करने हारा है (युवानम् + सन्तम्) और जो सदा युवा रहता है (विधुम) उस प्राणरूप चन्द्रमाको (पलितः) जरावस्थाके कारण शुक्ल केश रूप पुरुष (जगार) गिरजाता है। इस देवकी महिमा देखो। यह प्राण आज मरता है कल पुनः जन्म लेता है।

सम् आन = अन-प्राणने। अन् धातुसे "आन" लिट् में बना है। इत्यादि कहाँ तक उदाहरण लिखें जाय। निरुक्तमें अध्यात्म और अधिदैवत पक्ष देखिये। यद्यपि परिशिष्ट यास्कृत प्रतीत नहीं होता तथापि यास्कानुकूल है इसमें सन्देह नहीं क्योंकि द्वादशाध्यायी निरुक्तसे भी उभयपक्ष दिखलाया गया है।

जगत और शरीर

ऋषियोंने इस मानव शरीर को जगतसे उपमा दी है यथा—

छान्दोग्योपनिषद्के चतुर्थ प्रपाठकके तृतीय खंडमें कहते हैं "वायु ही संवर्ग अर्थात् अपने में सब पदार्थोंका लय करने वाला है"। जब अग्नि अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है। सूर्य अस्त होता है तब वायु में ही लीन होता है इसी प्रकार चन्द्र और जल भी वायु में लीन होते हैं। यह अधिदैवत है"। "अब अध्यात्म कहते हैं प्राण तो संवर्ग है। जब वह (जीव) सोता है तब वाणी प्राण में ही लीन होती है इसी प्रकार चक्षु, श्रोत्र और मन ये भी प्राण में लीन होते हैं। ये ही दो संवर्ग हैं। देवों में वायु और प्राणों (इन्द्रियों) में प्राण" यहां बाह्य जगत में जैसे वायु,

अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जलदेव हैं और उन में सूत्रात्मा वायु मुख्य है। तद्वत शरीर में प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन येपांच प्राण (इन्द्रिय) हैं इनमें प्राण मुख्य है।

पुनः ३-१७ में कहा है कि अध्यात्म जगत्में मनको बृहत् जान इसके गुणोंका अध्ययन करे। इस मनके वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र चार पद हैं और आकाशके अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा चार पद हैं।

यहां मनकी आकाशसे तुलनाकी है। क्योंकि दोनों ही अनन्त हैं। बृह। १।५।४ में कहते हैं। वाग् पृथिवी लोक, मन अन्तरिक्ष लोक, और प्राण द्युलोक हैं।

बृह १।५।२१ में कहते हैं। इन्द्रिय गण परस्पर स्पर्धा करने लगे कि वाग ने कहा कि मैं ही बोलूँगी। चक्षुने कहा कि मैं ही देखूँगा। श्रोत्रने कहा कि मैं ही सुनूँगा इस प्रकार सब इन्द्रिय कहने लगे। परन्तु मृत्यु आकर इन सबोंको वशमें करने लगा। इसी कारण वाग् थकती है। चक्षु और श्रोत्र शान्त होजाते हैं मृत्यु इनको विवश कर प्राण की ओर चला। परन्तु प्राणको विवश न कर सका। अतः प्राण सर्वदा चलता हुआ थकता नहीं। अतः यह मध्यम प्राण सर्व श्रेष्ठ है यह अध्यात्म है।

अब अधि दैवत कहते हैं। अग्निने कहा कि मैं प्रज्वलित होऊँगा। सूर्यने कहा कि मैं तपूँगा। चन्द्रने कहा मैं भाषित होऊँगा। उन्हें भी मृत्युने अपने वश कर लिया। परन्तु वायुदेव को वशमें ना कर सका। क्योंकि सूत्रात्मा वायु सर्वदा प्रलय काल में भी बना रहता है। इत्यादि औपनिषद् प्रयोगोंमें इस शरीर को ब्रह्माण्डसे उपनित किया है। और प्राणकी श्रेष्ठता मानी है।

इन्द्रिय (प्राण) ही पंचजन हैं

यस्मिन पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ॥

बृ० ४ । ४ । १७

जिस शरीरमें पंच संख्या पांच जन हैं। और आकाश प्रतिष्ठित हैं। यहां "पञ्चजन शब्दसे प्राणोंका ही ग्रहण है इसमें वेदान्त सूत्र १ । ४ । १२ । प्राणादयावाक्यशेषात् । देखिये वाग्, मन, चक्षु, श्रोत्र और प्राण ये पञ्च प्राण कहाते हैं । इनके ही नाम पञ्चजन, पञ्चमानव, पञ्चक्षिति, पञ्चकृष्टि आदि भी हैं। कहीं पञ्चज्ञानेन्द्रिय, कहीं पञ्चप्राण, कहीं दशप्राण, कहीं एकादश प्राण। कहीं पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, षष्ठमन जोड़कर षट्प्राण। इत्यादि वर्णन आता है।

प्राण ही द्वारपालक पञ्च ब्रह्म पुरुष हैं

छा० ३ । १३ में लिखा कि इस हृदयके पांच देव सुषि अर्थात छिद्र हैं। १—पूर्व में चक्षु रूप छिद्र है वही प्राण और आदित्य है २—दक्षिण में श्रोत्र रूप छिद्र है। वही व्यान और चन्द्रमा है। ३—पश्चिम में वाग् रूप छिद्र है । वही अपान और अग्नि है। ४—उत्तर में मनोरूप छिद्र है वही समान और पर्जन्य है। ५—ऊपर वायुरूप छिद्र है वही उदान और आकाश है। ये पांच ब्रह्म पुरुष हैं। स्वर्ग लोकके द्वारपालक हैं।

प्राण ही देव और असुर हैं

छान्दो० १ । २ । और बृहदारण्यक १ । ३ । में कहा है कि इन्द्रिय ही देव और असुर हैं दुष्टेन्द्रियों के नाम असुर और वशीभूत इन्द्रियोंके नाम देव हैं। अथवा इन्द्रियोंकी जो साधु

असाधु दो वृत्तियाँ हैं वे ही देव और असुर हैं। इन के ही महा-युद्धों का नाम देवासुर संग्राम है। प्राणायाम सत्यादिके ग्रहणसे इनके असुरत्व भावका नाश होजाता है। इसका वर्णन बृहदारण्यक में बृहत्पूर्वक है निष्पाप वाणी को अग्नि देव निष्पाप प्राण, को वायुदेव.निष्पाप चक्षु को आदित्यदेव. निष्पाप श्रोत्र को दिग्देव और निष्पाप मनको चन्द्रदेव कहते हैं।

इन्द्रिय ही श्वान (कुत्ते हैं)

छान्दो १। १२ में कहा है कि मुख्य प्राण श्वेत कुत्ता और वाणी. चक्षु श्रोत्र और मन ये साधारण कुत्ते हैं। ये अन्नके लिये व्याकुल होते हैं।

इन्द्रिय ही अश्व (घोड़े) हैं

आत्मानं रथिनं विद्धि-शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिस्तु सारथिं विद्धि-मनः प्रग्रह मेव च॥ ३
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयं स्तेषु गोचरान्। क० उ०

यह शरीर रथ है। आत्मा रथी है। बुद्धि सारथी है। मन लगाम है। इन्द्रिय हय (घोड़े) हैं। इनमें विषय निवास करते हैं।

मुख्य गौण प्राण और पञ्च शब्द

पैर से शिर तक व्यापक प्राण के मुख्य, वरिष्ठ आदि नाम हैं इनके ही प्राण अपान, समान, उदान,व्यान आदि पांचवां दश भेद हैं और वाग,मन,चक्षु, श्रोत्र ये चार गौण प्राण कहाते हैं।

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच- वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रंच ते प्रीताः प्राणास्तुवन्ति॥

इत्यादि प्रश्नोपनिषद् और अन्यान्य उपनिषदोंमें देखिये। यहाँ प्राणोंमें चेतनत्व और पुरुषत्वका आरोपकर सम्वाद और स्तुति आदिका वर्णन है।

प्राणों में स्त्रीत्वारोप

छान्दोग्योपनिषद् के पंचम प्रपाठक के आदि में ही कहा है कि सब प्राण प्रजापतिके निकट जाकर बोले, कि हम में श्रेष्ठ कौन है। प्रजापतिने कहा कि आपमें से जिनके न रहनेसे यह शरीर पापिष्ठ हो जाय वही श्रेष्ठ है। प्रथम वाग्देवी इस शरीरसे बाहर निकल गई। परन्तु इसके निकलने से शरीर पापिष्ठ नहीं हुआ, क्यों कि मूक (गूंगा) वत् सब प्राण निर्वाह करने लगे। इसी प्रकार चक्षु, श्रोत्र और मन, भी क्रमपूर्वक अपनी २ शक्ति की परीक्षा करने लगे। अन्ध, बधिर, और बालक वत् सबका निर्वाह हो गया। परन्तु जब मुख्य प्राण निकलने लगा तब ये वाग्, चक्षु, श्रोत्र, और मन देव सब मिलकर भी शरीरको धारण न कर सके शरीर पापिष्ठ होने लगा। तब ये प्राण मुख्य प्राणकी स्तुति करने लगे। वाग्ने कहा हे प्राण ! आप वसिष्ठ और मैं वसिष्ठा हूं। चक्षुने कहा आप प्रतिष्ठ हैं और मैं प्रतिष्ठा हूं। श्रोत्रने कहा आप सम्पद हैं और मैं सम्पदा हूं। मनने कहा आप आयतन हैं और मैं आयतन हूं। इत्यादि प्रयोगमें वाग्, मन, श्रोत्र, चक्षु और प्राण ये ही पाँच पंच प्राण कहाते हैं, यह सदा ध्यान रखना चाहिये।

प्राणों की संख्या

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च। वेदान्तसूत्र २। ४ ५

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति । यहां सप्त प्राण ।

अष्टौग्रहा अष्टावति ग्रहाः । यहां अष्ट प्राण ।

सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ । यहां नव प्राण।

नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी । यहां दश प्राण ।

दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः । यहां एकादश प्राण ।

सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायतनम् । यहां द्वादश प्राण ।

चक्षुश्च द्रष्टव्यश्च । यहां त्रयोदश प्राण ।

ये सब भेद शंकराचार्य ने इसी सूत्र पर दिये हैं। अन्तमें इस सूत्रके अनुसार स्थिर करते हैं कि सात ही प्राण हैं।

"सप्तवैशीर्षण्याः प्राणाः" । "गुहाशया निहिता सप्त सप्त"

इत्यादि प्रमाणोंसे सप्त प्राण कहे हैं इस प्रकार देखेंगे तो प्राणोंका निरूपण विविध प्रकारसे आया है।"

(वैदिक इतिहासार्थ निर्णयमें पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थ)

प्राण स्तुति

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सद् सच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥ अरा एव रथ नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥ देवानामसि वन्हितमः पितृणां प्रथमा

स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि ॥ ८ ॥ इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसारुद्रोऽसि परिरक्षिता । त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः । यदात्वमभिवर्षस्य थेमाः प्राण ते प्रजाः । आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ।१०। व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ ॥ या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि । या च मनसि संतता-शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥ प्राणस्यदं वशेसर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम । मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ (प्रश्न उ० २)

"यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, पृथिवी, रयि आदि सब है । जिस प्रकार रथ–नाभी में आरे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार प्राण में सब जुड़ा हुआ है । ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र, और ज्ञान सब ही प्राण के आधार से हैं । हे प्राण ? तू प्रजापति है और गर्भ में तू ही जाता है । सब प्रजायें तेरे लिये ही बलि अर्पण करती हैं । तू देवों का श्रेष्ठ संचालक और पितरों की स्वकाय धारण शक्ति है । अथर्वा आंगिरस ऋषियों का सत्य तपाचरण भी तेरा ही प्रभाव है । तू इन्द्र, रुद्र, सूर्य, है तू ही तेजसे तेजस्वी हो रहा है । जब तू वृष्टि करता है, तब सब प्रजायें आनन्दित होती हैं, क्यों कि उनको बहुत अन्न इस वृष्टि से प्राप्त होता है । तू ही व्रात्य एक ऋषि और सब विश्व का स्वामी है, हम दाता हैं और तू हम सब का पिता है । जो तेरा शरीर वाचा चक्षु श्रोत्र और मन में है, उस को कल्याण रूप करो और हम से दूर न हो ।

जो कुछ त्रिलोकी में है वह सब प्राण के वश में हैं । माता के समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें दो ।

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ (छां० ५।१।१. बृ० ६।१।१)

'प्राण ही सब से मुख्य और श्रेष्ठ है।' सब अन्य देव इस के आधार से रहते हैं। (अर्थात् वेदों में ज्येष्ठब्रह्म के नाम से प्राण का ही वर्णन है ।) तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् (बृ० ५।१४।४)

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ (बृ० १।६।३)

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ (बृ० २।१।२०)

(४) प्राणो वै यशोबलम् ॥ (बृ० १।२।६)

"(१) प्राण ही बल है, वह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राण ही अमृत है । (३) प्राण ही यश और बल है ।" इस प्रकार प्राण का महत्व है । प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दों से नहीं हो सकता ।

प्राण कहाँसे आता है ?

परन्तु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न मन्त्र देखने योग्य हैं—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥ स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं

हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपं तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

(प्रश्न उ० १।६-८)

(१) देवानां वह्नितमः असि = प्राण 'इन्द्रियोंको' चलाने वाला है. 'सूर्यादिकोंको' चलाता है, प्राणायाम द्वारा 'विद्वान' उन्नति-प्राप्त करते हैं।

(२) पितृणां प्रथमास्वधाऽसि । = सम्पूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) अव्वल दर्जेकी पालकशक्ति प्राण है और वही (स्व-धा) आत्मतत्वको धारणा करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं असि । = सप्त ऋषियों का सत्य (चरितं) चाल-चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आँख, दो कान, और एक मुख ये सप्त ऋषि हैं ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

अथर्वांगिरसां चरितं असि । = (अथर्वा अंगि-रसां) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है।

प्राण का प्रेरक

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरक का विचार किया है। प्राणके अधीन सम्पूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देने वाला कौन है ? जिस प्रकार मंत्रीके आधीन सब राज्य होता है, उसी प्रकार प्राणके आधीन सब इन्द्रियादिकोंका राज्य है। परन्तु राजाकी प्रेरणासे मन्त्री कार्य करता है उस प्रकार यहाँ प्राणका प्रेरक कौन है, यह प्रश्नका तात्पर्य है।

केन प्राणः प्रथमः युक्तः ॥ (केन उ० १।१)

"किससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है ?" अर्थात् प्राण की प्रेरक शक्ति कौनसी है ? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः ॥ (केन उ० १।२)

"वह आत्मा प्राणका प्राण है" अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है। इसका वर्णन और देखिये—

यत्प्राणेन न प्रणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद मुपासते ॥ (केनउ० १।८)

जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परन्तु जिससे प्राणका जीवन होता है वह (ब्रह्म) आत्मा है, ऐसा तू समझ। यह नहीं कि, जिसकी उपासनाकी जाती है।" अर्थात् आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है, इसलिये प्राणकी शक्ति आत्मा ही है। इस विषयमें ईशोपनिषद्का मन्त्र देखने योग्य है-

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ (ईश० १६)

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ १७

'जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके अन्दर रहने वाला है, वह मैं हूं।' मैं आत्मा हूं, मेरे चारो ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक हूं। मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इन्द्रियोंकी शक्तियोंको उत्तेजित कर रहा हूं। इस प्रकार विश्वास रखना चाहिये और अपने प्रभावका गौरव देखना चाहिये। इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्का वचन देखिये।

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः ॥

(ऐ० उ० १।१।४)

वायुः प्र णो भूत्वा नासिके प्राविशत् (ऐ० उ० १।२।४)

'नासिका रूप इन्द्रिय खुल गये, नासिकासे प्राण और प्राण से वायु हो गया।' अर्थात् आत्माको प्रबल इच्छा शक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद लेलूँ। इस इच्छाशक्ति से नासिका के स्थान में दो छेद बन गये, ये ही नासिका के दो छेद हैं। इस प्रकार नाक बनते प्राण हुआ और प्राण से वायु बना है। आत्माकी इच्छा शक्ति कितनी प्रबल है, इसकी कल्पना यहाँ स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार शरीरमें छेद करने वाली शक्ति जो शरीरके अन्दर रहती है, वही आत्मा है, इसको इन्द्र' कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इदं-द्र) इस शरीरमें सुराख करनेकी शक्ति रखता है। इसकी प्रबल इच्छा शक्तिसे विलक्षण घटनायें यहाँ सिद्ध हो रही है, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है। जो ऐसा समर्थ जीवात्मा है। वही प्राणका प्रेरक है, यह प्राण, वायुका पुत्र है, क्योंकि ऊपर दिये हुए मन्त्रमें कहा है, कि 'वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है।' इसलिये वायु का यह प्राण पुत्र है।

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे,
प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्॥(छा०उ०६।८।६)

"पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज पर देवतामें संलग्न होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है। प्राण विद्याकी परम सिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियाँ

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये—

प्राणो वावसंवर्गः । स यदा स्वपिति, प्राणमेव, वागप्येति, प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः, प्राणोह्येवैतान् संवृङ्क्ते ॥ ३ ॥ (छां० ४।३।३)

"जब यह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणोंमें ही लीन होती है, क्यों कि प्राण ही इनका संवारक है।"

जिस प्रकार सूर्य उगनेके समय उसके किरण फैलते हैं और अस्त के समय फिर अन्दर लीन होते हैं, इसी प्रकार प्राण रूपी सूर्यका जागृतिके प्रारम्भमें उदय होता है उस समय उसकी किरणें इन्द्रयादिकोंमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर उसमें लीन होती हैं। इस प्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका दृश्य एक अंश में है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। सूर्य के समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता परन्तु अस्त और उदय ये शब्द हमारी अपेक्षा से उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषय में निम्न वचन और देखिये।——

पतंग

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बंधन मेवोपश्रयत् एव मेव खलु, सोम्य, तन्मनोदिशंपतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबंधनं हि सोम्यमनः ॥ (छां०उ०६।८।२)

"जिस प्रकार पतंग" डोरी से बंधा हुआ, अनेक दिशाओं में घूम कर दूसरे स्थान पर आधार न मिलनेके कारण अपने मूल स्थान पर ही आ जाता है, इसी प्रकार निश्चय से हे प्रिय शिष्य! यह मन अनेक दिशाओं में घूम कर दूसरे स्थान पर आश्रय न

मिलने के कारण प्राण का ही आश्रय करता है, क्यों कि हे प्रिय शिष्य ! मन प्राण के साथ ही बंधा है ।"

वसु, रुद्र, आदित्य

प्राणा, वाव वसव, एते हीदं सर्वं वासयंति ॥ १ ॥
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयंति ॥ २ ॥
प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते॥३॥(छां० ३१६)

"प्राण वसु हैं क्यों कि ये सब को बसाते हैं। प्राण रुद्र हैं, क्यों कि इनके चले जाने से सब रोते हैं। प्राण आदित्य हैं क्यों कि ये सब को स्वीकार करते हैं। इस स्थान पर अर्थात् "प्राण रुद्र हैं, क्यों कि ये इस दुख को दूर करते हैं।" ऐसा वाक्य होता तो प्राणका दुःख निवारक कार्य व्यक्त हो सकता था । परन्तु उपनिषद् में

"एतेहीदं सर्वं रोदयन्ति"

अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब वे सब को रुलाते हैं, इतना प्राणों पर प्राणियों का प्रेम है ऐसा लिखा है कि शतपथादि में भी रुद्र का रोदन धर्म ही वर्णन किया है, परन्तु दुःख निवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है। इसका पाठक विचार करें इस प्रकार प्राणका महत्व होने से ही कहा है—

प्राणो ह पिता, प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥ (छां० उ० ७।१५।१)

"प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि है।" ये शब्द प्राण का महत्व बता रहे हैं। (१) माता—मान्य

हित करने वाला, (२) पिता—पाता, पालक, संरक्षक, (३) भ्राता—भरण पोषण करने वाला (४) स्वसा—(सु-असा) उत्तम प्रकार रखने वाला (५) आचार्य—आत्मिक गुरु है क्यों कि प्राण के आयाम से आत्मा का साक्षात्कार होता है इसलिये, (६) ब्राह्मणः—यह ब्रह्म के पास ले जाने वाला है।

तीन लोक

वागेवायं लोकः मनो अंतरिक्ष लोकः प्राणोऽसौ लोकः

(बृ० १।५।४)

"वाणी यह पृथ्वी लोक है, मन अंतरिक्ष लोक है और प्राण वह स्वर्गलोक है।"

पंच मुखी महादेव

प्राणा पानौ व्यानो दानौ ॥ (अ० ११।८।२६)

यहां प्राण, अपान व्यान, उदान आदि नाम आगये हैं। उप-प्राणोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्यरूपसे होंगे, तो पता नहीं। यदि किसी विद्वानको इस विषयमें ज्ञान हो, तो उसको प्रकाशित करना चाहिये। पंच प्राण ही पंचमुखी रुद्र हैं। रुद्रके जितने नाम हैं, वे सब प्राणवाचक ही हैं। महादेव शम्भु आदि सब रुद्र के नाम प्राण वाचक हैं। महादेव के पांच मुख जो पुराणों में हैं। उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मृत्युंजय कैसा है, इसका यहां निर्णय होता है। शतपथ में एकादश रुद्रों का वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ॥

(शत० ब्रा० १४।५)

"कौनसे रुद्र हैं ? पुरुषमें दश प्राण हैं, और ग्यारहवां आत्मा है। ये ग्यारह रुद्र हैं।' अर्थात् प्राण ही रुद्र हैं और इसलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवता के सब सूक्त अपने अनेक अर्थों में प्राण वाचक एक ही अर्थ व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्द प्राण वाचक मानने पर पशु शब्द का अर्थ इन्द्रिय ऐसा ही होगा। इन्द्रियों का घोड़े, गौवों, पशु आदि अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। अब प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है उसका वर्णन निम्न मन्त्रों में देखिये।

प्राण का मीठा चाबुक

महत्तमो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोतरेत आहुः।
यत एति मधु कशा रराणातत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥३॥
माता दित्यानां दुहिता वसुनां प्राणः प्रजानामृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताचीमहान्गर्भश्चरति मर्त्येषु ॥४॥
(अ० ६।१)

"(अस्याः) इस पृथिवीकी और समुद्रकी बड़ी (रेतः) शक्ति तू है, ऐसा सब कहते हैं। जहांसे चमकता हुआ मीठा चाबुक चलता है वही प्राण और वही अमृत है। आदित्योंकी माता वसुओंकी दुहिता प्रजाओंका प्राण और अमृतकी नाभि यह मीठा चाबुक है। यह तेजस्वी, तेज उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषुगर्भः) मर्त्यों के अन्दर संचार करने वाली है।

इस मन्त्र में 'मधु कशा'; शब्द है। 'मधु का अर्थ मीठा स्वादु है और कशा' का अर्थ चाबुक है चाबुक घोड़ा गाड़ी चलाने वाले के पास होता है। चाबुक मारने से गाड़ी के घोड़े चलते हैं। उक्त मन्त्रोंमें 'मधुकशा' अर्थात् मीठे चाबुकका वर्णन है। यह मीठा

चाबुक अश्विनी देवोंका है। अश्वनीदेव प्राण रूपसे नासिका स्थान में रहते हैं। प्राण-अपान, श्वास उच्छ्वास, दायें और बायें नाकका श्वास, यह अश्वनी देवोंका प्राणमय रूप शरीरमें है। इस शरीर रूपी रथके इन्द्रिय रूप घोड़ोंको चला रहा है।

देवताओंकी अनुकूलता

जो ब्रह्मचारी देवताओं का निरीक्षण और ग्रहण करता है, उस में अंश रूप से निवास करने वाले देवता उसके साथ अनुकूल बन कर रहते हैं। मंत्र कहता है कि—"तस्मिन् देवाः सं-मनसो भवन्ति।" अर्थात् उस ब्रह्मचारी में सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं।" उसके शरीर में जिन २ देवताओं के अंश हैं, वे सब उस ब्रह्मचारीके मन के अनुकूल अपना मन बना कर उसके शरीर में निवास करते हैं। अपने शरीरमें देवताओंका निवास निम्न प्रकार से होता है। देखिये—

१—अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्।
२—वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
३—आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्।
४—दिशःश्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्।
५—ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्।
६—चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।
७—मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्।
८—आपोरेतो भूत्वा शिश्नं-प्राविशन्॥ (ए० उ० २।४)

१—"अग्निवक्तृत्वका इंद्रिय बन कर मुखमें प्रविष्ट हुआ (२) वायु प्राण बन कर नासिकामें संचार करने लगा (३) सूर्यने

चक्षुका रूप धारण करके आंखोंके स्थानमें निवास किया (४) दिशाएं श्रोत्र बन कर कानमें रहने लगीं, (५) औषधि-वनस्पतियां केश बन त्वचामें रहने लगीं, (६) चन्द्रमा मन बन कर हृदय स्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अपानका रूप धारण करके नाभि स्थानमें रहने लगा, (८) जल देवता रेत बन कर शिश्न में रहने लगा।"

इस ऐतरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु, रवि, दिशा, औषधि, चन्द्र, मृत्यु, आप् इन आठ देवताका निवास उक्त आठ स्थान में हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि इसी प्रकार अन्य देवता, जो बाहरके जगत्में हैं और जिनका वर्णन वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानों में रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक२ शरीर सब देवताओंका दिव्य साम्राज्य है और उसका अधिष्ठाता आत्मा है। तथा इसी आत्माकी शक्ति उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है, इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्व वेदके निम्न लिखित मंत्र देखने योग्य हैं।—

१—दश साकम जायंत देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥ ३ ॥
२—ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
३—संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समाभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुष माविशन् ॥ १३ ॥
४—यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः।
गृहं कृत्वामर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

५—अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन् ।
रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
६—या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
७—सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ।
अथास्येतर मात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥३१॥
८—तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२॥

(अथर्व० ११।८)

"(१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दस देव उत्पन्न हो गये। जो इनको प्रत्यक्ष (विद्यात्) जानेगा, वह अन्य आज ही (महत् वदेत्) महत् ब्रह्मके विषयमें बोलेगा। (२) जो पहले देवोंसे दस देव हुए थे पुत्रोंको स्थान देकर स्वयं किस लोकमें रहने लगे हैं? (३) सिंचन करने वाले वे देव हैं कि जो सब सामग्रीको एकत्रित करते हैं। (देवाः) ये देव सब (मर्त्यं) मरण धर्मी शरीर को सिंचित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। (४) जो (त्वष्टुः पिता) कारीगर देवका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरण धर्म वाला (गृहं) घर बना कर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं। (५) हड्डियों की समिधायें बना कर रेतका घी बना कर (अष्टं आपः) आठ प्रकार के रसोंको लेकर सब देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया है। (६) जो आप तथा अन्य देवताएं हैं और ब्रह्मके सत् वर्तमान जो विराट है ब्रह्म ही उन सबके साथ (शरीरं प्राविशत्) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाता हुआ

है। (७) सूर्य चक्षु बना, वायु प्राण हुआ, और ये देव इस पुरुषमें रहने लगे, तत्पश्चात् इसके इतर आत्माको देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया। (८) इसलिये इस पुरुषको (विद्वान्) जानने वाला ज्ञानी (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है, ऐसा (मन्यते) मानता है। क्योंकि इसमें सब देवताएं उस प्रकार इकट्ठे रहते हैं कि जैसी गौवें गौशालामें रहती हैं।"

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि अग्नि, वायु आदि देवताएं इस शरीरमें निवास करते हैं। अर्थात् प्रत्येक देवताका थोड़ा २ अंश इस शरीरमें निवास करता है। यही देवोंका "अंशावतरण" है। जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंको जानता है वह अपने आत्माकी शक्ति जान लेता है और जो शरीरमें रहने वाले देवताओंके समेत अपने आत्मा को जानता है, वही परमेष्ठी परमात्माको जानता है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कंभ मनु संविदुः॥

(अथर्व० १०। ७। १७)

"जो पुरुषमें ब्रह्म जानते हैं, वे परमेष्ठीको जानते हैं। जो परमेष्ठीको जानता है और जो प्रजापतिको जानता है, तथा जो (ज्येष्ठं ब्राह्मणं) श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे स्कंभको उत्तम प्रकार से जानते हैं।" ❀

❀ इस मन्त्रमें, पुरुष, ब्रह्म, परमेष्ठी, प्रजापति आदि सब नाम इसी आत्माके बताये हैं। जेष्ठ ब्रह्म, व स्कंभ आदि भी इसी आत्माके वाचक हैं। परमात्मा भी इसी आत्माकी अवस्था विशेषका अथवा मुक्तात्माका नाम है।

अपने शरीरके अन्दर ब्रह्मका अनुभव करनेका यह फल है परमात्माके साक्षात्कारका यही मार्ग है। इसलिये अपने शरीरमें देवताओंके अंशोंका ज्ञान प्राप्त करके उन देवताओंका अधिष्ठाता जो एक आत्मा है, उसका अनुभव प्रथम करना चाहिये। पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद्के वचनमें प्रत्येक देवताका भिन्न २ स्थान कहा है। उस २ स्थानमें उक्त देवताके अंशका स्थान समझना चाहिये। बाहरकी सृष्टिमें अग्नि, वायु आदि देवता विशालरूपमें हैं। उनके अंश प्रत्येक शरीरमें आकर रहते हैं, और इस प्रकार यह जीवात्माका साम्राज्य अर्थात् शरीर बन जाता है।

(वेद परिचय में पं० सातवलेकर)

सोऽकामयत जाया मे स्यात् (बृ० उ० १।४।१७)

मन एवास्यात्मा वाग् जाया। (१।४।१७)

मन वाणी प्राण आत्माके अन्न हैं।

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं, वायु ज्योतिरापः।

पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नं मन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः।

कर्म लोकालोकेषु च नाम च। प्रश्न० ६।४

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषेछायैतस्मिन्नेतदा-तनं मनो कृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे। प्रश्न ३।३

छायेव देहे, मनो कृतेन मनः संकल्पेच्छादि निष्पन्न कर्मनिमित्तेनेत्येतत्। तदेव सक्तः सह कर्मणा (बृ०४।४।६)

अर्थात्—आत्माने कामनाकी कि मेरे जाया स्त्री हो जाया नाम वाणीका है, क्यों कि श्रुति में आया है कि, मन, इसकी आत्मा है, वाणी जाया है। उस आत्माने प्राणको उत्पन्न किया, प्राणसे सृष्टि को—आकाश, वायु, ज्योति जल, पृथ्वी, इन्द्रियोंको उत्पन्न किया

है। आत्मासे यह प्राण छायाकी तरह उत्पन्न होता है, तथा इस शरीरमें मानसिक संकल्पों द्वारा यह प्राण आता है। आत्मा इस आये हुये प्राणसे अधिष्ठान करण, देवता, रूपसे सम्पूर्ण इन्द्रियों की रचना करता है। सबसे प्रथम जब उसने संकल्प लिया जो उसमें स्पन्दन 'हलन चलन' हुआ जिसको जैन परिभाषामें 'योग' कहते हैं। यही मानों उसका मुख खुला। उससे वागादि इन्द्रियें उत्पन्न हुई, उनसे इन्द्रियोंके गोलक बने, उसके पश्चात् उनमें प्रकाश आया, अर्थात उनके देवताओंकी रचना हुई। यथा मुखसे "वाक्" वाक्से अग्नि, वाक् हीका नाम अग्नि है अतः प्रथम वाक् से भावेन्द्रिय आदि अभिप्रेत है, तथा अग्निसे जिह्वा, के आकारका ग्रहण है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

अक्षि चक्षु, आदित्य, मन, हृदय चंद्रमा ये सब यहां पर्याय वाची शब्द हैं। जिनका अभिप्राय, अधिष्ठानकरण, देवसे हैं।

प्रजापति का फँसना

यह आत्मा (प्रजापति) अपने आप यह भाव कर्म और द्रव्य कर्म अर्थात् कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, और स्थूल शरीर रच कर अपने आप इसमें प्रवेश करता है, परन्तु—अब वह इसमें से निकल नहीं सकता, उसका शास्त्रमें एक सुन्दर आख्यान है।

प्रजापतिः प्रजाःसृष्ट्वा प्रेमणाऽनु प्राविशत्।
ताभ्यः पुनः सं भवितुं ना शक्नोत। सोऽब्रवीत्
ऋध्नवदित् स-यो मेतः पुनः संचिनं वदिति।

कृष्ण यजु तै० सं० ५।५।२

प्रजापतिने इस जगतका सर्जन करके इसमें प्रेमसे, प्रवेश

किया। किन्तु उसमेंसे पुनः वह निकल न सका। उसने देवोंसे कहा कि जो मुझे इसमेंसे निकाल देगा वह ऋद्धिवान होगा।" ❀

उपरोक्त लेखोंसे यह प्रमाणित होगया कि—वैदिक वांङ्मय में, पुरुष, ब्रह्म, ज्येष्ठब्रह्म, स्कंभ, हिरण्यगर्भ, प्रजापति विराट् विश्वकर्मा, आदि नामोंसे जिसका वर्णन हुआ है वह प्राण है। तथा जीवात्मा भाव प्राणोंसे द्रव्य प्राणोंकी एवं द्रव्य प्राणोंसे स्थूल शरीरकी रचना करता है इसीको प्रजापति आदिकी सृष्टि रचना कहते हैं।

अब हम उन सूक्तों पर प्रकाश डालेंगे जिनसे सृष्टि रचना तथा महा प्रलय आदिका प्रतिपादन किया जाता है। सबसे प्रथम सुप्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' (जिसको सृष्टि सूक्त भी कहते हैं) का विवेचन करते हैं.

नासदीय वा सृष्टि सूक्त

ऋग्वेद मं० १० के सू० १२९ का नाम नासदीय सूक्त है। यह नाम इसका इसलिये है कि इसका प्रथम मन्त्र 'नासदासीत्' इस पदसे प्रारम्भ होता है। सृष्टि विषयका विचार करने वालोंके लिये यह सूक्त बड़े ही महत्वका है, यही कारण है कि प्रत्येक, ऐतिहासिक ने तथा प्रत्येक दार्शनिक लेखकने इस सूक्त पर अवश्य अपने विचार प्रकट किये हैं। अतः हम भी इस पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। प्रथम हम यह सूक्त और इसका प्रचलित अर्थ लिखते हैं। पुनः अन्य विद्वानोंकी सम्मतियां तथा उनकी समालोचना लिखेंगे, तत्पश्चात् अपने अर्थ प्रकट करेंगे।

❀ यह वर्णन स्पष्टरूपसे जीवात्माका है।

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं, नासीद्रजो न व्योमा-परायत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन् नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

अर्थ—उस समय अर्थात् सृष्टिके आरम्भ कालमें न असत् था, न सत् था, न अन्तरिक्ष था, न अन्तरिक्षके ऊपरका आकाश था। ऐसी अवस्था में किसने किस पर आवरण डाला ? किस स्थल पर डाला ? और किसके सुखके लिये डाला ? अगाध और गम्भीर जल भी कहाँ रहा हुआ था ?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधयातदेकं । तस्माद्धान्यन्नपरः किंच नास ।२।

अर्थ—उस समय मृत्यु शील = जगत भी नहीं था। वैसे ही अमृत = नित्य पदार्थ भी नहीं था। रात्रि और दिनका भेद समझनेके लिये कोई प्रकेत = साधन नहीं था। स्वधा = माया अथवा प्रकृतिके साथ एक वस्तु थी, जो कि विना वायुके ही स्वास ले रही थी। उसके सिवाय दूसरा उससे अन्य कुछ भी नहीं था।

तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् । तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ।३।

अर्थ—अग्रे = सृष्टिके पहले प्रलय दशामें अज्ञान रूप यह जगत तम = मायासे आच्छादित था । अप्रकेत = अज्ञात था। दूध और पानी की तरह एकाकार, एक रूप था।

आभु = ब्रह्म, तुच्छ = मायासे आच्छादित था। वह एक ब्रह्म तप की महिमासे प्रकट हुआ अर्थात्—नाना रूप धारण किये।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतोबन्धु मसति निरविन्दन् , हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।४।

अर्थात्—ब्रह्म के मन का जो प्रथम रेत था, वही सृष्टि के आरम्भ काल में सृष्टि बनाने की ब्रह्म की कामना अर्थात् शक्ति थी। विद्वानों ने बुद्धि अपने हृदयमें प्रतीक्षा करके इसी असत्=ब्रह्ममें सत् का विनाशी दृश्य=सृष्टि का प्रथम संबंध जाना।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिःपरस्तात् ५

अर्थ—अविद्या, काम और कर्म को सृष्टि के हेतु रूप बताया गया। इनकी कृति सूर्य की किरणकी तरह एक दम ऊंची नीची और तिर्यक् जगत् में फैल गई। उत्पन्न हुए कर्मों में मुख्यतः रेतोधा=रेत=बीज भूत कर्म को धारण करने वाले जीव थे। महिमान अर्थात् आकाश आदि महत्पदार्थ थे. स्वधा भोग्य प्रपंच विस्तार और प्रकृति अर्थात् भोक्तृ विस्तार। इनमें भोग्य विस्तार अवस्तात् =उतरती श्रेणी. और भोक्तृ विस्तार परस्तात् ऊंची श्रेणी का है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् , कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेना था, को वेद यत आबभूव,।६।

अर्थ—इस जगत् का विस्तार किस उपादान कारण से और किस निमित्त कारणसे हुआ है यह परमार्थ रूपसे (निश्चयसे)कौन जान सकता है या इसका वर्णन कौन कर सकता है? कोई नहीं कर सकता। क्या देवता नहीं कर सकते और कह सकते ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि—देवता सृष्टिके बाद उत्पन्न हुये हैं इस लिये वे पहले की बात कैसे जान सकते हैं ? यदि देवताओंको भी

यह मालूम नहीं है तो उनके बाद उत्पन्न होने वाले मनुष्यादिकको तो बात ही क्या कहना ? अर्थात् मनुष्य कैसे जान सकते हैं, कि अमुक निश्चित कारणसे ही यह सृष्टि उत्पन्न हुई है।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न।
सोऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, सो अंग वेद यदि वा न वेद।७।

अर्थ—गिरि, नदी, समुद्रादि रूप यह विशेष सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है उसे कौन जानता है ? अथवा इस सृष्टिको किसी ने धारणकी है या नहीं की है यह भी कौन जान सकता है ? क्योंकि इस सृष्टिके अध्यक्ष परमात्मा परम उच्च आकाशमें रहते हैं। उस परमात्माको भी कौन जानता है ? वह परमात्मा स्वयं सृष्टि को जानता है या नहीं ? इसको भी किसको खबर है ?

सृष्टि सूक्त और तिलक

"उपर्युक्त विवेचनसे विदित होगा, कि सारे मोक्ष धर्मके मूल भूत अध्यात्म ज्ञान की परम्परा हमारे यहां उपनिषदोंसे लगा कर ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, इत्यादि आधुनिक साधु पुरुषों तक किस प्रकार अव्याहत चली आ रही है। परन्तु उपनिषदोंके भी पहले यानी अत्यन्त प्राचीन कालमें ही हमारे देशमें इस ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ था, और तब से क्रम क्रमसे उपनिषदोंके विचारोंकी उन्नति होती चली गई है। यह बात पाठकोंको भली भांति समझा देनेके लिये ऋग्वेदका एक प्रसिद्ध सूक्त भाषान्तर सहित यहां अन्त में दिया गया है, जो कि उपनिषदान्तर्गत ब्रह्मविद्याका आधारस्तम्भ है। सृष्टिके अगम्य मूलतत्व और उससे विविध दृश्य सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें जैसे विचार इस सूक्तमें प्रदर्शित किये गये हैं वैसे प्रगल्भ, स्वतन्त्र

और मूल तत्वकी खोज करने वाले तत्त्व ज्ञानके मार्मिक विचार अन्य किसी भी धर्मके मूल ग्रन्थमें दिखाई नहीं देते। इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे अध्यात्म विचारोंसे परिपूर्ण और इतना प्राचीन लेख भी अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इस लिये अनेक पश्चिमी पंडितोंने धार्मिक इतिहासकी दृष्टि से भी इस सूक्त को अत्यंत महत्व पूर्ण जान कर आश्चर्य-चकित हो अपनी अपनी भाषाओं में इसका अनुवाद यह दिखानेके लिये किया है, कि मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति इस नाशवान और नाम-रूपात्मक सृष्टिके परे नित्य और अचिन्त्य ब्रह्म शक्तिकी ओर सहज ही कैसे झुक जाया करती है। यह ऋग्वेदके दसवें मंडलका १२९वाँ सूक्त है, और इसके प्रारम्भिक शब्दोंसे इसे "नासदीय सूक्त" कहते हैं। यही सूक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।८।९) में लिया गया है, और महाभारतान्तर्गत नारायणीय या भागवत—धर्ममें इसी सूक्तके आधार पर यह बात बतलाई गई है, कि भगवानकी इच्छासे पहले पहल सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई (म० भा० शां० ३४२, ८)। सर्वानुक्रमणिकारके अनुसार इस सूक्तका ऋषि परमेष्ठि प्रजापति है और देवता परमात्मा है, तथा इसमें त्रिष्टुप् वृत्तके यानी ग्यारह अक्षरों के चार चरणोंकी सात ऋचायें हैं। 'सत' और 'असत' शब्दोंके दो दो अर्थ होते हैं, अतएव सृष्टिके मूलतत्वको 'सत्' कहनेके विषयमें उपनिषत्कारोंके जिस मतभेदका उल्लेख पहले हम इस प्रकरण में कह चुके हैं, वही मतभेद ऋग्वेद में भी पाया जाता है उदाहरणार्थ इस मूल कारण के विषय में कहीं तो यह कहा गया है, कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ. १.१६४ ४६) अथवा "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति (ऋ० १.११४.५.)— वह एक और सत् यानी सदैव स्थिर रहने वाला है, परन्तु उसी को लोग अनेक नामों से पुकारते हैं, और कहीं २ इसके विरुद्ध

यह भी कहा है, कि "देवानां पूर्व युगेऽसतः सदजायत" (ऋ० १० ७२. ७)—देवताओं से भी पहले असत् से अर्थात् अव्यक्त से 'सत' अर्थात् व्यक्तसृष्टि उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त किसी न किसी एक दृश्य तत्व से सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद हीमें भिन्न भिन्न अनेक वर्णन पाये जाते हैं, जैसे सृष्टि के आरम्भ में मूल हिरण्यगर्भ था अमृत और मृत्यु दोनों उसकी ही छाया हैं, और आगे उसी से सारी सृष्टि निर्मित हुई है (ऋ० १०।१२१।१,२ पहले विराट रूपी पुरुष था और उससे यज्ञ के द्वारा सारी सृष्टि हुई (ऋ० १०।९०) पहले पानी (आप) था, उसमें प्रजापति उत्पन्न हुआ (ऋ०१०।७२।६।१०।८२।६) ऋत और सत्य पहले उत्पन्न हुए फिर रात्रि (अन्धकार) और उसके बाद समुद्र (पानी), संवत्सर इत्यादि उत्पन्न हुए (ऋ० १०. १९०, ५)। ऋग्वेदमें वर्णित इन्हीं मूल द्रव्योंका आगे अन्यान्य स्थानों में इस प्रकार उल्लेख किया गया है, जैसे:—(१) जलका तैत्तरीय ब्राह्मणमें

'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत'

यह सब पहले पतला पानी था (तै० ब्रा० १।१।३।५);
(२) असतका, तैत्तरीय उपनिषद्में

'असद्वा इदमग्र आसीत्'

यह पहले असत् था (तै० २।७); (३) सतका छांदोग्य में

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'

यह सब पहले सत् ही था (छां० ६।२) अथवा (४) आकाश का

'आकाशः परायणम्'

१—आकाश ही सबका मूल है (छां १।९); (५) मृत्युका) बृहदारण्य में

'नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेद मावृतमासीत्'

पहले यह कुछ भी न था, मृत्युसे सब आच्छादित था, (बृह० १।२।१); और (६) तमका मैत्र्युपनिषद्में

'तमो वा इदमग्र आसीदेकम्' (मै० ५।२)

पहले यह सब अकेला तम (तमोगुणी, अन्धकार) था,—आगे उससे रज और सत्व हुआ।

सारे वेदान्त शास्त्र का रहस्य यही है, कि नेत्रों को या सामान्यतः सब इंद्रियों को गोचर होने वाले विकारी और विनाशी नाम-रूपात्मक अनेक दृश्यों के फंदे में फंसे न रह कर, ज्ञान-दृष्टिसे यह जानना चाहिये, कि इस दृश्यके परे कोई न कोई एक और अमृत तत्व है। इस मक्खनके गोलेको ही पानेके लिए उक्त सूक्तके ऋषिकी बुद्धि एक दम दौड़ पड़ी है, इससे यह देख पड़ता है, कि उसका अन्तर्ज्ञान कितना तीव्र था! मूलारम्भमें अर्थात् सृष्टि के सारे पदार्थों के उत्पन्न होनेसे पहिले जो कुछ कहा था, वह सत् था या असत्, मृत्यु था या अमर, आकाश या जल, प्रकाश था या अन्धकार! ऐसे अनेक प्रश्न करने वालों के साथ वादविवाद न करते हुये उक्त ऋषि सबके आगे दौड़ कर यह कहता है, कि सत् और असत्, मर्त्य और अमर, अन्धकार और प्रकाश, आच्छादन करने वाला और आच्छादित, सुख देने वाला और उसका अनुभव करने वाला, ऐसे अद्वैत की परस्पर-सापेक्ष भाषा दृश्य सृष्टिकी उत्पत्ति के अनन्तर की है, अतएव सृष्टि में इन द्वन्द्वों के उत्पन्न होने के पूर्व अर्थात् जब 'एक और दूसरा' यह भेद ही न था तब, कौन किसे आच्छादित करता? इसलिये आरम्भ ही में इस सूक्त का ऋषि निर्भय हो कर यह कहता है, कि मूलारम्भ के एक द्रव्य को सत्

या असत्, आकाश या जल, प्रकाश या अन्धकार, अमृत या मृत्यु, इत्यादि कोई भी परस्पर सापेक्ष नाम देना उचित नहीं जो कुछ था वह इन सब पदार्थों से विलक्षण था, और अकेला एक चारों ओर अपनी अपरंपार शक्ति से स्फूर्तिमान् था। उसकी जोड़ी में या उसे आच्छादित करने वाला अन्य कुछ भी न था।

दूसरी ऋचा में 'आनीति' क्रिया पद के 'अन्' धातु का अर्थ है, श्वासोच्छ्वास लेना या स्फुरण होना, और 'प्राण' शब्द भी उसी धातु से बना है, परन्तु जो न सत् है और न असत् उसके विषय में कौन कह सकता है, कि वह सजीव प्राणियों के समान श्वासोच्छ्वास लेता और श्वासोच्छ्वास के लिये वहाँ वायु ही कहाँ है ? अतएव 'अनीत' पद के साथ ही--'अवातं' = विना वायु को और 'स्वधया' = स्वयं अपनी ही महिमा से इन दोनों पदों को जोड़ कर "सृष्टि का मूल तत्व जड़ नहीं था" यह अद्वैतावस्था का अर्थ द्वैत की भाषा में बड़ी युक्ति से इस प्रकार कहा है, कि वह एक बिना वायु के केवल अपनी ही शक्ति से श्वासोच्छ्वास लेता या स्फूर्तिमान् होता था' ? इसमें बाह्य दृष्टि से जो विरोध दिखाई देता है, वह द्वैती भाषा की अपूर्णता से उत्पन्न हुआ है।

'नेति नेति' 'एकमेवाद्वितीयम्' या 'स्वेमहम्नि प्रतिष्ठितः' (छा० २.२४।१)

अपनी ही महिमासे अर्थात् अन्य किसी की अपेक्षा न करते हुए अकेला ही रहने वाला–इत्यादि परब्रह्मके वर्णन उपनिषदोंमें पाये जाते हैं, वे भी उपरोक्त अर्थके द्योतक हैं। सारी सृष्टि के मूलारम्भमें चारों ओर जिस एक अनिर्वाच्य तत्वके स्फुरण होनेको

बात इस सूक्तमें कही गई है वही तत्व सृष्टिका प्रलय होने पर भी निःसन्देह शेष रहेगा। अथवा गीतामें इस परात्मक कुछ पदार्थ से इस प्रकार वर्णन है. कि "सब पदार्थोंका नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता" (गी. ८। २०) और आगे इसी सूक्तके अनुसार स्पष्ट कहा है कि "वह सत् भी नहीं है" (गीता १३। १२) परन्तु प्रश्न यह है, कि जब सृष्टिके मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था, तो फिर वेदोंमें जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि "आरंभमें पानी, अंधकार या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी" उनकी क्या व्यवस्था होगी? अतएव तीसरी ऋचा में कविने कहा है. कि इस प्रकारके जितने वर्णन हैं जैसे कि सृष्टि के आरम्भमें अन्धकार था या अन्धकारसे आच्छादित पानी था या आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करने वाली माया (तुच्छ) ये दोनों पहले थे इत्यादि—वे सब उस समयके हैं जबकि अकेले एक मूल परब्रह्मके तप—महात्म्यसे उसका विविध रूप से फैलाव हो गया था—ये वर्णन मूलारम्भके नहीं हैं. इस ऋचामें 'तप' शब्दसे मूल ब्रह्मकी ज्ञान मय विलक्षण शक्ति विवक्षित है और उसीका वर्णन चौथी ऋचामें किया गया है (मुं० १।१।९) देखो

'एतावान् अस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पूरुषः' (ऋ० १०।९०।३)

इस न्यायसे सारी सृष्टि ही जिसकी महिमा कहलाई, उस मूल द्रव्यके विषयमें कहना न पड़ेगा कि वह इन सबके परे, सबसे श्रेष्ठ और भिन्न है दृश्य वस्तु और द्रष्टा, भोक्ता भोग्य परंतु आच्छादन करनेवाला और आच्छाद्य, अंधकार और प्रकाश, मर्त्य और अमर इत्यादि सारे द्वैतोंको इस प्रकार अलग कर यद्यपि यह निश्चय किया गया कि केवल एक निर्मल चिद्रूपी विलक्षण परब्रह्म ही मूलारंभमें था तथापि जब यह बतलानेका समय आया कि इस अनिर्वाच्य, निर्गुण अकेले एक तत्वसे आकाश जल इत्यादि द्वंद्वात्मक विनाशी

सगुण नाम रूपात्मक विविध सृष्टि या इस सृष्टिकी मूल भूत त्रिगुणात्मक प्रकृति कैसी उत्पन्न हुई, तब तो हमारे प्रस्तुत ऋषिने भी मन, काम, असत् और सत् जैसी द्वैती भाषाका ही उपयोग किया है, और अन्तमें स्पष्ट कह दिया है, कि यह मानवी बुद्धिकी पहुँचके बाहर है। चौथी ऋचामें मूल ब्रह्मको ही 'असत्' कहा है, परन्तु उसका अर्थ "कुछ नहीं" यह नही मान सकते, क्योंकि दूसरी ऋचा में भी स्पष्ट कहा है कि "वह है"। न कि केवल इसी सूक्तमें, किन्तु अन्यत्र भी व्यावहारिक भाषाको स्वीकार करके ही ऋग्वेद और वाजसनेयी संहितामें गहन विषयोंका विचार ऐसे प्रश्नोंके द्वारा किया गया है (ऋ० १०। ३१। ७; १०। ८१। ४; वा० सं० १७। २० देखो) जैसे दृश्य सृष्टिको यज्ञकी उपमा देकर प्रश्न किया है, कि इस यज्ञके लिये आवश्यक घृत, समिधा इत्यादि सामग्री प्रथम कहांसे आई? (ऋ० १०। १३०। ३) अथवा घरका दृष्टान्त देकर प्रश्न किया है, कि मूल एक निर्गुणसे नेत्रोंको प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली आकाश—पृथ्वीकी भव्य इमारत को बनाने के लिये लकड़ी (मूल प्रकृति) कैसे मिली?

किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः।

इन प्रश्नों का उत्तर उपर्युक्त सूक्त की चौथी पांचवी ऋचा में जो कुछ कहा गया है, उससे अधिक दिया जाना संभव नहीं है (वाज सं० ३३। ७४ देखो), और वह उत्तर यही है, कि उस अनिर्वाच्य अकेले एक ब्रह्म ही के मन में सृष्टि निर्माण करने का काम,—रूपी तत्व किसी तरह उत्पन्न हुआ, और वस्त्र के धागोंके समान या सूर्य प्रकाशके समान उसी की शाखाएं तुरन्त नीचे ऊपर और चहुं ओर फैली गईं तथा सत् का सारा फैलाव हो गया, अर्थात् आकाश पृथ्वी की यह भव्य इमारत बन गई। उपनिषदों में इस सूक्त के अर्थ को फिर भी इस प्रकार प्रकट किया है, कि—

'सोऽकामयत'। 'बहुस्यां प्राजायेयेति'।

(तै० २।६। छां० ६।२।३)

उस पर ब्रह्म को ही अनेक होनेकी इच्छा हुई (ऋ। ४ देखो) और अथर्ववेद में भी ऐसा वर्णन है, कि इस सारी दृश्य सृष्टि के मूलभूत द्रव्य से ही पहले पहल 'काम' हुआ (अथर्व० ६।२।१६) परन्तु इस सूक्त में विशेषता यह है, कि निगुण से सगुण की, असत् से सत् की, निर्द्वन्द्व से द्वन्द्व की अथवा असंगसे संग की उत्पत्ति का प्रश्न मानवी बुद्धि के लिए अगम्य समझ कर सांख्यों के समान केवल तर्कवश हो मूल प्रकृति ही को या उसके सदृश्य किसी दूसरे तत्व को स्वयंभू और स्वतंत्र नहीं माना है, किन्तु इस सूक्तका ऋषि कहता है कि जो बात समझमें नहीं आती; परन्तु उसके लिए शुद्ध बुद्धि से और आत्म प्रतीति से निश्चित किए गए अनिर्वाच्य ब्रह्म की योग्यता को दृश्य सृष्टि रूप माया की योग्यता के बराबर मत समझो, और न परब्रह्म के विषय में अपने अद्वैतभावको ही छोड़ो। इसके सिवाय यह सोचना चाहिए यद्यपि प्रकृति को भिन्न त्रिगुणात्मक स्वतन्त्र पदार्थ भी लिया जावे, तथापि इस प्रश्न का उत्तर तो दिया ही नहीं जासकता, कि कि उसमें सृष्टि को निर्माण करने के लिए प्रथमतः बुद्धि (महान्) या अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ। और जब कि यह दोष कभी टल ही नहीं सकता है तो फिर प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने में क्या लाभ है? सिर्फ इतना कहो, कि यह बात समझ में नहीं आती कि मूल ब्रह्म से सत् अर्थात् प्रकृति कैसे निर्मित हुई। इसके लिये प्रकृति को स्वतन्त्र मान लेने की ही कुछ आवश्यकता नहीं है। मनुष्य की बुद्धि की कौन कहे, परन्तु देवताओं की दिव्य दृष्टि से भी सत् की उत्पत्ति का रहस्य समझ में आजाना सम्भव नहीं, क्यों कि देवता भी दृश्य सृष्टि के आरम्भ होने

पर उत्पन्न हुए हैं, उन्हें पिछला हाल क्या मालूम ? (गीता १०।२ देखो)। परन्तु हिरण्यगर्भ देवताओं से भी बहुत प्राचीन और श्रेष्ठ है, और ऋग्वेदमें ही कहा है, कि आरम्भ में वह अकेला ही—

"भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (ऋ० १०।१२१।१)

सारी सृष्टि का 'पति' अर्थात् राजा या अध्यक्ष था। फिर उसे यह बात क्यों कर मालूम न होगी ? और यदि उसे मालूम होगी तो फिर कोई पूछ सकता है, कि इस बातको दुर्बोध या अगम्य क्यों कहते हो ? अतएव उस सूक्त के ऋषि ने पहिले तो उस प्रश्न का औपचारिक उत्तर दिया है, "हाँ, वह इस बात को जानता होगा!" परन्तु अपनी बुद्धि में ब्रह्म देव के भी ज्ञान-सागर की थाह लेने वाले इस ऋषि ने आश्चर्य से सशंक हो अन्त में तुरन्त कह दिया है, कि "अथवा' न भी जानता हो ? कौन कह सकता है ? क्यों कि वह भी सत् की श्रेणी में है, इस लिये 'परम' कहलाने पर भी 'आकाश' ही में रहने वाले जगत् के इस अध्यक्ष को सत्, असत्, आकाश और जल के भी पूर्वकी बातोंका ज्ञान निश्चित रूपसे कैसे हो सकता है ?" परन्तु यद्यपि यह बात समझ में नहीं आती, कि एक 'असत्' अर्थात् अव्यक्त और निर्गुण द्रव्य ही के साथ विविध काम-रूपात्मक सत् का अर्थात् मूल प्रकृति का सम्बन्ध कैसे हो गया, तथापि मूल ब्रह्म के एकत्व के विषय में ऋषि ने अपने अद्वैत-भाव को डिगने नहीं दिया है ? यह इस बातका एक उत्तम उदाहरण है, कि सात्विक श्रद्धा और निर्मल प्रतिभा के बल पर मनुष्य की बुद्धि अचिन्त्य वस्तुओं के सघन बन में सिंह के समान निर्भय होकर कैसे निश्चय किया करती है, और वहां की अतर्क्य बातों का यथा शक्ति कैसे निश्चय किया करती है ? यह सचमुच ही आश्चर्य तथा गौरव की बात है कि ऐसा सूक्त ऋग्वेद में पाया

जाता है। हमारे देशमें इस सूक्तके ही विषयका आगे ब्राह्मणों (तैत्ति० ब्रा० २।८।९) में, उपनिषदोंमें, और अनन्तर वेदान्त शास्त्र के ग्रन्थों में सूक्ष्म रीति से विवेचन किया गया है। और पश्चिमी देशों में भी अर्वाचीन काल के कान्ट इत्यादि तत्व ज्ञानियों ने उसी का अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षण किया है। परन्तु स्मरण रहे, कि इस सूक्त के ऋषि की पवित्र बुद्धिमें जिन परम सिद्धान्तों की स्फूर्ति हुई है, वही सिद्धान्त आगे प्रतिपक्षियों को विवर्त-वाद के समान उचित उत्तर दे कर और भी दृढ़ स्पष्ट तर्क दृष्टि से निःसन्देह किये गये हैं—इसके आगे अभी तक न कोई बढ़ा है और न बढ़नेकी विशेष आशा ही जा सकती है।"

(गीता रहस्य अध्यात्म प्रकरण)

सृष्टि विषय में तिलक महोदय के विचार आगे प्रगट करेंगे। यहाँ तो सृष्टि विषयक परस्पर विरोधी श्रुतियों को प्रगट कर दिया गया है।

समीक्षा—परन्तु जैसा कि हम पहले सप्रमाण लिख चुके हैं कि यदि इस सूक्तको सृष्टि सूक्त माना जाये तथा उपरोक्त अर्थ ही ठीक माने जायें, तब तो 'मैकडानल्ड' के इस कथन का समर्थन ही होता है कि "नासदीय सूक्त में उसी प्रकार के दोष हैं जैसे भारतीय दर्शन मात्र में हैं। अर्थात विचार धारा अस्पष्ट और असंवद्ध है" *—

---

* बा० सम्पूर्णानन्दजी ने इस तथ्य को अनुभव किया, अतः 'भारतीय सृष्टि-क्रम विचार' में आप लिखते हैं कि "यदि सत" और असत्' का प्रयोग यहां कोष और व्याकरण सम्मत 'होने' और न 'होने' के अर्थ में हुआ है तब तो यह कहना कि न सत् था और असत् या निरर्थक वाक्य हो जाता है। फिर यह श्रुत्यन्तर के विरुद्ध भी है।"

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि उपरोक्त प्रयत्नोंसे यह सूक्त और भी जटिल बना दिया गया है। सब से प्रथम हम सूक्त में आये हुये, सन्, और असत्, शब्दों पर विचार करते हैं, क्यों कि सभी व्याख्याकारों ने इन शब्दों के भिन्न २ अर्थ किये हैं। ऋग्वेदमें एक मन्त्र है—

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदिरे रुपस्थे ।१०।५।७

अर्थात् "दक्ष के जन्म के समय अदिति के पास परम आकाश में 'असत्' और 'सत्' ये दो पदार्थ थे।" यदि नासदीय सूक्तके उपरोक्त अर्थ ही किये जावें तो उस सूक्तका यह प्रत्यक्ष विरोध है। क्यों कि नासदीय सूक्त प्रलय काल में सत् और असत् का अभाव बताता है और यह मन्त्र सत् और असत्की विद्यमानता बताता है तथा अथर्व वेदमें है कि—

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्। अथर्व० १७।१।१९

अर्थात् "असत् में सत् प्रतिष्ठित है। अर्थात् कारण में कार्य विद्यमान है। तथा सत् में (वर्तमान में) भूत (जो बीत गया) प्रतिष्ठित है। और भूत में भविष्य निहित है। और भविष्य भूत में टिका है।" यहां सत् और असत् दो पदार्थ विद्यमान् है। अथवा यूं कह सकते हैं कि—यह मन्त्र सत् और असत् एवं

इस लिये आपने इस सूक्तमें आये हुये, सत् असत्, मृत्यु और अमृत आदि शब्दों के प्रचलित अर्थोंसे विभिन्न ही अर्थ किये हैं। किन्तु जिन दोषों को मिटाने के लिये आपने इतनी क्लिष्ट कल्पनायें की हैं उन दोषों को आप दूर न कर सके। तथा सृष्टि कर्ता ईश्वर का तो आपने चिद्विलास' में जिन प्रबल युक्तियों द्वारा खंडन किया है उनको हम उद्धृत करेंगे।

भूत और भविष्य को सापेक्ष मानकर स्यादवादका कथन करता है। तथा च यजुर्वेद अ० १३ मन्त्र ३ में (सतश्च योनिमसतश्च दिवः) सूर्य को सत् और असत् को योनि कहा है। अर्थात् सूर्य से ही मूत व अमूर्त पदार्थ प्रकट होते हैं। अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का सूर्य ही उत्पादक है। यहां भाष्यकारों ने सूर्य को ही कारण माना है। इस प्रकार सत् और असत् का अनेक प्रकार से कथन किया है। परन्तु यह वर्णन वास्तविक रहस्य को प्रकट नहीं करता। इसका रहस्य ब्राह्मण ग्रंथोंने प्रकट किया है। यथा—

असत्—अथ यद सत् सर्क्ँ सा वाक् सोऽपानः।

सत्—यत् सत् तत्साम तन्मनस्स प्राणः।

जै० ब्रा० उ० १।५३।२

अर्थात् वाणी और अपान का नाम असत् है, तथा मन और प्राणका नाम सत् है।

अमृतम्—अमृतं वै प्राणः। गो० उ० १।१३

अमृतं हि प्राणाः। शत० १०।२।४।२

अमृतं मापः। गो० उ० १।३

अमृत तत्वं वा आपः। कौ० १२।१

अर्थात् जल और प्राण आदि अमृत हैं। इस प्रकार शास्त्रों में प्राणोंको अमृत और इन्द्रिय आदि को मृत्यु कहा गया है।

अतः नासदीय सूक्त में सत् और असत् आदि शब्द स्थूल प्राण व इन्द्रिय बोधक हैं। ❀

❀ नोट, वेदान्त दर्शन, अ०२।४।१ के भाष्य में (असद् वा इद मग्र सीत्) तै०उ०।२।७ की इस श्रुतिमें आये हुये असत् शब्द का अर्थ (श्री स्वामी शंकराचार्यजीने शंकर भाष्यमें) प्राण ही किया है।

जन्म से पूर्व इन्हीं स्थूल प्राणों का निषेध है न कि सृष्टि का ❀ तथा च स्वर्ग पं० गंगा प्रशाद जी उपाध्याय, अद्वैतवाद पुस्तक में मन्त्र ६ में आये हुए देवाः शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ करते हैं। यथा—(अस्य विसर्जनेन अर्वाग देवाः) इसके फैलने से पीछे देव अर्थात् इन्द्रियां हुई।" पृ० ३७४

आगे आपने पृ० ३७६ में देवानां पूर्वे युगेऽसतः सद् जायत। मन्त्र के अर्थ में भी लिखा है कि 'अर्थात् इन्द्रियों के पहले युगमें असतसे सत हुआ।"

इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि यहां शरीर, इन्द्रिय व प्राण आदि की रचना का प्रकरण है। तथा च मन्त्र ४ में आया है कि—(हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा) अर्थात् "असत में सत के बन्धु को विचार शील ऋषियों ने हृदय में धारण किया।" अतः यदि यहाँ प्रलय अवस्थाका वर्णन है तो उस समय विचार शील ऋषि कहाँ थे जिन्हों ने असत् में सत् के बन्धु को हृदय में धारण किया था। यह मन्त्र स्पष्ट रूप से कहता है, कि यह प्रकरण प्रलय अवस्था का नहीं है। अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि यहां भाव प्राणोंसे द्रव्य प्राणोंकी तथा भाव इंद्रियों से द्रव्य इन्द्रियों की रचना का कथन है। तथा च

प्रश्नोपनिषदमें इस नासदीय सूक्तकी बड़ी सुन्दर व्याख्याकी है। यथाः—

(१) एषोऽग्निस्तपति, एष सूर्यएष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ प्र०उ०।२।५

---

(२)—विशेषके लिये प्राण प्रकरण देखें।

(२) अरा इव रथ नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

(३) आत्मन एष प्राणो जायते यथैष पुरुषे छायैतस्मि-
न्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे । ३ । ३

(४) यथा सम्राडेवाधि कृतान् विनियुङ्क्ते । एतान् ग्रामानेतान्
ग्रामानधितिष्ठस्व इत्येव मेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथ-
गेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

(५) पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्याम् प्राणः स्वयं
प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः ।
एष ह्येतद्धुतमन्नं समंनयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।५!

(६) अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन
पापमुभाभ्यामेव मनुष्य लोकम् ॥ ७ ॥

(७) यच्चित्तस्तेनैषप्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना
यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

(१) भावार्थ.— अग्नि सूर्य पर्जन्य इन्द्र वायु, पृथिवी, रयि सत, असत् अमृत मृत्यु, सब प्राण ही हैं। अर्थात् ये सब प्राण के ही नाम व रूप आदि हैं । वेदोंमें इन सम्पूर्ण अग्नि आदि देवता वाचक शब्दों द्वारा प्राणकी ही महिमाका वर्णन है । यहां यह भी ध्वनित होता है कि नासदीय सूक्तमें सत असत अमृत दिन रात, तमस् आदि शब्दों द्वारा भी इस प्राणका ही कथन किया गया है ।

(२) जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे लगे रहते हैं उसी प्रकार ऋग्वेद आदि तथा क्षात्रियत्व व ब्राह्मणत्व आदि सब प्राणोंमें ही

स्थित हैं। अर्थात्, ज्ञान, विद्या और बलका यह प्राण ही केन्द्र है

(३) जिस प्रकार मनुष्यके शरीरसे यह छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार यह प्राण भी आत्मासे उत्पन्न होता है, अर्थात् यह मानसिक संकल्पोंसे इस शरीरमें आ जाता है।

(४) जिस प्रकार सम्राट पृथक् पृथक् ग्राम व नगरादिमें यथा योग्य अधिकारियोंको नियुक्त करता है, उसी प्रकार यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों (इन्द्रियों) को पृथक पृथक नियुक्त करता है। यहां श्री शंकराचार्यने 'इतरान्प्राणान्' का अर्थ चक्षु आदि इन्द्रियां ही किया है।

(५) वह प्राणको पायु और उपस्थमें अपानको नियुक्त करता है, तथा नासिका, चक्षु और श्रोत्रमें स्वयं उपस्थित होता है। यह समान वायु (प्राण) ही खाये हुये अन्नको समभावसे शरीरमें सर्वत्र ले जाता है। उस प्राण रूपी अग्निसे दो नेत्र, दो कर्ण दो नासा-रन्ध्र, और एक रसना ये सात इन्द्रिय रूपी ज्वालायें उत्पन्न होती हैं।

(६) सुषम्ना नामकी नाड़ी द्वारा ऊपरकी ओर गमन करने वाला उदान वायु (इस जीवको) पुण्य कर्मसे स्वर्ग लोकमें तथा पाप कर्मसे नरकमें और पाप और पुण्य दोनों प्रकारके मिश्रित कर्मसे मनुष्य लोकमें ले जाता है।

(७) इस जीवका जैसा संकल्प होता है, यह उसी प्रकारके प्राणोंका आस्रव करता है, वह प्राण तेजसे युक्त हो उस जीवको संकल्प किये हुये लोकमें ले जाता है। तथा च

मुंडकोपनिषद्में श्रुति है' यथा

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभि जायते अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्। १। ८

यह आत्मा तपसे कुछ फूल सा गया, उससे अन्न अर्थात् भाव प्राण उत्पन्न हुआ, (अन्नं हि प्राणाः) शतपथ ३।८।४।८ उस भाव प्राणसे द्रव्य प्राण उत्पन्न हुआ तथा उससे मन तथा मनसे सत्य, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियां उत्पन्न हुईं, (चक्षुर्वै सत्यं तै०३।३।५।२) इत्यादि प्रमाणोंसे सत्य का अर्थ चक्षु आदि है। तत्पश्चात् लोक अर्थात् स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ और फिर इस शरीर से कर्म तथा कर्म से कर्म का फल (अमृत) उत्पन्न हुआ। यहां कर्म फल का नाम 'अमृत' है। यहां श्री शङ्कराचार्यजी लिखते हैं।

"यावत्कर्माणि कल्पकोटि शतैरपि न विनश्यन्ति तावत्फलं न विनश्यति इत्यमृतम्।"

अर्थात् जब तक (किरोड़ों कल्पों तक) कर्मों का नाश नहीं होता तब तक उनका फल भी नष्ट नहीं हो सकता इसलिये कर्मफल को 'अमृत' कहा है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वैदिक ग्रन्थों में सत् असत् अमृत व मृत्यु आदि प्राण वाचक शब्द हैं। तथा 'नासदीय' सूक्त में भाव प्राणों से द्रव्य प्राणों की तथा भाव इन्द्रियों से द्रव्य इन्द्रियों की रचना का वर्णन है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ व पुरुष सूक्तादि की व्यवस्था है।

दूसरा सृष्टि सूक्त

ऋग्वेदके मं० १० सूक्त १९० का नाम अघमर्षण सूक्त है। यह सूक्त नित्य प्रति की संध्या में भी पठित है। अतः यह विशेष महत्व रखता है। इस सूक्त में तीन ही मन्त्र हैं। प्रथम हम उनको लिखकर उनका प्रचलित भाष्य लिखते हैं पुनः उनका सत्यार्थ लिखेंगे।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धा-तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्य जायत ततः समुद्रोऽर्णवः॥ १॥

समुद्रादर्णवा दधि सम्वत्सरो अजायत ।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतोवशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्ष मथोस्वः ॥ ३ ॥

प्रचलित "अर्थ—तपे हुए (अथवा विशेष प्रकार के) तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। उनके बाद रात्रि अथवा अन्धकार उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् पानी वाले समुद्र उत्पन्न हुए ॥१॥

समुद्र के बाद सम्वत्सर अर्थात् काल उत्पन्न हुआ, उस काल ने सूर्य(दिनव रात्रि) को उत्पन्न किया तथा वह सबका स्वामी हुआ

काल के चिह्न स्वरूप सूर्य और चन्द्रमा को तथा पृथिवी और अंतरिक्ष (स्वग) को विधाता ने पूर्व की तरह बनाया ॥३॥"

पं० उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने इसी सूक्त पर वेद भाष्यकार पं० हलायुध का भाष्य यहां उद्धृत किया है। वह भी पठनीय है इसलिए हम उसको यहां लिखते हैं।

"अथ हलायुध मतम्- अस्य अघमर्षणस्य व्याख्यान माचरितु हृतकंपो जायते। यतः सर्ववेदसार भूताऽत्यन्त गुप्तश्चायं मंत्रः। अस्य यद् पाठमात्राच्च अर्थबोधस्तत्रसौगम्यं नास्ति। ब्राह्मण निरुक्तादिकं च नास्त्येव। इत्थं एतदीय व्याख्यानानुगुणं कमपि उपायं अप्राप्य यदेतस्य स्वरूपोप लंभ मात्रेण व्याख्यान माचरणीयम् तदतीव साहसम्।"

अर्थात् इस अघमर्षण सूक्तका व्याख्यान करतेहुए हृदय प्रकंपित होता है क्योंकि यह सूक्त सम्पूर्ण वेदों का सार भूत अत्यन्त गुप्त है। पाठमात्र आदि से इसका अर्थ करना सुलभ नहीं है। इसका

न ब्राह्मण है और न निरुक्त है, इसलिये व्याख्या करनेका कोई सहारा नहीं है। अतः व्याकरण आदि से इसका अर्थ करना केवल साहसमात्र ही है. फिरभी जैसा समझ में आया है लिखताहूँ

आगे आपने वही सृष्टि और प्रलय परक भाष्य किया है। पं० उमेशचन्द्र विद्यारत्न की सम्मति में यहां ऋत, सत्य, रात्रि, समुद्र, सम्वत्सर. सूर्य, चन्द्र, दिन, अंतरिक्ष आदि सब प्रांतवाची शब्द हैं। ये सब जनपद थे तथा धाता यह प्रजापति सूर्यवंशियों का पुरोहित था तथा चन्द्रवंशियों का भी। इसी धाताने चन्द्रमा और सूर्यको पुनः राजगद्दी पर बिठाया, यही इस सूक्त के तीसरे मंत्रमें कहा है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ॥ *

अभिप्राय यह है कि जितने विद्वान् हैं उतने ही अर्थ हैं। परन्तु वास्तवमें सब अंधेरे में ही निशाना लगा रहे हैं।

हम भी इसी पहेलीको सुलझानेका प्रयत्न करते हैं आशा है विज्ञ पाठक इस पर विचार करेंगे। हमारी समझमें यहां प्राण-विद्या का कथन है। ऋत, और सत् कारण कार्यरूप दो प्राण हैं। श्री शंकराचार्यने एतरेयोपनिषद् भाष्यमें लिखा है कि—

ऋतं सत्यं मूर्तामूर्ताख्यम् प्राणः। २। ३। १८

अर्थात्—ऋत और सत्य मूर्त अमूर्त प्राण हैं। तथा वैदिक कोषमें भी (सत्यं वै प्राणाः) लिखा है अतः यहां ऋत और सत्य

---

* धाता और विधाता, ऊषा और रात्रिके नाम हैं। यह हम सप्रमाण पृ०२६४ पर लिख चुके हैं, पाठक वहीं देखनेकी कृपा करें। इस आधार से इस मंत्र का यह अर्थ हुआ कि रात्री ने चन्द्रमा को उत्पन्न किया और ऊषा ने सूर्य को। यह अर्थ युक्ति युक्त और वैदिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

प्राणवाची शब्द हैं। इसी प्रकार समुद्र, अर्णव, अह, रात्रि, संवत्सर भी प्राणवाचक शब्द हैं। अह प्राणका नाम है और रात्रि अपानका नाम है। समुद्र मनको कहते हैं। और वाक् (वाणी) को संवत्सर कहते हैं। इस प्रकार यहां प्राणोंका कथन है न तो यहां प्रलयका कथन है और न सृष्टि उत्पत्तिका—

अतः इन मन्त्रोंका अर्थ हुआ भाव और द्रव्य क्रिया (योग) से ऋत और सत्य सूक्ष्म और स्थूल प्राण उत्पन्न होते हैं। उनसे रात्रि, तम, अज्ञान उत्पन्न होता है। उन्हीं प्राणोंसे समुद्र मन वाक् सूक्ष्म वाणी उत्पन्न होती है, समुद्रात् उस सूक्ष्म वाणी से (अर्णवः) स्थूल वाक् उत्पन्न होती है। और उससे स्थूल इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। प्राण और अपानको इस (विश्वस्य) शरीरस्य। शरीरके स्वामीने धारण किया उसे धाता (आत्मा ने) सूर्य और चन्द्रमाको मन और वाणी आदिको, (भाव प्राणों से द्रव्य प्राणों-को) यथा पूर्वमकल्पयत् यथावत् बनाया। तथा (दिवंच, पृथ्वीं) अन्तरिक्ष, पैर, उदर, मस्तक आदि स्थूल शरीरको भी रचा।

अभिप्राय यह है कि यह आत्मा जिस प्रकार मकड़ी अपने जालेको बनाती है उसी प्रकार अपने शरीरकी रचना भी स्वयं करता है। यह किस प्रकार होता है यही यहां बताया गया है। यही वेदोंका सार है जो इसको नहीं जानता, वह किस प्रकार ऐसे अत्यन्त गुप्त मन्त्रोंका अर्थ कर सकता है।

—*—

वेद और जगत

१—त्रिनाभि चक्रमजरमनवर्णम् ॥ १ ॥

२—द्वादशारं नहि तज्जराय ॥ १ ॥

३—सनादेव न शीर्यते सनाभि॥१३॥ऋ०मं०१सूक्त१६४

४—पश्य देवस्य काव्यं यो न ममार न जीर्यति ॥

५—ध्रुवाद्यौ र्ध्रुवा पृथ्वी ध्रुवास पर्वता इमे ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ॥ ४ ॥ ऋ० मं० १० सूक्त १७३

(१) त्रिनाभि, तीन ऋतुओं वाला यह संवत्सर, अजर अमर है।

(२) इस सूर्य को १२ आरे रूपी सम्वत्सर, वृद्ध नहीं कर सकता।

(३) ये सूर्य आदि लोक, मूल सहित कभी नष्ट नहीं होते।

(४) उस देव की रचना को देखो जो न नष्ट होती है, न जीर्ण।

(५ यह पृथ्वी, द्युलोक, अन्तरिक्ष, और यह सब जगत नित्य है।

इसप्रकार वेद जगतकी नित्यताको बताकर आगे कहते हैंकि—

(१) को ददर्श प्रथमं जायमानम् ॥ ऋ० १।१६४।४

(२) कतरा पूर्वा कतरा परायाः कथा जाते कवयो कोविवेद। ऋ० १।१८५।१

(३) को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्, कुत आजाताकुत इयं विसृष्टिः। अर्वाङ्ग देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥ ६ ॥

(४) इयं विसृष्टि यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न। योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, सो अंग वेद यदि वा नवेद (ऋ०१०।१२६।७)

अर्थात्—(१) प्रथम जन्म ते हुए जगत को किसने देखा है अर्थात् किसी ने नहीं देखा।

(२) इन सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी आदि में से प्रथम कौन उत्पन्न हुआ, तथा यह संसार किसने और क्यों बनाया इस बात को कौन तत्वदर्शी जानता है। अर्थात् कोई नहीं जानता।

(३) यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ इसको निश्चयसे न किसीने जाना है तथा न किसीने कहा है। यदि आप कहें कि देवता जानते होंगे तो वे भी सृष्टिके पश्चात् बननेसे कैसे जान सकते हैं।

(४) यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, और जिसने धारण कर रक्खी है, यदि कहो कि यह उन उपरोक्त बातों को जानता है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वह प्रजापति भी इन बातों को नहीं जानता है। क्योंकि प्रजापति स्वयं कहता है कि—

न विजानामि यतरा परस्तात्। अ०वे० कां०१०।७।४३

इनमेंसे प्रथम कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ यह मैं नहीं जानता।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रोंमें भी जगतकी नित्यता का कथन है।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

क० उ० २। ३। १

इस श्रुति का भाष्य करते हुये श्री शङ्कराचार्य जी ने लिखा है—

एष संसार वृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत कामकर्मवातेरित नित्य

प्रचलित स्वभावः स्वर्ग नरक तिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिः आवाक्शाखः सनातनोऽनादित्वाच्चिरंप्रवृत्तः ।

यह संसाररूपी वृक्षअश्वत्थ है, अर्थात् अश्वत्थ वृक्षके समान कामना और कर्म रूप वायुसे प्रेरित, नित्य, चंचल स्वभाव वाला है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक्, प्रेतादि शाखाओंके कारण यह नीचे की ओर फैली हुई शाखा वाला है तथा सनातन यानि अनादि होनेके कारण चिरकाल से चला आ रहा है।

ऊर्ध्वमूल मधः शाख मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥ १ ॥
न रूप मस्येह तथोप लभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

श्री शङ्कराचार्य जी ने यहाँ लिखा है कि—

तं क्षण प्रध्वं सिनम्, अश्वत्थं प्राहुः कथयन्ति अव्ययम् ॥ १ ॥ तथा न च आदिः इत आरभ्य, इदं प्रवृत्तः इति न केनचिद् गम्यते । न च संप्रतिष्ठा स्थितिः मध्यम् अस्य न केनचिद् उपलभ्यते ।

अर्थात—इसक्षण भंगुर अश्वत्थ वृक्ष को अव्यय (नित्य) कहते हैं। (यह पर्याय की अपेक्षा से क्षण भंगुर है, तथा द्रव्य की अपेक्षा नित्य) यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है इसलिये यह अव्ययहै ॥१॥ इसका आदि भी नहीं है, अर्थात् यहां से आरम्भ होकर यह संसार चला है, ऐसा किसी से नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार इसका अन्त भी कोई नहीं जानता कि इसका कब अन्त होगा यही अवस्था इसके मध्यकी है। क्योंकि अनादि पदार्थ का आदि अन्त नहीं होता है। इस प्रकार श्रुति स्मृति में जगत को नित्य माना है। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थल

हैं जिनमें जगत की उत्पत्ति का स्पष्ट शब्दों में वा प्रबल युक्तियों से खंडन किया है। यथा—

ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे क्षेम का मासः सद सो न युज्यते। ऋ० मं० १०।८४।१२

अर्थ—तुम्हारे पूर्वज पर्वत युगयुगान्तरोंसे स्थिर हैं, पूर्णाभिलाष हैं, और किसी भी कारणसे अपना स्थान नहीं छोड़ते। वे अजर, अमर हैं और हरे वृक्षोंसे युक्त हैं।

इस प्रकार जब वेदोंसे इस जगतका नित्यत्व सिद्ध हो गया तो उसके कर्ताका प्रश्न ही शेष नहीं रहता।

मीमांसा और ईश्वर

यदा सर्वमिदं नासीत् क्वास्था तत्र गम्यताम्।
प्रजापतेः क्व वा स्थानं किं रूपं च प्रतीयताम् ॥४५॥
ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान् बोधयिष्यति।
उपलब्धेर्विना चैतत् कथमध्यवसीयताम् ॥ ४६ ॥
प्रवृत्तिः कथमाद्या च जगतः सं प्रतीयते।
शरीरादेर्विना चास्य कथमिच्छापि सर्जने ॥४७॥
शरीराद्यतस्यस्याद्यस्योत्पत्तिर्न तत्कृता।
तद्वदन्य प्रसंगोऽपि नित्यं यदितदिष्यते ॥४८॥
प्राणिनां प्रायो दुःखाच्च सिसृक्षाऽस्य न युज्यते ॥४९॥
अभावाच्चानु कम्प्यानां नानु कम्पास्य जायते।
सृजेच्च शुभमेवैक मनुकम्पा प्रयोजितः ॥ ५२ ॥
साधनं चास्य धर्मादि तदा किंचिन्न विद्यते।
न च निस्साधनः कर्ता कश्चित्सृजति किंच न ॥५०॥

संहारेच्छापि नैतस्य भवेद् प्रत्ययात्मनः ।
न च कैश्चिदमौ ज्ञातुं कदाचिदपि शक्यते ॥ ५७ ॥
न च तद् वचने नैव प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता ।
असृष्टावपि ह्यसौ ब्रूयादात्मैश्वर्य प्रकाशनात् ॥ ६० ॥

श्लोक वार्तिक अ० ३

भावार्थः—जगतके पूर्व जब कुछ भी नहीं था, तो वह ईश्वर किस जगह रहता था। यदि आप कहें वह निराकार है, उसे पृथ्वी आदिके आधारकी आवश्यकता नहीं, तो निराकारमें इच्छा और प्रयत्न किस प्रकार सिद्ध करोगे। क्यों कि सर्व व्यापक निराकारमें आकाशवत् क्रिया होना असंभव है। इसी प्रकार इच्छा शरीरका धर्म है अशरीरीके इच्छा नहीं होती। अतः निराकार मानने पर सृष्टिकर्ता सिद्ध नहीं हो सकता, यदि साकार और सशरीरी मानो तो उसके लिए आधारकी आवश्यकता है, परन्तु प्रलयमें आधार रूप पृथ्वी आदि का आप अभाव मानते हैं अतः यह प्रश्न होता है कि वह रहता कहां था। अच्छा यदि आपको प्रसन्न करनेके लिये हम यह मान लें कि ईश्वरने जगको बनाया. आप यह बतायें (ज्ञाता च कस्तद् तस्य) कि उसको बनाते हुए किसने देखा ("को-ददर्श प्रथमं जायमानं इस वेद वाक्यका यह अनुवाद है) जिसने आकर जनतासे कहा कि ईश्वरने संसार बनाया है. यदि कहो कि किसीने नहीं देखा तो आपने यह अन्धविश्वास कैसे कर लिया. तथा च—आप यह भी बतानेकी कृपाकरें कि आद्यक्रिया किसप्रकार प्रारम्भ हुई और किस स्थानसे प्रारम्भ हुई। यदि किसी स्थान विशेषसे तो इस विशेषताका क्या कारण है. यदि सर्वत्र एक साथ क्रिया प्रारम्भ हुई तो सृष्टिका क्रम न रहा। पुनः आप "आका-शाद् वायु" आदि क्रम बताते हैं वह न रह सकेगा। और उस

शान्त परमेश्वरमें यह अशान्तिप्रद इच्छा ही क्यों उत्पन्न हुई।

(कतरा पूर्व कतरा परायोः कथा जाता)यहइस वाक्यका युक्ति-पूर्वक अनुवाद है। तथा च सर्व व्यापक ईश्वरकी क्रियासे जगत का बनना असम्भव है क्योंकि जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लोहेके चारों ओर होनेसे लोहा क्रिया नहीं कर सकता. इसी प्रकार पर-माणुओंके चारों ओर ईश्वरकी सत्ता होनेसे तथा सब ओर से क्रिया देनेसे परमाणु भी वहीं स्थित रहेगा। यदि कहो कि परमात्मा परमाणुओंके अन्दर भी व्यापक है इस लिये वह अन्तः क्रिया देता है, तो भी परमाणुओंमें क्रिया न हो सकेगी. क्योंकि परमाणुओंके जो बाहर ईश्वर है वह अन्तः क्रियाका अवरोधक है। अतः सर्व व्यापक ईश्वर विश्वको नहीं रच सकता। यदि कहो कि ईश्वर सशरीरी एक देशी है तो उस शरीरका स्रष्टा कौन है। यदि उसका भी कोई शरीरी कर्ता है तो उसके शरीरका कर्ता कौन है। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा।

तथा च—कोई भला आदमी किसीको दुःख देना नहीं चाहता पुनः इस दुःखमय जगतको रच कर अनन्त जीवोंको दुःख सागर में डाल दिया इससे उसको क्या लाभ हुआ। यदि यह इस दुःखमय जगत को न बनाता तो उसका क्या बिगड़ता यदि कहो उसका स्वभाव है तो वह अपने स्वभाव को सुधार क्यों नहीं लेता। यदि कहो कि यह ईश्वरकी दया है तो प्रश्न यह होता है कि यह दया किस पर. दया तो दयनीय पर होती है. परन्तु प्रलयमें तो कोई दयनीय नहीं था सबके सब सुखी थे. क्या सुखी जीवोंको दुःखमें डालनेका नाम अनुकम्पा है। और यदि दया दिखलाना ही उद्देश्य था तो सुखमय संसारकी रचना करनी थी क्या ऐसा करना उसकी शक्तिके बाहर था। यदि कहो कि सुख दुख कर्मानुसार जीव भोगता है तो ईश्वर बीचमें क्यों आ

धमका। क्या उसका अपना कोई स्वार्थ था। यदि कहो कि उसका स्वार्थ तो कुछ भी नहीं था, तो बिना प्रयोजनके वह इतना बखेड़ा क्यों करता है। मूर्ख से मूर्ख भी बिना प्रयोजनके किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता है। यदि कहो कि यह उसकी क्रीड़ा अथवा लीला है, तो इस लीला अथवा खेलसे संसार तंग आ चुका है। अब वह कब तक बालक बना रहेगा। और कब तक ऐसी ही क्रीड़ा करता रहेगा। अच्छा आप विश्व रचनाके बारेमें कुछ उत्तर नहीं दे सकते तो यही बता दो कि वह प्रलय क्यों करता है। क्या वह काम करता करता थक जाता है अतः तब आराम करने लगता है, अथवा उसके साधन खराब हो जाते हैं उनको ठीक करने लगता है। यदि कहो कि यह भी उसकी दयाका फल है। तो आपको दयाके पारिभाषिक कुछ अन्य अर्थ करने पड़ेंगे। क्यों कि अब तो दयाका अर्थ संरक्षण ही समझा जाता है संसार नहीं। तथा च—बनाना और बिगाड़ना दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं दोनोंका एक दया प्रयोजन नहीं हो सकता अतः ईश्वर जगतका संहार क्यों करता है इसका आज तक कोई विद्वान उत्तर नहीं दे सका है। यदि कहो कि जगत बनानेमें वेद प्रमाण हैं तो यह कहो कि वेदमें कथित पदार्थोंका वेदके साथ संबन्ध है या नहीं। यदि कहो कि सम्बन्ध नहीं है तब तो वेद असत्य भाषणके दोषी हैं। यदि कहो कि है, तो वेदोंके नित्य होनेसे उन २ पदार्थोंकी नित्यता स्वयं सिद्ध हो गई, अतः जगत रचनाकी कल्पना युक्ति और प्रमाण से खंडित होनेके कारण मिथ्या है। तथा च वेद बनाने वाले ने अपनी प्रशंसा प्रगट करनेके लिये उन वाक्योंको नहीं लिखा इसमें क्या प्रमाण है। तथा च मीमांसा दर्शनके भाष्यकार श्रीमत्पार्थ सारथि मिश्र, अ १ पाद, १ अधिकरण, ५ की व्याख्या करते हुये लिखते हैं कि—

"न च सर्गादीनां, कश्चित् कालोऽस्ति सर्वदा ईदृशमेव-जगदिति दृष्टानुसारादवगन्तुमुचितम् । न तु सकालोऽभूत् यदा सर्वमिदंनासीदिति, प्रमाणाभावत् ।"

अर्थः—इस विश्व उत्पत्तिका कोई, एक समय नहीं है. न कोई ऐसा समय था कि जब यह सब कुछ नहीं था। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। आगे इस विद्वान् ने जगत कर्त्ताके खंडनमें अनेक प्रमाण दिये हैं।

ईश्वर उत्पन्न हुआ

अथर्व वेद में लिखा है कि—

सवा अह्नोऽजायत, तस्मादहरजायत। (१३।४।७।१)

अर्थ—वह परमात्मा दिनसे उत्पन्न हुआ और दिन परमात्मा से उत्पन्न हुआ।

सवै रात्र्या अजायत, तस्माद् रात्रिरजायत ॥ २ ॥

अर्थ—परमात्मा रात्रि से उत्पन्न हुआ और रात्रि परमात्मा से उत्पन्न हुई।

सवा अन्तरिक्षादजायत, तस्मादन्तरिक्षमजायत। ३ ॥

अर्थ—वह परमात्मा अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुआ और अन्तरिक्ष परमात्मा से उत्पन्न हुआ।

सवै वायोरजायत तस्माद् वायुर जायत ॥ ४ ॥

अर्थ—वह ईश्वर वायु से उत्पन्न हुआ और वायु उससे उत्पन्न हुआ।

सवै दिवोऽजायत, तस्माद् द्यौरध्य जायत ॥ ५ ॥

अर्थ—वह परमात्मा स्वर्गसे उत्पन्न हुआ और स्वर्ग परमात्मा से उत्पन्न हुआ।

स वै दिग्भ्योऽजायत, तस्माद् दिशोजायन्त ॥ ६ ॥

अर्थ—वह परमात्मा दिशा से उत्पन्न हुआ और दिशाए परमात्मा से उत्पन्न हुई।

स वै भूमे रजायत, तस्माद्, भूमि रजायत। ७ ॥

अर्थ वह ईश्वर पृथ्वी से उत्पन्न हुआ और पृथ्वी परमात्मा से उत्पन्न हुई।

सवा अग्ने रजायत, तस्मादग्निरजायत ॥ ८ ॥

अर्थ—वह परमात्मा अग्नि से उत्पन्न हुआ, और अग्नि परमात्मासे उत्पन्न हुई।

स वा अद्भ्योऽजायत, तस्मादापोऽजायन्ते ॥ ९ ॥

अर्थ-वह परमात्मा पानीसे उत्पन्न हुआ और पानी परमात्म से उत्पन्न हुआ।

उपरोक्त प्रमाणों से सिद्ध है, कि वैदिक वाङ्मय में जो प्रकरण जगत रचना परक प्रतीत होते हैं। वे वास्तव में सृष्टि रचना के विधायक नहीं हैं, अपितु वे अर्थ वाद मात्र हैं। जिसका वर्णन विस्तार पूर्वक आगे किया जायगा। यदि ऐसा न मानें तो अथर्ववेद के कथनानुसार परमेश्वरकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तथाच अनेक स्थानों पर इस शरीर-रचना का वर्णन आलंकारिक ढंग से किया है, जिससे सृष्टि रचनाका भ्रम सा हो जाता है।

—❀—

सारांश

सारांश यह है कि वर्तमान ईश्वर की कल्पना न वैदिक है और न युक्तिपूर्वक ही है। वैदिक साहित्य में जो भी वर्णन प्राप्त होता है वह सब आलंकारिक वर्णन है, उससे न तो ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध होता है तथा न सृष्टि उत्पत्ति का ही। हम इस विषय में कुछ वैदिक उदाहरण उपस्थित करते हैं।

अथर्ववेद के कां० ११ में एक ब्रह्मचर्य सूक्त है, उसमें लिखा कि—

ब्रह्मचारिणं पितरोदेवजनाः पृथक् देवा
अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वा एनमन्वायन त्रयस्त्रिंशत्
त्रिशतः षट् सहस्राः। अथर्व० ११।५
इयं समित् पृथिवीद्यौर्द्वितीयो चान्तरिक्षं समिधा पृणाति।४।
आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे॥ ८॥

अर्थात्, पितर, देव, गन्धर्व आदि सब ब्रह्मचारी के अनुकूल रहते हैं। तथा ६३३३ देव इस ब्रह्मचारी के पीछे पीछे फिरते हैं। आदि

इसकी यह पृथिवी पहली समिधा (हवन करने की लकड़ी) है तथा द्यौ. दूसरी समिधा है और अन्तरिक्ष तीसरी समिधा है।

आचार्य ने पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक को बनाया है। इत्यादि मन्त्र सब अर्थवाद मात्र हैं। क्योंकि न तो सम्पूर्ण देव ही ब्रह्मचारी के पीछे पीछे आवारा गरदों की तरह घूमते फिरते हैं और नहीं आचार्य ने पृथिवी आदि लोकों का निर्माण किया है। तथा न पृथिवी की समिधायें बनाई जाती हैं। इस मन्त्र

का प्रयोजन केवल ब्रह्मचारी की और आचार्य की प्रशंसा करना ही है। अतः यह अर्थवाद है।

अनड्वानदाधार पृथिवीमुत द्याम्। अथर्व कां० ४ सू० ११।१

अर्थात् छकड़ा खींचने वाले बैल ने पृथिवी द्यौ-, अन्तरिक्ष आदि लोकों को धारण किया। आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० राजाराम जी ने लिखा कि "यह सूक्त अनड्वान (छकड़े को खींचने वाले की) स्तुति में है।"

अथर्ववेद कां०, ४ सू. २० में औषधि की स्तुति है।

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाप्रदिशः पृथक्।
त्वयाहं सर्वाभूतानि पश्यानि देव्योषधे॥ २॥

अर्थात्—हे औषधे, तेरे प्रताप से मैं सम्पूर्ण लोकों तथा संपूर्ण दिशाओंमें देखूं। यहां औषधिका इतना प्रताप बताया गया है। इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी उन उन पदार्थों की स्तुति मात्र है। मीमांसकों की परिभाषा में इसी को अर्थवाद कहते हैं।

नोट— आर्य विद्वानोंने मन्त्र ८ के भावार्थमें लिखा है कि— "पृथिवी आदि बनानेका भावार्थ है कि आचार्यने उपदेश द्वारा इनका प्रकाश किया।"

यदि बनाने (उत्पन्न करने) का यही अभिप्राय है तो पुरुष सूक्त हिरण्यगर्भ व स्कंभ आदि सूक्तों का भी यही भावार्थ मानकर वहां भी उपदेश द्वारा प्रकाश अर्थ करना चाहिये।

—※—

लोकमान्य तिलक और जगत

लोकमान्य तिलक महोदय स्वयं लिखते हैं कि— एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्योंकी इन्द्रियोंको दीखने वाला यह सगुण दृश्य, निर्गुण परब्रह्ममें पहले पहल किस क्रमसे कब और क्यों दीखने लगा। अथवा यही अर्थ व्यावहारिक भाषामें यूँ कहा जा सकता है कि—नित्य और चिद्रूपी परमेश्वरने नाम रूपात्मक विनाशी और जड़ सृष्टि कब और क्यों उत्पन्नकी? परन्तु ऋग्वेद के नासदीय सूक्तमें जैसा कि वर्णन किया गया है यह विषय मनुष्य के लिये ही नहीं अपितु देवताओंके लिये भी अगम्य है।" गीता रहस्य, कर्म विपाक और आत्म स्वातंत्र्य, अधिकार। पृ० २६३।

सत्यव्रत सामश्रमी

आप निरुक्तालोचनमें लिखते हैं कि—

वस्तुतो वैदिक सृष्टि विवरणानि तुप्रायो रूपकाण्येवेति। तदेव आदि सृष्टिकाल निर्णयो न कदापि भूतो भवति-भविष्यति वेति सिद्धान्तः अतएव श्रूयते ध्रुवाद्यौध्रुवापृथिवी ध्रुवासः पर्वताइमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवोराजा विशा-मयम् ऋ० १०। १७३ कोददर्श प्रथमं जायमानम्॥ ऋ० १।१६४।४ सिद्धाद्यौ सिद्धा पृथिवी सिद्धमाकाशम्॥ पा० भा० १।१।१ इत्यादयश्च सिद्ध शब्दस्य चेदनित्यार्थता यथा आह पस्पशायां भगवान् पतंजलिः नित्यपर्यायवाचकः सिद्धशब्दः। इति"

अर्थ—वास्तवमें सृष्टि विषयक जो वेदोंमें वर्णन है वह सब रूपकोंमें कहा गया है। अतः सृष्टि कब आरम्भ हुई इसका निर्णय

न कभी हुआ और न कभी होगा यह निश्चित सिद्धान्त है। तथा वेदोंमें ही सृष्टि उत्पत्ति आदिका विरोध पाया जाता है, यथा 'ध्रुवाद्यौ' यह द्युलोक पृथिवी लोक आदि सब नित्य हैं तथा च 'कोदद्दर्श प्रथमं जायमानम्' इस जगतको उत्पन्न होते हुये किसने देखा है। तथा महाभाष्यमें भी 'सिद्धाद्यौ' आदि कहकर पृथिवी आदि सब लोकोंको नित्य माना है। तथा सिद्ध शब्दको नित्य का पर्यायवाची कहा है।

श्री पांडेय रामावतार शर्मा

"पृथिवी स्वर्ग और नरक के उपर्युक्त विचारोंके रहते भी संहितामें सृष्टि परक स्पष्ट विवरण नहीं मिलते। इस सम्बन्धके जो कुछ कथन रूपकोंमें कथित हैं, उनके शाब्दिक अर्थों से निश्चित अभिप्राय आज निकालना कठिन है। मन्त्रोंमें पिता माताके द्वारा सृजनके सदृश्य उल्लेख हैं। और जिन देवताओंसे विश्वका धारण किया जाना वर्णित है उनकी भी उत्पत्तिके संकेत दिये गये हैं। पुरुष हिरण्यगर्भ, प्रजापति, उत्तानपाद आदि सूक्तोंमें जो बिखरी रायें हैं उनमें सृष्टि विषयक अस्फुट बातें हैं। जिनको आधार बना कर ब्राह्मणकालमें पृथिवीके बननेके सम्बन्ध में वराह, कच्छप, आदिके आख्यान उपन्यस्त किये गये।" (भारतीय ईश्वरवाद)

श्री स्वा० विवेकानन्द जी

"यह संसार किसी विशेष दिनको नहीं रचा गया। एक ईश्वर ने आकर इस जगतकी सृष्टि की, इसके बाद वह सो रहे यह कभी नहीं हो सकता।" पृ० ८ "तथा च हम देख चुके हैं कि इस सृष्टिको बनाने वाला व्यक्तिगत ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता है। आज कोई बच्चा भी क्या ऐसे ईश्वरमें विश्वास करेगा? एक कुम्हार घड़ा बनाता है, इसलिये परमेश्वर भी यह संसार

बताता है—यदि ऐसा है तो कुम्हार भी परमेश्वर है। और यदि कोई कहे कि ईश्वर बिना सिर, पैर और हाथोंके रचना करता है तो उसे तुम बेशक पागलखाने ले जा सकते हो। पृ० ६२ (आप के भारतमें दिये गये पाँच व्याख्यान)

श्री शंकराचार्य और जगत्

भारतके महानाचार्य श्री शंकराचार्य जी ने उपनिषद भाष्यमें लिखा है कि—

"यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूत् एक रूप एव संवादः सर्वं शाखास्व श्रोष्यत विरुद्धानेक प्रकोरण नाश्रोष्यत। श्रूयते तु तस्मान्न तादर्थ्यं संवादः श्रुतीनाम्। तथोत्पत्ति वाक्यानि प्रत्येतव्यानि कल्पसर्ग भेदात्संवाद श्रुतीनामुत्पत्ति श्रुतिनांच प्रति सर्गमन्यथात्त्वमिति चेत् ?

न, निष्प्रयोजनत्वाद् यथोक्त बुद्ध्यवतार प्रयोजन व्यतिरेकेण नह्यन्य प्रयोजनत्वं संवादोत्पत्ति श्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम्। तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न, कलहोत्पत्ति प्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात्। तस्मादुत्पत्ति आदि श्रुतय आत्मैकत्व बुद्ध्यवतारायैणेव नान्यार्थाः कल्पयितुंयुक्ताः॥"

(माण्डूक्य० गौ० का० १)

अर्थ—शास्त्रोंमें देवासुर संग्राम तथा इन्द्रियोंका और प्राणों का परस्पर सम्वाद व कलह इसीप्रकार सृष्टि उत्पत्ति आदिका जो कथन है वह प्रत्येक वैदिक सूक्तोंमें और ब्राह्मणोंमें एवं उपनिषद आदिमें परस्पर इतना विरुद्ध है कि उसकी संगति किसी प्रकार भी नहीं लग सकती। इसपर प्रतिवादीने शंका की कि क्या यह

उत्पत्ति आदिकी कथन करने वाली श्रुतियां मिथ्या हैं ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि—यह सम्वाद अथवा उत्पत्ति आदि वास्तविक होते तो सम्पूर्ण शास्त्रोंमें एक ही प्रकारका वर्णन उपलब्ध होता, परस्पर विरुद्ध कथन कभी न प्राप्त होता। परन्तु परस्पर विरुद्ध लेख मिलता है अतः यह सिद्ध है कि इन श्रुतिओंका अभिप्राय यथा श्रुत अर्थमें नहीं है। इसी प्रकार सृष्टि उत्पत्तिका कथन करने वाली श्रुतियोंका प्रयोजन भी सृष्टि उत्पत्तिका कथन करना नहीं है इस पर वादि पुनः प्रश्न करता है कि—यह विरोधी श्रुतियां पृथक सर्गकी पृथक पृथक सृष्टि उत्पत्तिके प्रकारका कथन करती हैं। यदि ऐसा मानें तो ?

इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि—यह कल्पना ठीक नहीं क्योंकि उन कल्पों के कथन का प्रयोजन नहीं है। अतः यह कल्पना निष्प्रयोजन है। अतः यह सिद्ध है कि इन श्रुतियों का प्रयोजन एक मात्र आत्मा ववोध कराना है। प्राण संवाद और उत्पत्ति श्रुतियों का इससे भिन्न कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता शेष कल्पनायें निराधार और व्यर्थ हैं। यदि ध्यान के लिये उपरोक्त विरोधी श्रुतियां मानी जायें तो भी ठीक नहीं। क्योंकि कलह, उत्पत्ति आदिको आदर्श नहीं कहा जासकता। तथा न यह किसी को इष्ट ही है! अतः सृष्टि उत्पत्ति कथन करने वाली श्रुतियों का अभिप्राय सृष्टि की उत्पत्ति बताना नहीं है, अपितु उन कथानकों से आत्मभाव बोध कराना है। तथा च ऐतेरेय उपनषिद भाष्य में आचार्य लिखते हैं कि—

"अत्रात्मावबोधमात्रस्य विवक्षितत्वात् सर्वोऽयमर्थवादः।"

अर्थात सृष्टि उत्पत्ति को बताने वाली श्रुतियों का अभिप्राय आत्मावबोध कराना है। अतः यह सब कथन अर्थ वाद मात्र

है। अर्थात आत्मा की स्तुति मात्र है । अभिप्राय यह है कि सृष्टि तो जैसी है वैसी ही है परन्तु इसकी उत्पत्ति और प्रलय का कथन वास्तविक नहीं है। उत्पत्तिका कथन करने वाली श्रुतियोंका केवल आत्मा की स्तुति करके आत्मज्ञान में अभिरुचि उत्पन्न करना प्रयोजन है।

सृष्टि विषयमें अनेक वाद

इच्छंति कृत्रिमं सृष्टिवादिनः सर्वमेवमिति लोकम् ।
कृत्स्नं लोकं महेश्वरादयः सादि पर्यन्तम् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—सृष्टि के वाद वाले सर्व लोक को (सम्पूर्ण जगत् को) कृत्रिम (रचा हुआ) मानते हैं, उनमें से महेश्वरादि से सृष्टि की उत्पत्ति मानने वाले सृष्टिवादी हैं, वे सम्पूर्ण लोकको आदि और अंत वाला मानते हैं।

मानीश्वरजं केचित् केचित्सोमाग्नि संभवं लोकम् ।
द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत्केचिदिच्छन्ति ॥ ४३ ॥

व्याख्या—मानी ईश्वर (अहंकारी ईश्वर) मैं ईश्वर हूं ऐसे ईश्वर से लोक उत्पन्न हुआ है, ऐसा कितनेक मानते हैं कितनेक सोम और अग्नि से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, और कितनेक इस जगत् को द्रव्यादि षट् विकल्प रूप मानते हैं सोई दिखाते हैं।

द्रव्यगुणकर्म सामान्ययुक्तविशेषं कणाशिनस्तत्वम् ।
वैशेषिकमेतावत् जगदप्येतावदेतावत् ॥ ४४ ॥

व्याख्या—पृथिव्यादि नव प्रकार का द्रव्य, शब्दादि चौबीस गुण उत्क्षेपादि पांच प्रकार कर्म, सामान्य द्वि प्रकार समवाय एक, और विशेष अनन्त, यह षट् पदार्थ कणाद मुनि का तत्व है, वैशेषिक मत भी इतना ही है और जगत् भी इतना ही है।

सयत्कर्म्मो नाम। एतद्वैरूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यत्सृजता करोत् तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्मः कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति–श–कां–७ अ० ५ ब्रा०–१ कं–५

भावार्थः—(स यत्कूर्मो नाम) जो कूर्म्म नाम से वेदों में प्रसिद्ध है सो (एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः) एतत् अर्थात् कूर्म्म रूप को धारण करके प्रजापति परमेश्वर (प्रजा असृजत) प्रजा को उत्पन्न करते हुए (तद्यद करोत्) वे प्रजापति, जिससे सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करते भये (तस्मात्कूर्मः) तिसी से कूर्म्म कहे गये हैं (कश्यपो वै कूर्म्मः) वै–निश्चय करके वही कूर्म्म कश्यप नाम से कहे गये हैं (तस्मात्) तिसी से (आहुः) सम्पूर्ण ऋषि लोक कहते हैं कि (सर्वाः प्रजाः काश्यप्य-इति) सम्पूर्ण प्रजा कश्यप की ही है।

तथा कितनेक कहते हैं कि, यह सर्व जगत् मनु का रचा है

'तथाहि शतपथ ब्राह्मणे'

मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहुर्य थेदं पाणिभ्यामवने जनाया हरन्ति एवं तस्या वने निजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनु जी के प्रति प्रातःकाल में भृत्यगण (नौकर) हस्त धोने को और तर्पण के लिये, जल का आहरण करते भये, तब मनुजीने जैसे इतर लोक वैदिककर्म निष्ठ पुरुष, इस अवनेग्य जलको तर्पण करनेके लिये अपने दोनों हाथों करके ग्रहण करतेहैं, इसी प्रकार तर्पण करते हुए मनुजीके हाथमें मछलीका बच्चा मत्स्य अकस्मात् आगया, तब उसको देख कर मनु जी सोचने

लगे, तावदेव मनुजी के प्रति मत्स्य कहने लगा कि, हे मनु! तू मेरा पालन कर, और हे मनु! मैं तेरा पालन करूँगा, तब उस मत्स्य की मनुष्य वाणी सुन आश्चर्य मान कर मनु जी बोले कि तू काहे से मेरी पालना करेगा, क्योंकि तू तो महा तुच्छ जीव है, तब मत्स्य ने कहा कि हे राजन्! तू मुझे छोटा सा मत समझ, यह सम्पूर्ण प्रजा जो कुछ तेरे देखने में आती है, सो यह सब बड़े भारी जलों के समूह में डूब जायगी, कुछ भी न रहेगी, सो मैं तिस महा प्रलय कालके जल समूहसे तेरा पालन करूंगा, अर्थात् उस प्रलय काल के जल में मैं तुझ को नहीं डूबने दूँगा। तब मनु जी बोले कि, हे मत्स्य तेरा पालन किस प्रकारसे होगा, सो भी कृपा करके आप ही बताइये।

तब मत्स्य ने कहा कि, जब तक हम लोग छोटे रहते हैं तब तक बहुत से पापी प्रजा धीवरादि हमारे मारने वाले होते हैं, और बड़े २ मत्स्य और बड़ी २ मछलियां छोटे २ मत्स्य और छोटी २ मछलियां को निगल जावे हैं, इससे प्रथम समय तो मेरे को अपने कमंडलु में रखलीजिये, तब मनु जी ने उस मत्स्य को कमंडलु में जल भर कर रख लिया, सो मत्स्य जब उस कमंडलु से भी अधिक बढ़ गया, तदनन्तर मनुने पूछा कि, अब आपका मैं कैसे पालन करूं? तब मत्स्य ने कहा कि हे राजन्! एक बड़ा गर्त्त वा तालाब वा नदी खुदाकर उसमें मुझको पालन कर, सो मत्स्य जब नदी से भी अधिक बढ़ गया तब फिर मनु जी ने पूछा कि, अब मैं तुम्हारा कैसे पालन करूं? तब मत्स्य ने कहा कि, हे राजन्! अब मुझको समुद्र में छोड़ दीजिये, तब मैं नाश रहित हो जाऊंगा। यह सुन कर मनुजी ने उस नदी को खुदा कर समुद्र में मिला दिया, तब वह मत्स्य समुद्रमें चला गया।

सो मत्स्य समुद्रमें जाते ही शीघ्र ही बड़ा भारी मत्स्य हो

गया, और सो फेर उससे भी बहुत बड़ा क्षण २ में बढ़ने लगा। तदनन्तर वो मत्स्य राजा मनु से जिस वर्षकी जिस तिथिको वो जलोंका समूह आने वाला था. बतला कर कहता हुआ कि, जब यह समय आवे तब हे राजन ? तुम एक उत्तम नाव बनवा कर, और उस नावमें सवार होकर, मेरी उपासना करना; अर्थात् मेरा स्मरण करना। जब सो जलोंका समूह आवेगा तब मैं तेरा नौकाके पास ही आजाऊंगा, और तब फिर मैं तेरा पालन करूंगा।

मनु जी तदुक्त क्रमसे उस मत्स्यको धारण पोषण कर समुद्र में पहुंचाते भये, सो मनु जिस तिथी और जिस संवत्में नाव बनवा कर उस मत्स्य रूप भगवानकी उपासना करते भये। तद-नंतर सो मनु, उन जलोंके समूहको उठा देख कर नावमें आरूढ़ हो जाते भये, तब वह मत्स्य तिस मनु जीके समीप आकर ऊपर को ही उछले, तब मनु जीने उन मत्स्य भगवानको उछलते हुये देखा, तब मनु जी तिस मत्स्यके अंगमें अपनी नौकाका रस्सा डाल देते भये, तिस करके वह मत्स्य नौकाको खींचते हुये उत्तर गिरी (हिमालय) नामक पर्वतके पास शीघ्र ही पहुंचा देते भये।

पर्वतके नीचे नौका को पहुंचा कर मत्स्य कहते भये कि, हे राजन ? निश्चय करके मैं तेरे को प्रलय जल में डूबनेसे पालन करता भया हूं, अब तुम नौकाको इस वृक्षके साथ बांध दीजिये, तुम इस पर्वतके शिखर पर जब तक जल रहे तब तक रहना, और इस रस्सेको मत खोलना, फिर जब कि यह जल पर्वतके नीचे जैसे २ उतरता जाये तैसे २ ही तुम भी पर्वतके नीचे उतरते आना, ऐसे मनुजीके प्रति समझा कर मत्स्य जी जलमें समा गये और सो मनु जी भी, मत्स्य जीके कथनानुकूल जैसे २ जल उत-रता गया तैसे २ उस जलके अनुकूल ही पर्वतके नीचे २ उतरते आये. सो भी यह केवल पर्वतके ऊपरसे एक मनुका ही जो नीचे

अवसर्पण अर्थात् अवतरण हुआ, सो एक मनु ही उस सृष्टिमें से बाकी बचे, और सम्पूर्ण प्रजाजलसमूहमें ही लयहोगई; तब फिर मनु जीने प्रजाके रचनार्थ पर्यालोचन कर तपोनुष्ठान किया इसी से यह प्रजा मानवी नामसे अब तक प्रसिद्ध है ।

और कितनेक ऐसा मानते हैं कि यह तीनों लोक दक्ष प्रजापति ने करे हैं ।

केचित्प्राहुर्मूर्तिस्त्रिधा गतिका हरिः शिवो ब्रह्मा ।
शंभुर्बीजं जगतः कर्ता विष्णुः क्रिया ब्रह्मा ॥ ४६ ॥

व्याख्या—कितनेक कहते हैं कि एक ही परमेश्वर की मूर्तिकी तीन गतियां हैं हरि (विष्णु)१, शिव२, और ब्रह्मा३, तिनमें शिव तो जगत्का कारण रूप है, कर्त्ता विष्णु है और क्रिया ब्रह्मा है ।

वैष्णवं केचिदिच्छंति केचित् कालकृतं जगत् ।
ईश्वर प्रेरितं केचित् केचिद्ब्रह्मविनिर्मितम् ॥ ४७ ॥

व्याख्या—कितनेक मानते हैं कि यह जगत् विष्णुमय, वा विष्णुका रचा हुआ है, और कितनेक कालकृत मानते हैं और कितनेक कहते हैं कि कि जो कुछ इस जगत्में हो रहा है, सो सर्व, ईश्वर की प्रेरणा से ही हो रहा है और कितनेक कहते हैं, यह जगत् ब्रह्मा ने उत्पन्न करा है ।

अव्यक्तप्रभवं सर्वं विश्वमिच्छन्ति कापिलाः ।
विज्ञप्ति मात्रं शून्यं च इति शाक्यस्य निश्चयः ॥४८॥

व्याख्या—अव्यक्त । (प्रधान प्रकृति) तिस अव्यक्तसे सर्व जगत् उत्पन्न होता है, ऐसे कपिलके मतके मानने वाले मानते हैं, और शाक्य मुनिके सन्तानीय विज्ञानाद्वैत क्षणिक रूप जगत मानते हैं, और कितनेक तिसके सन्तानीय सर्व जगत्को शून्य ही मानते हैं ।

पुरुष प्रभवं केचित् दैवात् केचित् स्वभावतः ।
अक्षरात् चरितं केचित् केचिदण्डोद्भवं महत् ॥ ४६ ॥

व्याख्या—कितनेक, पुरुषसे जगत् उत्पन्न हुआ मानते हैं, अथवा पुरुष मय सर्व जगत मानते हैं, "पुरुष एवेदं सर्व मित्यादि वचनात्" और कितनेक दैवसे, और स्वभावसे जगत् उत्पन्न हुआ मानते हैं और कितनेक अक्षर ब्रह्मके क्षरनेसे, अर्थात् मायावान् होनेसे जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं 'एकोहं बहुस्यामिति वचनात्' और कितनेक अंडेसे जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं।

यादृच्छिकमिदं सर्वं केचिद्भूत विकारजम् ।
केचिच्चानेक रूपं तु बहुधा सं प्रधाविताः ॥ ५० ॥

व्याख्या— कितनेक कहते हैं, कि यह लोक यदृच्छा अर्थात् स्वतो ही उत्पन्न हुआ है, और कितनेक कहते हैं कि यह जगत् भूतों के विकार से उत्पन्न हुआ है और कितनेक जगत् का अनेक रूप ही मानते हैं, ऐसे बहुत प्रकार विकल्प सृष्टिविषय में लोकों ने अज्ञानवश में कथन करे हैं।

"वैष्णवास्ताहु"—

जले विष्णुः स्थले विष्णु राकाशे विष्णु मालिनि ।
विष्णु मालाकुले लोके नास्ति किं चिद वैष्णवम् ॥ ५१

व्याख्या—वैष्णव मतवाले कहते हैं कि—जल में भी विष्णु है, स्थलमें भी विष्णु है औरआकाशमें भी जो कुछ है, सो विष्णु कीही माला–पंक्ति हैं सर्व लोक विष्णु की ही माला-पंक्ति करके आकुल अर्थात् भरा हुआ है। इस वास्ते इस जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जोकि विष्णु का रूप नहीं है।

"कालवादिनश्चाहु"—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ६१ ॥

व्याख्या— कालवादी कहते हैं कि—काल ही जीवों को उत्पन्न करता है और काल ही प्रजाका संहार करता है, जीवोंके सूते हुए रक्षा करणरूप काल ही जागता है. इस वास्ते काल का उल्लंघन करना दुष्कर है ।

"ईश्वर कारणिकाश्चाहु"—

प्रकृतीनां यथा राजा रक्षार्थमिह चोद्यतः ।
तथा विश्वस्य विश्वात्मा स जागर्ति महेश्वरः ॥ ६२ ॥

व्याख्या—ईश्वरको कारण मानने वाले कहते हैं कि जैसे प्रजाकी रक्षाके वास्ते राजा उद्यत है तैसे ही सर्व जगत्की रक्षाके वास्ते विश्वात्मा ईश्वर जागता है ।

"ब्रह्मवादिनश्चाहुः"—

आसिदिदं तमोभूतमप्रज्ञातम लक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ६५ ॥

व्याख्या—ब्रह्मवादी कहते हैंकि इदं यह जगत् तममें स्थित लीन था प्रलय कालमें सूक्ष्म रूप करके प्रकृतिमें लीन था. प्रकृति भी ब्रह्मात्म करके अव्यक्त थी अर्थात् अलग नहीं इस वास्ते ही अप्रज्ञातं प्रत्यक्षं नहीं था, अलक्षणम् अनुमानका विषय भी नहीं था अप्रतर्क्यम् तर्कयितुम शक्यम्, तर्क करने योग्य नहीं था, वाचक स्थूल शब्दके अभावसे इस वास्ते ही अविज्ञेय था अर्थापत्तिके भी

अगोचर था, इस वास्ते सर्व ओरसे सुझकी तरें स्वकार्य करणेमें असमर्थ था ।

"सांख्याश्चाहुः"—

पंच विध महाभूतं नाना विध देहनाम संस्थानम् ।
अव्यक्त समुत्थानं जगदेतत् केचिदिच्छन्ति ॥ ६८ ॥

व्याख्या—सांख्य मत वाले कहते हैं कि—पाँच प्रकार के महाभूत, नाना प्रकारका देह, नाम, संस्थान (आकार) ये सर्व अव्यक्त प्रधान से ही समुत्थान (उत्पन्न) होते हैं, अर्थात् जगदुत्पत्ति प्रधान से मानते हैं।

"शाक्याश्चाहुः"—

विज्ञप्ति मात्रमेवैत दसमर्थाव भासनात् ।
यथा जैन करिष्येहं कोशकीटादि दर्शनम् ॥ ७४ ॥

व्याख्या—बौद्धमती कहते हैं कि—जो कुछ दीखता है, सो सर्व विज्ञान मात्र है, क्योंकि जो दीखता है सो असमर्थ होके भासन होता है अर्थात् युक्ति प्रमाणों से अपने स्वरूपको धारने समर्थ नहीं है, हे जैन ! जैसे तू कहता है कि, मैं कोशकीटकादि का दर्शन करता हूं वा करूंगा, परन्तु यह जो तुझको दीखता है, सो उपाधि करके भान होता है, न तु यथार्थ स्वरूप से ।

"पुरुष वादिनश्चाहु"—

पुरुष एवेद ँ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृत त्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति ॥ आदि

व्याख्या—पुरुषवादी कहते हैं कि—पुरुष, आत्मा, एवशब्द

अवधारण में है, सो कर्म और प्रधानादि के व्यच्छेदार्थ है यह सर्व प्रत्यक्ष वर्तमान सचेतनाचेतन वस्तु इद ं वाक्यालंकारमें, जो कुछ अतीत काल में हुवा, और जो आगे होवेगा, मुक्ति और संसार सो सर्व पुरुष ही है, उत्तशब्द अपि शब्दार्थ और अपि शब्द समुच्चय विषै हैं। अमृतस्य-अमरण भव (मोक्ष) का ईशानः प्रभु है। यदिति यच्चेति च शब्द के लोप होने से जो अन्नेन आहार करके अति रोहित--अतिशय करके वृद्धि को प्राप्त होता है ।

"अपरेप्याहुः"--

विद्यमानेषु शास्त्रेषु ध्रियमाणेषु वक्तृषु ।
आत्मानं ये न जानन्ति ते वै आत्महता नराः ॥ १ ॥

व्याख्या—और भी लोग कहते हैं कि—शास्त्रों के विद्यमान हुए और वक्ताओं के धारण करते हुए भी जो पुरुष अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं. वे पुरुष निश्चय करके आत्मघाती हैं ।

"दैव वादिनश्चाहु"—

स्वच्छन्दतो न हि धनं न गुणो न विद्या ।
नाप्येव धर्मचरणं न सुखं न दुःखम् ॥
आरुह्य सारथि वशेन कृतान्त यानम् ।
दैवं यतो जयति तेन यथा व्रजामि ॥ १ ॥

व्याख्या—दैववादी ऐसे कहिए हैं—स्वच्छंद धन गुण, विद्या धर्माचरण. सुख और दुःखादि नहीं हैं । किन्तु काल रूपी यान ऊपर चढ़ा दैव. तिसके वश से जहाँ दैव ले जाता है तहाँ ही मैं जाता हूं ।

"स्वभाव वादिनश्चाहुः"—

कः कण्टकानां प्रकरोतितीक्ष्णं,विचित्रितां वा मृगपक्षिणांच।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोस्तिकुतः प्रयत्नः ॥१॥

व्याख्या—स्वभाववादी ऐसे कहते हैं-कौन पुरुष कंटकों को तीक्ष्ण करता है ? और मृग पक्षियों को विचित्र रंग बिरंगादि स्वरूप कौन करता है ? अपितु कोई भी नहीं करता । स्वभावसे ही सर्व प्रवृत्त होते हैं, इसवास्ते अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं होता है, इस वास्ते पुरुष का प्रयत्न ठीक नहीं है ।

"अक्षर वादिनश्चाहुः"—

अक्षरात् क्षरितः कालस्तस्माद्व्यापक इष्यते ।
व्यापकादि प्रकृत्यन्तः सैव सृष्टिः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

"अपरेप्याहुः"—

अक्षरांशस्ततो वायुस्तस्मात्तेजस्ततो जलम् ।
जलात् प्रसूता पृथिवी भूतानामेष संभवः ॥ २ ॥

व्याख्या—अक्षर वादी कहते हैं—अक्षर से क्षर का काल उत्पन्न हुआ तिस हेतु से काल को व्यापक माना है. व्यापकादि प्रकृति पर्यन्त को ही सृष्टि कहते हैं ।

दूसरे ऐसे कहते हैं—प्रथम अक्षरांश तिसमें वायु उत्पन्न हुआ तिस वायु में तेज (अग्नि) उत्पन्न हुआ, अग्नि से जल उत्पन्न और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई, इन भूतों का ऐसे संभव हुआ है।

"अंडवादिनश्चाहुः"—

नारायणः परो व्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्वमी भेदाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥ १ ॥

व्याख्या—अंड वादी कहते हैं—नारायण भगवान् परम अव्यक्त से व्यक्त अंडा उत्पन्न हुआ, और तिस अंडे के अन्दर यह अब जो आगे कहते हैं, सातद्वीप वाली पृथिवी, गर्भेदिक वर्षणे चात्मा जल, समुद्र जरायु, मनुष्यादि और पर्वत तिस अंडे विषये यह लोक सात२ अर्थात् चौदहभुवन प्रतिष्ठित हैं, सो भगवान तिस अण्डे में एक वर्ष रह करके अपने ध्यान से तिस अण्डे के दो भाग करता हुआ। तिन दोनों टुकड़ों में ऊपर ले टुकड़े से आकाश और दूसरे टुकड़े से भूमि निर्माण करता भया इत्यादि—

"अहेतुवादिनश्चाहुः"—

हेतु रहिता भवन्ति हि भावाः प्रतिसमयभाविनश्चित्राः।
भावादृते न द्रव्यसंभव रहितं खपुष्पमिव ॥ १ ॥

व्याख्या—अहेतु वादी कहते हैं—प्रति समय होने वाले विचित्र प्रकार के जे भाव हैं, वे सर्व अहेतु से ही उत्पन्न होते हैं। और भाव से रहित द्रव्य का संभव नहीं है, आकाश के पुष्प की तरह।

"परिणामवादिनश्चाहुः"—

प्रति समयं परिणामः प्रत्यात्मगतश्च सर्व भावानाम्।
संभवति नेच्छयापि स्वेच्छाक्रमवर्तिनी यस्मात् ॥ १ ॥

व्याख्या—परिणाम वादी कहते हैं—समय २ प्रति परिणाम प्रति आत्मगत, आत्मा २ प्रति प्राप्त हुआ, सर्व भावों को संभव होता है, इच्छासे कुछ भी नहीं होता है क्यों कि स्वेच्छा क्रमवर्तिनी है, और परिणाम तो युगपत सर्व पदार्थोंमें है।

"नियतवादिनश्चाहुः"—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
ना भाव्यं भवति न भाविनोस्ति नाशः ॥ १ ॥

व्याख्या—नियति वादी कहते हैं—नियति बलाश्रय करके जो अर्थ प्राप्तव्य प्राप्त होने योग्य है, सो शुभ वा अशुभ अर्थ पुरुषों को अवश्यमेव होता है । जीवों के बहुत प्रयत्न के करनेसे भी जो नहीं होन हार है, वो कदापि नहीं होता है, और जो होन हार है तिसका कदापि नाश नहीं होता है ।

"भूत वादिनश्चाहुः"—

पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाय शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञामदशक्तिवच्चैतन्यंजलबुद्बुदवज्जीवो चैतन्य-विशिष्ट कायः पुरुष इति ।

व्याख्या—भूत वादी कहते हैं—पृथिवी १ पानी २ अग्नि ३ और वायु ४; ये चार तत्त्व हैं, तिनका समुदाय सो ही शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा है और मद शक्ति की तरें चैतन्य उत्पन्न होता है, जल के बुदबुद की तरह जीव है अचैतन्य विशिष्ट काया है सो ही पुरुष है इति ।

"अनेकवादिनश्चाहुः"—

कारणानि विभिन्नानि कार्याणि च यतः पृथक् ।
तस्मात्त्रिष्वपि कालेषु नैव कर्मास्ति निश्चयः ॥ १ ॥

व्याख्या—अनेक वादी कहते हैं—कारण भी भिन्न है, और कार्य भी भिन्न है, तिसवास्ते तीनों ही कालों विषे कर्मों की अस्ति नहीं है ।

माण्डुक्य कारिकामें—

सृष्टिके विषयमें भिन्न भिन्न विकल्प

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये न्यन्ते सृष्टि चिन्तकाः ।
स्वप्न माया स रूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टि रिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥
भोगार्थं सृष्टि रिति अन्ये क्रीडार्थं मिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्त कामस्य कास्पृहा ॥ ९ ॥

अर्थ.—कई लोग तो भगवानकी विभूतिको ही जगतकी उत्पत्ति मानते हैं। तथा बहुतसे इसको स्वप्न मात्र ही मानते हैं ॥७॥

तथा परमेश्वरकी इच्छामात्र ही सृष्टि है । तथा कालवादी कहते हैं कि सर्व प्राणियोंकी उत्पत्ति कालसे ही हुई है॥८॥

तथा कुछ सृष्टिको भोग्यके लिये मानते हैं। एवं बहुतसे सृष्टिको भगवानकी क्रीड़ा मानते हैं। परन्तु वास्तवमें यह उस प्रभुका स्वभाव ही है, क्योंकि पूर्ण कामके इच्छा कहां ॥९॥

मूल तत्त्व सम्बन्धी विभिन्न मतवाद

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद् विदः ।
गुणा इति गुणविदस्तत्वानीति च तद् विदः ॥ २० ॥
पादा इति पाद विदो विषया इति च तद् विदः ।
लोका इति लोक विदो देवा इति च तद्विदः ॥ २१ ॥
वेदा इति वेद विदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद् विदः ॥२२॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद् विदः ।
मूर्त इति मूर्त विदोऽमूर्त इति च तद् विदः ॥ २३ ॥
काल इति च काल विदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति च वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥ २४ ॥
मन इति मनो विदो बुद्धि रिति च तद् विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद् विदः ॥ २५ ॥
पंचविंशक इत्येके षडविंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहु रनन्त इति चापरे ॥ २६ ॥
सृष्टि रिति सृष्टि विदो लय इति च तद् विदः ।
स्थिति रिति स्थिति विदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २७ ॥

अर्थात्—मूलतत्वके विषयमें, अनेक मत हैं । कोई प्राणको मूल मानता है तो कोई भूतोंको । इसी प्रकार कोई, गुण, पाद, विषय, लोक, देव, वेद, यज्ञ, भोक्ता, भोज्य, सूक्ष्म' स्थूल, मूर्त, अमूर्त, काल, दिशा, वाद, स्वभाव' मन, चित्त, धर्म, अधर्म, आदि को मूल तत्व मानते हैं ।

सांख्यवादी २५ तत्वोंको मूल मानते हैं, तो कोई २६ तत्वोंको तथा कोई कोई ३१ तत्वोंको मूल मानता है कोई सृष्टिको ही मूल मानता है, तो कोई प्रलयको इस प्रकार उपरोक्त सब मत कल्पित हैं ।

अभिप्राय यह है कि सृष्टि रचना आदिका जितना भी वर्णन है वह सब बौद्धिक व्यायाम मात्र है ।

यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें इस विषय में भयानक मतभेद पाया जाता है । जैसा कि हम पहले दिखा चुके हैं ।

यहां भी संक्षेपसे प्रकट करते हैं—

सृष्टि विषय में विरोध

(१) असद्वा इदमग्र आसीत (तै० उप० २।७)

अर्थ—सृष्टिके पूर्व यह जगत असद् रूप था।

(२) सदेव सौम्येदमग्र आसीत (छान्दो० ६।२)

अर्थ—उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहते हैं कि सौम्य ? यह जगत पहले सद् रूप ही था।

ये दोनों उत्तर परस्पर विरोधी हैं। एक कहता है कि जगत पहले असद् रूप था, दूसरा कहता है कि सद् रूप था। यह स्पष्ट विरोध पाया जाता है। अस्तु आगे और देखिये—

(३) आकाशः परायणम् (छान्दो० १।६)

अर्थ—सृष्टिके पूर्व आकाश नामका तत्व था क्योंकि वह परायण अर्थात् परात्पर अर्थात् सबसे ऊपर है।

(४) नैवेह किञ्चनाग्र आसीत् मृत्युनैवेदमासीत् (वृ०१।२।१)

अर्थ—सृष्टिके पूर्व कुछ भी नहीं था, यह जगत मृत्यु से व्याप्त था।

(५) तमोवा इदमग्र आसीत् (मैत्रयु० ५।२)

अर्थ—सबसे पहले यह जगत अन्धकार मय था। यही भाव मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायके पांचवें श्लोकमें भी वर्णित है, देखिये—

(६) आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातम लक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु० १।५)

अर्थ—यह जगत सृष्टिके पूर्व अन्धकार मय था, अप्रज्ञात = प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं था, अलक्षण = अनुमान गम्य नहीं था, अप्रतर्क्य = तर्कणाके योग्य नहीं था, अविज्ञेय = शब्द प्रमाण द्वारा भी अज्ञेय था, और सभी ओरसे घोर निद्रामें लीन सा था।

सृष्टिकी आरंभावस्था के मतभेद

जिस प्रकार प्रलयावस्थाके विषयमें मतभेद बताये गये हैं उसी प्रकार सृष्टिकी प्रारम्भावस्थाके विषयमें भी वेदमें मतभेद हैं यथा—

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ (ऋ० १०।७२।३)

अर्थ— देवताओं की सृष्टि के पूर्व अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में असद् से सद् उत्पन्न हुआ, उसके बाद दिशाएं उत्पन्न हुई, और तत्पश्चात् उत्तान पद=वृक्ष आदि उत्पन्न हुए।

भूर्जज्ञ उत्तान पादो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ (ऋ० १०।७२।४

अर्थ— पृथ्वी ने वृक्ष उत्पन्न किए 'भव' से दिशाएं पैदा हुई अदित से दक्ष और दक्षसे पुनः अदिति उत्पन्न हुई।

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष ! या दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्तभद्रा अमृतबन्धवः॥(ऋ० १०।७२।५)

अर्थ— हे दक्ष! तेरी पुत्री अदितिने भद्र=स्तुत्य और मृत्यु के बन्धनसे रहित देवोंको जन्म दिया, (अदित के अपत्य=पुत्र हैं इसलिये आदित्य यानी) देव कहलाते हैं।

यद्देवा अदःसलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रावोनृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥ (ऋ० १०।७२।६)

अर्थ— हे देवो? जब तुम उत्पन्न हुए तब पानी में नृत्य करते हुए तुम्हारा एक तीव्र रेणु (अंश) अंतरिक्ष में गया, (तात्पर्य यह कि वही रेणु सूर्य बन गया)।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ज्ञातास्तन्वस्परि ।
देवां उपप्रैत्सप्तभिः परामार्ताण्डमास्यत् ॥(ऋ० १०।७२।८)

अर्थ--अदिति के शरीर से जो आठ पुत्र उत्पन्न हुए उनमेंसे सात पुत्रों के साथ अदिति स्वर्ग में देवताओं के पास गई, आठवाँ पुत्र जो मार्तण्ड = (मृतादण्डाज्जात इति मार्तण्डः) (सूर्य) था उसे स्वर्ग में छोड़ गई ।

अदिति के आठ पुत्रों के नाम

१ मित्रश्च २ वरुणश्च, ३ धाता ४ चार्यमा च ।
५ अंशश्च ६ भगश्च ७ इन्द्रश्च ८ विवस्वांश्चेत्येते॥(तै०आ०१।१३।१०)

अर्थ— प्रसिद्ध है, विवस्वान् अर्थात सूर्य ।

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः॥
(ऋ० १० । १२० । १)

अर्थ—तीनों लोकमें ज्येष्ठ = प्रशस्त या सबसे प्रथम जगत् का आदि कारण वह (प्रजापति) था, उसने सूर्य रचा और उस सूर्यने उत्पन्न होते ही शत्रुओंका संहार किया । उस सूर्यको देख कर सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं ।

छांदोग्योपनिषद् ३ । १९ में लिखा है :—

असदेवेदमग्र आसीत् ।

अर्थ-सृष्टिसे पहले प्रलय कालमें यह जगत् असद् अर्थात् था

तत्सदासीत् ।

अर्थ—वह असत् जगत् सत् यानी नाम रूप कार्यकी ओर अभिभावुक हुआ ।

तदाण्डं निरवर्तत ।

अर्थ—आगे चल कर वह जगत् अण्डेके रूपमें बना ।

तत्समभवत् ।

अंकुरी भूत बीजके समान क्रमसे कुछ थोड़ासा स्थूल बना,

तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत ।

अर्थ— वह एक वर्ष पर्यन्त अंड रूपमें रहा ।

तन्निरभिद्यत ।

अर्थ—वह अंडा एक वर्षके पश्चात् फूटा ।

ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णञ्चाभवताम् ।

अर्थ—अंडेके दोनों कपालोंमें से एक चांदी और दूसरा सोने का बना ।

तद्यद् रजतं सेयं पृथिवी ।

अर्थ—उनमें जो चांदीका था, उसकी पृथ्वी बनी ।

यत्सुवर्णं सा द्यौः ।

अर्थ—जो कपाल सोनेका था उसका उर्ध्वलोक (स्वर्ग) बना ।

यज्जरायु ते पर्वताः ।

अर्थ—जो गर्भका वेष्ठन था उसके पर्वत बने ।

यदुल्वं स मेघो नीहारः ।

अर्थ—जो सूक्ष्म गर्भ परिवेष्टन था वह मेघ और तुषार बना ।

या धमनयः ता नद्यः ।

अर्थ—जो धमनियां थी वे नदियां बन गईं ।

यद्वारेतेय मुदकं स समुद्रः ।

अर्थ—जो मूत्राशयका जल था उसका समुद्र बना ।

अथ यत्त द्जायत सोऽसावादित्यः ।

अर्थ—अनन्तर अण्डेमें से जो गर्भ रूपमें पैदा हुआ वह आदित्य-सूर्य बना । भगवान स्वयंभू योग शक्तिसे पूर्वधृत प्रकृति मय सूक्ष्म शरीरको छोड़ कर सर्व लोक पितामह ब्रह्मके रूप में उत्पन्न हुआ ॥९॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥

अर्थ—वह भगवान अंडेमें ब्रह्माके एक वर्ष तक निरन्तर रहता रहा और अन्तमें उसने अपने ही संकल्प-रूप ध्यानसे उस अण्डे के दो टुकड़े किये ।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥

मनु० (१ । १३)

अर्थ—तत्पश्चात् भगवानने उन दो टुकड़ोंसे—ऊपरके टुकड़ेसे स्वर्ग और नीचेके टुकड़ेसे भूमि बनाई । बीचके भागसे आकाश और आठ दिशायें तथा पानीका शाश्वत स्थान समुद्र बनाया ।

अण्ड सृष्टिके पश्चात् ब्रह्माकी तत्व सृष्टि १४वें श्लोकसे शुरू होती है कारण कि गाथामें 'असो' मूल तथा 'असौ' संस्कृत शब्द ब्रह्मा परामर्शक है । टीकाकारने भी यही अर्थ बतलाया है । यहां

से स्वयंभूका अधिकार प्राप्त होता है। वेदान्त सृष्टिसे ब्रह्म स्वयंभू और ब्रह्मा एक आत्म रूप ही है। जो भिन्नता है केवल उपाधि जन्य है, अन्य कुछ नहीं।

अर्थात् ब्रह्म निराकार, निर्गुण है, स्वयंभू प्रकृति रूप शरीर धारी है और ब्रह्मा रजोगुण प्रधान है, इस प्रकार उपाधिभेद की विशेषता है। सांख्य की दृष्टि से स्वयंभू का शरीर अव्याकृत प्रकृति रूप है तथा ब्रह्म का शरीर रजोगुण प्रधान व्याकृत प्रकृति रूप है, यह विशेषता है। ब्रह्मा, प्राणी रचने के लिये तत्व सृष्टिका आरम्भ करता है।

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तार मीश्वरम्॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां गृहीतॄणिशनैः पंचेन्द्रियाणि च॥

(मनु० १।१४-१५)

अर्थ—ब्रह्माने स्वयंभू परमात्मा में से सत् (अनुमान आगम सिद्ध) असत् (प्रत्यक्ष गोचर) ऐसे मनका सृजन किया। मन से पहले अहंकार का निर्माण किया कि जिससे मैं ईश्वर (सर्व कार्य करने में समर्थ) हूँ, ऐसा अभिमान हुआ। अहंकार से पहले महत्तत्व की रचना की। टीकाकार मेधातिथि कहता है कि 'तत्व सृष्टिरिदानी मुच्यते' अर्थात् यहाँ से तत्व सृष्टि का वर्णन किया जाता है उक्त वाक्यमें तत्व शब्दका अर्थ महत्तत्व (बुद्धि) समझना चाहिये इस कथन से मन, अहंकार और महत्तत्व की उलटे क्रमसे संयोजना करनी चाहिये। अर्थात् सबसे प्रथम महत्तत्व है' उसके बाद अहंकार है और उसके बाद मन का नम्बर आता है। मनके पश्चात् पाँच तन्मात्रा की, तीन गुणवाली विषय ग्राहक पांच ज्ञाने-

न्द्रियों की और 'च' से पांच कर्मेन्द्रियोंकी रचना की।

तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे॥ (मनु० १।१६)

अर्थ—अपरमित शक्तिशाली पांच तन्मात्राएं और अहंकार इन छः तत्वों को और इन सूक्ष्म अवयवों को आत्मा के सूक्ष्म अंशों में मिला कर ब्रह्मा देव, मनुष्य आदि सर्व भूतों का सृजन करता है. कारण कि उक्त मिश्रण ही सृष्टिका उपादान कारण है मेधातिथि तथा कल्लूक भट्ट दोनों टीकाकारोंका उपर्युक्त अभिप्राय है। परन्तु टीकाकार राघवानन्द दोनों से अलग रास्ते पर जाते हैं और अपना आशय नीचे के शब्दों में व्यक्त करते हैं।

······ षण्णां मन आदोनाममितौजसाम्···। आत्ममात्रासु अपरिच्छिन्नस्यैकस्यात्मन् उपाधिवशात् अवयववत्प्रतीयमानेषु आत्मसु······॥ "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति स्मृते। "अंशो नाना व्यपदेशादित्यादि सूत्राच्च, तासुमन आदि षड्वयवान् सूक्ष्मान् संनिवेश्य सर्व भूतानि सर्वान् जीवान् निर्मम इत्यन्वयः।"

अर्थात् राघवा नन्द ने पांच तन्मात्रा के उपरान्त छठे अहंकार के बदले मनको रक्खा है। आत्म मात्रा शब्द से एक ब्रह्म के उपाधिभेद से पृथक हुए अनेक अंश रूप जीवात्माओं का ग्रहण किया है। मन आदि छः तत्वों के अवयवों को आत्ममात्रा के साथ मिश्रण करके ब्रह्मा ने सब जीवों का निर्माण किया। इस प्रकार जीव सृष्टि रचना सम्बन्धी राघवानन्द का अभिप्राय है।

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्ये मान्या श्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥

मनु० १ । १७

अर्थ—ब्रह्मा के शरीर के अवयव अर्थात् पांच तन्मात्रा और अहंकार पांच महाभूत तथा इन्द्रियों को उत्पन्न करते हैं। फलस्वरूप पांच महाभूत और इन्द्रिय रूप ब्रह्मा की मूर्त्ति को विद्वान लोग षडायतन रूप शरीर कहते हैं।

इस भांति ब्रह्माके शरीरकी रचना पूरी होनेके साथ सांख्यके तत्वों की रचना पूरी हो जाती है १८ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक भूतों का काय आदि छूट कर सृष्टि बताई गई है परन्तु विस्तार बढ जाने के कारण उसका उल्लेख यहां न करके ३० वें श्लोक से ब्रह्मा की जो बाह्य सृष्टि वर्णित की गई है उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन कराया जाता है।

द्विधा कृत्यात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ मनु० १।३२

अर्थ—ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो टुकड़े किये एक टुकड़े का पुरुष बनाया और दूसरे आधे टुकड़े की स्त्री बनाई। फिर स्त्रीमें विराट पुरुष का निर्माण किया।

तपस्तप्त्वा सृजद्यंतु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥

मनु० १ । ३३

अर्थ—उस पुरुष ने तप का आचरण करके जिसका निर्माण किया वह मैं मनु हूं। हे श्रेष्ठ द्विजो ! निम्नोक्त समग्र सृष्टि का निर्माता मुझे समझो।

मनु सृष्टिः

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।

पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ।। मनु० १।३४

अर्थ—मनु कहते हैं कि दुष्कर तप करके प्रजा सृजन करने की इच्छासे मैंने प्रारम्भमें दश महर्षि प्रजापतियोंको उत्पन्न किया ।

मरीचि मत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।

प्रचेतसं वशिष्ठं च भृगुं नारद मेव च ।। मनु० १।३५

अर्थ—दस प्रजा पतियों के नाम ये हैं:—(१) मरीचि, (२) अत्रि, (३) अंगिरस, (४) पुलस्त्य, (५) पुलह, (६) क्रतु, (७) प्रचेतस, (८) वशिष्ठ, (९) भृगु, और (१०) नारद ।

एतेमनस्तु सप्तान्या-नसृजन्भूरितेजसः ।

देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ।।

मनु० १ । ३६

अर्थ—इन प्रजापतियों ने बहुत तेजस्वी दूसरे सात मनुओं को, देवों को, देवों के स्थान स्वर्गादिकों को तथा अपरिमित तेज वाले महर्षियों को उत्पन्न किया ।।

उपर्युक्तरचना के सिवाय प्रजापतियों ने जो रचना की उसका वर्णन ३७ वें श्लोक से ४० वें श्लोक तक इस प्रकार आया है । यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा, असुर, नाग (सर्प) गरुड़, पितृगण, विद्युत, गर्जना मेघ, रोहित (दंडाकारतेज) इन्द्र धनुष, उल्कापात, उत्पातध्वनि, केतु, ध्रुव, अगस्त्यादि ज्योतिषी, किन्नर, वानर मत्स्य, पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य सिंहादि कृमि, कीट, पतंग, जूं, मक्खी, खटमल, डाँस मच्छर, वृक्षलता आदि अनेक प्रकार के स्थावर प्राणी उत्पन्न किये ।

पूर्वोक्त सात मनुष्यों में एक मनु तो यह प्रकृत मनु है । जो

स्वायंभुव मनु के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे छः मनुओं के नाम मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ६२ वें श्लोकमें बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—स्वारोचिष १, उत्तम २, तामस ३, रैवत ४, चाक्षुस, विवस्वान। ये सातों अपने २ अन्तर काल में स्थावर जंगम रूप सृष्टि उत्पन्न करते हैं।

एवं सर्वं स सृष्टेवेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥

मनु० १। ५१

अर्थ—मनु जी कहते हैं कि—अचिन्त्य, पराक्रमशाली ब्रह्मा इस भांति मुझे और सर्व प्रजाको सृजन कर अन्त में प्रलय काल के द्वारा सृष्टिकाल का नाश करता हुआ पुनः आत्मा में अन्तर्धान लीन हो जाता है। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि इस प्रकार असंख्य सृष्टि प्रलय अतीत में हुए हैं और भविष्य में होते रहेंगे।

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदासर्वं निमीलति॥

मनु० १। ५२

अर्थ—जबवह ब्रह्मा जागता है तब यहजगत् चेष्टा-प्रवृत्ति युक्त हो जाता है। जब वह सोता है तब सारा जगत् निश्चेष्ट हो जाता है। महाभारत में प्रलय का वर्णन इस प्रकार है:—

यथा संहरते जन्तून् ससर्ज च पुनः पुनः।
अनादिनिधनो ब्रह्मा नित्यश्चाक्षर एव च॥
अहः क्षयमथो बुद्ध्वा निशिस्वप्नमनास्तथा।
चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहं कृतं नरम्॥

ततः शत सहस्रांशु रव्यक्तेनाभि चोदितः ।
कृत्वा द्वादश धात्मानमादित्योऽज्वलदाग्निवत् ॥
............................।

जगद्दग्ध्वाऽमितवलः केवलां जगतीं ततः ।
अम्भसा वलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः ॥
ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भोयाति संक्षयम् ।
विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र ! जाज्वलत्यनलो महान् ॥
..................................।

..................सप्तार्चिषमथाञ्जसा ।
भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मकोवली ॥
..............................।

तमति प्रवलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ॥
आकाशमप्यभिनदन् मनो ग्रसति अधिकम् ।
मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः ॥
अहंकारो महानात्मा भूतभव्य भविष्यवित् ।
तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः ॥
(म० भा० शान्ति प० ३१२ श्लो० २ से १३)

अर्थ—याज्ञवाल्क्य मुनि जनक राजा से कहते हैं कि—अनादि अनन्त, नित्य, अक्षर, ब्रह्मा जिस पद्धति से बारम्बार जन्तुओं का सर्जन एवं संहार करता है, वह सब तुम्हें विस्तार से समझाता हूँ। दिन को समाप्त हुआ जान कर रात्रि में सोने की इच्छा रखने वाले अव्यक्त भगवानने अहंकाराभिमानी रुद्र को

प्रेरणाको रुद्रने लाख किरणोंवाले सूर्यका रूप धारण कर उसके बारह विभाग कर, अग्नि जैसा प्रचंड ताप उत्पन्न किया। जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों को जला कर पृथ्वी तत्वको भस्मीभूत किया। इसके बाद अधिक बलवान् वही सूर्य सम्पूर्ण पृथ्वी को जल से पूरित करता है। तदनन्तर अग्नि रूप धारण करके जल का क्षय करता है। अग्नि के आठों दिशाओं में बहने वाला वायु शान्त कर देता है। अनन्तर वायु को आकाश, आकाश को मन. मन को भूतात्मा, प्रजापति को अहंकार, अहंकार को भूत भविष्यका ज्ञाता महत्तत्व-बुद्धिरूप आत्मा-ईश्वर और उस अनुपम आत्मारूप विश्व को शंभु (रुद्र) ग्रास कर जाता है। अर्थात् उक्त क्रम से समस्त जगत् का ईश्वर में लय हो जाता है।

ब्रह्म पुराण के २३२ अध्याय में प्रलयका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है:—

सर्वेषामेव भूतानां त्रिविधः प्रति सञ्चरः।
नैमित्तिकः प्राकृतिकः तथैवात्यन्तिकोमतः॥ १॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तेषां कल्पान्ते प्रति सञ्चरः।
आत्यन्तिको वै मोक्षश्च प्राकृतो द्विपरार्द्धिकः॥ २॥

अर्थ—सर्व भूतों का प्रलय तीन प्रकार का है-नैमित्तिक, प्राकृतिक, और आत्यन्तिक। एक हजार चतुर्युग-परिमित ब्रह्मा का एक दिवस होता है, वही कल्प कहलाता है। कल्प के अन्तमें १४ मन्वन्तर पूरे हो जाने पर सृष्टि क्रम से विपरीत रूप में भू लोक आदि अखिल सृष्टि का ब्रह्मा में लय हो जाता है। पृथ्वी एकार्णव स्वरूप बन जाती है और उस समय स्वयंभू जलमें शयन करता है वह नैमित्तिक प्रलय कहा जाता है। इसे ही अन्तर प्रलय अथवा खंड प्रलय भी कहते हैं। दो परार्द्ध वर्षों में तीन लोक के पदार्थों

का प्रकृति में या परमात्मा में जो लय होता है उसका नाम प्राकृतिक प्रलय या महाप्रलय है। और किसी संसकारी आत्मा की मुक्ति होना आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है।

सृष्टि की उत्पत्ति

एकयाऽस्तुवत। प्रजापतिरधिपतिरासीत्। तिसृभिरस्तुवत। ब्रह्माऽसृज्यत। ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्। पञ्चभिरस्तुवत। भूतान्यसृज्यन्त। भूतानां पतिरधिपतिरासीत्। सप्तभिरस्तुवत। सप्तर्षयोऽसृज्यन्त। धाताधिपतिरासीत्।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४। २८)

अर्थ—प्रजापति ने प्राणाधिष्ठायक देवों को कहा कि तुम मेरे साथ स्तुति में सम्मिलित होओ। हम लोग स्तुति करके प्रजा उत्पन्न करें। देवताओंने यह बात स्वीकार कर ली। प्रजापतिने पहले अकेली वाणी साथ स्तुति की, जिससे प्रजापति के गर्भ रूप से प्रजा उत्पन्न हुई। उसका यह अधिपति हुआ। (१) उसके बाद प्राण, उदान और व्यान इन तीनों के साथ प्रजापति ने दूसरी स्तुति की, जिससे ब्राह्मण जाती उत्पन्नहुई, उसका अधिपति देवता ब्रह्मणस्पति हुआ। (२) उसके बाद पाँचों प्राणों के साथ तीसरी स्तुति की उससे पाँच भूत उत्पन्न हुये उनका अधिपति भूत बना। (३) तत्पश्चात् दो कान, दो आँख दो नाक और वाणी इन सातों के साथ प्रजापति ने चौथी स्तुति की तो उससे सप्तऋषि उत्पन्न हुए, धाता उसका अधिपति देव बना ४

नवभिरस्तुवत। पितरोऽसृज्यन्त। अदितिरधिपत्नी आसीत्। एकादशभिरस्तुवत। ऋतवोऽसृज्यन्त। आर्तवा-अधिपतय आसन्। त्रयोदशभिरस्तुवत। मासा असृज्यन्त।

संवत्सरोऽधिपतिरासीत् । पञ्चदशभिरस्तुवत । क्षत्रमसृज्यन्त । इन्द्रोऽधिपतिरासीत् सप्तदशभिरस्तुवत । ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त । बृहस्पति, रासीत् ।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४।३०।२६)

अर्थ—दो आँख, दो कान, दो नाक एक वाणी, यह सात उर्ध्वप्राण तथा दो अधः प्राण इस प्रकार नौ प्राणों के साथ प्रजापति ने पांचवी स्तुति की जिससे पितरों की उत्पत्ति हुई। अदिति इनकी अधिपत्नी हुई (५) दस प्राण और एक आत्मा इन ११ के साथ प्रजापति ने छठी स्तुति की जिससे ऋतुओं की उत्पत्ति हुई, आर्तवदेव इनका अधिपति बना (६) प्राण दो पांच एक आत्मा इन तेरह के साथ प्रजापति ने सातवीं स्तुति की जिससे महीनों की उत्पत्ति हुई. संवत्सर इनका अधिपति बना (७) हाथों की दस अंगुलियां. दो हाथ, दो वाहु और एक नाभि के ऊपर का भाग इन पन्द्रहों के साथ प्रजापतिने आठवीं स्तुति की जिससे क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति हुई इन्द्र इसका अधिपति बना (८) पैरों की दस अंगुलियां. दो उरु, दो जंघाएं, और एक नाभि के नीचे का भाग, इन सत्रह के साथ प्रजापति ने नवमीं स्तुति की. जिससे ग्राम्य पशुओं की उत्पत्ति हुई, वृहस्पति इनका अधिपति हुआ (९)

नव दशभिरस्तुवत । शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् । एकविंशत्याऽस्तुवत । एक शफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् त्रयोविंशत्याऽस्तुवत । क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त । पूषाऽधिपतिरासीत् । पञ्चविंशत्याऽस्तुवत । आरण्याः पशवोऽसृज्यन्त वायुरधिपतिरासीत्। सप्तविंशत्याऽ-

स्तुवत् । द्यावापृथिवीव्यैताम् । वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायंस्त एवाधिपतय आसन् ।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४।३०।३०)

अर्थ—हाथों की दस अंगुलियां और ऊपर, नीचे रहे हुए शरीर के नौ छिद्र यों १९ प्राणों के साथ प्रजापति ने दसवीं स्तुति की, जिससे शूद्र और वैश्य उत्पन्न हुए अहोरात्रि इनका अधिपति हुआ। (१०) हाथ और पैर की बीस अंगुलियाँ और एक आत्मा इन इक्कीस के साथ प्रजापति ने ११ वी स्तुति की, जिससे एक खुर वाले पशुओं की उत्पत्ति हुई. वरुण उसका अधिपति हुआ (११) हाथ पैर की बीस अंगुलियें, दो पाँव एक आत्मा यों तेईस के साथ प्रजापति ने १२ वी स्तुति की जिससे क्षुद्र पशुओं की उत्पत्ति हुई पूषा इनका अधिपति हुआ। (१२) हाथ पाँव की बीस अंगुलियां, दो हाथ, दो पाँव एक आत्मा यों पच्चीस के साथ प्रजापति ने तेरहवीं स्तुति की जिससे आरण्यक पशुओं की उत्पत्ति हुई। वायु इनका अधिपति हुआ। (१३ हाथ पांव की बीस अंगुलियां दो भुजाएं दो उर, दो प्रतिष्ठा और एक आत्मा यों सत्तावीस के साथ प्रजापति ने चौदहवी स्तुति की, जिससे स्वर्ग और पृथ्वी उत्पन्न हुई. वैसे ही आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य भी उत्पन्न हुए। और इनके अधिपति ये ही बने १४

नव विंशत्याऽस्तुवत । वनस्पतयोऽसृज्यन्त । सोमोऽधिपतिरासीत् । एकत्रिंशताऽस्तुवत । प्रजाअसृज्यन्त । यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् । त्रयस्त्रिंशताऽस्तुवत । भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति रासीत् ।

(शु० यजु० माध्यं० सं० १४।३०।३१)

अर्थ—हाथ पांवकी बीस अंगुलियां और नौ छिद्र रूप प्राण यों०२९ के साथ प्रजापति ने पन्द्रहवीं स्तुतिकी जिससे वनस्पतियें उत्पन्न हुईं। सोम उनका अधिपति हुआ (१५), बीस अंगुलियों दस इन्द्रियों और आत्माओं इक्कीस के साथ प्रजापति ने सोलहवीं स्तुति की, जिससे प्रजा उत्पन्न हुई, इसके अधिपति यव और अयव देव हुए, (१६) बीस अंगुलियां. दस इन्द्रियाँ दो पाँव, और एक आत्मा यों तेंतीसके साथ प्रजापतिने सत्रहवीं स्तुतिकी, जिससे सभी प्राणी सुखी हुये। परमेष्ठी प्रजापति इनका अधिपति बना।

सृष्टि क्रम कोष्टक

१—सामन्य प्रजा	९—ग्राम पशु
२—ब्राह्मण	१०—शूद्र और वैश्य
३—पांच भूत	११—एक खुर वाले पशु
४—सप्त ऋषि	१२—क्षुद्र पशु अजा आदि
५—पितर	१३—जंगली पशु
६—ऋतुएँ	१४—द्यावा, पृथ्वी, वसु, आदि देवता
७—मास	१५—वनस्पति
८—नक्षत्र	१६—सामान्य प्रजा

स वै नैवरेमे तस्मा देकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्चपत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिवस्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रियापूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।

(बृहदा० १।४।३)

अर्थ—उस प्रजापतिको चैन नहीं पड़ा। एकाकी होनेसे रति (आनन्द) नहीं हुई, वह दूसरेकी इच्छा करने लगा, वह आलिंगित स्त्री पुरुष युगलके समान बड़ा हो गया, प्रजापतिने अपने दो भाग किये, उसमें एक भाग पति और दूसरा भाग पत्नी रूप बना। याज्ञवल्क्यने कहा कि जिस प्रकार एक चनेकी दालके दो भाग होते हैं वैसे ही दो भाग उसके हुये आकाशका आधा हिस्सा पुरुषसे और आधा हिस्सा स्त्रीसे पूरित हुआ, पुरुष भागने स्त्री भागके साथ रति क्रीड़ा की, जिससे मनुष्य उत्पन्न हुए।

साहेयमीक्षांचक्रेकथं नु मात्मन एवजनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्तां समेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त। वडवेतराभवदश्ववृष इतरः। गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्तां समेवाभवत्ततो एकशफमजायत। अजेतरा भवद्वस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्तां समेवाभवत्ततोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुन मापीपिल्लिकाभ्यजावयोस्तत्सर्वमसृजत। (बृहदा० १।४।४)

अर्थ—स्त्री भागका नाम शतरूपा रखा गया। वह शतरूपा विचार करने लगी कि मैं प्रजापतिकी पुत्री हूं क्यों कि उसने मुझे उत्पन्न किया है और पुत्रीका पिताके साथ सम्बन्ध करना स्मृतिमें भी निषिद्ध है, तब यह क्या अकृत्य कर डाला ? मैं कहीं छिप जाऊँ ! ऐसा सोच कर वह गाय बन गई। तब प्रजापतिने बैल बन कर उससे समागम किया जिससे गायें उत्पन्न हुईं। शतरूपा घोड़ी बनी तो प्रजापति घोड़ा बना, शतरूपा गदही बनी तो प्रजापति गदहा बना दोनोंका समागम हुआ जिससे एक खुर वाले प्राणिओंकी सृष्टि हुई, पश्चात शतरूपा बकरी बनी, प्रजापति

बकरा बना, शतरूपा भेड़ बनी, प्रजापति भेड़िया बना दोनोंके सम्भोगसे बकरे और भेड़ियोंकी सृष्टि हुई। इस प्रकार प्रत्येक प्राणियोंके युगल रूप बनते बनते कीड़ों मकोड़ों तककी सृष्टि उत्पन्न हुई।

प्रजापति की सृष्टिका दशवाँ प्रकार

प्रजापतिर्वैस्वां दुहितरमभ्यध्यायत्। तामृश्योभूत्वारोहितं भूता सम्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति ते समैच्छन्य एन मारिष्यत्येत मन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दं स्तेषां या एवघोर तमास्तन्व आसंस्ता एकधा समभरंस्ताः सं भृताएष देवोऽभवत्तदस्यैतद्भूतवन्नाम।...............

तं देवा अब्रुवन्नयं वै प्रजापतिरकृतमकारिमं विध्येति स तथेत्य ब्रवीत्स वै वो वरं वृणा इति वृणीष्वेति स एत्तमेव वरम वृणीत पशूनामाधिपत्यं तदस्यैतत्पशुमन्नाम।......

तमभ्यायत्पाविध्यत्पाविध्यत्सविद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्तमेतं मृग इत्याचक्षते, य उ एव मृग व्याधः स उ एव स या रोहित्सा यो एवेषु त्रिकाण्डा सो एवेषु त्रिकाण्डा।

(ऐत० ब्रा० ३।३।६)

अर्थ—प्रजापतिने अपनी पुत्रीको पत्नी बनानेका विचार किया। फिर प्रजापतिने मृग बन कर लाल वर्ण वाली मृगी रूप पुत्रीके साथ समागम किया। यह देवताओंने देख लिया, देवताओंको विचार हुआ कि प्रजापति अकृत्य कर रहा है इस लिये इसे मार डालना चाहिये। मारनेकी इच्छासे देव लोग ऐसे

व्यक्तिको ढूंढने लगे जो प्रजापतिको मारनेमें समर्थ हो। किन्तु अपनेमें ऐसा कोई शक्तिशाली उन्हें नहीं मिला, इसलिये जो घोर = उग्रशरीर वाले थे वे सभी मिलकर एक रूप हुए, अर्थात् सब मिल कर एक महान् शरीर धारी देव बना, उसका नाम रुद्र रक्खा गया। वह शरीर भूतोंसे निष्पन्न हुआ इस लिये उसका नाम भूतवत् या भूतपति भी प्रसिद्ध हुआ।

देवताओंने रुद्रसे कहा कि– प्रजापतिने अकृत्य किया है इस लिये उसे बाणसे छेद डालो। रुद्रने यह बात स्वीकार कर ली। देवताओंने उससे कहा कि इस कार्यके बदलेमें तुम हमसे कुछ माँगो। रुद्रने पशुओंका अधिपत्य माँगा। देवताओंने यह स्वीकार कर लिया जिससे रुद्रका नाम पशुवत् या पशुपति प्रसिद्ध हुआ।

प्रजापतिको लक्ष्य करके रुद्रने धनुष खींच कर बाण छोड़ा, जिससे मृग रूपी प्रजापति बाणसे विंध कर अधोमुखसे ऊंचा उछला, और आकाशमें मृगशिर नक्षत्रके रूपमें रह गया। रुद्रने उसका पीछा किया। वह भी मृग व्याधके तारेके रूपमें आकाशमें रह गया। लाल वर्ण वाली जो मृगी थी वह भी आकाशमें रोहिणी नक्षत्रके रूपमें रह गई। रुद्रके हाथसे जो बाण छुटा था वह अणीशल्य, और पाँव रूप तीन अवयव वाला होनेसे त्रिकाण्ड तारा रूपसे रह गया। आज तक भी ये आकाशमें एक दूसरेके पीछे घूमा करते हैं।

मनुष्य सृष्टि

तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत् तत्सरोऽभवत् ते देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति यदब्रुवन्मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति तन्मादुषमभवत् तन्मादुषस्य मादुषत्वम्।

मादुषं ह वै नामैततयन्मानुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः। (ऐत० ब्रा० ३।३।६)

अर्थ—मृगरूप प्रजापति ने मृगी में वीर्य सिंचन किया, वह वीर्य बहुत होने से बाहर निकलकर पृथ्वी पर पड़ा. उसका प्रवाह चल कर ढालू जमीन में एक चित्त हुआ, जिससे तालाब बन गया। देवताओं ने प्रजापति का यह वीर्य दूषित न हो जाय इसलिये इस तालाबका नाम "मादुष" रख दिया। यही मादुषका मादुषपन है। लोगों ने पीछे मादुष शब्द में के "द" के स्थान पर "न" कार उच्चारण किया जिससे मानुष शब्द (मनुष्य वाचक) बन गया। देवता परोक्ष प्रिय होते हैं इस लिये परोक्ष में जिस नकार का प्रवेश होकर मानुष शब्द बन गया। उसको देवताओंने स्वीकार कर लिया। तात्पर्य यह है कि प्रजापति के द्वारा सिंचित वीर्य के तालाब में से मनुष्य सृष्टि उत्पन्न हुई।

देव सृष्टि

तदग्निना पर्याद धुस्तनमरुतोऽधून्वंस्तदग्निर्न प्राच्यावयत् तदग्निना वैश्वानरेण पर्यादधु स्तन्मरुतोऽधून्वँस्तदग्निर्वैश्वानरः प्राच्यावयत्तस्य यद्रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवद्यद् द्वितीय मासीत्तद् भृगुरभवतं वरुणान्यगृह्णीत तस्मात्स भृगुर्वारुणि रथ यत्तृतीयमदीदेदिव त आदित्या अभवन्। येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्।

(ऐत० ब्रा० ३।३।१०)

अर्थ—मनुष्य बनने के बाद जो प्रजापति का वीर्य अवशिष्ट

रहा उसको घनीभूत बनाने औरउसमेंसे रहेहुए द्रवत्वको दूर करने के लिये देवों ने उस तालाव के चारों किनारों पर अग्नि प्रज्वलित की और वायु ने उसकी आर्द्रता को शोषित करने का प्रयत्न किया इतना करने पर भी वह वीर्य नहीं पका अर्थात् उसका गीलापन दूर नहीं हुआ। तब वैश्वानर नाम के अग्नि ने पकाने का काम किया और वायुने शोषण करना चालू रक्खा. जिससे वह वीर्य पककर पिण्डीभूत होगया उस पिण्डमेंसे एक प्रथम पिंडिका उद्दीप्त हुई और प्रकाश करने लगी वह आदित्य-सूर्य बना। दूसरी पिंडिका निकली वह भृगु ऋषि बनी. जिसको वरुण ने ग्रहण किया, जिससे भृगु वरुण कहलाया। तीसरी पिंडिका निकली उससे अदिति के सूर्य के सिवाय बाकी के पुत्र-देव बने। जो आग के अंगार बच रहे वे अंगिरा ऋषि बने और जो अंगर उत्कर्ष से दीप्त हुआ। वह बृहस्पति बना।

पशु सृष्टि

यानि परिक्षाणान्या संस्ते कृष्णाः पशवोऽभवन् या लोहनी मृत्तिका ते रोहिता, अथ यद् भस्माऽऽसीत् तत्परुष्यं व्यसपद् गौरो गवय ऋश्यउष्ट्रो गर्दभ इति ये चैतेऽरुणाः पशवस्ते च। (ऐत० ब्रा० ३।३—१०)

अर्थ—जो काले रंग की लकड़ियां रहीं. वे काले रंग के पशु बने। अग्नि दाह से जो मिट्टी लाल रंग की हो गई थी उससे लाल रंग के पशु बन गये। जो राख बन गई थी. उससे कठोर शरीर वाले गौर राज मृग. ऊंट गर्दभ. आदि आरण्यक-जंगली पशु बन गये और जंगल में फिरने लगे।

पुराण की प्रलय—प्रक्रिया किन्हीं अंशों में पृथक् है। वह

पार्थक्य इस भांति है :—महाभारत में प्रथम सूर्य तपता है जब कि ब्रह्म पुराणके प्रलयमें सर्व प्रथम सौ वर्ष अनावृष्टि = दुष्काल पड़ता है। इस काल में अल्पशक्ति वाले पार्थिव प्राणियोंका नाश हो जाता है। इसके बाद विष्णु रुद्र रूप धारण कर. सूर्य की सात किरणों में प्रवेश कर समुद्र तालाब आदि का समस्त जल पी जाता है। काष्ठ, मिट्टी और राख में से विविध प्रकार के पशु पैदा हुए हैं। आदि आदि।

ॐकार सृष्टि

ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे, स खलु ब्रह्मा सृष्टि श्चिन्तामापेदे केनाहमेकेनाक्षरेण सर्वांश्चकामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वांश्च व्युष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावर जंगमान्यनुभवेयमिति स ब्रह्मचर्यमचरत्। स ओमित्येतदक्षरमपश्यद् द्विवर्णंचतु- र्मात्रं सर्वव्यापि सर्व विभ्वयातयाम ब्रह्म ब्राह्मीं व्याहृतिं ब्रह्मदैवतं, तया सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान्········ सर्वाणि च भूतानि स्थावरजंगमान्यन्वभवत् तस्य प्रथ- मेन वर्णेनापस्नेहश्चान्वभवत्। तस्य द्वितीयेन वर्णेन तेजो ज्योतींष्यन्वभवत्। (गो० ब्रा० पू० भा० १।१६)

अर्थ—ब्रह्म ने ब्रह्मा मन को हृदय में उत्पन्न किया। उत्पन्न हो कर ब्रह्मा ने चिन्ता की कि मैं एक अक्षर मात्र से सर्व लोक सर्व देवता, सर्व देह, सर्व यज्ञ. सर्व शब्द. सर्व वसतियां. सर्व भूत स्थावर जंगम को किस प्रकार उत्पन्न करूं? ऐसी चिन्ता करके उसने ब्रह्मचर्य रूप ब्रह्म तपका आचरण किया। उसने ओंकार

अक्षर देखा जो कि दो अक्षर वाला, चार मात्राओं वाला सर्व व्यापी. सर्व शक्तिमान्. अयातयात-निर्विकार ब्रह्म वाला ब्राह्मी व्याहृति और ब्रह्म देवता वाला है। उस ओंकारसे ब्रह्मा ने सर्व काम. सर्व लोक, सर्व देव सर्व यज्ञ. सर्व शब्द सर्व वसतियां सर्व भूत और स्थावर जंगम रूप प्राणी उत्पन्न किये ओंकार के पहिले वर्ण से जल. और चिकनापन उत्पन्न किये। दूसरे वर्ण से ज्योति उत्पन्न की।

तस्य प्रथमया स्वरमात्राया पृथिवी मग्निमोषधिवनस्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्दस्त्रिवृत्तं स्तोमं प्राचीं दिशं वसंतमृतुं वाच-मध्यात्मं जिह्वां रसमितीन्द्रियाण्यन्व-भवत्। (गो० ब्रा० पू० भा० १।१७)

अर्थ—उस ओंकार की प्रथम स्वर मात्रा से ब्रह्मा ने पृथ्वी, अग्नि, औषधि. वनस्पति, ऋगवेद् भू नाम व्याहृति, गायत्री छन्द ज्ञान, कर्म और उपासना युक्ति स्तोत्र. स्तुति, पूर्व दिशा वसंतऋतु, अध्यात्म वाणी. जिह्वा और रस ग्राहक इन्द्रियाँ बनाईं।

तस्य द्वितीया स्वरमात्राऽन्तरिक्षं यजुर्वेदं, भुव इति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः पंचदशं स्तोमं प्रतीचीं दिशं ग्रीष्ममृतुं प्राणमध्यात्मन्नासिके गन्धघ्राणमितिन्द्रियाण्यन्वभवत्।

(गो० ब्रा० पू० भा० १।१८)

अर्थ—उसकी दूसरी स्वर मात्रा से ब्रह्मा ने अंतरिक्ष, वायु, यजुर्वेद. भुव इस प्रकार की व्याहृति त्रैष्टुभ छन्द, पांच प्राण पांच इन्द्रियों और पांच भूत यों पन्द्रह प्रकार की स्तुति. पश्चिम दिशा ग्रीष्म ऋतु. आध्यात्मिक प्राण नो नासिका और गंध ग्राहक घ्राणेन्द्रिय बनाये।

तस्य तृतीयया स्वरमात्रयादित्य मादित्यं सामवेदं स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सप्तदशं स्तोममुदीचीं दिशां वर्षाऋतुं ज्योतिरध्यात्मं चक्षुषी दर्शनमितीन्द्रियाण्यन्व भवत् ।

(गो० ब्रा० भा० १।१९)

अर्थ—उस ओंकार की तीसरी स्वर मात्रा से ब्रह्मा ने स्वर्ग लोक, आदित्य, सूर्य, सामवेद, स्वर, इस प्रकार की व्याहृति, जगति छंद दस दिशाएं सत्व रजस, तीन गुण, ईश्वर, जीव और प्रकृति इन सोलहोंसे युक्त सत्ररहवां संसार यों सत्रह प्रकार की स्तुति, उत्तर दिशा, बर्षाऋतु अध्यात्म ज्योति, दो आखें और रूप ग्राहक इन्द्रियां उत्पन्न की।

तस्य वकारमात्रयाऽऽपश्चन्द्रमस मथर्ववेदं नक्षत्राणि, ओमिति स्वमात्मानं जनदित्यं गिरसामानुष्टुभं छन्दः एकविंशं स्तोमं दक्षिणां दिशं शरदऋतुं मनोऽध्यात्मं ज्ञानं ज्ञेयमितीन्द्रियाण्यन्वभवत् । (गो० ब्रा० पू० भा० १।२०)

अर्थ—उसकी वकार मात्रा से ब्रह्मा ने पानी, चन्द्रमा अथर्व वेद, नक्षत्रओं रूप अपने स्वरूप को उत्पन्न करते हुए ज्ञान, अनुष्टुप छन्द, पांच सूक्ष्म भूत, पांच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियां और अंतः करण ये २१ स्तोत्र स्तुतियें, दक्षिण-दिशा, शरद् ऋतु आध्यात्मिकमन, ज्ञान, जानने योग्य वस्तु और इन्द्रियां उत्पन्नकी।

तस्य मकार श्रुत्येतिहासपुराणं वाको वाक्यगाथा, नाराशंसीरूप निषदोऽनुशासनमिति वृधत् कुरद् गुहन् महत्तच्छमोमिति व्याहृतिः स्वरशम्यनानातंत्रीः स्वरनृत्यगीतवादित्रा-

ण्यन्त भवत् चैत्ररथं दैवतं वैद्युतं ज्योतिर्बार्हतं छन्दस्तृणवत् त्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ ध्रुवामूर्ध्वां दिशं हेमन्तशिशिरावृतू श्रोत्र मध्यात्मं शब्दश्रवणमितिन्द्रियाण्यन्वभवत् ।

(गो० ब्रा० पू० भा० १।२१)

अर्थ–उसकी मकार मात्रासे ब्रह्मने इतिहास, पुराण, बोलनेकी सामर्थ्य वाक्य, गाथा, और वीरनरोंकी गुण कथाएं उपनिषद् अनुशासन = शिक्षा उपदेश वृधत्-वृद्धि वाला परिपूर्ण ब्रह्म, करत् सृष्टिकर्ता ब्रह्म, गुहत् छिपा हुआ अन्तर्यामी ब्रह्म महत्–पूजनीय ब्रह्म तत् फैला हुआ ये पांच मह व्याहृतियां शम् शान्ति रक्षक ब्रह्मओं सर्व रक्षक ब्रह्म, ये दोनों पांच में मिलने से सात महाव्याहृति, स्वर से शान्ति उपजाने वाली नाना प्रकार की वीणा आदि विद्याएं स्वर, नृत्य, गीत वादित्र बनाए और विचित्र गुण वाले दिव्य पदार्थों के समूह विविध प्रकाश वाली ज्योति वेद वाणी युक्त छन्द, तीनों कालों में स्तुति किये गये तेंतीस देवतासृष्टि प्रलय रूप दो स्तोम-स्तुति ऊंची नीची दिशाएं, हेमंत और शिशिर ऋतु आध्यात्मिक श्रोत्र, शब्द और सुनने की सामर्थ्य, ज्ञान कर्म साधनरूप इन्द्रियां ब्रह्म बनाईं ।

स खलु पादाभ्यामेव पृथिवीं निरमिमत । उदरादन्तरिक्षम् । मूर्द्ध्नो दिवम् । स तां स्त्रींल्लोकानभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमत अग्निं वायुमादित्य मिति । स खलु पृथिव्या एवाग्निं निरमिमत अन्तरिक्षाद्वायुं दिव आदित्यं । सतांस्त्रीन् देवानभ्यश्राम्यदभ्यतपत् समतपत् तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः

संतप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान्निरमिमत—ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति अग्नेऋग्वेदं, वायोर्यजुर्वेदमादित्यात् सामवेदम् ।

(गो० ब्रा० पू० भा० २।१।६)

अर्थ—उस ब्रह्मने पांवसे पृथ्वीका निर्माण किया । उदरमें से अंतरिक्ष और मस्तकमें से स्वर्गका निर्माण किया । उसके बाद उसने तीनों लोकोंको तपाया, उसमें से अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों दोषोंकी उत्पत्ति हुई । उसने पृथ्वीमें से अग्नि, अन्तरिक्ष में से वायु, और स्वर्गमें से आदित्यको उत्पन्न किया । उसने तीनों देवोंको तपाया तो उसमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीनों वेदोंकी उत्पत्ति हुई । अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद, और आदित्यसे सामवेद बना ।

स भूयोऽश्राम्यत् भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्स मनस एव चन्द्रमसन्निरमिमत, नखेभ्यो नक्षत्राणि, लोमस्य ओषधि वनस्पतीन् क्षुद्रेभ्यः प्राणेभ्योऽन्यान् बहून देवान् । (गो० ब्रा० पू० भा० १।१२)

अर्थ—उस ब्रह्मने श्रमपूर्वक तप किया । मनसे चन्द्रमा, नखों से नक्षत्र, रोम राजिसे औषधि तथा वनस्पति और क्षुद्र प्राणोंसे अन्य बहुतसे देव उत्पन्न किये ।

धाता का सृष्टि क्रम

१—ऋतु	६—अहोरात्रि—सर्वभूत
२—सत्य	७—सूर्य चन्द्र
३—रात्रि (अन्धकार)	८—स्वर्ग
४—समुद्र	९—पृथ्वी } त्रैलोक्य
५—सम्वत्सर—काल	१०—अन्तरिक्ष } त्रैलोक्य

असुर सृष्टि

स इमां प्रतिष्ठां वित्वाऽकामयत—प्रजायेयेति । स तपोत्तप्यत । सोऽन्तर्वानभवत् । स जघनादसुरानसृजत । तेभ्योतृन्मये पात्रेऽन्नमदुहत् । याऽस्य सातनूरासीत् । तामपाहत । स तमिस्राभवत् । (यृ० यजु० तै० ब्रा० २।२।६)

अर्थ—उस प्रजापति को बैठने की जगह मिल जाने से उसने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की । तप किया जिससे वह गर्भवान् हुआ । जघन भाग में से असुरों को उत्पन्न किया और उनके लिये मिट्टी के पात्र में अन्न डाला. जो उनका शरीर था वह छोड़ दिया और उसका अन्धकार बन गया । अर्थात् रात्रि हो गई ।

मनुष्य सृष्टि

सोऽकामयत प्रजा येयेति । स तपोऽतप्यत्त । सोऽन्तर्वा न भवत् । स प्रजन नादेव प्रजा असृजत । तस्मादिमा भूयिष्ठाः प्रजननाध्येन्तअसृजत । ताभ्यो दारुमये पात्रेपयोऽदुहत् । याऽस्य सा तनूरासीत् तामपहत । सा ज्योत्स्नाऽभवत् । (वृ० यजु० तै० ब्रा० २।२।६)

अर्थ—उस प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की फिर तप किया वह गर्भवान् बना । जननेन्द्रिय से मनुष्यादि प्रजा उत्पन्न की । जननेन्द्रिय के कारण से प्रजा बहुता हुई उसे काष्ठ पात्रमें दूध दिया, जो उनका शरीर था उसे छोड़ा वह ज्योत्स्ना-प्रकाश रूप बन गया ।

ऋतु सृष्टि

सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोऽन्तर्वानिभवत्। स उपपक्षाभ्यामेवर्तूनसृजत। तेभ्यो रजते पात्रे घृतमदुहत्। यास्य तनूरासीत् तामपाहत। साऽहोरात्रियोः सन्धिरभवत्। (कृ० यजु० तै० ब्रा० २।२।६)

अर्थ—प्रजापति ने उत्पन्न करने की इच्छा की तप किया, वह गर्भवान हुआ, दोनों पार्श्वों (पासे)से ऋतु-कालाभि मानी नक्षत्रादि सृष्टि उत्पन्न की उन्हें चांदी के पात्र में घृत दिया, उन्होंने जो शरीर छोड़ा वह सन्ध्या रूप बना।

देव सृष्टि

सोऽकामयत प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सोन्तर्वानिभवत्। स मुखाद्देवानसृजत। तेभ्योहरते पात्रे सोममदुहत्। याऽस्य सा तनूरासीत्। तामपाहत। तदहरभवत्।

(कृ० यजु० तै० ब्रा० २।२।६)

अर्थ—प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की तप किया और गर्भवान् बना. मुंह में से देवों को उत्पन्न किया. उन्हें हरित पात्र में सोम रस दिया, जो शरीर धारण किया था उसे छोड़ा, उसका दिन हो गया। देव उत्पन्न करने वाला शरीर दिन रूप हुआ यही देवों का देवपन है।

सृष्टि क्रमका कोष्ठक

१—धूम	४—प्रकाश
२—अग्नि	५—बड़ी ज्वाला
३—ज्वाला	६—धूमादिका घन
	७—समुद्र

अथवा

१—पानी २ पृथ्वी ३ अन्तरिक्ष ४ स्वर्ग ५ असुर और रात्रि, ६ मनुष्य और ज्योत्स्ना-प्रकाश ७ ऋतु नक्षत्रादि और सन्ध्या ८ देवता और दिन।

प्रजापतिकी सृष्टिका छट्ठा प्रकार

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्। स इमाम पश्यतां वराहो भूत्वाऽहरत्तां विश्वकर्मा भूत्वा व्यमार्ट् सा। प्राथत। स पृथिव्य भवत्तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्। (कृ० यजु० तै० सं० ७।१।५)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व केवल पानी ही था. प्रजापति वायु रूप हो कर उसमें फिरने लगा। पानी के नीचे उसने इस पृथ्वी को देखा। उसे देख कर प्रजापति ने वराह-सूअर का रूप धारण किया और पानी में से पृथ्वी को खोद कर ऊपर ले आया ? फिर वराह का रूप छोड़ कर प्रजापति विश्वकर्मा बना. और पृथ्वी का प्रमर्जन किया, फिर उसका विस्तार किया, जिससे वह बड़ी पृथ्वी बन गई। विस्तार के कारण से ही इस पृथ्वी का पृथ्वीपन है।

आपो वा इदमग्रे सलिल मासीत। स प्रजापतिः पुष्करपर्णे वातो भूतोऽलेलायत्। स प्रतिष्ठां नाविन्दत। स एतदपां कुलायमपश्यत्। तस्मिन्नग्निमचिनुत। तदियम भवत्। ततो वै स प्रत्यतिष्टत्। (कृ० यजु० तै० सं० ५।६।४)

अर्थ—सृष्टि के पूर्व केवल पानी ही था, वह प्रजापति पवन रूप हो कर कमल पत्र पर हिलने लगा, उसे कहीं भी स्थिरता नहीं मिली, इतनेमें उसे शेवाल (काई) दिखाई दी ? उस शेवाल

पर उसने ईटोंसे अग्निको (चुनना बनवाना) चुना जिससे पृथ्वी बन गई। उसके ऊपर उसे बैठने का स्थान (प्रतिष्ठा , मिल गया।

प्रजापति की सृष्टिका सातवाँ प्रकार

आपो वा इदमग्रे सलिल मासीत् । स एतां प्रजापतिः प्रथमां चिति मपश्यत् । तामुपाधत्त तदिय मभवत् ।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ--सृष्टि के पहले केवल पानी था, प्रजापति ने प्रथम चिति = अग्नि में दी जाने वाली आहुति देखी, प्रजापतिने उसको अधिष्ठान बनाया तब वह चिति पृथ्वी रूप बन गई।

तं विश्वकर्माऽब्रवीत। उपत्वाऽयानीति नेह लोकोस्तीत्य ब्रवीत् । स एतां द्वितीयां चितिमपश्यत् । तामुपाधत्त । तदन्तरिक्षमभवत् । (कृ० यजु० तै० सं० ५ ७।५)

अर्थ—विश्वकर्मा ने प्रजापति को कहा कि—मैं तेरे समीप आऊँ ? प्रजापति ने उत्तर दिया कि यहां अवकाश नहीं है। इतने में विश्वकर्मा ने दूसरी चिति = आहुति देखी, उसका आश्रय किया तब वह चिति अन्तरिक्ष बन गया।

स यज्ञः प्रजापतिमब्रवीत् उप त्वायऽ। नीतिनेह लोको- ऽस्तीत्य ब्रवीत् स विश्वकर्माणमब्रवीत् उपत्वाऽयानीति केनमोपैष्यतीति । दिश्यामिरित्य ब्रवीत्तम् । दिश्याभिरुतैत्ता उपाधत्त । ता दिशोभवन् । (कृ० यजु० तै० सं ५।७।५)

अर्थ—उस यज्ञ पुरुष ने प्रजापति से कहा कि मैं तेरे समीप पृथ्वी पर आऊं ? प्रजापति ने कहा कि यहां जगह नहीं है। तब उस यज्ञ पुरुष ने विश्वकर्मा को पूछा कि मैं तुम्हारे पास अन्तरिक्ष

में आऊं ? विश्वकर्मा ने पूछा कि क्या वस्तु लेकर तू मेरे पास आयेगा ? यज्ञ पुरुषने कहा कि—दिशाओंमें देनेकी आहुति लेकर आऊंगा ? विश्वकर्मा ने उसे स्वीकार कर लिया। यज्ञ पुरुष ने अन्तरिक्षमें दिशाका आश्रय किया और प्राची आदि दिशाएं बनगई

स परमेष्ठी प्रजापतिमब्रवीत् । उपत्वाऽयानीति। नेह-लोकोऽस्तीत्यब्रूताम् । स एतां तृतीयां चितिमपश्यत् । तामुपाधत्ततदसावभवत् । (कृ० तजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—(उसके बाद चौथा पतमेष्ठी आता है) परमेष्ठी ने प्रजापति विश्वकर्मा और यज्ञ पुरुष को पूछा कि मैं तुम्हारे पास आऊं ? तीनों ने उत्तर दिया कि हमारे पास जगह नहीं है। इतने में परमेष्ठी ने तीसरी चिति=आहुति देखी उसका आश्रय लिया तो वह स्वर्ग बन गई।

स आदित्यः प्रजापतिमब्रवीत् । उपत्वाऽयानीति नेह-लोकोऽस्तीत्यब्रवीत् । स विश्वकर्माणं च यज्ञं चाब्रवीत् । उपवामाऽय:नीति । नेह लोकोऽस्तीत्यब्रूताम् । स परमेष्ठिन मब्रवीत् । उपत्वाऽयानीति । केनमोपैष्यसीति लोकं पृण-येत्य ब्रवीत्तम् । लोकं पृणयोपैत्तस्मादयातयाम्नी । लोकं पृणाऽयातयामा ह्यसावादित्यः । (कृ०यजु०तै०सं० ५।७।५)

अर्थ—उस सूर्य नें प्रजापति को कहा कि मैं तेरे पास आऊं ? प्रजापति ने कहा कि यहां अवकाश नहीं है। इसके बाद विश्वकर्मा और यज्ञ पुरुष को पूछा तो उन दोनों ने भी मना कर दिया। तब सूर्यने परमेष्ठिको पूछा परमेष्ठीने कहा कि क्या लेकर मेरे पास आयेगा ? सूर्यने कहा लोकं पृणा (बार बार उपयोग करनेपर भी जिसका तत्व क्षीण नहीं हो और चिति में जहां छिद्र हो जाय,

वहां जिससे छिद्र बंद कियाजाय वह लोकंपृणा कहलाती है) लेकर मैं आऊंगा। परमेष्ठी नें स्वीकार किया, सूर्य ने लोकंपृणा के साथ स्वग में आश्रय लिया और प्रति दिन आवृति करके प्रकाश देने का कार्य चालू रक्खा। लोकंपृणा अक्षीण—सारा है, इस लिये सूर्य भी अक्षीण-सार है, अर्थात् अक्षय प्रकाश वाला है।

तानृषयाऽब्रुवन्नुप व आयामेति। केन न उपैष्यथेति। भूम्नेत्यब्रुवन् तान् द्वाभ्यां चितीभ्यामुपायन्त।

(कृ० यजु० तै० सं० ५।७।५)

अर्थ—ऋषियों ने प्रजापति आदि पांचों से पूछा कि हम तुम्हारे पास आवें? पांचों ने पूछा कि तुम हमें क्या दोगे? ऋषियों ने कहा कि हम बहुत बहुत देंगे। पाचों ने स्वीकार किया ऋषियोने चौथी और पांचवीं दो चितियोंके साथ आश्रय लिया।

प्रजापतिकी अशक्तिका एक और नमूना देखिये—

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा प्रेमणानुप्राविशत्। ताभ्यः पुनः संभवितुं ना शक्नोत्। सोऽब्रवीत्। ऋध्नवदित् स यो मेतः पुनः संचिन वदिति। तं देवाः समाचिन्वन्। ततो वै त आघ्नुवन्। (कृ० यजु० तै० सं० ५।५।२)

अर्थ—प्रजापति ने सृष्टि सर्जन करके प्रेम से उस प्रजा में प्रवेश किया। किन्तु उसमें से पीछे निकल न सका तब उसने देवताओंको कहाकि जो मुझे निकाल देगा वहऋद्धिमान होगा। देवताओने उसे बाहर निकाल दिया जिससे वे ऋद्धिवान होगये। यहाँ प्रजापति आत्मा तथा प्रजायें इन्द्रिय आदि हैं।

(यह प्रकरण, स्थानक वासी जैन मुनि श्री रत्नचन्द जी शतावधानी द्वारा लिखित 'सृष्टि वाद और ईश्वर' के आधारसे लिखा गया है।)

सृष्टि रचना रहस्य

"सृष्टि के आरम्भ में केवल एक आत्मा ही था उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। उसने लोक रचना के लिये ईक्षण. विचार, किया और केवल सङ्कल्पसे ही अम्भ. मरीचि और मर इन तीनों लोकोंकी रचना की इन्हें रचकर उस परमात्मा ने उनके लिये लोकपालों की रचना करने का विचार किया और जल से ही एक पुरुष की रचना कर उसे अवयव युक्त किया परमात्मा के सङ्कल्प से ही उस विराट पुरुष के इन्द्रिय, इन्द्रिय-गोलक और इन्द्रियाधिष्ठाता देव उत्पन्न हो गये। जब वे इन्द्रियाधिष्ठाता देवता इस महा समुद्र में आये तो परमात्मा ने उन्हें भूख-प्यासमे युक्तकर दिया। जब उन्होंने प्रार्थना की कि हमें कोई ऐसा आयतन प्रदान किया जाय जिसमें स्थित होकर हम अन्न भक्षण कर सकें। परमात्मा ने उनके लिये एक गौ का शरीर प्रस्तुत किया. किन्तु उन्होंने यह हमारे लिये उपयुक्त नहीं है ऐसा कहकर अस्वीकृत कर दिया। तत्पश्चात् घोड़ेका शरीर लाया गया किन्तु वह भी अस्वीकृत हुआ। अन्तमें परमात्मा उनके लिये मनुष्यका शरीर लाया। उसे देखकर सभी देवताओंने एक स्वर उसका अनुमोदन किया और वे सब परमात्माकी आज्ञासे उसके भिन्न भिन्न अवयवोंमें वाक्, प्राण, चक्षु आदि रूपसे स्थित होगये फिर उनके लिये अन्न की रचना की गई। अन्न उन्हें देखकर भागने लगा देवताओं ने उसे वाणी. चक्षु. प्राण एवं श्रोत्रादि भिन्न २ करणों से ग्रहण करना चाहा; परन्तु वे इसमें सफल नहीं हुये अन्त में उन्होंने उसे अपान द्वारा ग्रहण कर लिया इस प्रकार यह सृष्टि हो जाने पर परमात्मा ने विचार किया कि अब मुझे भी इसमें प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि मेरे बिना यह सारा प्रपञ्च अकिञ्चित्कर ही है। अतः वह उस पुरुष की मूर्द्धसीमा को

विदीर्ण कर उसके द्वारा उसमें प्रवेश कर गया। इस प्रकार जीव भाव को प्राप्त होने पर उसका भूतों के साथ तादात्म्य हो जाता है। पीछे जब गुरु कृपा से बोध होने पर उसे अपने सर्व व्यापक शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार होता है तो उसे 'इदम्' इस तरह, अपरोक्ष रूप से देखने के कारण उसकी 'इन्द्र' संज्ञा हो जाती है

इस प्रकार ईक्षणसे लेकर परमात्माके प्रवेश पर्यन्त जो सृष्टि क्रम बतलाया गया है, इसे ही विद्यारण्य स्वामीने ईश्वर सृष्टि कहा है। ईक्षणादि प्रवेशान्तः संसार ईश कल्पितः'। इस आख्यायिका में। बहुतसी विचित्र बातें देखी जाती हैं। यों तो मायामें कोई भी बात कुतूहलजनक नहीं हुआ करती, तथापि आचायका तो कथन है कि यह केवल अर्थवाद है। इसका अभिप्राय आत्मबोध कराने में है।"

यह लेख कल्याण प्रेस गोरखपुरसे छपे शंकर भाष्य उपनिषद की भूमिका का है। उपरोक्त लेखसे यह सिद्ध है कि सृष्टि रचना का जो वर्णन है वह जीवके शरीरादिकी रचनाका ही वर्णन है। भारतके महान विद्वान् विद्यारण्य स्वामीने भी इसीको ईश सृष्टि माना है। यह आत्मा शरीर व प्राण आदिकी रचना किस प्रकार करता है इसका वर्णन हम विस्तार पूर्वक कर चुके हैं। फिर भी यहां हम एक प्रमाण उपस्थित करते हैं।

पांच देव सुषियां

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पंचदेव सुषयः स योऽस्य-प्राङ्सुषिः स प्राणास्त-चक्षुः स आदित्यस्तदेत तेजोऽन्नाद्य-मित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद।

छा० उ० ३।१३।१

अथ योऽस्यदक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यश्चेत्युपासीत श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

अथ योस्यप्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानस्तन्मतः स पर्जन्यः ॥४॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायु स आकाशः।५।

अर्थात्—इस हृदयके देव सुशि (छिद्र) हैं। इसका जो पूर्व दिशावर्ती छिद्र है वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है, वही यह तेज और वही अन्नाद्य है, इस प्रकार उपासना करे, जो इस प्रकार जानता है वह तेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है।

तथा अन्य स्थानमें भी आया है कि—

"आदित्यो ह वै वाह्यः प्राणः" प्र० उ० ३।८

अर्थात्—निश्चयसे वाह्य प्राणका नाम ही आदित्य है तथा च

"स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठितः, इति चक्षुषि" बृ०उ०३।९

"यह आदित्य किसमें स्थित है? चक्षुमें"

तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है, वह व्यान है, वही श्रोत्र है, वही चन्द्रमा है और वही यह श्री एवं यश है। अन्यत्र कहा हैकि-

"श्रोत्रेण सृष्टादिशश्च चन्द्रमाश्च।"

एवं इसका जो पश्चिम छिद्र है वह अपान है, वह वाक् है, वह अग्नि है, आदि—

इसी लिये श्रुतिमें कहा है कि—"मुखादग्निरजायत" अर्थात् मुखसे अग्नि (वाक्) उत्पन्न हुई। तथा जो इसका उत्तरीय छिद्र है, वह मन है, वह मेघ है, और कीर्ति व देह का लावण्य है।

इस लिये श्रुति कहती है कि—

"मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च।"

इस श्रुतिके अनुसार आप् (जल) मेघसे ही होने वाले हैं। अभिप्राय यह है कि यहां जल आदि मानसिक भावोंके नाम हैं।

तथा इसका जो ऊर्ध्व छिद्र है वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है, अर्थात् उदान वायुका नाम वायु और आकाश है। अतः जहां जहां वेदोंमें आकाशादिकी उत्पत्तिका कथन है वहां २ 'उदान वायु' की उत्पत्तिका कथन समझना चाहिये।

तीन लोक

"त्रयो वा ऽइमे लोकाः। श० १।२।४।२०॥

अर्थात्—तीन ही ये लोक हैं।

तस्मात् ....त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौ

श० ११।५।८।१॥

अर्थात्—उस प्रजापति परमात्माने .....तीन लोकोंको उत्पन्न किया। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक। इन्हीं तीन लोकों में प्रजापतिकी सब प्रकारकी सृष्टि चल रही है। ये तीन लोक हमारी दृष्टिसे ही कहे गये हैं। वैसे तो लोक तीन प्रकारके हैं और अनेक हैं। किसी प्राचीन ब्राह्मणका पाठ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ ४। ७। १६॥ में दिया है।

एक रात्रं चेदतिथीन्वाजयेत्पार्थिवाँल्लोकान भिजयति

द्वितीय यान्त रिक्ष्यास्तृतीया दिव्यांचतुर्थ्यां परावतो लोकान परिमिता भिरपरिमितांल्लोकान भिजयतीति विज्ञायते ।

अर्थात्—यदि एक रात अतिथिको वास देता है, तो पार्थिव लोकोंको जीतता है। दूसरी (रात देनेसे) अन्तरिक्षमें होने वाले लोकोंको, तीसरीसे दिव्य लोकोंको, चौथीसे उनसे भी पर जो लोक हैं और अपरिमितोंसे अपरिमित लोकोको जीतता है ऐसा ब्राह्मणसे ज्ञात होता है।

नित्य जीवात्मा अपने अपने कर्मके अनुसार इनमें से भिन्न भिन्न लोकोंमें जन्म लेता है। मनुष्य शरीर सबसे श्रेष्ठ शरीर माना गया है। उस मनुष्यको इस पृथ्वी पर जिस प्रकारसे परम सुख मिले, उसका विधान ब्राह्मण ग्रन्थ करते हैं। आज भी पश्चिममें लौकिक विद्याने बहुत उन्नतिकी है। परन्तु उस सारी उन्नतिमें सुखकी मात्रा यद्यपि अधिक तो की गई है, पर जो कर्म जन्य दुःख आते हैं, उनसे निवटारेका कोई उपाय नहीं सोचा गया। पश्चिम वाले ऐसा कर भी नहीं सकते अमर आत्मामें उनका विश्वास नहीं है इसलिये प्रवाह रूपसे कर्मोंके सिद्धान्तको उन्होंने नहीं जाना।" (पं० भगवतदत्त जी) यहां भी तीन लोकोंसे शरीर के तीन लोक ही अभिप्रेत है, क्योंकि यह जगत तो न कभी बनता है न कभी इसका नाश ही होता है। बा० संपूर्णानन्द जी ने इसका अच्छा विवेचन किया है। यथा—

सप्त लोक

"जिस प्रकार वैदिक आर्य्य सात लोक, और सात आदित्य मानते थे उसी प्रकार पारसियों के यहां भी सात कश्वर और सात अधिष्ठाता माने जाते हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि एक ही

अहुरमज्द सप्तधा होकर इन सात लोकोंका शासन करता है। इन सात असुरोंको अमेष स्पेन्त (अमर हितकारी) कहते हैं। सातों कश्वरों के नाम अर्जहे सवहे फ्रदधफ्रशु—विदधफश वौरुबरेशित-वुरजरेश्वित, ख्वनिरथ हेतुमन्त अशि और इनके सातों असुरोंके नामबहुमनो, अशर्थहि्श्त, क्षत्रवैर्य, स्पेन्त, आर्मैत, हीवंतार, और अमरतार हैं। भूलोक का ख्वनिरथ है। इसके स्वामी क्षत्रवैर्य हैं। जल और प्रकाश के लिये जैसा निरन्तर युद्ध वेदों में दिखलाया गया है। वैसा ही अवेस्ता में वर्णित है। कहीं तो ख्वतेनो के प्रकाश के लिए आतर (अग्नि) और अजि (अहि) दहाक में लड़ाई होती है, कहीं अपौष वर्षा को रोक लेता है, तिश्त्र्य उस से लड़ते हैं। पहिले हार जाते हैं, फिर यज्ञ से बल प्राप्त करके उसे अपनी गदा, अग्नि रूपी वाजिश्त, से मारते हैं और फिर मरुतों के बताए मार्ग से जल बह निकलता है।

त्रैतन की कथा अवेस्ता में भी है। वह जिस रूप में है उसमें त्रैतन और त्रित आप्त्य दोनों की कथाओं का मेल है। इससे भी अनुमान होता है कि त्रैतन और त्रित आद्य एक ही है। अवेश्ता के अनुसार थ्रैतौन अथव्य से अजि दहाक (अहिदैत्य) की जो त्वाष्ट्र की भांति तीन सिर और छः आँख वाला था, चतुष्कोण वरेण (वरुण आकाश)में लड़ाईहुई। थ्रैतौनने अहिको मारडाला।"

महाप्रलयाधिकरण

"यों तो विशेष कारणों से किसी व्यक्ति को किसी समय भी नींद लग सकती है किन्तु कुछ ऐसी परिस्थिति होती है कि रात में एक ही समय लाखों मनुष्य सोये देख पड़ते हैं। सब एक दूसरेसे पृथक हैं पर सबके व्यक्तित्व खोये हुए से रहते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि ऐसी अवस्था दीर्घकाल के लिए बहुत से जीवों की हो

जाती है। ज्योतिषी निश्चय के साथ नहीं कह सकता कि किन खेचर पिण्डों पर जीव धारी रहते हैं। सब प्राणियों के शरीर पृथिवी पररहने वालोंके समान हैं, यह बात क्यों मानी जाय? ऐसी परिस्थति उत्पन्न हो सकती है जिसमें एक दूसरेसे सम्बन्धित बहुत से पिण्ड एक साथ नष्ट हो जायं या बसने योग्य न रह जायें। सूर्य को किसी प्रकार का आघात पहुंचने से सौर मण्डल के सारे ग्रहोंकी यही गति होगी। सूर्य धीरे २ ठण्डा हो रहा है। एक दिन उसकी ठण्डक इतनी बढ़ जायगी कि यदि उस समय उसके साथ कोई ग्रह बच रहा तो वह हम जैसे प्राणियोंके बसनेके अयोग्य हो चुका होगा। सूर्य आकाश गङ्गा में है। यदि इस नीहारिका के उस प्रदेश में, जिसमें सूर्य इस समय है, कोई क्षोभ उत्पन्न हो तो सूर्य परिवार नष्ट हो जायगा। क्षोभ होगा नहीं, यदि होगा तो कब और कैसे होगा, यह सब हम अभी नहीं जानते। विज्ञान को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वायु की सक्रियता कम हो रही है अर्थात धीरे धीरे सारे भौतिक पिण्ड निश्चेष्ट गति हीन होते जा रहे हैं। यदि ऐसा है तब भी संभवतः एक दिन इन पर प्राणी न रह सकेंगे। परन्तु जीव नष्ट नहीं होते, वह प्रसुप्त से हो जाते हैं। ऐसी दशाको जिसमें जगत्का बहुत बडा भाग नष्ट या बसने या जीवों के भोग-के अयोग्य हो जाता है महा प्रलय कहते हैं। महा प्रलय में उस खण्ड के जीव हिरण्यगर्भ में निमज्जित रहते हैं। जब फिर परिस्थिति अनुकूल होती है—और अनुकूल परिस्थिति का पुनः स्थापित होना अनिवार्य है, क्यों कि जीवों के भीतर ही तो सारी परिस्थितियोंका भंडार है—तो नयी सृष्टि होती है। जीवों की ज्ञातृत्वादि शक्तियां चिर सुषुप्त नहीं रह सकती क्योंकि अविद्या तो कहीं गयी नहीं है। शक्तियां जब जागरणोन्मुख होती हैं तो जीव हिरण्यगर्भमेंसे पुनः निकलते हैं। प्रत्येक जीव अपने संस्कार

अपने साथ लाता है। फिर जिस प्रकार पिछले अध्याय के भूत-विस्ताराधिकरण में दिखलाया गया है जीव जगत् निर्माण करते हैं। पिछले संस्कारोंके कारण जीवोंमें वैलक्षण्य होता है, इसलिये एक ही प्रकार के शरीर से सब का काम नहीं चल सकता। परिस्थितियां बदलती हैं, सब को अपने २ अनुरूप शरीर मिल जाते हैं। यों ही सर्ग और प्रतिसर्ग का प्रवाह चला जाता है।

महाप्रलय और नूतन सृष्टि के बीच में जितने काल तक जीव हिरण्यगर्भ में प्रलीन रहते हैं उतने दिनों तक उनके लिये नानात्व लुप्तप्राय रहता है। परन्तु यह लोप भी आत्यन्तिक नहीं है। उस अवस्थामें भी ज्ञान शक्ति काम करती है और उसके बाद नानात्व का वृक्ष फिर हरा-भरा हो जाता है।"

उपरोक्त लेख से बाबू सम्पूर्णा नन्द जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक देशीय खन्ड प्रलय का नाम ही महाप्रलय है और वह महाप्रलय भी परमाणु रूप नहीं होती अपितु पृथ्वी का कुछ भाग व्यवहार योग्य नहीं होने का नाम प्रलय है। तथा उस विभाग के व्यवहार योग्य हो जाने का नाम सृष्टि है। इससे हम भी पूर्णतया सहमत है।

लोक मान्यतिलक व विश्व रचना

"गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव नि विशन्ति च।

महाभारत, शांति ३०५।२३

इस बात का विवेचन हो चुका, कि कापिल सांख्य के अनुसार संसार में जो दो स्वतन्त्र मूल तत्व—प्रकृति व पुरुष है उनका स्वरूप क्या है, और जब इन दोनों का संयोग ही निमित्त कारण हो जाता है। तब पुरुष के सामने प्रकृति अपने

गुणों का जाल कैसे फैलाया करती है. और उस जाल से हमको अपना छुटकारा किस प्रकार कर लेना चाहिये। परन्तु अब तक इसका स्पष्टी करण नहीं किया गया कि. प्रकृति अपने जाले को। अपनाखेल. संहार या ज्ञानेश्वर महाराजके शब्दों में प्रकृति की टकसाल' को किस क्रम से पुरुष के सामने फैलाया करती है. और उसका लय किस प्रकार हुआ करता है। प्रकृति के इस व्यापार ही को 'विश्वकी रचना और संहार कहते हैं और इसी विषयका विवेचन प्रस्तुत प्रकरणमें किया जायगा। सांख्यमतके अनुसार प्रकृतिने इस जगत् या सृष्टिको असख्य पुरुषोंके लाभके लिए ही निर्माण किया है। 'दासबोध' में श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने भी प्रकृतिसे सारे ब्रह्माण्डके निर्माण होनेका बहुत अच्छा वर्णनकिया है उसी वर्णन से 'विश्व की रचना और संहार शब्द इस प्रकरण में लिए गए हैं। इसी प्रकार भगवद्गीता के सातवें और आठवें अध्याय में मुख्यतः इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। और ग्यारहवें अध्यायके आरम्भ में अर्जुन ने श्री कृष्ण से जो यह प्रार्थना की है कि

"भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तारशोमया।"

भूतों की उत्पत्तिऔर प्रलय (जो आपने) विस्तार पूर्वक (बतलाई; उसको) मैंने सुना. अब मुझको अपना विश्व रूप प्रत्यक्ष दिखला कर कृतार्थ कीजिये। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि विश्व रचना और संहार क्षर—अक्षर—विचार ही का एक मुख्य भाग है। 'ज्ञान' वह है जिससे यह बात मालूम हो जाती है कि सृष्टि के अनेक (नाना) व्यक्त पदार्थों में एक ही अव्यक्तमूल द्रव्य है (गीता १८.२०) और 'विज्ञान' उसे कहते हैं, जिससे यह मालूम हो कि एक ही मूलभूत अव्यक्त द्रव्य से भिन्न २ अनेक पदार्थ किस प्रकार अलग अलग निर्मित हुए (गीता १३।३०) और इसमें न केवल क्षर-अक्षर विचार ह का समा-

वेश होता है . किन्तु क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान और अध्यात्म विषयों का भी समावेश हो जाता है।

भगवद्गीताके मतानुसार प्रकृति अपना खेल करनेया सृष्टिका का कार्य चलाने के लिये स्वतंत्र नहीं है, किन्तु उसे यह काम ईश्वरकी इच्छाके अनुसार करना पड़ता है (गी०९। १०)। परन्तु पहले बताया जाचुका है, कि कपिलाचार्यने प्रकृतिको स्वतंत्र माना है। सांख्य शास्त्रके अनुसार, प्रकृतिका संसार आरम्भ होने के लिये 'पुरुषका संयोग' ही निमित्त-कारण बस हो जाता है . इस विषयमें प्रकृति और किसीकी भी अपेक्षा नहीं करती। सांख्योंका यह कथन है कि, ज्योंही पुरुष और प्रकृतिका संयोग होता है त्यों ही उसकी टकसाल जारी हो जाती है, जिस प्रकार बसन्त ऋतुमें वृक्षोंमें नये पत्ते देख पड़ते हैं और क्रमशः फूल और फल आने लगते हैं (मभा०। शा० २३१। ७३ ; मनु० ५। ३०), उसी प्रकार प्रकृतिकी मूल साम्यावस्था नष्ट हो जाती है, और उसके गुणोंका विस्तार होने लगता है। इसके विरुद्ध वेद संहिता, उपनिषद् और स्मृति-ग्रन्थोंमें प्रकृतिको मूल न मान कर परब्रह्मको मूल माना है, और परब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति होनेके विषयमें भिन्न भिन्न वर्णन किये गए हैं, जैसे—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"

पहले हिरण्यगर्भ (ऋ०१०। १२१। १) और इस हिरण्यगर्भ से अथवा सत्यसे सब सृष्टि उत्पन्न हुई (ऋ०१०।७२।१०।१९०), अथवा पहले पानी उत्पन्न हुआ (ऋ० १०। ८२। ६ ; तै०ब्रा० १ १। ३। ७ ; ऐ०उ० १। १। २), और फिर उससे सृष्टि हुई, उस पानीमें एक अण्डा उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, तथा ब्रह्मासे अथवा उस मूल अण्डेसे ही सारा जगत् उत्पन्न हुआ मनु० १। ८ १३ ; छां० ३। १९) अथवा वही ब्रह्मा (पुरुष) आधे हिस्सेसे स्त्री हो गया (बृ० १। ४। ३ ; मनु० ३२), अथवा पानी

उत्पन्न होनेसे पहले ही पुरुष था (कठ० ४ । ६), अथवा पहले पर ब्रह्म से तेज, पानी. औरपृथ्वी (अन्न) यही तीन तत्व उत्पन्न हुए और पश्चात् उनके मिश्रणसे सब पदार्थ बने (छां० ६ । २ । ६) । यद्यपि उक्त वर्णनमें बहुत भिन्नता है तथापि वेदान्त सूत्रों (२ । ३ १–१५) में अन्तिम निर्णय यह किया गया है, कि आत्म रूपी मूल ब्रह्मसे ही आकाश आदि पंच महाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए हैं (तै०उ० २ । १) । प्रकृति महत् आदि तत्वोंका भी उल्लेख कठ (३ ११) मैत्रायणी (६ । १०), श्वेताश्वतर (४ । १० ; ६ । १६), आदि उपनिषदोंमें स्पष्ट रीतिसे किया गया है । इसमें देख पड़ेगा कि यद्यपि वेदान्त मत वाले प्रकृतिको स्वतन्त्र न मानते हों, तथापि जब एक वार शुद्ध ब्रह्ममें ही मायात्मक प्रकृति-रूप विकार दृगोचर होने लगता है तब आगे सृष्टिके उत्पत्ति-क्रमके सम्बन्धमें उनका और सांख्य मत वालोंका अन्तमें मेल हो गया, और इसी कारण महाभारतमें कहा है कि "इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदिमें जो कुछ ज्ञान भरा है वह सब सांख्योंसे प्राप्त हुआ है" (शां०३०१ । १०८ । १०६) उसका यह मतलब नहीं है, कि वेदान्तियोंने अथवा पौराणिकोंने यह ज्ञान कपिलसे प्राप्त किया है । किन्तु यहां पर केवल इतना ही अर्थ अभिप्रेत है. कि सृष्टि के उत्पत्ति-क्रमका ज्ञान सर्वत्र एक सा देख पड़ता है । इतना ही नहीं किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि यहां पर सांख्य शब्दका प्रयोग 'ज्ञान' के व्यापक अर्थमें ही किया गया है । कपिलाचार्यने सृष्टिके उत्पत्ति-क्रमका वर्णन शास्त्रीय दृष्टिसे विशेष पद्धति-पूर्वक किया है; और भगवद्गीतामें भी विशेष करके इसी सांख्य-कर्म को स्वीकार किया है, इस कारण उसीका विवेचन इस प्रकरणमें किया जायगा ।

सांख्योंका सिद्धांत है, कि इन्द्रियोंको अगोचर अर्थात् अव्यक्त

सूक्ष्म और चारों ओर अखंडित भरे हुए एक ही निरवयव मूल द्रव्यसे सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह छिान्त पश्चिमी देशों के अर्वाचीन अधिभौतिक-शास्त्रज्ञोंको ग्राह्य है। ग्राह्य हीक्यों. अब तो उन्होंने यह भी निश्चित किया है, किइसी मूल द्रव्यकी शक्तिका क्रमशः विकास होता आया है. और इस पूर्वापर क्रमको छोड़ अचानक या निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। इसी मतको उत्क्रांति-वाद या विकास सिद्धान्त कहते हैं। जब यह सिद्धान्त पश्चिमी राष्ट्रोंमें, गत शताब्दीमें. पहले पहल ढूंढ निकाला गया तब वहां बड़ी खलबली मच गई थी। ईसाई धर्म पुस्तकोंमें यह वर्णन है. कि ईश्वरने पंचमहाभूतोंको और जंगम वर्गके प्रत्येक प्राणीकी जातिको भिन्न भिन्न समय पर पृथक् पृथक् और स्वतन्त्र निर्माण किया है. और इसी मतको, उत्क्रान्तिवादके पहले सब ईसाई लोग सत्य मानते थे। अतएव जब ईसाई धर्मका उक्त सिद्धान्त उत्क्रान्ति-वादसे असत्य ठहराया जाने लगा तब उत्क्रान्ति-वादियों पर खूब जोरसे आक्रमण और कटाक्ष होने लगे। ये कटाक्ष आज कल भी न्यूनाधिक होते ही रहते हैं। तथापि शास्त्रीय सत्यमें अधिक शक्ति होनेके कारण सृष्टि उत्पत्तिके सम्बन्ध में सब विद्वानोंका उत्क्रान्ति मत ही आज कल अधिक मान्य होने लगा है इस मतका सारांश यह है:—सूर्य मालामें पहले कुछ एक ही सूक्ष्म द्रव्य था; उसकी गति अथवा उष्णताका परिणाम घटता गया; तब उक्त द्रव्यका अधिकाधिक संकोच होने लगा, और पृथ्वी समेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए. अंतमें जो शेष अंग बचा वही सूर्य है। पृथ्वीका भी सूर्यके सदृश पहले एक उष्ण गोला था. परन्तु ज्यों ज्यों उसकी उष्णता कम होती गई त्यों त्यों मूल द्रव्यों में से कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने होगये, इस प्रकार पृथ्वीके ऊपरकी हवा और पानी तथा उसके नीचेका पृथ्वीका जड़ गोला

ये तीन पदार्थ बने, और इसके बाद, इन तीनोंके मिश्रण अथवा संयोगसे सब सजीव तथा निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई है । डार्विन प्रभृति पंडितोंने तो यह प्रतिपादन किया है. कि इसी तरह मनुष्य भी छोटे कीड़ेसे बढ़ते बढ़ते अपनी वर्तमान अवस्थामें आ पहुंचा है । परन्तु अब तक अधिभौतिक-वादियोंमें और अध्यात्म-वादियों में इस बात पर बहुत मतभेद हैं. कि इस सारी सृष्टिके मूलमें आत्मा जैसे किसी भिन्न और स्वतन्त्र तत्वको मानना चाहिये या नहीं । हेकलके सदृश कुछ पंडित यह मान कर. कि जड़ पदार्थोंसे ही बढ़ते बढ़ते आत्मा और चैतन्यकी उत्पत्ति हुई, जड़ाद्वैतका प्रतिपादन करते हैं, और इसके विरुद्ध कान्ट सरीखे अध्यात्म-ज्ञानियोंका यह कथन है. कि हमें सृष्टिका जो ज्ञान होता है वह हमारी आत्माके एकीकरण-व्यापारका फल है, इसलिए आत्माको एक स्वतन्त्र तत्व मानना ही पड़ता है । क्योंकि यह कहना—कि जो आत्मा बाह्य सृष्टिका ज्ञाता है वह उसी सृष्टिका एक भाग है अथवा उस सृष्टिही से वह उत्पन्न हुआ है—तर्क दृष्टिसे ठीक वैसा ही असमंजस या भ्रामक प्रतीत होगा. जैसे यह उक्ति कि हम स्वयं अपने ही कंधे पर बैठ सकते हैं । यही कारण है, कि सांख्य शास्त्रमें प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतन्त्र तत्व माने गये हैं । सारांश यह है कि अधिभौतिक सृष्टि ज्ञान चाहे जितना बढ़ गया हो. तथापि अब तक पश्चिमी देशोंमें बहुतेरे बड़े बड़े पंडित यही प्रतिपादन किया करते हैं कि सृष्टिके मूलतत्वके स्वरूपका विवेचन भिन्न पद्धतिहीसे किया जाना चाहिये । परन्तु, यदि केवल इतना ही विचार किया जाय. कि एक जड़ प्रकृतिसे आगे सब व्यक्त पदार्थ किस क्रमसे बने हैं तो पाठकोंको मालूम हो जायगा, कि पश्चिमी उत्क्रान्ति-मतमें और सांख्य शास्त्रमें वर्णित प्रकृतिके कार्य संबंधी तत्वोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है । क्यों कि इस

मुख्य सिद्धान्तसे दोनों सहमत हैं कि अव्यक्त सूक्ष्म और एक ही मूल प्रकृतिसे क्रमशः (सूक्ष्म और स्थूल) विविध तथा व्यक्त सृष्टि निर्मित हुई है। परन्तु अब आधिभौतिक शास्त्रोंके ज्ञानकी खूब वृद्धि हो जानेके कारण, सांख्य वादियोंके 'सत्व, रज तम' इन तीनों गुणोंके बदले, आधुनिक सृष्टि शास्त्रज्ञोंने गति, उष्ण और आकर्षण-शक्तिका प्रधान गुण मान रक्खा है। यह बात सच है, कि 'सत्व, रज, तम' गुणोंकी न्युनाधिकताके परिमाणों की अपेक्षा उष्णता अथवा आकर्षण शक्तिकी न्युनाधिकताकी बात आधिभौतिक शास्त्रकी सृष्टिसे सरलता पूर्वक समझमें आ जाती है। तथापि, गुणोंके विकास अथवा गुणोत्कर्षका जो यह तत्व है, कि "गुणा गुणेषु वर्तन्ते" (गी० ३। २८), यह दोनों ओर समान ही है। सांख्य शास्त्रज्ञोंका कथन है कि, जिस तरह मोड़ दार पंखेको धीरे धीरे खोलते हैं उसी तरह सत्व-रज-तमकी साम्यावस्थामें रहने वाली प्रकृतिकी तह जब धीरे धीरे खुलने लगती है, तब सब व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है इस कथनमें और उत्क्रान्ति-वादमें वस्तुतः कुछ भेद नहीं है। तथापि यह भेद तात्विक धर्म-सृष्टिसे ध्यानमें रखने योग्य है कि ईसाई धर्मके समान गुणोत्कर्ष-तत्वका अनादर न करते हुए, गीतामें और अंशतः उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थोंमें भी, अद्वैत वेदान्तके साथ ही साथ बिना किसी विरोधके गुणोत्कर्ष-वाद स्वीकार किया गया है।

अब देखना चाहिए, कि प्रकृतिके विकासके विषयमें सांख्य-शास्त्र कारोंका क्या कथन है। इस क्रमको ही गुणोत्कर्ष अथवा गुण परिणाम-वाद कहते हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं, कि कोई काम आरम्भ करनेके पहले मनुष्य उसे अपनी बुद्धिसे निश्चित कर लेता है, अथवा पहले काम करनेकी बुद्धि या इच्छा उसमें उत्पन्न हुआ करती है। उपनिषदोंमें भी इस प्रकारका वर्णन

है, कि आरम्भमें मूल परमात्माको यह बुद्धि या इच्छा हुई, कि हमें अनेक होना चाहिए—'बहुस्यां प्रजायेय' और इसके बाद सृष्टि उत्पन्न हुई (छां० ६।२।३; तै० २।६)। इसी न्यायके अनुसार अव्यक्त प्रकृति भी अपनी साम्यावस्थाको भंग करके व्यक्त सृष्टिके निर्माण करने का निश्चय पहले कर लिया करती है अतएव, सांख्योंने निश्चित किया है, कि प्रकृतिमें 'व्यवसायात्मिक बुद्धि' का गुण पहले उत्पन्न हुआ करता है। सारांश यह है, कि जिस प्रकार मनुष्यको पहले कुछ काम करनेकी इच्छा या बुद्धि हुआ करती है, उसी प्रकार प्रकृतिको भी अपना विस्तार करने या पसारा पसारनेकी बुद्धि पहले हुआ करती है। परन्तु इन दोनोंमें बड़ा भारी अंतर यह है कि मनुष्य प्राणी सचेतन होनेके कारण, अर्थात् उसमें प्रकृति की बुद्धि के साथ चेतन पुरुषका (आत्मा-का) संयोग होनेके कारण, वह स्वयं अपनी व्यवसायात्मिक बुद्धि को जान सकता है, और प्रकृति स्वयं अचेतन अर्थात् जड़ है इस लिये उसको अपनी बुद्धिका कुछ ज्ञान नहीं रहता यह अंतर पुरुष के संयोगसे प्रकृतिमें उत्पन्न होने वाले चैतन्यके कारण हुआ करता है। यह केवल जड़ या अचेतन प्रकृतिका गुण नहीं है। अर्वाचीन आधिभौतिक सृष्टि शास्त्रज्ञ भी अब कहने लगे हैं कि यदि यह न माना जाये, कि मानवी इच्छाकी बराबरी करने वाली किंतु अस्व-यंवेद्य शक्ति जड़ पदार्थोंमें भी रहती है, तो गुरुत्वाकर्षण अथवा रसायन-क्रियाका और लोह चुम्बकका आकर्षण तथा अपसारण प्रभृति केवल जड़ सृष्टिमें ही दृग्गोचर होने वाले गुणोंका मूल कारण ठीक ठीक बतलाया नहीं जा सकता। आधुनिक सृष्टि-शास्त्रज्ञोंके उक्त मत पर ध्यान देनेसे सांख्योंका यह सिद्धान्त आश्चर्य कारक नहीं प्रतीत होता, कि प्रकृतिमें पहले बुद्धि-गुणका प्रादुर्भाव होता है। प्रकृतिमें प्रथम उत्पन्न होने वाले इस गुणको,

यदि आप चाहें तो अचेतन अथवा अस्वयं वेद्य अर्थात् अपने आपको ज्ञात न होने वाली बुद्धि कह सकते हैं। परंतु उसे चाहे जो कहें, इसमें संदेह नहीं कि मनुष्यको होने वाली बुद्धि और प्रकृतिकी होनेवाली बुद्धि दोनों मूलमें एकही श्रेणीकी हैं, और इसीकारण दोनों स्थानों पर उनकी व्याख्याएं भी एक ही सी की गई हैं। उस बुद्धि के ही महत् ज्ञानात्मा, आसुरी, प्रजा, ख्याति, आदि अन्य नाम भी हैं। मालूम होता है कि इनमेंसे महत् (पुल्लिंग कर्त्ताका एक बचन महान्–बड़ा) नाम इस गुणकी श्रेष्टता के कारण दिया गया होगा, अथवा इसलिये दिया गया होगा कि जब प्रकृति बढ़ने लगती है। प्रकृतिमें पहले उपन्न होने वाला महान् अथवा बुद्धि-गुण सत्व-रज-तम के मिश्रणका ही परिणाम है, इसलिये प्रकृतिकी यह बुद्धि यद्यपि देखनेमें एक ही प्रतीत होती हो तथापि यह आगे कई प्रकारकी होसकती है। क्योंकि ये गुण–सत्व रज और तम–प्रथम दृष्टिसे यद्यपि तीन ही हैं, तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे प्रगट होजाता है, कि इनके मिश्रणमें प्रत्येक गुणका परिणाम अनेक रीतसे भिन्न २ हुआ करता है, और इसीलिये, इन तीनोंमें से प्रत्येक गुणके अनंत भिन्न परिणामसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिके प्रकार भी त्रिधातः अनंत हो सकते हैं। अव्यक्त प्रकृतिसे निर्मित होनेवाली यह बुद्धि भी प्रकृतिके ही सदृश सूक्ष्म होती है। परन्तु पिछले प्रकरणमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त, तथा 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' का जो अर्थ बतलाया गया है उसके अनुसार यह बुद्धि प्रकृतिके समान सूक्ष्म होने पर भी उसके समान अव्यक्त नहीं है—मनुष्यको इसका ज्ञान हो सकता है। अतएव, अब यह सिद्ध हो चुका है कि इस बुद्धि का समावेश व्यक्तमें (अर्थात् मनुष्यको गोचर होने वाले पदार्थोंमें) होता है; और सांख्य शास्त्रमें, न केवल बुद्धि, किन्तु बुद्धिके आगे प्रकृतिके सब विकार भी व्यक्त ही माने जाते हैं। एक मूल प्रकृतिके सिवा कोई भी अन्य तत्व अव्यक्त नहीं है।

इस प्रकार, यद्यपि अव्यक्त प्रकृति में व्यक्त व्यवसायात्मिक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, तथापि प्रकृति अब तक एक ही बनी रहती है। इस एकताका भंग होना और बहुधा-पन या विविधत्व का उत्पन्न होना ही पृथक्त्व कहलाता है। उदाहरणार्थ, पारे का जमीन पर गिर पड़ना और उसकी अलग २ छोटी २ गोलियां बन जाना। बुद्धि के बाद जब तक यह पृथकता या विविधता उत्पन्न न हो तब तक एक प्रकृति के अनेक पदार्थ हो जाना संभव नहीं। बुद्धि के आगे उत्पन्न होने वाले इस पृथकता के गुण को ही 'अहंकार' कहते हैं। क्योंकि पृथकता 'मैं–तू' शब्दों से ही प्रथम व्यक्त की जाती है; और 'मैं–तू' का अर्थ ही अहंकार अथवा अहं अहं (मैं - मैं) करना है। प्रकृति में उत्पन्न होने वाले अहंकार के इस गुण को यदि आप चाहें तो अस्वयंवेद्य अर्थात् अपने आपको ज्ञात न होने वाला अहंकार कह सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे, कि मनुष्य में प्रकट होने वाला अहंकार, और वह अहंकार कि जिसके कारण पेड़, पत्थर, पानी अथवा भिन्न २ मूल परमाणु एक ही प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों एक ही जाति के हैं। भेद केवल इतना ही है, कि पत्थर में चैतन्य न होने के कारण उसे 'अहं' का ज्ञान नहीं होता, और मुंह न होने के कारण 'मैं-तू' कह स्वाभिमान पूर्वक वह अपनी पृथकता किसी पर प्रकट नहीं कर सकता। सारांश यह कि, दूसरों से पृथक् रहने का, अर्थात् अभिमान या अहंकार, तत्व सब जगह समान ही है। इस अहंकार ही को तैजस, अभिमान, भूतादि और धातु भी कहते हैं। अहंकार बुद्धि ही का एक भाग है, इसलिये पहले जब तक बुद्धि न होगी तब तक अहंकार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। अतएव सांख्यों ने यह निश्चित किया है कि 'अहंकार' यह दूसरा, अर्थात् बुद्धि के बाद का, गुण है। अब यह बतलाने

की आवश्यकता नहीं कि सात्विक' राजस और तामस भेदों से बुद्धि के समान अहंकार के भी अनन्त प्रकार हो जाते हैं। इसी तरह उनके बाद के गुणों के भी प्रत्येक के त्रिधातः अनन्त भेद हैं अथवा यह कहिये कि व्यक्त सृष्टि में प्रत्येक वस्तु के इसी प्रकार अनन्त सात्विक, राजस और तामस भेद हुआ करते हैं, और इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके, गीता में गुणत्रय-विभाग और श्रद्धात्रय विभाग बतलाये गये हैं (गी० अ० १४ और १७)

व्यसायात्मिक बुद्धि और अहंकार, दोनों व्यक्त गुण, जब मूल साम्यावस्था की प्रकृति में उत्पन्न हो जाते हैं, तब प्रकृति की एकता भंग हो जाती है और उससे अनेक पदार्थ बनने लगते हैं। तथापि उसकी सूक्ष्मता अब तक कायम रहती है। अर्थात्, यह कहना अयुक्त न होगा कि अब नैय्यायिकोंके सूक्ष्म परमाणुओंका आरम्भ होता है। क्योंकि अहंकार उत्पन्न होने के पहले, प्रकृति अखंडित और निरवयव थी। वस्तुतः देखने से तो प्रतीत होता है कि निरी बुद्धि और निरा अहकार केवल गुण हैं, अतएव उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह मतलब नहीं लेना चाहिये, कि वे (बुद्धि और अहंकार) प्रकृति के द्रव्य से पृथक् रहते हैं। वास्तव में बात यह है कि जब मूल और अवयव-रहित एक ही प्रकृति में इन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, तब उसी को विविध और अवयव-सहित द्रव्यात्मक व्यक्त रूप प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जब अहंकार से मूल प्रकृति में भिन्न २ पदार्थ बनने की शक्ति आ जाती है, तब आगे उसकी बुद्धिकी दो शाखाएं हो जाती हैं। एक पेड़ मनुष्य आदि सेन्द्रिय प्राणियों की सृष्टि, और दूसरी निरिन्द्रय पदार्थों की सृष्टि। यहां इन्द्रिय शब्दसे केवल 'इन्द्रिय' वान प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति' इतना अर्थ लेना चाहिये इसका अर्थयह हैकि, सेन्द्रिय प्राणियोंके जड़ देहका समावेश जड़

यानी निरिन्द्रिय सृष्टि में होता है. और इन प्राणियों का आत्मा 'पुरुष' नामक अन्य वर्ग में शामिल किया जाता है। इसीलिये सांख्य शास्त्र में सेन्द्रिय सृष्टि का विचार करते समय, देह और आत्मा को छोड़ कर केवल इन्द्रियोंका हीविचार किया गया है। इस जगत् में सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय पदार्थों के अतिरिक्त किसी तीसरे पदार्थ का होना सम्भव नहीं इसलिये कहनेकी आवश्यकता नहीं। कि अहंकार से अधिक शाखाएं निकल ही नहीं सकती। इनमें निरिन्द्रिय सृष्टि को तामस (अर्थात्–तमोगुण के उत्कर्ष से होने वाली)कहते हैं। साराशं यह है, कि जब अहंकार अपनी शक्तिसे भिन्न २ पदार्थ उत्पन्न करने लगता है, तब उसी में एक बार तमोगुण का उत्कर्ष होकर एक ओर पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन मिलकर इंद्रिय- सृष्टि का मूलभूत ग्यारह इंद्रियां उत्पन्न होती हैं. और दूसरी ओर, तमोगुण उत्कर्ष होकर उसमें निरिन्द्रिय सृष्टि के मूलभूत पांच तन्मात्र द्रव्य उत्पन्न होते हैं परन्तु प्रकृति की सूक्ष्मता अब तक कायम रही है. इसलिये अहंकार से उत्पन्न होने वाले ये सोलह तत्व भी सूक्ष्म ही रहते हैं

शब्द. स्पर्श, रूप और रस की तन्मात्राएं—अर्थात् बिना मिश्रण हुए प्रत्येक गुणके भिन्नभिन्न अति सूक्ष्म मूल स्वरूप निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूल तत्व हैं और उनसहित ग्यारह इंद्रिय सेन्द्रिय सृष्टि को वीज हैं। इस विषय की सांख्य-शास्त्र की उत्पत्ति विचार करने योग्य है, कि निरिन्द्रिय सृष्टि के मूल तत्व (तन्मात्र) पाँच ही क्यों और सेन्द्रिय सृष्टि के मूल तत्व ग्यारह ही क्यों माने जाते हैं। अर्वाचीन सृष्टि-शास्त्रज्ञों ने सृष्टि के पदार्थों के तीन भेद–धन, द्रव और वायुरूपी किये हैं, परन्तु सांख्य-शास्त्रकारों का वर्गीकरण इससे भिन्न है। उनका कथन है, कि मनुष्य को सृष्टि के सब पदार्थों का ज्ञान केवल पाँचज्ञानेन्द्रियों से हुआ करता है, और इन ज्ञानेन्द्रियों की रचना कुछ ऐसी विलक्षण है, कि एक

इन्द्रिय को सिर्फ एक ही गुण ज्ञानका हुआ करता है। आँखोंसे सुगन्ध नहीं मालूम होती और न कान से दीखता ही है, त्वचा से मीठा-कडुआ नहीं समझ पड़ता और न जिह्वा से शब्द ज्ञान ही होता है, नाक से सफेद और काले रंग का भेद भी नहीं मालूम होता। जब, इस प्रकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पाँच विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध निश्चत हैं, तब यह प्रगट है, कि सृष्टि के सब गुण भी पाँच से अधिक नहीं माने जा सकते। क्योंकि यदि हम कल्पना से यह मान भी लें कि गुण पांच से अधिक हैं, तो कहना नहीं होगा, कि उनको जानने के लिये हमारे पास कोई साधन या उपाय नहीं हैं। इन पांच गुणों में से प्रत्येक के अनेक भेद हो सकते हैं। उदाहरणार्थ यद्यपि 'शब्द' गुण एक ही है तथापि उसके छोटा, मोटा, कर्कश, भद्दा फटा हुआ, कोमल अथवा गायन शास्त्र के अनुसार निषाद्, गांधार, षड्ज आदि और व्याकरण शास्त्र के अनुसार कंठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य आदि अनेक प्रकार हुआ करते हैं। इसी प्रकार यद्यपि 'रूप' एक ही गुण है, तथापि उसके भी अनेक भेद हुआ करते हैं। जैसे सफेद काला, नीला, पीला, हरा आदि। इसी तरह यद्यपि 'रस' या 'रुचि' एक ही गुण है, तथापि उसके खट्टा, मीठा, तीखा, कडुवा खारा आदि अनेक भेद हो जाते हैं, और 'मिठास' गुड़ का मिठास और शक्कर का मिठास भिन्न भिन्न होता है, तथा इस प्रकार उस एक ही 'मिठास' के अनेक भेद हो जाते हैं। यदि भिन्न भिन्न गुणों के भिन्न भिन्न मिश्रणों पर विचार किया जाय तो यह गुण वैचित्र्य अनन्त प्रकार से अनन्त हो सकता है। परन्तु, चाहे जो हो, पदार्थों के मूलगुण पांच से कभी अधिक नहीं हो सकते, क्योंकि इन्द्रियां पांच हैं, और प्रत्येक को एक ही गुण का बोध हुआ करता है। इस लिये सांख्यों ने यह निश्चत किया है, कि

यद्यपि केवल शब्द गुण के अथवा केवल स्पर्शगुण से पृथक्, यानी दूसरे गुणों के मिश्रण रहित, पदार्थ हमें देख न पड़ते हों, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि मूल प्रकृति में निरा शब्द निरास्पर्श, निरा-रूप निरा रस. और निरा गंध है। अर्थात् शब्द तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप तन्मात्र. रस तन्मात्र, और गन्ध तन्मात्र ही हैं, अर्थात् मूल प्रकृति के यही पांच भिन्न भिन्न सूक्ष्म तन्मात्र विकार अथवा द्रव्य निःसंदेह हैं। आगे इस बात का विचार किया गया है कि पंच तन्मात्राओं अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाले पंच महाभूतों के सम्बन्ध में उपनिषद्कारों का कथन क्या है।

इस प्रकार निरिन्द्रिन-सृष्टि का विचार करके यह निश्चित किया गया. कि उसमें पांच ही सूक्ष्म मूल तत्व हैं, और जब हम सेन्द्रिय-सृष्टि पर दृष्टि डालते हैं तब भी यही प्रतीत होता है, कि कि पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां और मन इन ग्यारह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक इन्द्रियां किसी के भी नहीं हैं। स्थूल देह में हाथ-पैर आदि इन्द्रियां यद्यपि स्थूल प्रतीत होती हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक की जड़ में किसी मूल सूक्ष्म तत्व का अस्तित्व माने बिना इन्द्रियों की भिन्नता का यथोचित कारण मालूम नहीं होता। पश्चिमी आधिभौतिक उत्क्रान्ति-वादियों ने इस बात की खूब चर्चा की है। वे कहते हैं कि मूल के अत्यन्त छोटे और गोलाकार जन्तुओं में सिर्फ 'त्वचा' ही एक इन्द्रिय होती हैं। और इस त्वचा ही से अन्य इन्द्रियां क्रमशः उत्पन्न होती हैं उदाहरणार्थ मूल जन्तु की त्वचा से प्रकाश का संयोग होने पर आंख उत्पन्न हुई इत्यादि। आधिभौतक-वादियों का यह तत्व, कि प्रकाश आदि संयोग से स्थूल इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है, सांख्यों को भी ग्राह्य है। महा-भारत (शां० २१३।१६) में सांख्य प्रक्रियाके अनुसार इन्द्रियोंके प्रादुर्भाव का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है—

शब्दरागात् श्रोत्र मस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुः घ्राणे गन्ध जिघ्र क्षया ॥

अर्थात्—"आत्मा को प्राणियों के शब्द सुनने की भावना हुई तब कान उत्पन्न हुआ, रूप पहचानने की इच्छा से आंख, और सूंघने की इच्छा से नाक उत्पन्न हुई" । परन्तु सांख्यों का यह कथन है, कि यद्यपि त्वचा का प्रादुर्भाव पहले होता हो, तथापि मूल प्रकृति में ही यदि भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके उत्पन्न होने की शक्ति न हो, तो सजीव सृष्टि के अत्यन्त छोटे कीड़ों की त्वचा पर सूर्य-प्रकाश का चाहे जितना आघात या संयोग होता रहे, तो भी उन्हें आँखें और वे भी शरीरके एक विशिष्ट भाग ही में-कैसे प्राप्त हो सकती हैं ? डार्विनका सिद्धान्त सिर्फ यह आशय प्रगट करता है ? कि दो प्राणियों-एक चक्षु वाला और दूसरा चक्षु रहित निर्मित होने पर, इस जड़-सृष्टि के कलहमें चक्षु वाला अधिक समय टिक सकता है, और दूसरा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । परन्तु पश्चिमी आधिभौतिक सृष्टि-शास्त्रज्ञ इस बात का मूल कारण नहीं बतला सकते, कि नेत्र आदि भिन्न २ इन्द्रियों की उत्पत्ति पहले हुई ही क्यों । सांख्योंका मत यह है,कि ये सब इन्द्रियां किसी एक ही मूल इन्द्रिय से क्रमशः उत्पन्न नहीं होती, किन्तु जब अहंकारके कारण प्रकृतिमें विविधिता आरम्भ होने लगती है,तब पहले उस अहंकार से (पांच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियां, और पांच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियां और मन इनसबमिलाकर) ग्यारह भिन्न २ गुण (शक्ति) सब के सब एक साथ(युगपत्) स्वतंत्र होकर मूल प्रकृतिमें ही उत्पन्न होते हैं, और फिर उसके आगे स्थूल से न्द्रिय-सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। इन ग्यारह इन्द्रियों में से मन के बारे में पहले ही, छटवें प्रकरण में बतला दिया गया है, कि वह ज्ञानेन्द्रिय के साथ संकल्प-विकल्पात्माक होता है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के ग्रहण किये गये संस्कारों

की व्यवस्था करके वह उन्हें बुद्धि के सामने निर्णयार्थ उपस्थिति करता है, और कर्मेन्द्रियों के साथ वह व्याकरणात्मक होता है, अर्थात् उसे बुद्धि के निर्णय को कर्मेन्द्रियों द्वारा अमल में लाना पड़ता है। इस प्रकार वह उभय विध, अर्थात् इंद्रय-भेद के अनुसार भिन्न प्रकार के काम करने वाला होता है। उपनिषदों में इन्द्रियों को ही प्राण' कहा है, और सांख्यों के मतानुसार उपनिषत्कारोंका भी यही मत है, कि ये प्राण पञ्चमहाभूतात्मक नहीं हैं, (मुंड २।१।६) । इन प्राणों की, अर्थात् इन्द्रियों की. संख्या उपनिषदोंमें कहीं सात, कहीं दस, ग्यारह, बारह और कहीं कहीं तेरह बतलाई गई है। परन्तु वेदान्त सूत्रों के आधार से श्री शंकराचार्य ने निश्चित किया है, कि उपनिषदोंके सब वाक्यों की एक रूपता करने पर इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही होती है (वेसू०शाभा २।४।५।६ और (गीता १३।५) अर्थात् इन्द्रियां 'दस और एक' अर्थात् ग्यारह हैं। अब इस विषय पर सांख्य और वेदान्त दोनों शास्त्रों में कोई मतभेद नहीं रहा। सांख्यों के निश्चित किये मत का सारांश यह है—सात्विक अहंकार से सेन्द्रिय-सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इन्द्रिय शक्तियां (गुण) उत्पन्न होतीं हैं, और तामस अहंकार से निरिन्द्रिय-सृष्टि के मूल भूत पांच तन्मात्र द्रव्य निर्मित होते हैं, इसके बाद पञ्चतन्मात्र-द्रव्यों से क्रमशः स्थूल पञ्चमहाभूत (जिन्हें 'विशेष' भी कहते हैं) और स्थूल निरिन्द्रिय पदार्थ बनने लगते हैं. तथा–यथा सम्भव इन पदार्थों का संयोग ग्यारह इन्द्रियों के साथ हो जाने पर, सेन्द्रिय सृष्टि बन जाती है।

स्थूल पंच महाभूत और पुरुष को मिला कर कुल तत्वों की संख्या पचीस है। इनमें से महान् अथवा बुद्धि के बाद के तेईस गुण मूल प्रकृति के विकार हैं। किन्तु उनमें भी यह भेद है, कि

सूक्ष्म तन्मात्राएं और पांच स्थूल महाभूत द्रव्यात्मक विकार हैं और बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियाँ केवल शक्ति या गुण हैं, ये तेईस तत्व व्यक्त हैं और मूल प्रकृति अव्यक्त है। साख्यों ने इन तेईस तत्वों में से आकाश तत्व ही में दिक् और काल को भी सम्मिलित कर लिया है। वे 'प्राण' को भिन्न तत्व नहीं मानते, किन्तु जब सब इन्द्रियों के व्यापार आरम्भ होने लगते हैं, तब उसी को वे प्राण कहते हैं (सां० का० २६)। परन्तु वेदान्तियोंको यह मत मान्य नहीं है, उन्होंने प्राण को स्वतंत्र तत्व माना है (वेसू०२।४।६।) यह पहले बतलाया जा चुका है, वेदान्ती लोग प्रकृति और पुरुष को स्वयभू और स्वतंत्र नहीं मानते। जैसा कि सांख्य-मतानुयायी मानते हैं, किन्तु उनका कथन है, कि दोनों (प्रकृति और पुरुष) एक ही परमेश्वर की विभूतियां हैं। सांख्य और वेदान्त के उक्त भेदोंको छोड़ कर शेष 'सृष्टि उत्पत्ति-क्रम दोनों पक्षों को ग्राह्य है। उदाहरणार्थ, महाभारत में अनुगीता में 'ब्रह्म वृक्ष' अथवा 'ब्रह्मवन' का जो दो बार वर्णन किया है (मभा०३५।२०-२३, और४०।१२,१५) वह सांख्य तत्वों के अनुसार ही है। :—

अव्यक्त बीज प्रभवो बुद्धिस्कंधमयो महान्।
महाहंकार विटपः, इन्द्रियान्तर कोटरः ॥
महाभूत विशाखश्च विशेषप्रति शाखवान्।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभ फलोदयः ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एवं छित्वा च भित्वा च तत्वज्ञानासिना बुधः ॥
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्यजन्मजरोदयान्।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थात्— अव्यक्त (प्रकृति) जिसका बीज है' बुद्धि (महान्) जिसका तना या पिंड है अहंकार जिसका प्रधान पल्लव है, मन और दस इंन्द्रियां जिसकी अन्तर्गत खोखली या खोड़र है (सूक्ष्म) महाभूत (पञ्च -तन्मात्राएं) जिसकी बड़ी २ शाखाएं हैं, और विशेष अर्थात् स्थूल महाभूत जिसकी छोटी २ टहनियां हैं, इसी प्रकार सदापत्र, पुष्प और शुभाशुभ फल धारण करने वाला समस्त प्राणिमात्र के लिये आधार भूत यह सनातन वृहद् ब्रह्म वृक्ष है। ज्ञानी पुरुष को चाहिये, कि उसे तत्वज्ञान रूपी तलवार से काटकर टूक टूक कर डाले, जन्म, जरा और मृत्यु उत्पन्न करने वाले संगमय पाशों का नष्ट करे और ममत्व बुद्धि तथा अहंकार को त्याग कर दे, तब वह निःसंशय मुक्त होता है संक्षेप में यही ब्रह्म वृक्ष प्रकृति अथवा माया का 'खेल' जाला' या पसारा है। अत्यंत प्राचीन काल ही से ऋग्वेद काल ही से इसे वृक्ष कहने की रीति पड़ गई है और उपनिषदों में भी उसको 'सनातन अश्वत्थवृक्ष' कहा है (कठ० ६।१) परन्तु वेदों में इसका सिर्फ यही वर्णन किया गया है, कि उस वृक्ष का मूल (परब्रह्म) ऊपर है और शाखाएं (दृश्य सृष्टि का फैलाव) नीचे हैं। इस वैदिक वर्णन को और साँख्यों के तत्वों को मिला कर गीता में अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन किया गया है। इसका स्पष्टीकरण हमने गीताके १५।१-२ श्लोकोंमें अपनी टीकामें कर दियाहै।

ऊपर बतलाये गये पच्चीस तत्वोंका वर्गीकरण सांख्य और वेदान्ती भिन्न भिन्न रीतिसे किया करते हैं, अतएव यहां पर उस वर्गीकरणके विषयमें कुछ लिखना चाहिये। सांख्योंका यह कथन है कि इन पच्चीस तत्वोंके चार वर्ग होते हैं—अर्थात् मूल प्रकृति प्रकृति-विकृति, विकृति और न प्रकृति न विकृति । (१) प्रकृति तत्व किसी दूसरेसे उत्पन्न नहीं हुआ है, अतएव उसे 'मूल प्रकृति'

कहते हैं। (२) मूल प्रकृतिसे आगे बढने पर जब हम दूसरी सीढ़ी पर आते हैं तब 'महान' तत्वका पता लगता है। यह महानतत्व प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है, इस लिये यह 'प्रकृतिकी विकृति या विकार है, और इसके बाद महान् तत्वसे अहंकार निकलता है, अतएव 'महान' अहंकारकी प्रकृति अथवा मूल है। इस प्रकार महान अथवा बुद्धि एक ओरसे अहंकारकी प्रकृति या मूल है, और दूसरी ओरसे, वह मूल प्रकृति विकृति अथवा विकार है। इसीलिये सांख्योंने उसे 'प्रकृति विकृति' नामक वर्गमें रखा, और इसी न्यायके अनुसार अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओंका समावेश भी 'प्रकृति विकृति' वर्ग हीमें किया जाता है। जो तत्व अथवागुण स्वयं दूसरेसे उत्पन्न (विकृति) हो, और आगे वही स्वयं अन्य तत्वों का मूल भूत (प्रकृति) होजावे, उसे 'प्रकृति विकृति' कहते हैं। इस वर्गके सात तत्व ये हैं—महान, अहंकर और पञ्च तन्मात्राएं. (३) परन्तु पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियां मन और स्थूल पञ्च महाभूत, इन सोलह तत्वोंसे फिर और अन्य तत्वोंकी उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु ये स्वयं दूसरे तत्वोंसे प्रादुर्भूत हुए हैं। अतएव, इन सोलह तत्वोंको 'प्रकृति विकृति' न कह कर केवल विकृति, अथवा विकार कहते हैं। (४) 'पुरुष न प्रकृति है और न विकृति, वह स्वतन्त्र और उदासीन द्रष्टा है। ईश्वर कृष्णने इसप्रकार वर्गीकरण करके फिर उसका स्पष्टीकरण यों किया है—

मूल प्रकृतिर विकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात्—"यह मूल प्रतिक अविकृति है—अर्थात् किसी का विकार नहीं है, महदादि सात (अर्थात् महत, अहंकार, और पंच-तन्मात्राएं) तत्वप्रकृति-विकृत हैं, और मन सहित ग्यारह इन्द्रियां

स्थूल पञ्चमहाभूत मिल कर सोलह तत्वों को केवल विकृति अथवा विकार कहते हैं। पुरुष न प्रकृति है न विकृति" (सां० का७ ३)। आगे इन्हीं पचीस तत्वों के और तीन भेद किये गये हैं—अव्यक्त व्यक्त और ज्ञ। इनमें से केवल एक मूल प्रकृति ही अव्यक्त है, प्रकृति से उत्पन्न हुए तेईस तत्व व्यक्त हैं, और पुरुष ज्ञ है। ये हुए सांख्यों के वर्गीकरण के भेद। पुराण, स्मृति, महाभारत आदि वैदिक मार्गीय ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं पचीस तत्वोंका उल्लेख पाया जाता है (मैत्र्यु ६। १०. मनु० १४। १५ देखो) परन्तु उपनिषदों में वर्णन किया गया है, कि वे सब तत्व पर ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं और वहीं इनका विवेचन या वर्गीकरण भी नहीं किया गया है।

उनमें इनका वर्गीकरण किया हुआ देख पड़ता है परन्तु वह उपर्युक्ति सांख्यों के वर्गीकरण से भिन्न है। कुल तत्व पच्चीस हैं। इनमें से सोलह तत्व तो सांख्य मत के अनुसार ही विकार अर्थात् दूसरे तत्वों से उत्पन्न हुए हैं। इस कारण उन्हें प्रकृति में अथवा मूल भूत पदार्थों के वर्ग में सम्मिलित नहीं कर सकते। अब ये नौ तत्व शेष रहे—१ पुरुष, २ प्रकृति, ३–९ महत् अहंकार और पांच तन्मात्राएं। इनमें से पुरुष और प्रकृति को छोड़ शेष सात तत्वों को सांख्यां ने प्रकृति-विकृति कहा है। परन्तु वेदान्त

शास्त्र में प्रकृति को स्वतन्त्र न मान कर यह सिद्धान्त निश्चय किया है, कि पुरुष और प्रकृति दोनों एक ही परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से, सांख्यों के 'मूल प्रकृति' और 'प्रकृति–विकृति' भेदों के लिये, स्थान ही नहीं रह जाता। क्योंकि प्रकृति भी परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण मूल नहीं कही जा सकती किन्तु वह प्रकृति–विकृतिके ही वर्गमें शामिल होजाती है। अतएव सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते समय वेदान्ती कहा करते हैं, कि परमेश्वर से ही एक ओर जीव निर्माण हुआ और दूसरी ओर

(महदादि सात प्रकृति-विकृति सहित) अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की प्रकृति निर्मित हुई (मभा शां ३०६।२९ और ३१०।१० देखो) अर्थात् वेदान्तियों के मत से पच्चीस तत्वों में से सोलह तत्वों को छोड़ शेष नौ तत्वों के केवल दो ही वर्ग किये जाते हैं—एक 'जीव' और दूसरी -'अष्टधा प्रकृति' भगवद्गीता में वेदान्तियों का यही वर्गीकरण स्वीकृत किया है। परन्तु इसमें भी अन्त में थोड़ा सा फर्क हो गया है। सांख्य-वादी जिसे पुरुष कहते हैं उसे ही गीता में जीव कहा है, और यह बतलाया है कि वह (जीव) ईश्वर की 'पराप्रकृति' अर्थात् श्रेष्ठ स्वरूप है, और सांख्य-वादी जिसे मूल प्रकृति तहते हैं, उसे ही गीता में परमेश्वर का 'अपर' अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप कहा गया है (गी० ७। ४। ५)। इस प्रकार पहले दो बड़े २ वर्ग कर लेने पर उनमें से दूसरे वर्ग के अर्थात् कनिष्ठ स्वरूप के जब और भी भेद या प्रकार भी बतलाने पड़ते हैं, तब इस कनिष्ठ स्वरूप के अतिरिक्त उससे उपजे हुए शेष तत्वों को भी बतलाना आवश्यक होता है। क्यों कि यह कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् सांख्यों की मूल प्रकृति) स्वयं अपना ही एक प्रकार या भेद हो नही सकता। उदाहरणार्थ जब यह बतलाना पड़ता है कि बापके लड़के कितने हैं, तब उन लड़कोंमें ही बापक गणना नहीं की जा सकती, अतएव परमेश्वर के कनिष्ठ स्वरुप के अन्य भेदोंको बतलाते समय यह कहना पड़ता है कि वेदान्तियोंकी अष्टधा प्रकृति में से मूल प्रकृति को छोड़ शेष सात तत्व ही (अर्थात्—महान्) अहंकार और पांच तन्मात्राएं) उस मूल प्रकृति के भेद या प्रकार हैं। परन्तु ऐसा करने से कहना पड़ेगा कि परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप (अर्थात् मूल प्रकृति) सात प्रकार का है, और ऊपर कह आये हैं, कि वेदान्ती तो प्रकृति को अष्टधा अर्थात् आठ प्रकार की मानते हैं। अब इस स्थान पर यह विरोध देख पड़ता है कि जिस प्रकृति को वेदान्ती अष्टधा या आठ प्रकारकी कहें उसीको गीता

सप्तधा या सात प्रकारकी कहें। परन्तु गीता कारको अभीष्ट था कि उक्त विरोध दूर हो जावे और 'अष्टधा प्रकृति' का वर्णन बना रहे इसी लिए महान्, अहंकार और पंचतन्मात्राएं, इन सातों में ही आठवें मन तत्व को सम्मिलित करके गीता में वर्णन किया गया है, परमेश्वर का कनिष्ठ स्वरूप अर्थात् मूल प्रकृति अष्टधा है, (गी० ७।५)। इनमें से; केवल मन ही में दस इन्द्रियों का और पंचतन्मात्राओंमें पंच महाभूतोंका समावेश किया गया है। अब यह प्रतीत हो गया, कि गीता में किया गया वर्गीकरण सांख्यों और वेदान्तियों के वर्गीकरण से यद्यपि कुछ भिन्न है, तथापि इससे कुल तत्वों की संख्या में कुछ न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। सब जगह तत्व पच्चीस ही माने गये हैं। परन्तु वर्गीकरण की उक्त भिन्नताके कारण किसीके मनमें कुछ भ्रम न हो जायें इस लिये ये तीनों वर्गीकरण कोष्ठक के रूप में एकत्र करके आगे दिये गये हैं। गीताके तेरहवें अध्याय (१३।५) में वर्गीकरण के झगड़े में न पड़ कर, सांख्योंके पच्चीस तत्वोंका वर्णन ज्योंका त्यों पृथक् पृथक् किया गया है, और इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि चाहे वर्गीकरण में कुछ भिन्नता हो तथापि तत्वों की संख्या दोनों स्थानों पर बराबर ही है।

यहां तक इस बात का विवेचन हो चुका, कि पहले मूल साम्यावस्था में रहने वाली एक ही अवयव रहित जड़ प्रकृति में व्यक्तसृष्टि उत्पन्न करने की अस्वयं वेद्य 'बुद्धि' कैसे प्रगट हुई, फिर उसमें अहंकार से अवयव सहित विविधता कैसे उपजी, और इसके बाद 'गुणों से गुण' इस गुण परिणाम-वाद के अनुसार एक ओर सात्विक (अर्थात् सेन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत ग्यारह इंद्रियां, तथा दूसरी ओर तामज (अर्थात् निरिन्द्रिय) सृष्टि की मूलभूत पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएं कैसे निर्मित हुईं। अब

इसके बादकी सृष्टि (अर्थात् स्थूल पंच महाभूतों या उनसे उत्पन्न होने वाले अन्य जड़ पदार्थों)की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन किया जावेगा। सांख्य-शास्त्र में सिर्फ यही कहा है. कि सूक्ष्म तन्मात्राओंमें 'स्थूल पंचमहाभूत' अथवा 'विशेष' गुण परिणाम के कारण उत्पन्न हुये हैं। परन्तु वेदान्त शास्त्र के ग्रन्थों में इस विषय का अधिक विवेचन किया गया है इसलिये प्रसंगानुसार उसका भी संक्षिप्त वर्णन-इस सूचना के साथ कि यह वेदान्त शास्त्रका मत है, सांख्योंका नहीं कर देना आवश्यक जान पड़ता है. 'स्थूल, पृथ्वी,पानी, तेज. वायु, और आकाश. को पंचमहाभूत अथवा विशेष कहते हैं। इनका उत्पत्ति क्रम तैतिरीयोपनिषद् में इस प्रकार है :—

"आत्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। इ०" (तै० उ० २।१)

अर्थात् पहले परमात्मा से (जड़मूल प्रकृतिसे नहीं, जैसा कि सांख्य वादियोंका कथन है) आकाश से वायु, वायुसे अग्नि अग्निसे पानी और फिर पानीसे पृथ्वी उत्पन्न हुई है। तैतिरीयोपनिषद्में यह नहीं बतलाया गया कि इस क्रमका कारण क्या है परन्तु प्रतीत होता है. कि उत्तर-वेदान्त ग्रन्थोंमें पंच महाभूतों के उत्पत्ति क्रम के कारणों का विचार सांख्य शास्त्रोक्त गुण परिणाम के तत्व पर ही किया गया है। इन उत्तर वेदान्तियों का यह कथन है, कि गुणा गुणेषु वर्तन्ते इस न्याय से पहले एक ही गुण का पदार्थ उत्पन्न हुआ उससे दो गुणों के और फिर तीन गुणों के पदार्थ उत्पन्न हुए इसी प्रकार वृद्धि होती गई पंच महाभूतों में से आकाश का मुख्य एक गुण केवल शब्द ही है,

इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ। इसके बाद वायु की उत्पत्ति हुई क्योंकि उसमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। जब वायु जोर से चलती है, तब उसकी आवाज सुन पड़ती है, और हमारी स्पर्शेन्द्रिय को भी उसका ज्ञान होता है। वायुके बाद अग्नि की उत्पत्ति होती है, क्योंकि शब्द और स्पर्श के अतिरिक्त उसमें तीसरा गुण रूप भी है। इन तीनों गुणों के साथ ही साथ पानी में चौथा गुण, रुचि या रस होता है इसलिये उसका प्रादुर्भाव अग्नि के बाद ही होना चाहिये, और अन्त में इन चारों गुणों की अपेक्षा पृथ्वी में 'गंध' गुण विशेष होने से यह सिद्ध किया गया है कि पानी के बाद ही पृथ्वी उत्पन्न हुई। यास्काचार्यका यही सिद्धान्त है निरुक्त (४।४) तैतिरीयोपनिषद् में आगे चल कर वर्णन किया गया है कि उक्त क्रम से स्थूल पंच महाभूतों की उत्पत्ति हो चुकने पर—

"पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।"

पृथ्वीसे वनस्पति वनस्पतिसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ (तै० २।१)। यह सृष्टि पंच महाभूतोंके मिश्रणसे बनती है, इसलिए इस मिश्रण-क्रियाको वेदान्त-ग्रन्थोंमें 'पंचीकरण कहते हैं पंचीकरणका अर्थ 'पंचमहाभूतोंमें से प्रत्येकका न्युनाधिक भाग लेकर सबके मिश्रणसे किसी नये पदार्थका बनना है'। यह पंचीकरण स्वाभवतः अनेक प्रकारका होसकता है। श्री समर्थ रामदास स्वामीने अपने 'दासबोध' में जो वर्णन किया है वह भी इसी बात को सिद्ध करता है देखिये—"काला और सफेद मिलानेसे नीला बनता है काला और पीला मिलानेसे हरा बनता है (दा० ९।६ ४०)। पृथ्वीमें अनन्त कोटि बीजोंकी जातियां होती हैं, पृथ्वी और पानीका मेल होने पर उन बीजोंसे अंकुर निकलते हैं, अनेक प्रकार की बेलें होती हैं, पत्र पुष्प होते हैं। और अनेक प्रकारके स्वादिष्ट

फल होते हैं···अण्डज जरायुज स्वेदज, उद्भिज सबका बीज पृथ्वी और पानी है, यही सृष्टि रचनाका अद्भुत चमत्कार है। इस प्रकार चार खानी, चार वाणी, चौरासी लाख जीव योनि, तीन लोक, पिण्ड, ब्रह्माण्ड सब निर्मित होते हैं" (दा० १३ । ३ । १० । १५)। परन्तु पंचीकरणसे केवल जड़ पदार्थ अथवा जड़ शरीर ही उत्पन्न होते हैं। ध्यान रहे कि, जब इस जड़ देहका संयोग प्रथम सूक्ष्म इंद्रियोंसे और फिर आत्मासे अर्थात् पुरुषसे होता है, तभी इस जड़ देहसे सचेतन प्राणी हो सकता है।

यहां यह भी बतला देना चाहिये, कि उत्तर वेदान्त ग्रन्थोंमें वर्णित यह पंचीकरण प्राचीन उपनिषदोंमें नहीं है। छांदोग्योपनिषद्में पांच तन्मात्राएँ या पांच महाभूत नहीं माने गये हैं, किन्तु कहा है, कि 'तेज' अप (पानी) और अन्न (पृथ्वी) इन्हीं तीन सूक्ष्म मूल तत्वोंके मिश्रणसे अर्थात् "त्रिवृत्करण" से सब विविध सृष्टि बनी है। और श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है, कि "अजामेकां-लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः" (श्वेता०४, ५) अर्थात् लाल (तेजो रूप), सफेद (जल रूप) और काले (पृथ्वी-रूप) रंगोंकी (अर्थात् तीन तत्वोंकी एक अजा (बकरी) से नाम-रुपात्मक प्रजा (सृष्टि) उत्पन्न हुई। छांदोग्योपनिषद्के छठवे अध्यायमें श्वेतकेतु और उसके पिताका सम्वाद है। सम्वाद के आरम्भमें ही श्वेतकेतुके पिताने स्पष्ट कह दिया है, कि "अरे ? इस जगत्के आरम्भमें एकमेवा द्वितीयं सत्' के अतिरिक्त, अर्थात् जहां तहां सब एक ही नित्य परब्रह्मके अतिरिक्त, और कुछ भी नहीं था। जो असत् (अर्थात् नहीं है) उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ? अतएव आदिमें सर्वत्र सत् ही व्याप्त था। इसके वाद उसे अनेक अर्थात् विविध होनेकी इच्छा हुई और उससे क्रमशः सूक्ष्म तेज (अग्नि) आप (पानी) और अन्न (पृथ्वी)

की उत्पत्ति हुई। पश्चात् इन तीन तत्वोंमें ही जीव रूपसे परब्रह्मका प्रवेश होने पर उनके त्रिवृत्करणसे जगत्की अनेक नाम रूपात्मक वस्तुएँ निर्मित हुईं। स्थूल अग्नि, सूर्य, या विद्युल्लताकी ज्योतिमें जो लाल (लोहित) रंग है, वह सूक्ष्म तेजो रूपी मूल तत्वका परिणाम है, जो सफेद (शुक्ल) रंग है वह सूक्ष्म आप तत्वका परिणाम है, और जो कृष्ण (काला) रंग है वह सूक्ष्म पृथ्वी-तत्वका परिणाम है। इसी प्रकार, मनुष्य जिस अन्नका सेवन करता है उसमें भी सूक्ष्म तेज, सूक्ष्म आप और सूक्ष्म अन्न (पृथ्वी),—यही तीन तत्व होते हैं। जैसे दहीको मथनेसे मक्खन ऊपर आ जाता है, वैसे ही उक्त तीन सूक्ष्म तत्वोंसे बना हुआ अन्न जब पेटमें जाता है, तब उसमेंसे तेज-तत्वके कारण मनुष्यके शरीरमें स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म परिणाम जिन्हें क्रमशः अस्थि मज्जा और वाणी कहते हैं, उत्पन्न हुआ करते हैं। इसी प्रकार आप अर्थात् जल-तत्वसे मूत्र रक्त और प्राण, तथा अन्न अर्थात् पृथ्वी-तत्वसे पुरीष, मांस और मन ये तीन द्रव्य निर्मित होते हैं" (छां० ६।२।६)। छांदोग्योपनिषद्की यही पद्धति वेदान्त सूत्रों (२।४।२०)में कही गई है, कि मूल महाभूतोंकी संख्या पांच नहीं, केवल तीन ही है, और उनके त्रिवृत्करणसे सब दृश्य पदार्थों की उत्पत्ति भी मालूम की जा सकती है बादरायणाचार्य तो पंचीकरण का नाम तक नहीं लेते तथापि तैत्तिरीय (२।१)प्रश्न (४।८) बृहदारण्यक (४।४।५) आदि अन्य उपनिषदोंमें और विशेषतः श्वेताश्वतर (२।१२) वेदान्त-सूत्र(२।३।१ १४)तथा गीता (७।४,१३,५) में भी तीनके बदले पांच महाभूतोंका वर्णन है। गर्भोपनिषद्के आरम्भ ही में कहा है, कि मनुष्य-देह पंचात्मक है और महाभारत तथा पुराणोंमें तो पंचीकरणका स्पष्ट ही किया गया है (मभा० शां० १८४ १८६ इससे यही सिद्ध होता है कि यद्यपि त्रिवृत्करण प्राचीन है तथापि जब महाभूतोंकी संख्या तीनके बदले पांच मानी जाने लगी तब त्रिवृत्करणके उदाहरण ही

से पंचीकरणकी कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ और त्रिवृत्करण पीछे रह गया एवं अन्त में पंचीकरणकी कल्पना सब वेदान्तियोंको ग्राह्य हो गई आगे चलकर इसी पञ्चीकरण शब्दके अर्थमें यह बात भी शामिल होगई। कि मनुष्यका शरीर केवल पंच महाभूतों से ही बना नहीं है किन्तु इन पंचभूतों मेंसे हरएक पांच प्रकार से शरीरमें विभाजित भी हो गया है, उदाहरणार्थ, त्वक्, मांस, अस्थि मज्जा, और स्नायु ये पांच विभाग अन्नमय पृथ्वी तत्वके हैं इत्यादि (मभा०शां० १८४। २०। २५) और (दास बोध १७। ८ देखो)। प्रतीत होता है, कि यह कल्पना भी उपर्युक्त छांदोग्योपनिषद्के त्रिवृत्करणके वर्णनसे सूझ पड़ी है। क्योंकि, वहां भी अन्तिम वर्णन यही है, कि 'तेज' आप और पृथ्वी, इन तीनोंमें से प्रत्येक, तीन तीन प्रकारसे मनुष्यके देहमें पाया जाता है।" उपरोक्त सृष्टि रचनाका क्रम वैदिक नहीं है, अपितु दार्शनिक है। वह भी परिवर्तित और परिवर्द्धित। वैदिक ऋषियोंने तो सृष्टिको अनादि अनन्त माना है जैसा कि हम प्रमाण सहित लिखचुके हैं।

यदि इसको एक देशीय प्रलय व सृष्टि रचना माना जाये तो सबका समन्वय हो सकता है।

श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त हिन्दू धर्ममें कुमारिल और शंकर का स्थान

श्रुति स्मृति-पुराणोक्त हिन्दू धर्म की स्थापना का प्रारम्भ होने पर हिन्दू-समाज में क्रान्ति कारक विचार-सरणि और नवजीवन निर्माण करनेवाली हल चल उत्पन्न ही नहीं हुई। उसके बाद भारतीय समाजमें विशेष उथल पुथल हुई ही नहीं। अपितु, अनेक राज्य उत्पन्न हो कर विलीन हो गये परन्तु समाज में संस्था का सामान्य

सरूप कायम ही रहा। ।यह स्थिति मौर्य-साम्राज्य के पतन के अनन्तर की है। भारतीत समाज संस्था एक दीर्घकालीन स्थैर्य युग में प्रविष्ट हुई। इस युगमें काव्य, नाटक, टीका, भाष्य, अलंकार और तर्क शास्त्र बढ़ रहे थे।

आचार्य शङ्कराचार्य ने देखा कि हमारी धर्म-संस्था ब्रह्मवाद, मायावाद, मानव बुद्धिकी समीक्षक प्रमाण-पद्धितिसे सिद्ध नहीं हो सकती, तब उन्होंने श्रुति प्रामण्य का आश्रय लिया। इसका अर्थ यह हुआ कि उपनिषत्काल से लेकर विकिसित होने वाले भारतीय बुद्धिवाद और तत्ववाद ज्ञान को शब्द प्रमाण की शिला के नीचे पूरी तरह से जीते जी समाधि दे दी। और उसका अन्त कर दिया दर्शन अथवा तत्वज्ञान वस्तु की अथवा विश्व की मानव बुद्धि से की हुई छान बीन है। मनुष्य के प्रयत्न से नित्य विकिसित होने वाली वस्तु समीक्षा को हजारों वर्ष पहिले के वैदिक मानवों की बुद्धि से निर्वाण हुई चार पुस्तकोंके (वेदोंके) प्रामाण्यसे जकड़ डालनेका प्रयत्न शङ्कराचार्य ने किया और पुराने वैदिक लोगोंकी मर्यादित अपूर्ण बुद्धि को पूर्णत्व अर्पण करके वैदिक विकास की जड़ें ही उखाड़ डाली। भारतीय समाज संस्था का जिस समय विकास ही रुक गया और जीर्णता शिथिलता और दुरवस्थाके कारण समाज में कोई भी आशा न रह गई, उस स्थिति में शङ्कराचार्य जैसे अलौकिक बुद्धि और विशाल प्रतिभा वाले पुरुषके तत्वज्ञान का उस स्थिति के अनुरूप यदि इस प्रकार का पर्यावसान हुआ तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उस समय यदि विज्ञान युग का प्रारम्भ होने योग्य अनुकूल समान दशा होती, तो शंकराचार्य के प्रखर तर्कशास्त्र से विदीर्ण हुए तत्त्वज्ञान के विनाश से नवीन तर्कशास्त्र और नवीन भौतिकवाद उत्पन्न हुआ होता। सारे आध्यात्मवादी तत्त्वज्ञानोंकी सर्वांगी जांच करने पर इसके सिवाय और

कुछ भी निष्पन्न नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें या तो शून्यवाद, संशयवाद और मायावाद उत्पन्न होता है। अन्यथा ऊंचे दर्जे का तर्कवाद और भौतिकवाद अवतरित होता है। उस समय की सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के अनुकूल नहीं थी इसलिये उल्टा मायावाद उत्पन्न हुआ और सारा बौद्धिक पराक्रम व्यर्थ गया। समाज को दुर्गति के दीर्घ घने अंधकार से ग्रस्त करने के बाद निंद्रा और दुःस्वप्न ही तो तत्त्वज्ञान के परिणाम निकल सकते हैं और दूसरा निकल ही क्या सकता है।

अन्त में संसार के विरक्त ईश्वर शरणता और अनन्य भक्ति यही धर्म-रहस्य बाकी रह गये। बारहवी शताब्दि से लेकर हिन्दू साम्राज्योंके अन्त होने तक मायावाद भक्तिवाद और जातिभेदात्मक आचरण. यही सच्चा हिन्दू धर्म बन गया, मुसलमानों, मराटों और अंग्रेजों के राज्य में भी यही अव्याहत रूप से चलता रहा।

तर्क रत्न पं० लक्ष्मण शास्त्रीजी लिखित हिन्दू धर्म समीक्षा से, उद्धृत पृष्ठ १४४–१४५।

शैव, वैष्णव, बौद्ध और जैन आदि विश्व-धर्म

इन धर्मोंका पुरस्कार वैदिकेतर वरिष्ठ वर्गों ने किया पुरोहिताई से जिनका सम्बन्ध नहीं था ऐसे राजन्य उनकी प्रस्थापनामें अगुआ बने वैदिकोंकी ब्राह्मण प्रधान यज्ञ धर्म संस्था भीतरी और बाहिरी कारणों से जिस समय क्षीण होरही थी लगभग उसी समय पच्चीस सौ वर्ष पहिले इस नई धर्म संस्थामें जोर आने लगा। वैदिक धर्म की अपेक्षा इसका निराला बड़प्पन यह था कि इसमें सब मानवों के लिए श्रेयका मार्ग खोल देने वाली व्यापक

उदार भावना थी। किसीभी परिस्थितका जातिका और समाज का उच्च नीच पतित और उन्नति मानव शुद्धि होकर धार्मिक परम पदवीको प्राप्त करसकता है। हिन्दोस्थान में ऐसी घोषणा करने वाले विश्व धर्म दूसरे समाज-संस्थाके राष्ट्रोंकी अपेक्षामें पहिले उदयमें आये। वैदिक आर्यों द्वारा निर्मित-समाज संस्थाके विरुद्ध इन विश्व धर्मों ने सिर उठाया। वैदिक आर्य-धर्मके अनुसार त्रैवर्णिक आर्य ही धर्मतः पवित्र माने गये थे वेअपनी परम्परागत पवित्रताके जोरपर अवैदिकों और शूद्रोंको हीन सामाजिक स्थित में पड़े रहनेके लिए लाचार करते थे, और स्वयं आधिभौतिक सुखोंके हकदार और धार्मिक पवित्रताकी स्वतंत्र योजनाको और अवैदिकतर सामान्य जतनाका जन्म सिद्ध अपवित्रताको नष्ट करनेका प्रारम्भ इन विश्व धर्मों ने किया।

शैव और वैष्णव धर्मोंकी परम्परा वेद-पूर्वक से चालू थी वैदिकेतर अनेक सुसंस्कृत संघोंमें ये धर्म चालू थे। उत्तर भारतके पश्चिम और वायव्य-विभागमें शैव और वैष्णव धर्मके नेताओं ने एकेश्वर-भक्ति का जोरों से प्रचार करना शुरू किया। वेद कालीन वृष्णिअंधक कुलमें वासुदेवकी भक्तिका पंथ प्रचलित था इसीको महाभारत में नारायणीयधर्म अथवा वार्ष्णेय अध्यात्म कहा है सामान्य लोगोंमें काश्मीरसे बंगालतक और हिमालयसे रामेश्वर पर्यन्त शिव भक्ति चालू थी। उनमें भी बड़े २ तत्व वेत्ता उत्पन्न हुए इन धर्मोंने वैदिकयज्ञ संस्था, पशु याग और ब्राह्मण महात्म्यका निषेध किया ईश्वर एकही है और उसकी भक्तिसे सारे मनुष्य पवित्र होकर परमेश्वर पदको प्राप्त होते हैं परमेश्वर भक्तिके आगे बाकीकी धार्मिक विधियाँ व्यर्थ हैं, नीतिके आचरण और भक्ति से ही मनुष्यका उद्धार होता है ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य शूद्र ये सभी भगवद्भक्तिसे शुद्ध होकर मुक्त होते हैं।

इस विचार सरणि को एकेश्वर भक्ति के शैव और वैष्णव सम्प्रदाओंने महत्त्व दिया।

ये सम्प्रदाय पहिले वैदिक मार्गोंके विरोधी थे, परन्तु जब इन्हें वैदिक मार्गीय ब्राह्मणादिकोंने स्वीकार कर लिया तब इनका विरोध शान्त हो गया. बुद्धोत्तर कालीन हिन्दू समाजमें इन्हीं धर्मों का महत्व है। वैष्णव धर्मके वैदिक धर्ममें मिल जाने पर ही भगवद्गीता तैयार हुई है। इस एकेश्वर भक्ति सम्प्रदायका आश्रय लेने वाले लोगोंने ही पौराणिक धर्मका प्रचार किया। वैदिकेतर हीन धर्म–कल्पनाओंको तो पुराणोंने बहुत महत्व दिया है। मुहूर्त, ज्योतिष फल ज्योतिष, ग्रह-नक्षत्र-पूजा वृत, तीर्थ, उद्यापन आदि को आगे इन्हीं सम्प्रदायोंको स्वीकार करने वाले ब्राह्मणोंने महत्व देकर अपनी उपजीविकाके लिये सामान्य समाज के अज्ञान और दैव-वादका पोषण किया।

उत्तर–भारतके पूर्व-भागमें काशी-और बिहार प्रांतमें वैदिकेतर सुसंस्कृत मानव संघोंमें से जैन और बौद्ध ये दो नये महान धर्म प्रकट हुए। ये भी विश्व-धर्म ही थे। कारण इनमें भी यह विचार मुख्य था कि सारे श्रेष्ठ-कनिष्ठ दर्जेके मानव संयमसे और नीतिसे शुद्ध होकर निःश्रेयसके अधिकारी होते हैं। ये धर्म अधिक पाखंडी या वेद-बाह्य नास्तिक थे। इन्होने वेद देव और यज्ञ तीनों पर आक्रमण किया। ये धर्म श्रमणोंने निर्माण किये और श्रमण सत्ता धारी क्षत्रियादि वर्गके थे। ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता और उनकी रची हुई सामाजिक पद्धति बदलनेके लिए उन्हों ने वेद, देव और यज्ञ इस मूल आधार पर ही कुठाराघात किया।

जैन बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थोंसे जान पड़ता हैकि श्रमणों और मुनिओंने मुख्य मुख्य पाखंड (धर्म) फैलाए। चार्वाक अत्यन्त मूल गामी परीक्षक पंडित था। परन्तु महाभारतमें कहा है कि वह भी

भिक्षु मुनि था। परिव्राजिकों और श्रमणोंकी संस्कृति पहिले वैदिकेतरोंमें उत्पन्न हुई थी। कारण उनका समाज यहां वैदिकोंकी अपेक्षा पुराना था। सत्ताधारी वैदिकोंकी सामाजिक पद्धतिके दुष्परिणाम पहिले उन्हें अधिक महसूस हुए। उन्हें संसारकी नितान्त दुःखमयता पहिले प्रतीत हुई। महाभारतके* एक उल्लेखसे मालूम होता है कि तक्षक (नाग कुलीन राजा) नग्न श्रमण हो गया था। आदि पर्वकी सर्प-सूत्रकी कथासे सूचित होता है कि वैदिक आर्य नागोंके वैरी थे। नागोंने जैन तीर्थंकरकी संकटसे रक्षाकी। और नाग तीर्थंकरके मित्र थे, ऐसा जैन कथाओंसे मालूम होता है बुद्ध देव गण सत्ताकी पद्धतिमें रहने वाले समाजमें उत्पन्न हुए थे। कृष्णा वासुदेव भी गण तन्त्र-समाज-पद्धति वाले वृष्णागंधाकुलमें उत्पन्न हुये थे। पहल पहल वैदिकेतर समाजमें भी जटिल (जटाधारी), मुंडा (मुंडे सिर), तापस, परिव्राजक, आजीवक, निर्ग्रन्थ, नग्न और गौटकोंके पन्थ निर्माण हुए और फिर वैदिक लोगोंमें भी इन पंथोंका जन्म हुआ।

हिन्दू धर्म समीक्षासे प्रष्ट १३३–१३५।

"वैदिक आर्यों का श्रौत-स्मार्त धर्म"

वैदिकेतर लोगों को सामाजिक दासता में रखने के काम में श्रौतस्मार्त धर्म के अनुयायियों ने वैदिक धर्म की पवित्रिता का उपयोग किया। उन्होंने दूसरोंको वैदिकधर्माचरणका या उसके स्वीकार करनेका अधिकार ही नहीं दिया। उन्होंने दूसरोंको व्रात्यस्तोम नामक विधि सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण में और कात्यायन श्रौतसूत्रमें कही गई है। अनुमान होता है कि उसका उद्देश्य अवैदिकोंको वैदिक बना लेना है। परन्तु वह अमल में बहुत कम ही लाई गई।

* सोऽपश्यत् नग्नं श्रमणं अगाच्छंतम्।–महाभारत आदि पर्व।

पुराने धर्मसूत्रों और स्मृतियोंमें वेदाध्यन करनेपर शूद्रादिको प्राण दण्ड की आज्ञा है। वैदिक यज्ञ और स्मार्त धर्म से पवित्र हुआ आर्य ही समाज का सच्चा स्वामी था। उसे यह स्वामित्व, और श्रेष्ठत्व वैदिकधर्मके जन्म सिद्धि अधिकारके कारण मिलीहुई पवित्रतासे ही प्राप्त होता था । यह पवित्रता ब्राह्मणोंकी पुरोहिताईसे प्राप्त होती है। इसलिये ब्राह्मणोंको समाजमें श्रेष्ठ स्थान दिया गया कुछ लोग कल्पना करते हैं कि ब्राह्मण का अर्थ है त्यागी, ज्ञानी, संयमी तपस्वी। परन्तु श्रौत स्मार्त कायदे के अनुसार ब्राह्मण शब्द का यह वाच्यार्थ नहीं। ब्राह्मण यदि दूसरे वर्ण की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करें तो उसके लिये स्मृतियों में बहुत हल्के दंड का विधान है और और उसके साथ उसे विवाह करने की भी आज्ञा दी गई हैं। शूद्र स्त्रियों को रखैल के तौर पर रखने की तो बड़े बड़े धर्म स्मृतिकारों ने आज्ञा दी है। जिन्होंने नहीं दी है, वे बाकायदा कोई विशेष दंड भी नहीं बतलाते। इसके विपरीत यदि दूसरे वर्णका या शूद्र वर्णका पुरुष ब्राह्मण या आर्य स्त्रीसे विवाह करता है अथवा व्यभिचार करता है, तो उसे अत्यन्त तीव्र यातनामय प्राण-दंड का विधान है। ब्राह्मणों को किसी भी अपराधमें प्राण दंड नहीं मिल सकता। त्याग, संयम और तप से विचिलित हुए ब्राह्मण को तो दूसरे वर्णके समान ही दण्ड मिलना चाहिए परन्तु वेद और स्मृतियोंमें इससे उल्टा ही है ब्राह्मण और वैदिक आर्योंको अवैदिकों की अपेक्षा जन्मसिद्धि सुभीते और अधिकार बहुत ज्यादा दिये हैं। श्रौत-स्मार्त कायदे में सम्पत्ति, सत्ता भोग और सम्मानके विषय में ब्राह्मणोंको जितने सुभीते हैं उतने किसी को भी नहीं हैं। उन कायदों के दृष्टि से त्याग, संयम, ज्ञान और तप को कोई अधिक महत्व नहीं दिया गया है।

जिस ज्ञान को महत्व दिया है वह वेद-विद्या या पुरोहिताई का ज्ञान है। न्याय-दान का काम कानून के पंडित ब्राह्मणों को पहिले

मिलता था। क्षत्रियों और वैश्यों को ब्राह्मण न मिलने पर मिलता था। शूद्र चाहे कितना भी कानून का पंडित क्यों न हो, मूर्ख ब्राह्मण उससे अच्छा है, यह सारी स्मृतियोंमें जोर देकर कहा गया है। स्मृतियों का कायदा है कि व्याज की और लगान की दर ब्राह्मण के लिए सब से कम होनी चाहिये। पुरोहिती विद्या वाले ब्राह्मणको सारे कर माफ थे। स्मृति कहती है कि न्याय दान करने के समय ब्राह्मण का मुकद्दमा सब से पहिले चलाया जावे। ब्राह्मणों का अपने से नीचे के वर्णों के व्यवसाय करने की आज्ञा थी परन्तु नीचे के वर्णों को, विशेष कर शूद्रों को उच्च वर्ण के किसी भी धन्धेको करने की मनाही थी। प्राणान्तिक आपत्ति के समय भी नीचे के वर्ण वाले के लिए उच्च वर्णके उद्योग या व्यवसाय करना स्मृतियोंके अनुसार बड़ा भारी अपराध था।

हिन्दू धर्म समीक्षा से पृष्ठ १२६--१३०

"आर्य समाज और वेद धर्मका पुनरुज्जीवन"

आर्य समाज वेदों की प्रमाणता स्वीकार करने और स्मृतिः पुराणोक्त धर्म का त्याग करके निर्माण हुआ पंथ है। यह वेदों के ब्राह्मण भाग को वेद नहीं मानता। इस पंथ वालों ने समझ रक्खा है कि केवल मन्त्र भाग ही सच्चा वेद है चूंकि ब्राह्मण भाग का विस्तृत कर्म-कण्ड इस युग में बिल्कुल मूर्खता पूर्ण है। इस लिये उन्होंने उसका वेदत्व ही निकाल फैंका। इस पंथ के मुख्य आचार्य स्वामी दयानन्दने वेदों का नया अर्थ लगाया है। उन्होंने वेदों को एकेश्वरवाद की पोशाक दी है। मन्त्र भाग में जहां पशु यज्ञ का प्रकरण आता है। वहां उनका रूपात्मक अर्थ बिठाया है। स्वामी दयानन्द की दृष्टि से वेद पूर्ण प्रमाण हैं।

स्वामी दयानन्दने अत्यंतप्राचीन वेद मंत्रोंका बड़ी खींच तान

के साथ अर्थ करके वेदों को नये युग के अनुरूप बनाने का व्यर्थ घटाटोप किया है वेदोंकी गई बीती कल्पनाओंका पुनरुज्जीवन करके नये सामाजिक जीवनके लिये उपयोगी नवीन अर्थ निर्माण करनेके प्रयत्न में बौद्धिक दृष्टि से स्वामी जी को जरा भी यश नहीं मिला आर्य समाज एक तरह से इस्लाम की प्रतिक्रिया है। एकदेव. और १ वेद और एक धम का संदेश नवीन युग के अनुरूप नहीं हो सकता। बारह सौ वर्ष पहिले मुहम्मद साहब ने जो संदेश अरबों को दिया वैसा ही संदेश अन्धानुकरण से इस विज्ञान प्रधान युग में देना अत्यन्त अप्रासंगिक है—

कुछ लोग कहते हैं कि मूल वैदिकधर्मका पुनरुज्जीवन करनेसे हिन्दुओंका सच्चा उत्कर्ष होगा। बुद्ध-पूर्व-धर्मका संदेश देनेसे हिन्दू पहिले जैसे पराक्रमी बनेंगे। परन्तु यह एक ऐतिहासिक असत्य है कि बुद्धोत्तर कालमें हिन्दू दुर्बल और हीन बन गये थे। वास्तवमें बुद्धोत्तर कालमें हिन्दू दुर्बल और हीन बन गये वास्तवमें बुद्धोतर काल में ही हिन्दुओंके तीन चार बड़े बड़े साम्राज्य हुए हैं। उतने बड़े साम्राज्य बुद्ध पूर्व कालमें कभी थे, इसका इतिहासमें कोई प्रमाण नहीं मिलता है। (दूसरी बात यह हैकि वेदोंकी कल्पनाओंसे तो हिन्दू आगे और भी अधिक निकृष्ट बनेंगे। कारण वेदोंके सृष्टि-विषयक और समाज-जीवन-विषयक विचार अत्यन्त ओछे और भ्रामक हैं सृष्टि और समाज सम्बन्धी भ्रामक विचारों को माननेसे मनुष्य दुर्बल ही अधिक बनेंगे। कारण वेदोंके सृष्टि विषयक और समाजके) कार्य-कारण भावका यथार्थ ज्ञानही मनुष्य को अधिक पराक्रमी और समर्थ बनाता है। यह सच है कि वेदोंमें ऐहिक जीवनको न प्रवृत्तिवादको और भौतिक साधनोंको बहुत महत्व दिया है, परन्तु साथ ही निसर्ग शक्तियोंमें अनेक देवता रहते हैं और उनकी लीला लहरसे सृष्टिमें गहन और विघटन होता है, यह महान अज्ञान भी उनमें भरा हुआ है। इसी तरह उनमें देव-

ताओंकी आराधनाका शुरू और व्यर्थ कर्म-काण्ड अथवा यज्ञ है। उस संख्यायसंख्यका और आडम्बरका इस समय अपनी संस्कृत के साथ जरा भी मेल नहीं बैठ सकता। उनमेंसे देव रूप और देव चरित्र आज कल के ज्ञान और नैतिक कल्पनाओंसे बिल्कुल बे मेल हैं। वर्तमान विज्ञान और समाजशास्त्रके साथ तुलना करने पर मालूम होता है कि वैदिक धर्म अनाड़ी समाजका था। वेदोंकी श्रेष्ठता उस काल हीमें शोभा देने वाली और उस परिस्थित के अनुरूप थी। उन वेदोंकी इस समयकी सुधारणा, और संस्कृतिके साथ तुलना न करना ही अच्छा है। भास्कराचार्यका गणित वर्तमान गणितके सामने बिल्कुल अपूर्ण और क्षुद्र दिखता है, फिर भी उसकी ऐतिहासिक योग्यता और महत्ता कम नहीं है यही दशा वेदोंकी है। वेद उपनिषद्. गीता और दर्शनोंका ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है परन्तु वर्तमान जीवनमें उन्हें मार्ग-दर्शक बनाना आत्मघाती ही ठहरेगा।

तर्करत्न पं० लक्ष्मण शास्त्री द्वारा लिखित हिन्दू धर्मकी समीक्षासे; पृष्ठ १५०। १५१।

—✻—

✻ १ ब्रह्मयज्ञ, पितृ तर्पण, श्राद्ध आदि धार्मिक विधियोंमें जनेऊ कभी दाहिने कंधेसे (अपसव्य) और कभी बाये कंधेसे (सव्य) लटकता रखना पड़ता है इस कर्मको सव्यायसव्य कहते हैं। इससे इस शब्दका अर्थ होता है व्यर्थका त्रास या जान बूझ कर अपने सिर लिया हुआ उपद्रव।

मीमांसा दर्शन

वैदिक दर्शनों में दो ही दर्शन वैदिक हैं। एक मीमांसा, और दूसरा वेदान्त।

इनको पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसाके नाम से कहा जाता है शेष चार दर्शनवेदोंका नाम मात्र लेते हैं परन्तु उनके सिद्धान्तों की न तो पुष्टि करते हैं और न विशेष उल्लेख ही। इन दो वैदिक दर्शनोंमें भी वेदान्तदर्शनका सम्बन्ध विशेषतया उपनिषदोंसे है संहिताओं से नहीं है। परन्तु मीमांसाका सम्बन्ध एक मात्र वैदिक संहिताओं से है। तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी मीमांसा दर्शन सबसे प्राचीन है अतः हम सबसे प्रथम मीमांसादर्शन कार ईश्वर विषयमें क्या लिखते हैं इसीपर प्रकाश डालते हैं।

वेदान्तदर्शनके अ० ३।२।४० व्यासजी लिखते हैं कि—

धर्म्मं जैमिनिरत एव।

अर्थात् जैमिनि आचार्य का कथन है कि धर्म अपना फल स्वयं देता है अतः कर्मके लिये अन्य देवता या ईश्वर आदि की कल्पना व्यर्थ है अतः यह स्पष्ट है कि मीमांसादर्शनकार कर्मफल के लिये ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं समझता है। जैसा कि लिखा है।

यागादेव फलं तद्धि शक्ति द्वारेण सिध्यति।
सूक्ष्म शक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोप जायते॥

(तन्त्र वार्तिक)

अर्थात् कर्ममें एक प्रकारकी सूक्ष्म शक्ति होती है वही शक्ति कर्म फल प्रदानमें समर्थ है, अतः कर्मका फल कर्म द्वारा ही प्राप्त

होजाता है उसके लिए अन्य फल प्रदाताकी आवश्यकता नहीं है ❀

तथा च मीमांसादर्शनके महानाचार्य श्रीकुमारिल भट्टने श्लोक वार्तिकमें सृष्टिकर्त्ता व कर्म फलदाताका अनेक प्रबल युक्तियों द्वारा खंडन किया है। जिनको हम पृ० ३६६ पर उद्धृत कर चुके हैं पाठक वहीं देखनेका कष्ट करें।

मीमांसा पर विद्वानों की सम्मतियां

भारतीय दर्शन शास्त्रका इतिहासमें पं०देवराजजी लिखतेहैंकि "वेदों में जहां ईश्वर की स्तुति है वह वास्तव में यज्ञों के अनुष्ठाता की प्रशंसा है। यज्ञ कर्त्ताओं को तरह तरह के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। मीमांसक सृष्टि और प्रलय नहीं मानते। काल की किसी विशेष लम्बाई बीत जाने पर प्रलय और सृष्टि होती है इस सिद्धान्त को मीमांसकों ने साहस पूर्वक ठुकरा दिया। जब सृष्टि का आदि ही नहीं है तो सृष्टि कर्ताकी कल्पना भी अनावश्यक है। कुमारिल का निश्चित मत है कि बिना उद्देश्य के प्रवृति नहीं हो सकती, जगत के बनाने में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है। उद्देश्य और प्रयोजन अपूर्णता के चिन्ह हैं, उद्देश्य वाला ईश्वर अपूर्ण हो जायेगा। धर्म अधर्म के नियमन के लिये भी ईश्वर आवश्यक्ता नहीं है। यज्ञकर्त्ता को फल प्राप्ति अपूर्व कराता है।

❀ आर्य समाजके प्रसिद्ध विद्वान, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थके आचार्य० प्रो० गोपाल जी ने सर्व दर्शनमीमांसामें लिखा है कि—

"काण्ट और मीमांसामें भेद यह है कि मीमांसा समझता है कि जो फल मिलना है वह एक नैतिक कर्मनियमके अनुसार है परन्तु काण्ट समझता है कि फल ईश्वर द्वारा मिलता है।" पृ० ११२

यहां आर्य समाजने भी यह स्वीकार कर लिया है कि—

मीमांसादर्शनके मतमें कर्मफलके लिए ईश्वरकी आवश्यक्ता नहीं है।

शरीर न होना भी ईश्वर के कर्तव्य में बाधक है। संसार की दुःख-मयता भी ईश्वर के विरुद्ध साक्षी देती है।"

श्री बल्देव उपाध्याय, एम, ए, साहित्याचार्य।

भारतीय दर्शन, (जिस पर कि मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला है) में लिखते हैं कि,—"तत्व-ज्ञानकी दृष्टिसे मीमांसा प्रपंच की नित्यता स्वीकार करती है। मीमांसा जगतकी मूल सृष्टि तथा आत्यन्तिक प्रलय नहीं मानती। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा नाशको प्राप्त करते रहते हैं, जगतकी सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता ब्रह्म सूत्र तथा प्राचीन मीमांसा ग्रन्थोंके आधार पर ईश्वरकी सत्ता सिद्ध नहीं की जाती।" मीमांसा दर्शन प्रकरण।

श्री राहुल सांकृत्यायनजी, 'दर्शन दिग्दर्शन में लिखते हैं कि—

"ईश्वरके लिये मीमांसामें गुंजायश नहीं। जैमिनिको वेदोंकी स्वतः प्रमाणता सिद्ध कर यज्ञ कर्मकांड का रास्ता साफ करना था। उसने ईश्वर सिद्धिके बखेड़ेमें पड़नेसे वेदको नित्य अनादि सिद्ध करना आसान समझा।

आपने इस विषयमें पद्मपुराणका एक प्रमाण भी दिया है। यथा—

द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमथार्थतः।
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्॥ उत्तरखंड २६३

अर्थात्—जैमिनिने वेदके यथार्थ अर्थके अनुसार यह मीमांसा दर्शन निरीश्वरवादात्मक रचा।

प्रसिद्ध दार्शनिक बा० 'सम्पूर्णानन्दजी' ने 'चिदविलास' में लिखा है कि:—

'जो लोग ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं।' पृ०१०३

सारांश यह है कि नवीन व प्राचीन सभी स्वतन्त्र विचारकों ने सांख्य और मीमांसादर्शन को अनीश्वरवादी माना है यहां पद्मपुराणका श्लोक बड़े महत्वका है उससे यह स्पष्ट होगया है कि जैमिनि ने वेदोंके अर्थोंको लेकर यह शास्त्र अनीश्वर वादात्मक रचा है इस श्लोकने वेदोंमें भी ईश्वरवाद का खंडनकर दिया है। यहतो हुई मीमांसा की वहिरंग परीक्षा तथा इसकी अन्तरंग परीक्षाके प्रमाण हम प्रारंभमें ही दे चुके हैं अतः यह सिद्ध है कि मीमांसा और वेद दोनोंमें वर्तमान ईश्वरके लिये कोई स्थान नहींहै।

श्री० पाण्डेय रामावतार शर्मा एम०ए०,ओ.एलने अपनी पुस्तक 'भारतीय ईश्वरवाद' में लिखा है कि—

"पृथ्वी,स्वर्ग और नरकके उपर्युक्त विचारोंके रहते भी संहिता में सृष्टि परक स्पष्ट विवरण नहीं मिलते।

इस सम्बन्धके जो कुछ वर्णन रूपकोंमें कथित है उनके शाब्दिकअर्थों से निश्चित् अभिप्राय निकालना आज कठिन है मन्त्रोंमें पिता-माता द्वारा सृजनके सदृश्य उल्लेख है और जिन देवताओं से विश्व का धारण किया जाना वर्णित है उनकी भी उत्पत्तिके संकेत दिये गये हैं।......

पुरुष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, उत्तानपाद आदि सूक्तोंमें जो लिखे गये हैं, उनमें सृष्टि विषयक अस्फुट बातें हैं। जिनको आधार बनाकर ब्राह्मणकालमें पृथिवीके बननेके सम्बन्धमें वराह कच्छप आदिके आख्यान उपन्यस्त किये गये।"

इस प्रकार सभी स्वतन्त्र विचारक विद्वान् इसी परिणाम पर पहुंचे हैं। अतः स्पष्ट है कि संहिताओंमें न तो वर्तमान ईश्वरका वर्णन है और न सृष्टि उत्पत्ति आदिका।

प्रलय

सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् वेदतीर्थ श्री पं० नरदेवजीने अपनी पुस्तक, ऋग्वेदालोचन, में लिखा है कि—

"वेदान्त सूत्रकार बादरायण व्यास और उनके भाष्यकार शंकराचार्य शब्दोंका नित्यत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु एक बात विचित्र कहते हैं कि स्वयं शब्द नित्य नहीं हैं वे जिस वस्तु, जाति के वाचक हैं वह जाति नित्य है, इसलिये इन्द्र आदि देवताओंके नाम अनित्य हैं तो भी वेदोंके नित्यत्वमें बाधा नहीं पड़ती क्यों कि—इन्द्र आदि देवताओंकी जाति नित्य है।" पृ० ६३, ६४

आगे आप लिखते हैं कि— "मीमांसाकार का मत है कि प्रलयकालमें वेदोंके नष्ट होजानेके पश्चात् बचे हुए ऋषि लोग अपनी स्मृति के बल पर पुनः वेदोंका उद्धार करते हैं पृ०६५

उपरोक्त लेखसे यह स्पष्ट है कि, वेदान्तदर्शनकार व्यास तथा जैमिनि और उनके भाष्यकार श्री शंकराचार्य आदि सभी विद्वानों ने इस जगत्की एक देशीय प्रलयको स्वीकार किया है क्योंकि उन के मतमें वेदोंमें कथित सभी पदार्थ जातिरूपसे नित्यहैं तथा व्यक्ति रूपमें नाशवान हैं अतः पृथ्वी,चन्द्र,सूर्य, मनुष्य,पशु आदि सभी जातिरूप से नित्य सिद्ध होगये। अतः इनसबका एकदम नाश होनेका तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यही वैदिक मान्यता है।

इसीको आचार्य जैमिनि ने स्पष्ट करदिया, उन्होंने प्रलयका अर्थ इस पृथ्वीके एक खंड (प्रान्त का प्रलय होना माना है तभी तो वेदोद्धारक ऋषि बचे रह गये थे। जिन्होंने अपने स्मृति बल से वेदों का पुन रुद्धार किया जैनशास्त्र भी ऐसी प्रलयको स्वीकार करते हैं।

सारांश

सारांश यह है कि मीमांसकों की निम्न लिखित मान्यतायें सिद्ध हैं।

(१) इस संसारकी वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता है यह भ्रम, विज्ञानमात्र, मायामात्र विवर्त, अथवा परिणाम, मिथ्या, स्वप्न, आदि नहीं है।

(२) यह जगत अनादि निधन है न यह कभी उत्पन्न हुआ है और न इसकी कभी प्रलय ही होगी।

(३)कर्मोंका फल दाता कोई ईश्वर आदि नहीं है अपितु कर्म स्वयं ही फल प्रदान की शक्ति रखते हैं अर्थात् कर्मों से 'अपूर्व' (संस्कार) होता है और उस अपूर्व से फल प्राप्त होता है। तथा जगत नित्य होने से उसके कर्ताधरता की भी आवश्यक्ता नहीं है इसलिये ईश्वर नहीं है।

(४)आत्मा प्रत्येक शरीर में पृथक २ है और वे अणुपरिमाण नहीं है अपितु महत परिमाण है।

(५) वेदोंमें जो सृष्टि उत्पत्ति विषयक कथन प्रतीत होता है वह वास्तविक नहीं है अपितु अर्थवादमात्र है अर्थात् भावुक भक्तों की स्तुति मात्र है।

उपनिषद् व वेदान्त दर्शन

मीमांसा के पश्चात् दूसरा वैदिकदर्शन वेदान्तदर्शन है इसको उत्तर मीमांसा भी कहते हैं जिस प्रकार मीमांसामें ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञादि का समन्यव किया गया है उसी प्रकार वेदान्तमें औपनिषद श्रुतियों का समन्वय किया है जिस समय बादरायण ने यह वेदान्त शास्त्र बनाया था उस समय भारतवर्ष में बौद्धों का साम्राज्य था, अर्थात् अनात्मवादका बोल बाला था उपनिषदों

तथा उनकी परस्पर श्रुतियों का प्रवल खंडन किया जारहा था ऐसे समयमें यह आवश्ययक था कि उन सबका उत्तर दिया जाये तथा परस्पर विरुद्ध श्रुतियों का समन्वय किया जाये, यही कार्य वादरायणने किया। हम पहले लिख आये हैंकि वैदिक कालमें तथा उपनिषद्के समय तक भी वर्तमान कर्ता ईश्वरका आविष्कार नहीं हुआ था सबसे प्रथम हम गीता में इस ईश्वरवाद की झलक देखते हैं उसके पश्चात तो यह सिद्धान्त सर्वोपरि बनता चला गया ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वालोंके लिए यह विचारणीय है कि किस प्रकार वैदिक अध्यात्मवाद ने उपनिषदोंमें शनै शनै एक ब्रह्मवादका रूप धारण किया, तथा पुनःवही एक ब्रह्मवाद सिद्धान्त अर्थात् अद्वैतवाद बन गया।

हमारा दृढ विश्वास है कि मूल वेदान्त सूत्रों में, मायावाद या अविद्यावाद, परिणामवाद विवर्तवाद आदिका उल्लेख तक भी नहीं है। विशिष्टाद्वैतादि भी उसका विषय नहीं है। इसके प्रथम सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है, यहां ब्रह्म नाम आत्मा का है यह ब्रह्म न तो शङ्कर का मायावच्छिन्न ब्रह्म है और न नवीन नैयायिकों का सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है।

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

इससूत्रमें भी सृष्टि उत्पत्तिका कथन नहींहै। हमें आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण आचार्यों ने यहां सृष्टि की उत्पत्ति आदि अर्थ किस प्रकार किये हैं। यहां शब्दजन्मआदिहै न कि सृजन वप्रलय आदि जन्म शब्दसृष्टि की उत्पत्ति के लिए न तो कहीं शास्त्रों में ही प्रयुक्त हुआ है तथा न लोकमें ही इस शब्दका इस अर्थमें व्यवहार होता है। अतः इसका सरल अर्थ है इसके जन्म आदि जिससे होते हैं वह आत्मा है। ईश्वर का खंडन तो स्वयं सूत्रकार ने ही प्रवल युक्तियों से किया है। जिसका वर्णन सप्रमाण आगे है।

अर्थात् यहां शरीर के जन्म व मरण आदि का कथन है। इसी प्रकारः—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

का अर्थ भी यह नहीं है कि जिससे ऋग्वेदादि उत्पन्न हुए हैं वह ब्रह्म है। अपितु इसका अर्थ यही है कि 'शास्त्रं योनिः अस्य' अर्थात् शास्त्र है योनि (कारण) जिसका यह आत्मा है। यहां शास्त्र उपलक्षण मात्र है. अर्थात् इससे अनुमानादि सभी प्रमाण गृहीत हैं। अभिप्राय यह है कि वह प्रमाणों से सिद्ध है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि वह सम्पूर्ण भाषा व ज्ञान का कारण है। आत्माकी सिद्धिमें ये दोनों हेतु बहुत ही प्रवल हैं। अतः हम वेदान्त के कुछ सूत्रों का वास्तविक अर्थ लिखते हैं।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

अर्थ—संसार की निस्सारता जान लेने पर आत्म ज्ञान उपादेय है। (अतः) इस लिए ब्रह्म जिज्ञासा ब्रह्म—आत्मज्ञान की इच्छा करनी चाहिये।

(प्रश्न) सूत्र में ब्रह्म शब्द, ईश्वर परमात्मा, ब्रह्म वाचक है आपने इसका अर्थ "आत्मा" किस प्रकार किया है।

(उत्तर) श्रुतिमें आत्माके ही ब्रह्म ईश्वर आदि नाम हैं यथा—

"अयमात्मा ब्रह्म" बृ० २।५।१९

अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है सर्व साक्षी है।

"य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः"

"स विजिज्ञासितव्यः छा० ८।७।१

जो आत्मा पापों से मुक्त है उसका अन्वेषण करना चाहिये।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" बृ० २।४।५

आत्मा का दर्शन करना चाहिये, उसको सुनना चाहिये, आदि

श्रुतियां आत्मा को जानने का उपदेश देती हैं, अतः यहां आत्मा के जानने का उपदेश है ।

अभिप्राय यह है जिस प्रकार मैत्री को संसार से वैराग्य हो जाने पर याज्ञवल्क्यसे उसने कहा था कि—

येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम् ।" वृ० २।४।३

महाराज यदि इस विशाल वैभव से मैं अमृत पद को प्राप्त नहीं हो सकती तो इस धन का मैं क्या करूंगी. अतः मुझे वह वस्तु प्रदान करें । जिससे मैं जन्म मरण रूप दुःखों से मुक्त हो कर नित्य आनन्द को प्राप्त करूं, इस पर महर्षि याज्ञवल्क्य ने उसको आत्मज्ञान का उपदेश दिया था. और कहा था कि

न हि सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥ वृ० २।४।३

हे मैत्री ! संसार में पुत्र, स्त्री, पति, धन, शरीर आदि, पुत्र, आदि के लिये प्रिय नहीं होते अपितु आत्मा के लिये सब कुछ प्रिय होता है इसलिये आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन, आदि करना चाहिये । अतः श्रुतिमें ज्ञातव्य पदार्थ एक मात्र आत्माको ही कहा है, अतः यहां भी महर्षि व्यास ने ब्रह्म शब्द से आत्मा का ही उपदेश किया है ।

तदात्मनमेवावेदाहं ब्रह्मास्मीति तस्मातत्सर्वमभवत । वृ० १।४

अर्थात् उसने अपने को मैं ब्रह्म हूँ ऐसा जाना, इसी से वह सब (सर्वज्ञ) हो गया ।

तरति शोकमात्मविदिति, छा० ७।१।३

इत्यादि श्रुतियों से आत्मा और ब्रह्म की एकता का वर्णन

किया है अतः यहां भी ब्रह्म शब्द से आत्मा अभिप्रेत है। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में भी आत्म ज्ञान का उपदेश है।

सिद्धः शुद्धआत्मा सर्वज्ञः सर्वलोक दर्शी च।
स जिनवरैर्भणितः जानीहि तं केवलज्ञानम् ॥ अष्टपाहुड़
यथानाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्धाति।
ततस्तमनु चरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ २० ॥
एवं हि जीव राजो ज्ञातव्यस्तैथव श्रद्धातव्यः।
अनु चरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ २१ ॥

तथा च स्मृति में है कि—

आत्मा वा देवता सर्वाः। मनु अ० १२
एतमेके वदन्त्यग्नि मनु मन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ मनु०अ०१२।६

अर्थात् आत्मा ही सर्व देव रूप है. इसी आत्मा को विद्वान. अग्नि. मनु. प्रजापति. इन्द्र. प्राण. ब्रह्म. शास्वत आदि नामों से कथन करते हैं।

शरीरं यदवाप्नोति य चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥ गीता, अ०१५

इस श्लोक का भाष्य करते हुये श्री शङ्कराचार्यजी ने लिखा है।

"ईश्वरः, देहादि संघात स्वामी जीवः"

अर्थात् यहां 'ईश्वरका अर्थ देहादि संघातका स्वामी जीव' है, अतः सर्व शास्त्र एक मत से ब्रह्म का अर्थ आत्मा करते हैं। वर्तमान इसलिये कालीन ईश्वर की रचना वैदिक समयमें नहीं हुई थी, अतः उसका कथन भी वैदिक वांगमय में नहीं मिलता। इस लिये यहां आत्माका ही कथन है।

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रों का मूल कारण होने से. आत्म का सर्वज्ञत्व सिद्ध है। शास्त्र में दो बातें होती हैं। १ भाषा २ ज्ञान संसार की सम्पूर्ण पुस्तकें किसी न किसी भाषा में लिखी हैं, इन भाषाओं का तथा उन पुस्तकोंमें जो ज्ञान है उन सबका मूल कारण आत्मा है. अतः आत्मा सर्वज्ञ सिद्ध होता है। क्यों कि आज तक जितना ज्ञान प्रकाशित हो चुका है. उसका भी अन्त नहीं है. इन सब ज्ञानों का तथा सब भाषाओं का मूल कारण आत्मा ही है। यदि इसका मूल कारण आत्मा न होता तो जड़ पदार्थ भी भाषा बोलते नजर आते तथा वे भी पुस्तकें निर्माण करते परन्तु आज तक कोई भी व्यक्ति किसी जड़से भाषा या ज्ञान नहीं सीखा. अतः ये आत्माके अस्तित्व में तथा सर्वज्ञता में प्रमाण हैं।

अभिप्राय यह हैकि अनादि कालसे आज तक जितनी भाषाओंका व ज्ञानका आविष्कार हुआ है। और भविष्यमें जो आविष्कार होगा। उन सबका मूलकारण आत्मा था. आत्मा है. आत्मा होगा। अतः सम्पूर्ण ज्ञान, व भाषाओंका मूलकारण आत्मा है। अतः जिस आत्मा द्वारा अनन्त ज्ञान का प्रकाश हो चुका हो उस आत्मा के सर्वज्ञ होने में सन्देह ही नहीं करना चाहिये।

आत्मा को न मानने वालोंको श्रुति ललकारती है कि अयि ? नास्तिको जरा विचार करो ?

येन वागभ्युद्यते । येनाहुर्मनोमतम् ।

येन चक्षूंषि पश्यति, येन प्राणः प्रणीयते । केन-३०

कि जिसके कारणसे तुम बोलते हो, मनन करते हो. देखतेहो, तथा जीते हो,उसी आत्माको अस्वीकार करतेहो। यदि यह आत्मा

एक पल भर के लिये इस शरीरसे निकल जाये, तो आपको ज्ञात हो जाये कि वास्तवमें हमारी क्या हस्ति है। बस जो तुम खातेहो, पीते हो, देखतेहो, आनन्द लेते हो वह सब इस आत्माकी कृपाका फल है, उसी को न मानना अपने आपसे मुकरना है। अथवा ऐसा ही है, जैसा कोई कहे कि "मम मुखे जिह्वा नास्ति" उससे कोई कहे कि जब आप के मुख में वाणी नहीं है, तो बोलते कैसे हैं ? यही बात सूत्रकार कहते हैं कि जो भाई यह कहते हैं आत्मा नहीं है, वे बोलते किस के आधार पर हैं, क्या वाणी बोलती है, यदि यह बात है, तो मुर्दोंकी भी वाणी बोलनी चाहिये, परन्तु हम ऐसा नहीं देखते अतः भाषा और ज्ञानका मूल कारण होनेसे आत्मा को मानना चाहिये।

तथा च श्री शङ्कराचार्य जी ने इस "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार भी किया है—

"यथोक्तमृग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः।"

अर्थात् 'ब्रह्म के यथावत् स्वरूपावबोध के लिये शास्त्र ही (योनिः) प्रमाण हैं। अभिप्राय यह है कि शास्त्र के द्वारा ही ब्रह्म का सृष्टि कर्तृत्व जाना जाता है।" यहां श्री शङ्कराचार्यजीने षष्ठी तत्पुरुष समास न करके बहुव्रीहि समास किया है। जिससे प्रथम के सब कल्पित एवं असंगत अर्थों का निराकरण हो कर सूत्र का वास्तविक और युक्तियुक्त अर्थ प्रगट हो गया है।

ब्रह्म शब्द आत्मा का बाचक है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन प्रथम हो चुका है।

माया और वेद

श्री शङ्कराचार्यजीका अद्वैतवाद वैदिक नहींहै इसमें एक प्रमाण यह भी है कि माया शब्द का अर्थ जो अद्वैतवादी करते हैं वह अर्थ पूर्व समय में नहीं था। क्यों कि वेदों में आये हुये 'माया' शब्द का अर्थ सब स्थानों पर बुद्धि तथा कर्म ही किया गया है। श्री पाण्डेय रामावतार जी शर्म्मा ने 'भारतीय ईश्वरवाद' नामक पुस्तक में अनेक मन्त्र इस विषयक उपस्थित किये हैं तथा अनेक भाष्य एवं निरुक्त आदि के भी प्रमाणों से इस विषय की पुष्टि की गई है। अतः सिद्ध है कि वैदिक साहित्य में माया शब्द प्रचलित अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः

माया सृजते विश्वमेतत् (श्वेताश्वरोपनिषद्)

इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते (बृ० ५।२।१६)

आदि श्रुतियों का अर्थ हुआ—(मायो) कर्मोंमें लिप्त आत्मा इन शरीरादि की रचना करता रहता है। तथा च (इन्द्र) आत्मा (मायाभिः) कर्मों से अनेक शरीर धारण करता है। तथा च (इन्द्रोमायाभिः) यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आया है। उसकी व्याख्या करते हुये निरुक्तकार यास्काचार्य ने माया का अर्थ बुद्धि ही किया है। अतः उपरोक्त श्रुतियों से वर्तमान मायावाद या अविद्यावाद का समर्थन करना ठीक नहीं है।

इसके अलावा हम वेदान्तके अन्य दो सम्प्रदायों का भी उल्लेख करते हैं जो कि जगतको नित्य मानते हैं।

(१) चैतन्य सम्प्रदाय।–इसका कथन है कि "जगत (प्रपंच) नितरां सत्यभूतपदार्थ है' क्योंकि यह सत्य संकल्प हरिकी वहिरंग शक्तिका विलास है श्रुति तथा स्मृति एक स्वरसे जगतकी सत्यता प्रतिपादित करती हैं। यथा–

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः (यजु० ४० । ८

तथा विष्णुपुराण(१।२२।५८)इन्हें अक्षय नित्य कहता है प्रलय कालमें भी भगवान के साथ जगतकी सूक्ष्म रूपेण अवस्थिति उस प्रकार रहती है जिस प्रकार रात के समय वनमें लीन विहंगमोंकी स्थिति। "भारतीय दर्शन।

यहां स्पष्ट रूपसे जगतकी नित्यताका कथन है। तथा जिस प्रकार रात्रिमें विहंगमोंका नाश नहीं होता उसी प्रकार प्रलयमें जगतका नाश नहीं होता, अपितु उसका तिरो भाव हो जाता है।

(२) प्रत्यभिज्ञा (त्रिकदर्शन)

यह भी जगतकी उत्पत्ति आदि नहीं मानता है। इसका कहना है कि—' परम शिव ही इस विश्वका उन्मीलन स्वयं करते हैं। न किसी उत्पादनकी आवश्यकता है न किसी आधारकी। जगत पहले भी विद्यमान था, केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकालमें शिव शक्तिसे सम्पन्न होता है।" भारतीय दर्शन ' पृ० ५९२।

यहां भी सृष्टि रचनाका अर्थ सृष्टि उत्पत्ति नहीं अपितु उसका प्रकटीकरण मात्र है। अतः जगत नित्य है यह वेदान्तके आचार्यों के कथनोंसे ही सिद्ध हो जाता है। वेदान्त दर्शनका अपना तात्विक सिद्धान्त क्या था यह जानना आज कठिनतर कार्य है। क्योंकि इस पर जितने भी भाष्य हैं वे सब साम्प्रदायिक दृष्टियोंसे किये गये हैं। उनमें निष्पक्ष तात्विक भाष्य कोई नहीं है। अतः वेदान्त दर्शनको समझनेके लिये इन भाष्योंका ही आसरा नहीं लेना चाहिये अपितु मूल सूत्रोंका आशय समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। हमारा विश्वास है कि मूल सूत्रोंमें इस अवैदिक और

प्रमाण आदिसे वाधित ईश्वरका कथन बिल्कुल नहीं है। ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है इसका तो सूत्रोंमें खंडन किया गया है।

पद्मपुराणमें शंकर मतको प्रच्छन्न बौद्ध बताया गया है। तथा दर्शन दिग्दर्शनमें एक श्लोक दिया है।

वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः।
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम् ॥
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथानृते।
यूयं च बौद्धाश्च समान संसदः ॥

'रामानुजके वेदान्त भाष्यकी टीका' (श्रुतप्रकाशिकामें) अर्थात् हे शंकरमतानुयायो ? तुम्हारे लिये वेद असत् हैं इसी प्रकार बौद्धों के लिये बुद्ध बचन असत्य हैं। तुम्हारे लिये वेदका तथा उनके लिये बुद्ध बचनोंका प्रमाण होना मिथ्या है। उसीप्रकार बुद्धि(ज्ञान) और उसका फल मोक्ष भी मिथ्या है। इस प्रकार तुम और बौद्ध समान हो अस्तु यहां यह प्रकरण नहीं है अतः अब हम यह दिखाते हैं कि श्री शंकराचार्यजीने भी सृष्टि आदिकी उत्पत्तिको केवल अर्थवाद ही माना है।

तथा च 'महाभारत मीमांसा' में रायसाहब चिन्तामणि लिखते हैं कि—"उपनिषदोंमें परब्रह्म वाची आत्मा है। आत्मा और परमात्माका भेद उपनिषदोंको ज्ञात नहीं है।"

अभिप्राय यह हैकि उपनिषदोंमें निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्माका सुन्दर वर्णन किया गयाहै, अतः निश्चयनयसे आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। भेद तो कर्मोंके कारणसे है। वेदान्त दर्शन उपनिषदोंके भावोंको ही व्यक्त करने तथा उन्हें दार्शनिक रूप देनेके लिये लिखा गया है। अतः उसमें भी मुक्तात्मासे भिन्न कोई जाति विशेष अथवा व्यक्ति विशेष ईश्वर नहीं माना है। यह निश्चित है।

वेदान्त दर्शनमें ईश्वरका खंडन निम्न प्रकारसे किया है।

पत्युरसामञ्जस्यात् । अ० २।२।३७

संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

अधिष्ठानोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

अर्थात्—ईश्वर जगतका कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है क्योंकि यह युक्तिके विरुद्ध है। जीव और प्रकृतिसे भिन्न, ईश्वर बिना सम्बन्ध के जीव और प्रकृतिका अधिष्ठाता नहीं बन सकता। इनमें संयोग सम्बन्ध नहीं बन सकता क्योंकि यह सम्बन्ध दो एकदेशीय पदार्थोंमें होता है। परन्तु ईश्वरको एक देशीय नहीं माना जाता। इनमें समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमें आश्रय और आश्रयीभाव नहीं है। कार्य कारण सम्बन्ध तो अभी असिद्ध ही है। अतः इनमें किसी प्रकारका सम्बन्ध न होनेसे ईश्वर जगत रचना नहीं कर सकता ॥३८॥

अधिष्ठानकी सिद्धि न होनेसे भी ईश्वर कल्पना मिथ्या है। क्योंकि निराकार ईश्वर कुम्हारकी तरह (मिट्टी) प्रकृतिको लेकर जगत रचना नहीं कर सकता ३६॥

यदि यह कहो कि कुम्हारकी तरह उसके भी हस्त पादादि हैं। तो उसका ईश्वरत्व ही नष्ट हो गया। वह भी कुम्हारकी तरह कर्म करेगा उसका फल भी भोगना पड़ेगा ॥४०॥

विज्ञ पाठक वृन्द यहां देख सकते हैं किस प्रकारकी प्रबल युक्तियोंसे जगतकर्ताका खंडन किया गयाहै। तथा अध्याय,२पा०३ के आरंभसे ही आकाशादिका उत्पत्ति बताने वाली तथा उनका विरोध करनेवाली श्रुतियोंका समन्वय किया गया है। भाष्यकारोंने वहां पर आकाश, वायु, तेज, प्राण, आदिको नित्य बताने वाली

श्रुतियोंको गौण माना है तथा अनित्य वाली श्रुतियोंको मुख्य मान कर समन्वय किया है, वह बिलकुल ही असंगत है । इस प्रकार उनको गौण माननेमें कुछ भी युक्ति या प्रमाण नहीं है । वास्तवमें तो जैसा कि हम प्रथम श्री शंकराचार्यके प्रमाणसे ही सिद्ध कर चुके हैं कि ये सब पदार्थ जाति रूपसे नित्य हैं तथा व्यक्ति रूपसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं। ॐ यही आशय यहां भी शास्त्रका है अतः यह सिद्ध है कि वेदान्त दर्शन भी जगत नित्य अकृत्रम मानता है तथा ईश्वरको जगत कर्त्ता नहीं मानता।

तथा च ऐतरेयोपनिषद् द्वितीय अध्याय के आरम्भ में सृष्टि रचना आदिका विचित्र वर्णन है। इस पर प्रतिवादीने प्रश्न किया कि तो क्या इन सब बातोंको असम्भव माना जाये ? इसका उत्तर श्री शंकराचार्यजी देते हैं कि नहीं यह सब आत्मावबोध करानेके लिये अर्थवादमात्र हैं, अर्थात् आत्माकी प्रशंसा मात्र है इस लिये कोई दोष नहीं है।

(उत्तर) न अत्रात्मावबोधमात्रस्य विवक्षितत्वात् ।

ॐतथा जहां जहां इनकी उत्पत्ति आदिका कथन है, वहां वहां, शरीर या प्राण अर्थ है। जैसे,

आत्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः। आदि।

यहां आकाशका अर्थ सूक्ष्म प्राण, तथा वायुका अर्थ स्थूल प्राण है। इसी प्रकार जहां जहां आकाश, वायु, तेज, प्राण आदिकी उत्पत्तिका निषेध किया है, वहां वहां यह सांसारिक पदार्थोंका वर्णन होता है।

श्रीयुत पं० माधवराव सप्रेने 'आत्मविद्या' के पृ० ३६१ पर आकाशाद् वायु, इस श्रुतिका अर्थ जीवके अवतरण परक किया है अर्थात् आत्माके परलोकसे लौटनेका क्रम इस श्रुतिमें बताया गया है।

सर्वोऽयमर्थवादः, इत्यदोषः ।

इस उत्तरसे स्पष्ट सिद्ध है कि जगत रचना आदिका कथन केवल आत्मा वबोध करानेके लिये आत्माकी स्तुति (प्रशंसा) मात्र है। वास्तवमें जगतकी रचना आदि नहीं होती ।

ब्रह्म सृष्टि और मीमांसादर्शन

'सृष्टिवाद और ईश्वर' में श्रीशतावधानी जी लिखते हैं कि—

"यद्यपि नासदीय सूक्त की सृष्टि रचना का प्रकार ऋषियों के संशय से आक्रान्त हैं और नासदीय सूक्त की छटी और सातवीं ऋचा इनका खण्डन भी कर चुकी है, तो भी व्यवस्थित विचार करने वाले दर्शनकारोंने सृष्टि के विषय में क्या २ किया है इसका किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं। वेद के साथ सबसे अधिक सम्बन्ध रखने वाला पूर्वमीमांसा दर्शन है। इसके संस्थापक जैमिनि ऋषि हैं इनका सृष्टि के विषय में क्या अभिप्राय है इसका मीमांसा-दर्शन की माननीय पुस्तकशास्त्रदीपिका और श्लोक वार्तिक आदि के आधार से निरीक्षण करते हैं।

जैमिनि सूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथमपादके पांचवें अधिकरण की व्याख्या करते हुए शास्त्रदीपिकाकार श्री मत्पार्थ सारथि मिश्र शब्द और अर्थका सम्बन्ध करानेवाला कौन है इसका परामर्श करते कहते हैं कि—

"जब सृष्टिकी आदि हुई हो वैसा कोई काल नहीं है। जगत् सदा इसी प्रकारका है। यह प्रत्यक्षके अनुसार प्रचलित है, भूत-कालमें ऐसा कोई समय न था जिसमें कि यह जगत् कुछभी न था। इस जगतकी प्रलय आदिमें कोई भी प्रमाण नहीं है।

आगे बढ़ते हुये दीपिकाकार कहते हैं कि विना प्रमाण के भी यदि यह मानलें कि कुछ भी नहीं था तो सृष्टि बनही नहीं सकती।

क्योंकि सृष्टि कार्यरूप उपादेय है, उपादानके बिना उपादेय नहीं बन सकता। मिट्टी हो तभी घट बन सकता है, मिट्टीके बिना घड़ा बनते हुए कभी नहीं देखा गया यहाँ ब्रह्मवादी पूर्वपक्षरूपमें कहता है कि–

आत्मैवैको जगदादावासीत् स एव स्वेच्छया व्योमादि प्रपञ्चरूपेण परिणमति बीजाइव वृक्षरूपेण। चिदेकरसं ब्रह्म कथं जड़रूपेण परिणमतीति चेन्न परमार्थतः परिणामं ब्रह्मणः किन्त्वपरिणतमेव परिणतवदेकमेव सदनेकधा मुख-मिवादर्शादिष्वविद्यावशादिवर्तमानमात्मैवात्मानं चिद्रूपं जड-रूपमिवाद्वितीयं स द्वितीयमिवपश्यति। सेयमविद्योपादाना स्वप्नप्रपंचवन्महदादि प्रपंच सृष्टिः। (शा०दी०१।१।५-११०)

अर्थ—जगत्के आदिमें (प्रलय कालमें) एक आत्मा ही था। वह आत्मा ही अपनी इच्छासे आकाश आदि विस्तार रूपमें परिणत होता है, जिस प्रकार कि बीज वृक्षरूपमें विस्तृत हो जाता है। शंका-(चैतन्य एक रसरूप) ब्रह्म जड़रूपमें कैसे परिणत होसकताहै? उत्तर—हम पारमार्थिक परिणाम नहीं मानते किन्तु अपरिणत होता हुआ परिणत के समान, जैसे कि एक रूप होकर अनेक रूप-दर्पणमें मुख दिखाई देता है, विवर्त्त प्राप्त करता है। अविद्याके कारणसे आत्मा ही चिद्रूप आत्माको जड़रूप देखता है। अद्वितीय को सद्वितीयकी तरह चिद्रूप को जड़रू देखता है अविद्याका उपादान करण वाली स्वप्नप्रपंचवत् महदादि प्रपंचरूप यह सृष्टि है।

मीमांसकों का उत्तर पक्ष

किमिदानीमसन्नेवायं प्रपंचः? ओमितिचेन्न। प्रत्यक्ष विरोधात्।''' न चागमेन प्रत्यक्ष बाधः संभवति। प्रत्य-

चस्य शीघ्रप्रवृत्तेन सर्वेभ्यो बलीयस्त्वात् ।···किंच प्रपंचा· भावं प्रतीयताऽवश्यमागमोपि प्रपंचान्तिर्गतत्वादसद्रूपतया प्रत्येतव्यः । कथं चागमेनैवागमस्याभावः प्रतीयेत ? असद्रूपतया हि प्रतीयमाना न कस्यापिपदार्थस्य प्रमाणं स्यात्। प्रामाण्ये वा नासत्वम् । (शा० दी० १।१।५ पृष्ठ ११०)

अर्थ—क्या वर्तमानमें भी जगत् विस्तार असत् है? जो जगत् प्रत्यक्षसे सद्रूप दिखाई देता है उसका आगमसे बाधित होना संभवित नहीं है, कारण यह है कि प्रत्यक्ष सबसे बलवान है और आगमकी अपेक्षा इसकी प्रवृत्ति सबसे पहले होती है ।

दूसरी बात यह है कि जगतको असद्रूप माननेवाले पुरुषको जगत्के अन्दर रहे हुए आगमको असद् मानना पड़ेगा, वहभी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं किन्तु आगम प्रमाणसे इसमें विचारणीय यह बात है कि आगम स्वयं अपना अभाव किस तरह सिद्ध करेगा यदि आगम असद्रूप सिद्ध होजायगा तो वह किसीभी अर्थके लिए प्रमाण स्वरूप न रह सकेगा। और अगर प्रमाणरूप रहेगा तो वह असद्रूप नहीं रह सकेगा। (असद्रूप और प्रामाण्य ये दोनों परस्पर बिरोधी हैं अतः एक वस्तु में नहीं टिक सकते ।

अनिर्वचनीयवाद

वेदान्तर्गत अनिर्वचनीयवादी कहता है कि हम प्रपंच-जगत् को असत् नहीं कहते क्योंकि असत् किस प्रकार कहा जाय ? किन्तु परमार्थ से सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि आत्म ज्ञानसे बाधा आती है। अतः जगत् सत और असत् दोनों से वाच्य न होकर अनिर्वचनीय है ।

मीमांसकों का उत्तरपक्ष

अनिर्वचनीयवादीका कथन ठीक नहीं है। सत्से भिन्न असत् है और असत्सेभिन्न असत नहीं है तो सद्रूप होना चाहिए। एक का अभाव दूसरेकी सत्ता स्थापित करता है। अर्थात् सत्का अभाव असत्की सत्ता और असत्का अभाव सत्की सत्ता स्थापित करता है। एक के अभाव से दोनोंका अभाव होजाय यह बात अशक्य है। अतः जगत्को या तो सत् कहो या असत् कहो। जगत्की अनिर्वचनीयता नहीं टिक सकती। वस्तुतः वही असत् है जो कदापि प्रतीयमान न हो जैसे कि शशविषाण, आकाश कुसुम इत्यादि। और सत् भी वह है कि जिसकी प्रतीति कदापि वाधित न हो जैसे आत्मतत्व। जगत्की प्रतीति शशविषाणकी तरह सदाके लिए वाधित नहीं, अतः उसे असत् या अनिर्वचनीय नहीं कह सकते। किंतु आत्मतत्वकी तरह जगत्को सत् कहना चाहिए इसलिये जड़ और चेतन दोनोंकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। और यदि इनकी सत्ता स्वीकार कर लोगे तो अद्वैतवादके बजाय द्वैतवाद सिद्ध हो जायगा।

अविद्यावाद

वेदान्तर्गत अविद्यावादी कहता है कि वास्तविक सत्ता तो ब्रह्म की या आत्म तत्व की ही है। जगत् की कदाचित् प्रतीत होती है वह अविद्याकृत है।

मीमांसकों का परामर्श

मीमांसक अविद्यावादी को पूछता है कि वह अविद्या भ्रांतिरूप है या भ्रान्तिज्ञान का कारणरूप पदार्थन्तर है? यदि कहो कि भ्रान्तिरूप है तो किसको होती है? ब्रह्म को भ्रान्ति नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वच्छ रूप है। जहां स्वच्छ विद्या है वहां भ्रान्ति

संभव ही नहीं हो सकती । क्या कभी सूर्यमें अंधाकारका संभव हो सकता है ? कदापि नहीं । यदि कहो कि जीवों को भ्रान्ति होती है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि वेदान्त मत में ब्रह्म के सिवाय जीवों की पृथक् सत्ता ही नहीं है । यदि भ्रान्ति स्थान का कारणरूप पदार्थान्तर स्वीकार करते हो तो अद्वैत सिद्धान्त को हानि पहुंचेगी और द्वैतवाद की सिद्धि हो जायगी ।

कदाचित् कारणान्तर न होने से ब्रह्म का स्वाभावरूप अविद्या मानी जाय तो यह भी संभिवित नहीं है । विद्यास्वभाव वाले ब्रह्म का अविद्यारूप स्वभाव हो ही नहीं सकता । विद्या और अविद्या परस्पर विरोधी हैं । दोनों विरोधी स्वभाव एक ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं ? यदि अविद्या को वास्तविक मानोगे तो उसका विनाश किससे होगा ? आगमोक्त ध्यान स्वरूपज्ञान वगैरहसे अविद्या का नाश हो जायगा ऐसा कहते होतो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि नित्यज्ञानस्वरूप ब्रह्म से अतिरिक्त ध्यानस्वरूप ज्ञानव गैरह है ही कहां कि जो अविद्या का नाश करें ? अतः इस मायावाद की अपेक्षा तो बौद्धों का महायानिकवाद ही ठीक है जिसमें कि नील पीत आदि के वैचित्र्यका कार्य कारण भाव दिखाया गया है ।

अज्ञानवाद

वेदान्तर्गत अज्ञानवादी कहता है कि यह प्रपंच अज्ञान से उत्पन्न होता है और ज्ञान के द्वारा उसका विनाश होता है । मृग जल या प्रपंच के समान ।

मीमांसकों का उहापोह

मीमांसक कहता है कि कुलालादि व्यापार स्थानीय अज्ञान, घटस्थानीय जगत् और मूलस्थानीय ज्ञान मानेंगे तो भी जगत्

उत्पत्ति और विनाश के योग से अनित्य मात्र सिद्ध होगा किन्तु अत्यन्ताभाव रूप असत् सिद्ध न होगा ।

दूसरी बात ! ज्ञानसे जगत् का नाश होता है तो वह ज्ञान कौनसा है ? आत्मज्ञान या निष्प्रपंच आत्मज्ञान ? केवल आत्म ज्ञान तो विरोधी न होने से जगत् का विनाशक नहीं बन सकता निष्प्रपंच आत्मज्ञान को कदाचित् नाशक माना जाय तो उसमें आत्मज्ञान अंश तो अविरोधी है । निष्प्रपंच माने प्रपंच का अभाव जब तक प्रपंच विद्यमान है तब तक उसके अभाव का ज्ञान कैसे हो सकता है ? उस ज्ञान के उत्पन्न हुये विना प्रपंच का नाश भी नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याश्रयरूप दोष की आपत्ति प्राप्त होगी । इस लिये ज्ञान से भी जगत् की सत्ता का नाश नहीं हो सकता । जबकि जगत आत्मज्ञान की तरह सत् सिद्ध होजायगा तो अद्वैतवाद सिद्ध न हो कर द्वैतवाद की सिद्धि हो जायगी । मृग जल तो पहलेसे ही असत् है अतः उसके नाशका तो प्रश्न ही नहीं ठहरता है । इसलिये यह दृष्टान्त यहां लागू नहीं पड़ता है ।

इत्यद्वैतमतनिरासः । (शा० दी० १।१।५ पृ० १११)

अर्द्ध जरतीय अद्वैतवादीका पूर्वपक्ष

उपनिषद्को मानने वाला वेदान्ती अर्द्धजातीय अद्वैतवादी कहा जाता है । वह कहता है कि ब्रह्म या आत्मा स्वयं ही अपनी इच्छा से जगत् रूप में परिणत हो जाता है । जिस प्रकार बीज वृक्ष रूप सच्चे परिणाम को प्राप्त करता है । उसी प्रकार आत्मा भी आकाशादि भिन्न २ जगद् रूप में परिणत हो जाता है । नामरूप भिन्न २ होते हुये भी मूल कारण रूप एक आत्मा का ही यह सब विस्तार है ।

जगत् के अनन्यवाद, अविद्यावाद, भ्रान्तिवाद, मायावाद, ये सब वाद अनित्य जगत् के औपचारिक हैं। जिस तरह मृग तृष्णा रज्जुसर्प और स्वप्न प्रपंच थोड़े समय तक अविभूंत हो कर पीछे विलीन हो जाते हैं उसी तरह जगद्विस्तार भी अमुक समय तक अविर्भाव प्राप्त करके पीछे लय को प्राप्त हो जाता है। अनित्य जगत् औपचारिक असत् है। आत्मा नित्य होने से पारमार्थिक सत्य है। जगत् का असत्यत्व वैराग्य पैदा करने के लिये है।

आत्मा का परमार्थपन सत्य है मुमुक्षुओं के उत्साह की वृद्धि करने के लिये है। मृत्पिण्डके विकार का दृष्टान्त यहां ठीक घटित होता है। मिट्टी के बर्तन घड़ा शराब इत्यादि अनेक नाम वाले होते हुये भी एक मिट्टी के विकार हैं। मिट्टी सत्य है। घड़ा शराब आदि वाचारंभमात्र हैं। नाम रूप भिन्न२ हैं वस्तु भिन्न नहीं है किन्तु एक ही मिट्टी है। आत्मा और जगत् विषय में भी ऐसे ही समझलेना चाहिये। जगत् नानारूप दिखाई देता है सो एक आत्मा का विकार परिणाम रूप है। एक है किन्तु अन्तःकरणकी उपाधिके भेद से भिन्न भिन्न जीव वनते हैं। जीव के भेद से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था हो सकती है।

मीमांसकोंका उत्तर पक्ष

आत्मा चैतन्य रूप होनेसे उसका जड़ रूप परिणाम नहीं बन सकता। दूसरी बात, एक ही आत्मा माननेसे सब शरीरोंमें एक ही आत्माका प्रतिसंधान होगा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों अलग २ प्रतीत न होंगे। देवदत्त के शरीरमें सुखको और यज्ञदत्त के शरीर में दुःखकी प्रतीति एक समयमें एक हीं आंत्माको होगी।

अन्तःकरणके भेदसे दोनोंके सुख दुःखकी भिन्न भिन्न प्रतीति हो जायगी ऐसा कहते हो तो यह भी ठीक नहीं है। अन्तःकरण

अचेतन है अतः उसे सुख दुःखकी प्रतीति होनेका संभव ही नहीं हो सकता है। अनुभव करने वाला आत्मा एक होनेसे सबके सुख दुःखके अनुसन्धान कौन रोक सकता है ? कोई नहीं। अतः अर्द्ध जरतीय परिणाम-वाद भी ठीक नहीं है।

(शा० दी० १ । १ । ५ ।)

अद्वैतवादके विषयमें श्लोक वार्तिककार कुमारिल भट्ट का उत्तरपक्ष

पुरुषस्य च शुद्धस्य, नाशुद्धा विकृति र्भवेत् ॥ ५-८२।
स्वाधीनत्वाच्च धर्मादे स्तेन क्लेशो न युज्यते।
तद्वशेन प्रवृत्तौवा, व्यतिरेकः प्रसज्यते ॥ ५-८३

अर्थ—एक ही आत्मा अपनी इच्छासे अनेक रसमें परिणत होकर जगत प्रपंचको विस्तृत करती है, वेदान्तियोंके इस कथनका कुमारिल भट्टजी उत्तर देते हैंकि पुरुष शुद्ध और ज्ञानानन्द स्वभाव वाला है वह अशुद्ध और विकारी कैसे बन सकता है ? पुरुषका जगत् रूपमें परिणत होना विकार है। अविकारी को विकारी कहना घटित नहीं होता है। जगत जड़ और दुःख रूप है। चेतन पुरुषमें जड़ जगतकी उत्पत्ति मानना अशक्य बात है। धर्म अधर्म रूप अदृष्टके योगसे पुरुषमें सुख दुःख क्लेशरूप विकार उत्पन्न हो जायेंगे ऐसा कहना भी उचित नहीं है। पुरुष स्वतन्त्र है धर्म अधर्मके वश नहीं हो सकता है। धर्म, अधर्म, पुरुषके वश हों यह उचित हो सकता है। सृष्टिके आदिमें यदि एक ही ब्रह्म है तो धर्माधर्मकी सत्ता ही कहां रही ? यदि धर्माधर्मकी सत्ता स्वीकार कर लोगे तो द्वैतताकी आपत्ति आयेगी।

स्वयं च शुद्धरुपत्वादभावाच्चान्यवस्तुनः ।
स्वप्नादिवदविद्यायाः प्रवृत्तिस्तस्य किं कृता ॥ ५८४

अर्थ—जो ऐसा कहते हैं कि हम पुरुषका वास्तविक परिणाम होना नहीं कहते किन्तु अपरिणत होता हुआ भी अविद्याके वश परिणतके समान दिखाई देता है–हाथी, घोड़े न होते हुये भी स्वप्न में जैसे हाथी घोड़े सामने खड़े हो वैसे दिखाई देते हैं वैसे ही अविद्याके वशमें पुरुष जगत् प्रपंचरूप प्रतीत होता है । वस्तुतः पुरुष जगत् रूपमें परिणत नहीं होता है, उन अविद्यावादी वेदान्तियोंके प्रति भट्टजी कहते हैं कि पुरुष स्वयं शुद्ध रूप है, अन्य कोई वस्तु उसके पास नहीं है वैसी हालतमें स्वप्नकी तरह अविद्या की प्रवृत्ति कहांसे हो गई ? अविद्या भ्रान्ति है । भ्रान्ति किसी न किसी कारणसे होती है पुरुष विशुद्ध स्वभाव वाला है । उसके पास भ्रान्तिका कोई कारण नहीं है । बिना कारणके अविद्याकी उत्पत्ति कैसे हो गई ? यदि अविद्या सिद्ध न हुई तो उसके योगसे पुरुषकी जगत् रूपमें परिणति या प्रतीति भी कैसे हो सकती है ?

अन्येनोपप्लवेऽभीष्टे, द्वैतवादः प्रसज्यते ।
स्वाभाविकी त्वविद्यां तु, नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ॥ ५-८५
विलक्षणोपपाते हि, नश्येत् स्वाभाविकी क्वचित् ।
नत्वेकात्माभ्युपायानां हेतुरस्ति विलक्षणः ॥ ५-८६

अर्थ–अविद्याको उत्पन्न करनेवाला पुरुषके सिवाय अन्य कारण माननेपर द्वैतवादका प्रसंग आयगा । अगर कारण न होनेसे पुरुष की तरह अविद्याको भी स्वाभाविक मानलोगेतो वह अनादि सिद्ध होगी । अनादि अविद्याका कभी भी उच्छेद नहीं होसकता। इसलिए किसीभी पुरुषका मोक्षभी नहीं होसकता । कदाचित् पार्थिव पर-

माणुकी श्यामता जिस प्रकार अग्नि संयोगसे नष्ट होजाती है उसी प्रकार अविद्या स्वाभाविक अविद्या भी ध्यानादि विलक्षण कारणके योगसे नष्ट होजायगी ऐसा कहोगेतो मोक्षोच्छेदकी आपत्तितो दूर होजायगीमगर एक हीआत्मा मानने वाले अद्वैत-वादीके मतमें आत्माके सिवाय ध्यानादि कोई विलक्षण कारणही नहीं है तो अविद्याका उच्छेद कैसे होगी इस आपत्तिसे अद्वैतवाद नहीं टिक सकता इसलिए द्वैतवाद स्वीकार करना युक्ति संगत है।

अद्वैतवादके विषयमें बौद्धोंका उत्तरपक्ष

तेषामल्पापराधं तु, दर्शनं नित्यतोक्तितः।
रूपशब्दादि विज्ञाने, व्यक्तं भेदोपलक्षणम् ॥ (तै०सं३२९
एक ज्ञानात्मकत्वे तु रूपशब्द रसादयः।
सकृद्वेतेः प्रसज्यंते नित्योऽवस्थान्तरं न च ॥

(तै० सं० ३३०)

अर्थ—पृथ्वी जलादिक अखिल जगत् नित्य ज्ञानके विवर्त्तरूप है। और आत्मा नित्या नित्य रूप हैं। अतः नित्य विज्ञानके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसप्रकार कहने वाले वेदान्तियों का जो कुछ अपराध है उसको शान्तिरक्षितजी इस प्रकार दिखाते हैं- अहो अद्वैतवादियो ! विज्ञान एक और नित्य है। रूपरस शब्द आदिका जो पृथक् २ ज्ञान होता है वह तुम्हारे मतसे न होना चाहिए किन्तु एक ज्ञानसे एकही साथ रूप रसादि सब पदार्थों का एकरूपसे ज्ञान होना चाहिए अगर तुम ये कहोगे कि जिस प्रकार एक ही पुरुषमें वाल्यावस्था तरुणावस्था वृद्धावस्था भिन्न२ होतीहै। उसी प्रकार ज्ञानकी भी भिन्न२ अवस्थाएं होंगी जिससेरूप विज्ञान रसविज्ञान इत्यादि की उत्पत्ति हो जायगी तो यह कथन भी ठीक

नहीं है। विज्ञानकी अवस्थाएं बदल जानेपर विज्ञान नित्य नहीं रह सकता क्योंकि अवस्था और अवस्थावानका अभेद होनेसे अवस्था के अनित्य होनेपर अवस्थावान भी अनित्य सिद्ध होगा।

रूपादि वित्तितो भिन्नं, न ज्ञानमुपलभ्यते।
तस्याः प्रतिक्षणं भेदे, किमभिन्नं व्यवस्थितम्॥
(तै० सं० ३३२)

अर्थ—रूपरसादि ज्ञानसे पृथक् कोई नित्य विज्ञान उपलब्ध नहीं होता है। जो उपलब्ध होताहै वहप्रतिक्षण बदलता रहता है। चिरकाल तक रहनेवाला कोई अभिन्नज्ञान नित्यविज्ञानन तो प्रत्यक्ष से उपलब्ध होता है और न अनुमानसे इन दोनों प्रमाणोंसे जो वस्तु सिद्धनहीं है उसका स्वीकार करना ही व्यर्थ है।

नित्य विज्ञान पक्षमें बन्धमोक्षकी व्यवस्था नहीं होती

विपर्यस्ताविपर्यस्त-ज्ञान भेदो न विद्यते।
एकज्ञानात्मके पुंसि, बन्धमोक्षौ ततः कथम्॥
(तै० सं० ३३३)

अर्थ—नित्य एक विज्ञान पक्षमें विपरीत ज्ञान और अविपरीत ज्ञान यथार्थज्ञान और अयथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान औरमिथ्याज्ञानइस प्रकार भेद नहीं रह सकता तो एक ज्ञानस्वरूप आत्मामें बन्ध मोक्ष व्यवस्था कैसे होसकती है? हमारे मतमें मिथ्या ज्ञानका योग होने पर बन्ध और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर सम्यग्ज्ञानके योगसे मोक्षकी व्यवस्था अच्छी तरह होसकती है।

नित्य एक विज्ञानपक्षमें योगाभ्यासकी निष्फलता

किं वा निवर्त्तयेद्योगी, योगाभ्यासेन साधयेत् ।
किं वा न हातुं शक्यो हि, विपर्यासस्तदात्मकः ॥
तत्वाज्ञानं न चोत्पाद्यं तादात्म्यात् सर्वदा स्थितेः ।
योगाभ्यासो पितेनाय—मफलः सर्वएव च ॥

(तै० सं० ३३४-३३५)

अर्थ—नित्यविज्ञान पक्षमें यदि मिथ्याज्ञानही नहीं है तो योगी योगीभ्यास के द्वारा किसकी निवृत्ति करेगा और किसकी साधना करेगा ? यदि नित्य विज्ञान को विपर्यासरूप अर्थात् मिथ्याज्ञानरूप कहोगे तो उसका त्याग नहीं होसकता क्योंकि वह नित्यहै । नित्यकी निवृत्ति अशक्यहै। विज्ञान आत्मरूप होनेसे सदा विद्यमान रहेगा । विद्यमान तत्वज्ञानकी उत्पत्ति अशक्य है अतः तत्वज्ञानके लिए योगाभ्यासकी आवश्यकता नहीं रहती । इसलिए तुम्हारे मतसे योगाभ्यास आदि सर्वप्रक्रिया निष्फल होजाती है ।"

अद्वैत खंडन

श्री शङ्कराचार्यका कहना है कि "जिस अवस्थामें द्वैत होता है वहां एक दूसरे को देखता, सुनता है" "जहां इसका सब अपना आप है वहां कौन किसको देखे सुने" "ब्रह्म ही अपनी माया से अनेक रूप हो गया है"

इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या पाया जाता है, इस वेदार्थ में यह शंका ठीक नहीं कि प्रत्यक्ष से कार्य की

सत्यता पाई जाती है, क्योंकि उक्त प्रकार से कार्य्य का मिथ्यात्व सिद्ध है, और प्रत्यक्ष भी सन्मात्र की ही प्रतीति बतलाता है, यदि विरोध माना भी जाय तो आप्तोक्त होनेके कारण जिसमें दोष की सम्भावना नहीं की जासकती ऐसा जो प्रमाण उसको अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए प्रत्यक्षादिकों की आवश्यकता होने पर अपने विषय में प्रमाण को उत्पन्न करने के लिए निराकांक्ष होनेके कारण शास्त्र प्रमाण बलिष्ठ है, इस लिए कारण ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, यदि ऐसा कहो कि प्रपञ्च मिथ्या होने के कारण जीव भी मिथ्या है, सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म ही सब शरीर में जीव भाव को अनुभव कर रहा है, जैसा कि "ब्रह्म ने ही जीव हो कर प्रवेश किया" "एक देव ही सब तत्वों में छिपा हुआ है" उससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का ही जीव बन जाना पाया जाता है, ननु यदि ब्रह्म ही सब शरीरों में जीव भाव को अनुभव कर रहा है तो जैसे एक शरीर वाले जीव को यह प्रतीति होती है कि मेरे पांव में पीड़ा सिरमें नहीं। इस प्रकार सब शरीरों के सुःख दुःख का ज्ञान होना चाहिए, और ब्रह्मके ही सब स्थानोंमें जीव होनेसे बद्ध मुक्त, शिष्य गुरु, ज्ञानी अज्ञानी आदिकों की व्यवस्था न रहेगी क्योंकि सब जीव ब्रह्म का स्वरूप है, फिर कौन बद्ध कौन मुक्त कहा जाय? इस प्रश्न का कई एक अद्वैतवादी यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म के प्रतिबिम्बरूप जीवों के सुखित्व दुःखित्वादि धर्म हैं जैसाकि एक मुख के प्रतिबिम्बोंका छोटापन बड़ापन, मलीनता तथा स्वच्छता आदि मणि कृपाणादि वश से प्रतीत होते हैं, ननु "इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नाम रूप को करूं" इत्यादि श्रुतियों से यह कथन कर आये हैं कि जीव ब्रह्म से भिन्न है, फिर उपाधि भेद से व्यवस्था कैसे हो सकेगी?

उत्तर—वस्तुतः ऐसा ही है परन्तु कल्पित भेद को मान कर सुख दुःख की व्यवस्था कही गई है, यहां पर प्रश्न यह होता है कि किस की कल्पना ? शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो कल्पना शून्य होने के कारण उसकी कल्पना कथन करना तो सर्वथा असङ्गत है और जीवों की कल्पना में यह दोष है कि कल्पना हो तो जीव भाव बने और जीव भाव हो तो कल्पना बन सके। इस प्रकार परस्पराश्रय दोष लगने से दूसरा पक्ष भी समीचीन नहीं ? इसका उत्तर यह है कि बीजांकुर न्याय की भांति अविद्या तथा जीव भाव अनादि होने के कारण परस्पराश्रयदोष नहीं आता, इस लिये जीवों की कल्पना मानने में कोई बाधा नहीं अर्थात् नानारूप वाली अवस्तु भूत अविद्यामें गृह स्तम्भकी भांति परस्पराश्रयादि दोष नहीं आते तो वास्तव में ब्रह्म से व्यतिरिक्त जीव स्वभाव से शुद्ध होने पर भी तलवारमें प्रतिबिम्बित मुख श्यामतादिकी भांति औपाधिक अशुद्धि कल्पना बन सकती है, क्योंकि प्रतिबिम्ब गत श्यामतादि की भाँति जीव गत अशुद्धि भी भ्रांति है, यदि ऐसा मानें तो मोक्ष बन सकेगा और जीवों का भ्रम रूप प्रवाह अनादि होने से भ्रांति का मूल ढूंढ़ना ठीक नहीं। अब आगे का पूर्व पक्ष अद्वैतवाद को न समझे हुवे भेदवादियों की ओर से किया जाता है कि जीव को कल्पित स्वाभाविकरूपसे अविद्याका आश्रय मानने पर ब्रह्म ही अविद्याका आश्रय सिद्ध हुआ और ब्रह्म भिन्न कल्पित आकार से अविद्याश्रय मानने पर ही अविद्याश्रय मानना पड़ेगा, परन्तु अद्वैतवादी लोग चिद्रूप अचिद्रूप उक्त दोनों से पृथक् कोई आकार नहीं मानते यदि यह कहा जाय कि कल्पिताकार विशिष्ट रूपसे अविद्याश्रयत्व है तो ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यासे बिना अखण्डैकरस स्वरूप से विशिष्ट रूपसे सिद्ध न हो सकनेके कारण उसके विशिष्टरूपको ही अविद्याश्रयाकार कथन किया गया है इसके अतिरिक्त यह भी

है कि अद्वैतवादी लोग जीव के नाश को ही मुक्ति मानते हैं—सिद्धि के लिये अज्ञान को जीवाश्रित मानते हैं पर यह व्यवस्था जीव के अज्ञानी मानने पर भी नहीं बन सकती क्यों कि यह लोग अविद्या के नाश को ही मुक्ति मानते हैं, तब एकके मुक्त होने पर औरोंको भी मुक्त होना चाहिये, यदि यह कहा जाय कि अन्योंके मुक्त न होनेके कारण अविद्या बनी रहती है तो एककी भी मुक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि बन्धका कारण अविद्या बनी हुई है, यदि यह कहें कि प्रत्येक जीवकी अविद्या पृथक् २ है, जिसकी अविद्याका नाश होगा वह मुक्त हो जायगा और जिसकी बनी रहेगी वह बद्ध रहेगा, तो यहां प्रष्टव्य यह हैकि यह भेद स्वाभाविक है वा अविद्या कल्पित ? स्वाभाविक इसलिए नहीं कह सकते कि जीवोंके भेदके लिए जो अविद्या की कल्पना की गई है वह व्यर्थ हो जायगी, यदि कहोकि वह भेद अविद्या कल्पित है तो प्रश्न यह है कि भेदकी कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्मकी है वा जीवोंकी ? यदि ब्रह्मकी है तो हमारी ही बात माननी पड़ेगी, कि एक अविद्याके नाश होंनेसे सबकी मुक्ति कैसे हो जानी चाहिए, यदि जीवोंकी है तो प्रथम जीव हों तो उनके आश्रित अविद्या बने और अविद्या हो तो जीवोंका भेद हो सके यह इतरेतराश्रय दोष सर्वथा अनिवार्य बना रहेगा, यदि यह कहा जाय तो कि—बीजांकुरकी भांति उक्त दोष नहीं हो सकता, अर्थात् जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज इस प्रकार अविद्यासे जीव और जीवसे अविद्या होना सम्भव है, यह इस लिये ठीक नहीं कि बीजांकुर न्यायमें तो जिस बीजसे जो वृक्ष होता है उससे फिर वही बीज नहीं होता किन्तु दूसरा होता है, और यहां तो जिस अविद्यासे जो जीव कल्पना किये जाते हैं उन्हीं जीवोंको आश्रय करके वह अविद्यायें रहती हैं, यदि कहा जाय कि बीजांकुर न्याय

की भांति पूर्व २ जीवाश्रित अविद्याओंसे उत्तर २ जीवोंकी कल्पना हो सकती है, ऐसा माननेसे जीव अनित्य होगा, और बिना किए हुए कर्मका फल मिलना यह दोष भी आयेगा, इसी बातसे ब्रह्ममें भी पूर्व २ जीवके आश्रयसे उत्तर २ जीवकी कल्पनाका खण्डन समझ लेना चाहिए, अविद्याको प्रवाह रूपसे अनादि मानने पर तत्कल्पित जीवको भी प्रवाह रूपसे अनादि मानना पड़ेगा, इस लिए मोक्ष पर्यन्त जीव भावका नित्य रहना अद्वैतवादमें सिद्ध नहीं हो सकता और जो अविद्याको अनिर्वाचनीय मानकर उसमें इतरेतराश्रयादि दोषोंको भूषण-रूप माना है इसमें वक्तव्य यह है कि यदि ऐसा माना जाय तो मुक्त पुरुषोंको, और परब्रह्मको भी अविद्या ग्रस लेगी, यदि कहो कि वह शुद्ध और विद्या-स्वरूप है, इसलिये उनको अविद्या नहीं लग सकती तो फिर किस तर्कसे शुद्ध चेतनको अविद्या आश्रयण कर सकती है और उक्त व्यक्तियों से जीवको भी आश्रयण नहीं कर सकती, क्योंकि अविद्याके लगनेसे प्रथम वह भी शुद्ध था, इसके अतिरिक्त प्रष्टव्य यह है कि तत्व विज्ञानके होने पर अविद्या नाश परसे जीवका नाश होता है वा नहीं ? यदि होता है तो स्वरूप नाश रूप मोक्ष हुआ, यदि नहीं होता तो अविद्याके नाश होने पर भी मोक्ष नहीं होगा. अर्थात् ब्रह्म स्वरूपसे भिन्न जीव ज्योंका त्यों ही बना रहा फिर ब्रह्मात्मैकत्व रूप मोक्ष मानना ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैतवादियोंके मतमें ब्रह्मसे प्रथक् जीव बने रहनेसे मुक्ति नहीं होती और जो यह कहा गया है कि मणि तलवार और दर्पण आदिकोंमें जैसे मुख का मैलापन, वा शुद्धपन, अथवा छोटापन आदि प्रतीत होता है इसीप्रकार उपाधिभेदसे शुद्ध अशुद्ध आदिकों की व्यवस्था हो सकेगी, यहां विचारणीय यह है कि अल्पत्व, मलिनत्वादि जो उपाधिकृत दोष हैं वह कब नाश होंगे ? यदि कहा जाय कि तलवार आदि उपाधियोंके हट जानेसे, तो प्रश्न यह है कि

अल्पत्वादि प्रतिविम्ब रहेंगे वा नहीं ! यदि रहेंगें तो जीवके बने रहनेसे मुक्ति न होगी यदि मिट जावेगें तो फिरभी जीवका नाश रूपही मुक्ति हुई, और बात यह है कि जिसके मतमें अपुरुषार्थ रूप दोषोंकी प्रतीति बन्ध और उन दोषोंका नाशमुक्ति है उसके मतमें प्रष्टव्य यह है कि औपाधिकदोषोंकी प्रतीति बिम्बस्थीनाय ब्रह्मको है अथवा प्रतिविम्ब स्थानीय जीवको वा किसी अन्यकोहै? प्रथम दो विकल्पोंमें यह दृष्टान्त कि मलिनादि दोष कृपाणादि उपाधिवश होते हैं नहीं घट सकते, क्योंकि ब्रह्म निराकार है उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, यदि दोषोंका होना ब्रह्ममें माना जाय तो अविद्याका मानना पड़ेगा और वह प्रकाश स्वरूप होनेके कारण अविद्याका आश्रय नहीं हो सकता, तीसरा विकल्प इस लिए ठीक नहीं कि ब्रह्मसे भिन्न जीव कोई अन्य-दृष्टा नहीं फिर प्रश्न यह है। कि अविद्या जड़ होनेके कारण स्वयं कल्पना नहीं कर सकती और जीव अपनीं कल्पना इसलिए नहीं कर सकता कि आत्माश्रयका दोषका प्रसंग आता है. यदि यह कहा जाय कि शुक्ति रजतादिकों की भांति जीव अविद्या कल्पित होने के कारण ब्रह्म ही कल्पना करनेवाला है तो ऐसा मानने पर ब्रह्ममें अज्ञान आता है। यदि ब्रह्ममें अज्ञान मानें तो प्रश्न यह होगा कि ब्रह्म जीवों को जानता है वा नहीं ? यदि नहीं जानता तो ज्ञान-पूर्वक सृष्टि नहीं रच सकता, यदि जानता है तो ब्रह्म में अविद्या बनी ही रही, क्योंकि अद्वैतवादमें विना अज्ञानसे ब्रह्म में जानना नहीं होता, इसकथनसे माया और अविद्याके विभागका खण्डन समझ लेना चाहिए क्यों कि विना अज्ञानसे मायावाला ब्रह्मभी जीवोंको नहीं देखसकता यदि यह कहा जायकि ब्रह्मकी माया जीव दर्शन करानेकी शक्ति रखती हुई जीवोंके मोहन करनेका हेतु हो सकती है तब शुद्ध अखण्ड ब्रह्मके प्रति झूंठ जीवोंको दिखलानेवाली अविद्या ही माया नाम सेव्यवहृत होती है अविद्या पृथक् वस्त्वन्तर नहीं, यदि कहा

जायकि विपरीत दर्शनका हेतु अविद्या है और ब्रह्मसे भिन्न जो मिथ्या जगत् है इसको माया मिथ्या ही दिखलाती है इसलिए विपरीतदर्शनका हेतु न होनेसे मायाको अविद्या नहीं कहा जा सकता, यह बात ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रमाके एक जानने पर भी दो चांद ज्ञानका कारण अविद्या है। तथा च

अद्वैतवाद

श्री शङ्कराचार्य आदि ने वेदान्त आदि ग्रन्थों का अर्थ अद्वैत परक कियाहै। परन्तु हमारी दृष्टिमें प्रस्थान त्रयीका यह अभिप्राय नहीं है क्योंकि यदि एक ब्रह्म ही सब शरीरों में जीव भाव को अनुभव कर रहा है तो जैसे एक शरीर वाले को यह प्रतीति होती है कि मेरे पेट में दर्द है आंखादिमें नहीं है इसी प्रकार उसे अन्य सब जीवोंके भी सुख व दुःखोंका ज्ञान होना चाहिये। परन्तु हम देखते हैं कि एक जीवको दूसरे जीवोंके सुख दुःख आदि का अनुभव नहीं होता अतः यह सिद्ध है कि अद्वैतवाद अयुक्त है। तथा सब जीवों के ब्रह्म होने से, बद्ध, मुक्त, गुरु शिष्य, ज्ञानी अज्ञानी आदिकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। यदि यह कहा जाये कि सुख दुःख गुरु शिष्य ज्ञानी अज्ञानी सब कल्पना मात्र हैं वास्तविक नहीं है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये कल्पनायें किनकी हैं? ब्रह्मकी या जीवकी ? यदि कहो कि ब्रह्म की कल्पनायें हैं तो ब्रह्म तो शुद्धस्वरूप है उसमें तो कल्पना का होना आपके सिद्धान्त के विरुद्ध है। और यदि जीव की कल्पनायें मानें तो अन्योन्याश्रयदोष आता है क्योंकि कल्पना हो तब जीवत्व हो और जीवत्व होने से कल्पना हो सके। अतः परस्पराश्रयदोष होने से यह कल्पना भी युक्तियुक्त नहीं है।

तथा च अद्वैतवाद मानने पर वेदादि शास्त्र भी मिथ्या सिद्ध

हो जाते हैं। क्योंकि ये सब भी मायाकृत, कल्पित अथवा अविद्या जनित भेद हैं,अतः पुनः इन मिथ्या शास्त्रोंमें वर्णित मोक्षके उपायों का भी कुछ सार नहीं है। अतः वेदान्त दर्शनकारने स्वयं अद्वैत-वादका निराकरण निम्न शब्दोंमें किया है।

कृत्स्नप्रसक्ति निरवयव शब्दकोपो वा। २।२।२६

अर्थात्—दर्शनकार कहतेहैं कि अद्वैतवाद माननेपर यह शंका उत्पन्न होती है कि संपूर्ण ब्रह्म माया के चक्करमें आया हुआ है अथवा उसका कुछ अंश? यदि कहोकि समस्त ब्रह्म अविद्याग्रसित है तब तो आज तक किसीको मोक्ष हुआ ही नहीं है क्योंकि अभी तक अखिल ब्रह्म बन्धनमें है, जब अभीतक किसीको भी मुक्ति नहीं हुई तो आगे कोई मोक्ष प्राप्त करसकेगा इसमें क्या प्रमाण है अतः मोक्ष आदि उपदेश मिथ्या है। और यदि कहोकि ब्रह्मका एक देश माया के बन्धनमें है तो ब्रह्म को निरंश निरवयव कहने वाली श्रुतियों का उनपर कोप होगा। अर्थात् उन श्रुतियोंके विरुद्ध होनेसे यह कथन अमान्य होगा। इस प्रकारकी अनेक युक्तियोंसे इस कृत्स्नअधिकार' में अद्वैतवादका खंडन किया गया है अतः यह सिद्ध है कि वेदान्त दर्शनमें अद्वैतवाद का समर्थन नहीं किया गया है।

योग और ईश्वर

अब प्रश्न यह है कि योग जो सेश्वर सांख्य कहलाता हैं उस योगके ईश्वरका क्या स्वरूप है। इसका उत्तर स्वयं महाभारतकार देते हैं—

बुद्धः प्रतिबुद्धत्वाद् बुद्धमानं च तत्वतः।
बुद्धमानं च बुद्धं च प्रादुर्योग निदर्शनम्॥

महाभारत आदिपर्व अ० ३०८-४८

अर्थात्—योगदर्शनका ईश्वर बुद्ध (ज्ञान) स्वरूप है परन्तु वह अज्ञानवश जीवदशाको प्राप्त होरहा है।

अभिप्राय यह है कि योगकी परिभाषामें पदार्थ हैं एक बुद्ध दूसरा बुद्ध्यमान। बुद्ध परमात्मा तथा बुद्ध्यमान जीवात्मा बुद्ध्यमानके 'बुद्ध' होजाने कोही योग सिद्धान्त कहते हैं, जीवात्मा से परमात्मा होना यही योगका फल है। आगे इसको औरभी स्पष्ट करते हैं —

यदा स केवली भूतः षडविंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान् पुनर्जन्म न विद्यते॥

महाभारत आदिपर्व अ० ३१६

अर्थात्—जब वह जीवात्मा सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर 'केवली' निर्मल मुक्त होजाता है तो वह सर्वज्ञ (ईश्वर) होजाता है। फिर उसका जन्म आदि नहीं होता। वह सर्वज्ञ सम्पूर्ण अवस्थाओंको प्रत्यक्ष देखता है।

यहां जैन दर्शनका जीवात्मासे परमात्मा बनना तथा उसका सर्वज्ञहोना ही सिद्ध नहीं है अपितु उसके 'केवली' आदि पारभाषिक शब्दोंकी भी समानता है। इसी बातको पं०जयचंदजी विद्यालंकार (गुरुकुल कांगड़ीके स्नातक) ने 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा'में स्वीकार किया है। आप लिखतेहैं कि 'योगका ईश्वर, बुद्ध महावीर, कृष्ण अथवा रामके समान मुक्तात्मा ही है' वैदिक सिद्धान्त भी मुक्तात्माको ही ईश्वर मानता है।

इन सब के अलावा योग में ईश्वर का वाचक, 'ओम्' बताया है। 'ॐ'का अर्थ जीवात्मा ही है यह हम सिद्ध कर चुके हैं अतः इससे भी सिद्ध होताहैकि योगमें भी कोई जगत कर्त्ता विशेष ईश्वर नहीं माना गया है। अपितु मुक्त आत्मा को ही ईश्वर माना गया

है। और वह ईश्वर योगी के लिये एक अवलम्बन मात्र है। तथा यह भी स्मरण रखना चाहिये, कि इस योग सूत्र के कर्त्ता वे ही पतंजलि मुनि नहीं हैं, जो कि महाभाष्य के कर्त्ता हैं। क्योंकि महा भाष्य में कही भी ईश्वर शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ अतः यह पताञ्जलि अर्वाचीन व्यक्ति हैं।

सांख्य

भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन का बड़ा महत्व पूर्ण उच्च स्थान है। इसके रचयिता महा मुनि कपिल हैं। इनका कथन वेदों में भी आता है।

१ दर्शनामेकं कपिलं समानम्। १०।१६

गीता में भगवान कृष्णने कहा है कि 'सिद्धानां कपिलो मुनिः" अर्थात् सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ। अभिप्राय मह है कि सिद्धोंमें कपिल मुनि सर्व श्रेष्ठ हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता नामक ग्रन्थ में लिखा है कि कपिल त्रेता के आदि में हुये (अ० ११) वहां आवा-न्तर तथा हिरण्यगर्भ और कपिल का त्रेता के प्रारम्भ में उत्पन्न होना लिखा है कि इन्होंने वेद तथा सांख्य मार्ग एवं योग मार्ग को क्रमशः प्रचलित किया। यह प्रमाण कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता। कारण यह कि प्रथम तो येही अत्यन्त विवादास्पद विषय है कि त्रेताका आदि कब था तथा तीनों ऋषियोंका एक साथ होना भी गलत है। तीसरी बात यह है कि यह पुस्तक नवीनतर है। संभवतः ईसासे बादकी यह रचना है। महाभारत सभापर्व अध्याय ७२ श्लोक ६ में युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें कपिल मुनि विद्यमान थे।

याज्ञवल्क्यं च कपिलं च कापालं कौशिकं तथा ।

इससे स्पष्ट है कि सांख्य मतका प्रचार महाभारतके समय में हुआ ।

सांख्य सिद्धांत

सामान्यतया सांख्यके २४ या २५ तत्व गिने जाते हैं परन्तु इतिहाससे पता चलता है कि पहिले सांख्योंके तत्व निश्चित नहीं थे । महाभारत शान्ति पर्व अ० २७५ में असित् और देवलका संबाद दिया है । उसमें सृष्टिके तत्व इस प्रकार गिनाये हैं ।

महाभूतानि पञ्चैते तान्याहुर्भूतचिन्तकाः ।
तेभ्यः सृजति भूतानि काल आत्म प्रचोदितः ॥
एतेभ्यः यः परं ब्रूयादसत् ब्रूयादसंशयम् ।

इसमें स्पष्ट ही है कि सृष्टिके आठ कारण हैं, पांच महाभूत काल, बुद्धि, वासना । यह निश्चित है कि ये तत्व चार्वाक मतके नहीं थे । संभव है सांख्योंके ही ये तत्व हों क्योंकि असित् व देवल कपिलके शिष्य थे । एक स्थान पर सांख्योंके १७ तत्वोंका उल्लेख है ।

यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृत्तं षोडषभिर्गुणैः ।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥

शान्ति पर्व भीष्मस्तव

इसमें पांच महाभूत, दशेन्द्रिय और मन ये सोलह तत्व गिना कर १७ वां आत्मा मानकर १७ तत्व गिनाये हैं । प्रतीत होता है कि सांख्योंमें तथा योग मतमें पहिले यही १७ तत्व अथवा कुछ भेदसे दोनोंमें सामानतया माने जाते थे । परन्तु बादमें सांख्यके अन्य पञ्चशिख आदि आचार्योंने तत्वोंकी संख्या बढ़ाकर २४ अथवा

२५ कर दी। महाभारत तथा गीताके स्वाध्यायसे पता चलता है कि उस समय भारतवर्षमें सांख्य मतकी दुन्दुभी बज रही थीं, इसलिये शायद योगमत वालोंने भी इन तत्वोंको स्वीकार कर लिया हो, तथा उसमें आत्माके दो भेद, करके २६ भेद माने गये हो। वास्तवमें योगमतके २५ या २६ तत्वोंकी प्रसिद्धि नहीं है। पुराणादि अन्य किसी ग्रन्थसे इसकी साक्षी भी नहीं मिलती।

सांख्य वेद विरोधी था

महाभारतके शान्ति पर्व अध्याय २६८ में गाय और कपिल की एक कहानी लिखी है। उस समय यज्ञोंमें गोवध होता था. गौ ने आकर कपिलसे रक्षाकी प्रार्थनाकी उन्होंने अपना स्पष्ट मत घोषित किया कि वाहरे वेद! तेरी भी अजब लीला है तूने हिंसा को ही धर्म कह दिया है। प्रतीत होता है उन्होंने इसके विरुद्ध प्रचार भी किया होगा। सम्भवतः ब्राह्मणोंने इसीलिये इसको नास्तिककी पदवी दी होगी। वहां स्पष्ट लिखा है कि हिंसा धर्म नहीं हो सकता चाहे वह श्रुतिमें ही क्यों न लिखा हो।

ईश्वर और सांख्य

सांख्यमत प्रारम्भसे ही ईश्वरका विरोधी है। महाभारत शान्ति पर्व अ० ३०० में सांख्यवादियों और योग मार्गियोंके शास्त्रार्थका उल्लेख है। उसमें लिखा है कि योग वाले कहते थे कि ईश्वर है तथा सांख्य वाले कहते थे कि ईश्वर नहीं है, योगी लोग कहते थे कि यदि ईश्वर नहीं मानोगे तो मुक्ति कैसे होगी।

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रु कर्शनः ॥ ३ ॥

यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि योगियों का ईश्वर

वर्तमान् मान्यताके अनुसार सृष्टिकर्त्ता आदि गुणों वाला नहीं है, अपितु मुक्तिके लिये अवलम्बन मात्र है। मुक्त आत्मा ही योग-मतका परमात्मा है, यह हम पूर्व योगके कथनमें दिखला चुके हैं श्रीमान् लोकमान्य बालगंगाधर जी तिलकने अपने गीता रहस्यमें स्पष्ट लिखा हैकि "सांख्योंको द्वैतवादी अर्थात् प्रकृति और पुरुषको अनादि मानने वाला कहते हैं। वे लोग प्रकृति और पुरुषके परे ईश्वर, काल, स्वभाव, या अन्य मूल तत्वको नहीं मानते। इसका कारण यह है कि यदि ईश्वर आदि सगुण हैं तब तो उनके मतानु-सार वे प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं। और यदि निर्गुण मानें तो निर्गुण से सगुण पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होता।" गीता रहस्यमें ईश्वरकृष्ण रचित सांख्य कौमुदीका एक ऐसा श्लोक भी लिखा है जो प्राचीन पुस्तकोंमें था परन्तु बादमें किसी ईश्वर भक्तने निकाल दिया था। वह निम्न प्रकार है।

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा ।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

इस श्लोकमें तीनों कारणोंका स्पष्ट खण्डन किया है। इस विषयमें गीता रहस्य अधिक सुन्दर ग्रन्थ है। वर्तमान सांख्य दर्शन से यह 'सांख्य तत्व कौमुदी' बहुत प्राचीन है और सांख्यों का वास्तविक ग्रन्थ यही है। ऐसा सभी विद्वानों का मत है। अतः सांख्यकार निरीश्वरवादी था यह सिद्ध है।

सांख्य और संन्यास

जहां सांख्य वैदिक क्रिया काण्डका विरोधी था वहां सांख्य संन्यास का भी विरोधी था। शान्ति पर्व अ० ३२० में लिखा है कि धर्मराज जनक पंचशिखाचार्य का शिष्य था उसका और

सुलभा का वहां विवाद दिया है। सुलभा संन्यास के पक्ष में थी, और जनक विपक्ष में था। जनक ने कहा कि—

त्रिदण्डदिषु यद्यास्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित् ।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्य हेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥

इसका खण्डन सुलभा ने किया है। अतः स्पष्ट है कि सांख्य वादी उस समय के संन्यास के भी विरोधी थे। इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि कपिल वेद विरोधी मत था। योगी मतमें भी वैदिक क्रिया काण्डों के लिये कोई स्थान नहीं था। तथा न वह ईश्वर की ही कोई प्रथक सत्ता मानता था। इस लिये ये दोनों संप्रदाय एक ही समझे जाते थे। एक बात और भी है कि दोनों में अहिंसावाद की समानता थी तथा वैदिक हिंसा के दोनों ही विरोधी थे।

परन्तु योगमत संन्यास को मानता था। उसमें तप प्रधान था। तथा सांख्य में केवल ज्ञान प्रधान था सांख्य मत उपवास आदि को भी नहीं मानता था। योगमत में क्योंकि तप की प्रधानता थी। और वह कठिनतर हो गई थी, अतः जनता उससे ऊब गई थी ऐसे समय में सांख्य ने अपने सुगम ज्ञान मार्ग का प्रचार किया जनता तो प्रथम से ही किसी ऐसे सुलभ धर्म की खोज में थी बस जनता को कपिलका सहारा मिल गया इसलिये योगमत नष्ट प्राय होगया, और भारतमें सांख्य का शब्द गुञ्जायमान होने लगा। एक समय था जब बौद्धमत की तरह सांख्य मत का भी भारत में साम्राज्य था इसके अनेक आचार्य हुये हैं।

सांख्य तत्वोंकी भिन्न २ मान्यतायें

शान्तिपर्व अ० ३०६से ३०८ तक सांख्योंके २४तत्व इसप्रकारहैं। १ प्रकृति २ महत् ३ अहंकार, ४ से ८ तक पांच सूक्ष्म भूतमें आठमूल प्रकृति हैं तथा पांच स्थूलभूत और पांच इन्द्रियां, पांच

कर्मेन्द्रियां और मन ये २४ तत्व सांख्योंके निश्चत किए हैं। २५ वां तत्व पुरुष अथवा आत्मा है। वनपर्वके युधिष्टर व्याध सम्वादमें भी २४ तत्वोंका उल्लेख है। परन्तु वे उपर्युक्त त्वोंसे भिन्न प्रतीत होते हैं।

महाभूतानि खं वायुरग्निरापश्च ताश्च भू ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धश्च तद्गुणाः ॥
षष्टश्च चेतना नाम मन इत्यभिधोयते ।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहंकारस्ततः परम् ॥
इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्वं तमस्तथा ।
इत्येव सप्तदशको राशिरव्यक्त संज्ञकः ॥
सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः ।
चतुर्विंशक इत्येवं व्यक्ताव्यक्तमयोगुणाः ॥ अ० २१०

अभिप्राय यह कि ५ महाभूत ६ मन ७ बुद्धि ८ अहंकार ५ इन्द्रियां तथा ५ उनके अर्थ तन्मात्रायें। व्यक्त और अव्यक्त इस प्रकार २४ तत्व यहां माने गए हैं। परन्तु है गड़बड़ क्योंकि जब १७ तत्वोंकी १७की राशिको अव्यक्त कहचुके हैं तो पुनः व्यक्त और अव्यक्त प्रथक् कैसे गिना दिए।

इत्यादि अनेक बातें यहां विचारणीय हैं। इसी प्रकार कहीं १७ तत्व हैं तो कहीं १६ माने गए हैं। कहीं २४ तो कहीं २५ और कहीं २६ भी कह दिये हैं। इन सब परस्पर विरुद्ध बातोंसे स्पष्ट है कि उस समय तक सांख्य के तत्व निश्चित नहीं हुए थे और इन तत्वोंके माननेमें भी विद्वानोंकी अनेक शंकायें थीं। उसी समय चार्वाक मतका भी प्रचार होने लगा था। उसके अनुयायीआकाश को कोई तत्व नहीं मानतेथे। अन्य परोक्ष तत्वोंकी तो बातकी क्या

थी। इसीप्रकार सांख्य मतके साथ २ चार्वाक मतका भी भारतमें जन्म हुआ उसने जनतामें तर्क बुद्धि उत्पन्न कर दी । इसीलिए सांख्य विषयक अनेक सिद्धान्तोंमें लोगों को शंकायें उठने लगीं थीं। इन शंकाओंने शनैः २ अपना विकराल रूप धारण किया और जनतामें चार्वाक मतका प्रचार उन्नति करने लगा।

अस्तु उपरोक्त कथनसे सांख्योंकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

नाम करण

सांख्य दर्शन का नाम करण ही इसके मूल सिद्धान्तका द्योतक है। यह सांख्य, शब्द संख्या से बना है। प्रकृति और पुरुष के विवेक को संख्या कहते हैं। सांख्य दर्शन में इस संख्या अर्थात् प्रकृति और पुरुष का विवेक कथन किया गया है । इसलिये इसका नाम सांख्य है ।

इसके सिद्धान्त उपनिषदों तथा वेदों में भी बीज रूप से मिलते हैं। वर्तमान समय में सांख्य सिद्धान्त के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। (१) सांख्य कारिका (२) सांख्य सूत्र, इनमें सांख्य कारिका ही प्राचीन है। यह ऐतिहासिकों का सर्वमान्य सिद्धान्त हैं (श्री शङ्कराचार्य जी आदि प्राचीन आचार्यों ने सांख्य का समालोचना करते हुये कारिका की ही समालोचना की है, अतः सिद्ध है कि उस समय तक सांख्य सूत्रों की रचना नहीं हुई थी। सांख्य दर्शन और सांख्य कारिका दोनों ही ग्रन्थ अनीश्वरवादी हैं। तथा जगत का कारण एक मात्र प्रकृतिको ही मानते हैं। पुराणोंमें उस प्रकृति को ही शक्तिके रूपमें माना गया है। तथा देवी भागवतमें उसीका नाम देवीहै। यही ईश्वरी, जननी, माया आदि नामोंसे विख्यात है।

शक्ति

त्वमेव जननी मूल प्रकृतिरीश्वरी,
त्वमेवाद्या सृष्टि विधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका।
कामार्थे सगुणात्वं च वस्तुतो निर्गुणास्त्वयम्,
परब्रह्मस्वरूपात्वं सत्या नित्या सनातनी।
तेजः स्वरुपा परमा भक्तानुग्रह विग्रहा,
सर्वस्वरुपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा।
सर्वबीज स्वरुपा च सर्वपूज्या निराश्रया,
सर्वज्ञा सर्वतो भद्रा सर्वमंगल मंगला॥
ब्रह्म वैवर्तपुराण प्रकृति खण्ड २-६६-७-१०
अहं वसुभिश्चरामि, ऋग्वेद। मं० १०-२२५
प्रकृष्ट वाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टि वाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता। देवी भा०

इस प्रकार सांख्यवादी प्रकृतिको ही इस जगतका एकमात्र स्वतन्त्र कारण मानते हैं। तथा ऋग्वेदमें जो वागांभ्रणी सूक्त आया है उसका अर्थ भी वे लोग प्रकृति ही करते हैं। अधिक क्या सांख्याचार्योंके मतमें उन सब श्रुतियोंका (जिनमें ईश्वरका कथन बतलाया जाता है) अर्थ भी प्रकृति परक ही किया जाता है। इसको स्वयं सांख्यसूत्र में ही माना गया है। जैसा कि हम आगे दिखलावेंगे श्री माधवाचार्यने सर्वदर्शन संग्रहमें सांख्यका वाक्य इस प्रकार लिखा है।

यस्तु परमेश्वरः करुणया प्रवर्तक इति परमेश्वरास्तित्व वादिनां डिंडिमः स प्रायेण गतः विकल्पानुपपत्तेः। शक्तिः सृष्टेः प्राक् प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकाले वा।

आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुपत्तौ जीवानां दुःख प्रहणेच्छानुत्पत्तिः। द्वितीये परस्पराश्रय प्रसंगः करुणया सृष्टिः सृष्टया च कारुण्यमिति ॥

अर्थात्—जो लोग सृष्टि रचनामें ईश्वरका दयाभाव कारण है इस प्रकार बिगुल बजाते फिरते थे वह अब हवा हुआ। क्योंकि प्रश्न यह है कि ईश्वरकी प्रवृत्ति जगतसे पहले थी या जगतके पश्चात् प्रवृत्ति हुई। यदि प्रवृत्ति पहले हुई तो करुणाका अभाव सिद्ध होगया क्योंकि सृष्टिसे पूर्व कोई भी दुखी नहीं था फिर दया किस पर आई। यदि कहो उसकी प्रवृति बादमें होती है तो जगत कर्त्ता न रहा क्योंकि उसकी प्रवृति से पूर्व ही सृष्टि थी। तथा यहां करुणा द्वारा जगत् और जगतसे करुणा होने पर अन्योन्याश्रय दोष भी है।

तथा वैदिक दर्शनके सुप्रसिद्ध तार्किक शिरोमणि वाचस्पति मिश्रने सांख्यकारिका नं०५७ की टीका करते हुए उपरोक्त प्रश्नोंके अलावा एक यह भी प्रश्न उठाया है कि यदि यह मानभी लिया जाय कि जगत्‌रचनामें ईश्वरकी दया ही कारणहै फिरभी यह प्रश्न होता हैकि उसने सब जीवोंको सुखी क्यों न बनाया यदि यह कहो कि विचित्रता कर्मानुसारहै तब ईश्वर तथा ईश्वरकी दया कारण न रहा क्योंकि इस अवस्थामें ईश्वर अकिंचितकर रहा। तथा जब कर्मोंका ही फल है तो दया न रही।

अपि च करुणा प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून सृजेदत्र कर्म विचित्राद् वैचित्र्यम् इति चेत् कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन । इत्यादि ।

अभिप्राय यह है कि जब से कपिल मुनि हुये उस समय से आज तक के सभी विद्वानों ने यह माना है कि सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है । महाभारत के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि कपिल लोग न सिर्फ अनीश्वरवादी थे अपितु वे ईश्वर के विरुद्ध खुले आम प्रचार भी करते थे । तथा इस विषय में शास्त्रार्थ भी करते थे । ये सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रमाण इतने प्रबल हैं कि कोई बुद्धिमान् इनका निरादर नहीं कर सकता । इसके पश्चात् भारतीय दर्शनकारों ने भी तथा उन दर्शनों के एवं सांख्य के भाष्यकारों ने भी इसीकी पुष्टि की है कि यह दर्शन ईश्वर का विरोधी है । इसके अलावा जैन, बौद्ध आचार्यों ने भी इसको अनीश्वरवादी लिखा है । अर्थात् श्री शङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, कुमारिलाचार्य, आदि सभी आचार्यों ने तथा वाचस्पति मिश्र जैसे महान् सभी विद्वानोंने इसको अनीश्वरवादी माना है । इसके पश्चात संसारके सभी प्राचीन भाष्यकारोंने भी ऐसा ही माना है वर्तमान समयके सभी स्वतन्त्र विचार वाले विद्वानों का तथा सभी ऐतिहासिक विशेषज्ञों का यही मत है । अतः यह स्पष्ट सिद्ध है कि सांख्य दर्शन ईश्वरका कट्टर विरोधी है परन्तु फिरभी यह बहिरंग परीक्षा है अतः अब हम इसकी अंतरंग परीक्षा करते हैं । क्योंकि वर्तमान समय के कुछ साम्प्रदायिक महाशयों का यह हठ है कि सांख्य दर्शन भी ईश्वरवादी है ।

—*—

दर्शन परिचय और सांख्य दर्शन

दर्शन परिचयके विद्वान लेखकने लिखा है कि—

"सांख्य दर्शनको देखने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उस में खूब खूब ईश्वरका खंडन किया गया है। सांख्यकारिकामें भी ईश्वरका खंडन किया है। छहों दर्शनोंके टीकाकार प्रख्यात दार्शनिक वाचस्पति मिश्रने तो अपनी सांख्य तत्व कौमुदीमें एक बार ही ईश्वरको उड़ा दिया है। सांख्य दर्शनके प्रथमाध्यायका ६३ वां सूत्र है—"ईश्वरासिद्धे" इस सूत्रका अभिप्राय यह है कि ईश्वर सिद्ध ही नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण करते हुए यह सूत्र आया है। पहले सूत्रमें दर्शनकारने लिखा है कि "बाहरकी किसी भी चीजसे इंन्द्रियोंका सन्निकर्ष या सम्बन्ध होने से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।" इस लक्षण पर यह संदेह उठाया गया है कि "नहीं यह लक्षण ही ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरके पास तो कोई इन्द्रिय नहीं है और वह सब पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर लेता है इसी शंकाका उत्तर देते हुए दर्शनकार कहते हैं।—ईश्वरा सिद्धे" अर्थात् जबकि ईश्वर ही अप्रमाणिक या असिद्ध है तब उसकी काहेकी इन्द्रियां और उसका कैसा प्रत्यक्ष ज्ञान ?

किन्तु सांख्य सूत्रोंकी समालोचना करनेसे तो दिलमें यही बात बैठती है कि सांख्यमें निरीश्वरवाद भरा पड़ा है। "ईश्वरा-सिद्धे" के आगे वाले सूत्रों पर ध्यान देनेसे निरीश्वरवादकी पूरी पुष्टि होती है।

"मुक्त वद्धयोरन्यतरा भावान्नतत् सिद्धिः" ९३ ॥

"उभयथाप्य सत्करत्वम् ।" ९४ ॥

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा" ९५ ॥

इनका. अभिप्राय यह है कि यदि कोई ईश्वर है तो वह कैसा है, वह मोक्ष प्राप्त कर चुका है या बद्ध है। यदि ईश्वर मुक्त है तो उसे कभी कोई भी काम करनेकी न तो इच्छा होगी और न प्रवृत्ति। और पुनः आपका ईश्वर विना इच्छाके कैसे सृष्टि बना सकता है। यदि कहोकि ईश्वरकी अभी मुक्ति नहीं हुई है तो फिर वह भी हम अबोध जीवोंकी तरह जरासी शक्ति रखने वाला कोई जीव होनेके कारण न तो सृष्टि ही बना सकता है और न पक्ष पात द्वेष और दुःखसे ही बच सकता है। इस पर यदि तुम यह कहो कि, जिन शास्त्रोंमें ईश्वरका कथन है वे क्या झूठे हैं। तो इस का उत्तर यह है कि वे सब शास्त्र मुक्त या सिद्ध आत्माओंकी प्रशंसाके लिये उन्हें ईश्वर बताते हैं। तुम्हारे सृष्टिकर्त्ता ईश्वरके लिये वे कुछ नहीं कहते हैं। इन तीनों सूत्रोंसे भी महर्षि कपिलने ईश्वरका स्पष्ट खंडन किया है। और क्या आगे चलकर इस दर्शन के पाँचवें अध्यायमें कपिलजीने स्पष्ट कह दिया है कि—प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द इन तीनों ही प्रमाणोंसे ईश्वर सिद्ध नहीं होता। ईश्वर खंडनमें यहां ये सूत्र हैं—

"प्रमाणा भावान्नतत् सिद्धिः।" १० ॥

"सम्बन्धाभावान्नानुमानम्" ११ ॥

"श्रुति रपि प्रधान कार्यत्वस्य"। १२ ॥

प्रथम सूत्रका तात्पर्य यह है कि ईश्वरास्तित्वमें कोई भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नहीं है। इसलिये वह असिद्ध है। अब यदि यह कहा जायकि अनुमान आदिप्रमाणोंसे ईश्वरकी सिद्धि है तो भी ठीक नहीं क्योंकि धूमादिकी तरह उसका किसीके साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, अतः अनुमानसे भी ईश्वर असिद्ध है। अब रहगया शब्द प्रमाण वह भी ईश्वरको संसारका कर्त्ता नहीं मानता

वेद भी जगतको प्रकृतिका ही कार्य मानता है। वहां भी ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जो लोग ईश्वरके अस्तित्व और अधिष्ठातृत्व में अन्यान्य युक्तियां दिखाते हैं। उनका भी सांख्यने खूब खंडन किया है। यह खंडन भी पाँचवें अध्याय में ही है। पहले पूर्व पक्ष देखिये। कुछ लोग कहते हैं कि जैसे राजा अपने साम्राज्यमें दुष्टोंको दंड और सज्जनोंका सम्मान करता है। वैसे ही ईश्वर भी प्राणियोंके कर्मानुसार उन्हें फल देता है। इसपर सांख्य कहताहै। ईश्वर कर्मा-सार फल प्रदान करता है या अपनी इच्छाके अनुसार यदि कर्मा-नुसार तब कर्म ही अपने स्वभावानुसार जीवोंको फल दे लेगा ईश्वरकी क्या जरूरत है। यदि अपनी इच्छानुसार फल देता है तो यह प्रश्न सहज ही है कि इस इच्छामें उसका क्या स्वार्थ है। क्योंकि संसारमें देखा जाता है कि किसी उद्देश्य या स्वार्थके वश होकर ही कोई भी जीव काम करता है। फिर यदि ईश्वर भी अपने स्वार्थके लिये ही कार्य करता है तो वह भी एक सामान्य राजा ही ठहर, और राजाकी तरह वह भी दुखी होगा। स्पष्ट बात यह है कि विना राग या इच्छाके सृष्टि नहीं हो सकती। और राग वाला ईश्वर साधारण जीवोंकी तरह ही विनाशशील होगा हां एक बात और भी है। यदि प्रकृतिकी इच्छाशक्तिको संग ले कर तुम्हारा ईश्वर सब कर्म करता है। तो वह इस इच्छा या वासनाके संग दोषसे उसी तरह प्रसित हो जायगा जिस तरह एक साधारण जीव। कोई २ यह भी कहते हैं कि प्रकृतिकी सहायतासे ईश्वर सृष्टि करता है। इस पर सांख्य कहता है कि तब तो सभी पुरुष ईश्वर हो सकते हैं। उपरकी इन कई युक्तियोंसे सांख्य दर्शन ने निरीश्वरवाद स्थापित किया है। साथ ही तीसरे अध्यायमें जो "ईश्वरेश्वर सिद्धिः सिद्धाः······ ······" सूत्र है उससे यह भी

जान पड़ता है कि सांख्याचार्य लोग पूर्व कल्पके सिद्ध जीवोंको ही ब्रह्मा, विष्णु, आदि के रूपोंमें प्रकट हुए मानते हैं। इस सूत्र का अभिप्राय है कि विवेक ज्ञानसे जो जीव ईश्वर हो गये हैं या जो जन्य ईश्वर हैं वे या उनका अस्तित्व सांख्य को स्वीकार है।

सत्यार्थ प्रकाश और सांख्य दर्शन

कुछ विद्वान अपनीपुष्टिमें सांख्यसूत्रोंके प्रमाणदेकर यह सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं कि सांख्यदर्शन में जो सूत्र ईश्वरके निषेधक हैं, उनमें उपादान कारणका निषेध है। अर्थात् सूत्रोंका अभिप्राय ईश्वरके निमित्त कारणका निषेध करना नहीं। इस विचारका मूलकारण सत्यार्थ प्रकाश है। अर्थात् ये लोग अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से कुछभी विचार नहीं करते तथा न कभी इन दर्शनों के दर्शन करनेका कष्टही उठाते हैं। ये इन सूत्रोंका उपरोक्त अर्थ इसलिए मानते हैं क्यूंकि सत्यार्थ प्रकाश में ऐसा लिखा है। अतः हम उसीपर प्रकाश डालते हैं।

सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में, सांख्यदर्शनके तीन सूत्र तो पूर्व पक्षमें (अर्थात् प्रश्नरूपमें दिये हैं) उनमें एक तो यही प्रसिद्ध सूत्र।

ईश्वरासिद्धेः। अ० १। ९२।

तथा दो सूत्र पांचवी अध्यायके एक दसवां और ग्यारहवां।

"प्रमाणाभावान्न तत् सिद्धिः"

"अनुमानाभावान्नानुमानम्"

इसी प्रकार उत्तर पक्षमें भी पांचवीं अध्यायके तीन सूत्र दिये

हैं। अर्थात् आठवां, नववां और बारहवां। प्रतीत होता है कि सत्यार्थ प्रकाशके लेखकके पास या तो सांख्य दर्शनकी पुस्तक नहीं थी, या उसमें से वे पृष्ठ जिनमें ईश्वर निषेधके अन्य सूत्र हैं गुम गये थे। अन्यथा प्रथम अध्यायका एक ही सूत्र लिखकर एकदम पांचवीं अध्याय पर जा पहुंचने का और क्या कारण हो सकता है। इसके अलावा इन सूत्रोंका अर्थ भी नितान्त गलत है यथा सूत्र है।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ ५६ ॥

आपने इसका अर्थ किया है कि "जो चेतनसे जगत्‌की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर सर्वेश्वर्य युक्त है वैसा संसारमें भी सर्वेश्वर्यका योग होना चाहिये सो नहीं है, इसलिये परमेश्वर जगत्‌क उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है"

इस सम्पूर्ण लेखका मूल सूत्रके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है सूत्रमें तो इस लेखका ही खण्डन है। क्योंकि सूत्रका सीधा-सादा और सरल अर्थ यह है कि यदि सत्ता मात्रसे ही आपका ईश्वर, ईश्वर है, तब तो सम्पूर्ण पदार्थ ईश्वर कहलायेंगे, क्योंकि उनकी भी सत्ता है। इसमें उपादान कारणका नहीं किन्तु निमित्त कारण का ही खण्डन किया गया है। निमित्त कारण दो प्रकारके होते हैं। एक प्रेरक अर्थात् कर्ता दूसरा उदासीन अर्थात् निर्पेक्ष उसको सत्तामात्रसे कारण कहते हैं। प्रेरक निनित्त कारणका खण्ड इससे प्रथमके सूत्र ८में किया है। इसके पश्चात् सूत्र १०में प्रत्यक्ष प्रमाण और सूत्र ११ में अनुमान प्रमाण तथा सूत्र १२ में शब्द प्रमाण द्वारा ईश्वरका खण्डन किया है। अर्थात् आचार्यने यह सिद्ध किया है कि ईश्वरकी सिद्धि में न प्रत्यक्ष तथा न अनुमान प्रमाण है और न शब्द प्रमाण ही। क्योंकि वेदादि शास्त्रोंमें कल्पित ईश्वरका कहीं संकेत तकभी नहीं है। यह तो हुई पांचवें अध्याय

की कथा। अब जरा प्रथम अध्याय परभी विचार करलें। इस अध्यायका आपने एक ही सूत्र दिया है, परन्तु उससे आगे भी ईश्वर खण्डनमें अनेक सूत्रहैं। जिनको हमभाष्यसहित पहले लिख चुके हैं। तथा आगे भी लिखेंगे। इसके अलावा तीसरे अध्यायमें ईश्वरके विरोध में जो युक्तियां दीगई हैं उनको यहां क्यों नहीं लिखा गया। यह भी एक रहस्य है।

आस्तिकवाद और सांख्यदर्शन

आस्तिक वादमें प्रथम अध्याय का वही प्रथम सूत्र पूर्वपक्षमें रखकर उसके अर्थके लिये उससे पूर्वके तीन सूत्र और लिखकर–

(ईश्वरासिद्धेः। १। ९३।)

आप लिखते हैं कि यहाँ यह स्पष्ट होगया है कि यह सब सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाणके लक्षणके ही सम्बन्धमें हैं। ईश्वर सिद्धिका प्रकरण नहीं है।

आगे आपने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि योगियों के प्रत्यक्षका तथा ईश्वरके प्रत्यक्षका यहाँ विरोध नहीं है। अपितु यहाँ यह अभिप्राय है कि ईश्वर सर्व साधारणके प्रत्यक्षका विषय नहीं है। आगे लिखा है कि "यहाँ एक बात और स्मरण रहनी चाहिये कि सूत्रमें "ईश्वरासिद्धेः" शब्द है। 'ईश्वराभावात्, नहीं। अर्थात् कपिल नास्तिक होते तो कहते। ईश्वरका अभाव होनेसे।

अभावके स्थानमें 'असिद्धि" कहनेका तात्पर्य ही यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वर का सम्बन्ध नहीं। आगे आपने कुछ सूत्र ईश्वरको सिद्ध करनेके लिये दिये हैं तथा कुछ वेदोंको अपौरुषेय बतलानेके लिये दिये हैं और कुछ सूत्र आपने कर्मफलके लिये दिये हैं। वेद और कर्मफलके विषयमें तो हम आगे यथा स्थान

लिखेंगे। यहाँ तो सृष्टिकर्ता ईश्वरका प्रकरण है अतः उन सूत्रों पर विचार करते हैं। जिनसे आपने ईश्वरकी सिद्धी की है।

स हि सर्ववित् सर्व कर्ता। ३।५६।

ईदृशेश्वर सिद्धिस्सिद्धा। ३। ५७।

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रुपता। ५।११६।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः। ५।११७।

इनका अर्थ करते हुये आप लिखते हैं कि–"अर्थात् वह ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता है। इस सूत्रमें ईश्वरको सर्वज्ञ और सृष्टि-कर्त्ता कहा है। यह ईश्वर नहीं तो क्या है।

आस्तिक लोग यही तो कहते हैं कि ऐसी कोई सत्ता है जो सब चीजोंका ज्ञान रखती है. और संसारको बनाती है॥ ५६॥

इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है। किस प्रकारके ईश्वर की जो सर्वज्ञ और सृष्टिकर्ता हो॥ ५७॥ आदि

३—इस सूत्रमें बताया गया है कि जीवको समाधि सुषुप्ति और मोक्ष दशामें ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है।

४—समाधि और सुषुप्तिमें तो दुःखका बीज रहता है और मोक्षमें वह भी नष्ट हो जाता है "आगे आपने पांचवी अध्यायके वे ही १०, ११, १२ सूत्र लिखकर यह लिखा है कि ये सूत्र ईश्वर के उपादान कारणका खण्डन करते हैं। निमित्त कारणका नहीं।"

परन्तु आपकी इन युक्तियोंका तथा सत्यार्थमें किये गये अर्थों का खण्डन स्वयं आर्यसमाजके सुयोग्य विद्वानने ही किया है अतः उसीको यहां लिख देते हैं।

प्रपंच परिचय

गुरुकुल कांगड़ीके सुयोग्य स्नातक प्रो० विश्वेश्वर सिद्धान्त

शिरोमणिने सृष्टिकर्त्ता पर "प्रपंच परिचय नामसे एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। उसमें आपने भी सांख्यको ईश्वरवादी माना है। किन्तु उन्होंने इन पूर्वोक्त दोनों महानुभावोंकी तरह सूत्रोंके अर्थोंका अनर्थ नहीं किया है। इसके लिये हम आपको धन्यवाद देते हैं। आपके लेखका सारांश यह है कि उन सूत्रोंका (जिनसे सांख्य को अनीश्वर वादी कहा जाता है) अर्थ तो वही है जो अनीश्वरवादी करते हैं। अर्थात् कपिलाचार्यने ईश्वरका खण्डन किया है यह तो ठीक है. परन्तु वह हृदयसे नहीं किया है। अपितु प्रतिपक्षीको चुप करनेके लिये दबी जबानसे खण्डन किया है। आपने अपनी पुष्टिमें. विज्ञानभिक्षु. का प्रमाण भी दिया है। तथा वही युक्ति भी दी है कि सूत्रमें "ईश्वरासिद्धेः" शब्द ही यह सिद्ध करता है कि यह खण्डन प्रतिपक्षीको चुप करानेके लिये किया है अन्यथा आचार्य सूत्र "ईश्वराभावात" ऐसा बनाते। आगे आप ने भी पांचवीं अध्यायके वे ही तीन सूत्र देकर यह सिद्ध किया है कि यह सब खण्डन हार्दिक नहीं है क्योंकि दबी जबानसे किया गया है।

यह सब आपने बड़ी लच्छेदार भाषामें लिखा है। जिसमें आप साहित्यिक सिद्ध होते हैं। हम आपके ही शब्दोंमें आपका भाव लिखते हैं।

"सूत्रका अर्थ यह है कि अभी तो ईश्वरकी सत्ता ही असिद्ध और विवादास्पद है। जब तक उसकी सिद्धि नहीं तब तक उस असिद्ध ईश्वरके आधार पर हमारे प्रत्यक्ष लक्षणको सदोष बत-लाना कहां तक न्याय संगत ठहराया जा सकता है। आगे पांचवी अध्यायके सूत्रोंका अर्थ निम्न प्रकार किया है।

"इन तीनों सूत्रोंका आशय यह है कि ईश्वरकी सत्ताका समर्थक कोई प्रमाण नहीं है। फिर विना प्रमाणके उसकी सिद्धि

कैसे होसकती है। ईश्वर सिद्धके लिये प्रत्यक्ष प्रमाणका आश्रय लेनेका दुःसाहस तो कट्टरसे कट्टर प्रत्यक्षवादी भी नहीं करता, हां उसके लिये अनुमान या शब्द प्रमाणका ही दरवाजा खटखटाया जाता है' परन्तु वहां भी ईश्वर सिद्धके लिये स्थान नहीं है। सबसे पहले अनुमानके लिये व्याप्तिग्रहकी आवश्यकता है जो विना प्रत्यक्ष के सिद्ध ही नहीं हो सकता, और प्रत्यक्ष वेचारा ईश्वरके बिषयमें सर्वथा अन्यथा सिद्ध है। तब व्याप्तिग्रह सिद्ध न होनेपर अनुमान भी कैसे हो सकेगा।···रहा शब्द सो वह ईश्वरके पक्ष में गवाही देनेको तैयार नहीं है। क्योंकि श्रुति (वेद) तोजगत्‌को प्रधान (प्रकृति) का कार्य बताती है। ईश्वरका विश्व विधानके लिये कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता।' आगे आप लिखते हैं कि 'इस प्रकृति पुरुषके भेद ज्ञान या ममत्वके नाशके लियेईश्वर सिद्ध का कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। ईश्वरकी सिद्धि उनके उद्देश्य साधनमें विशेष उपयोगी तो है नहीं हां, यह उस साधकके चित्तको ऐश्वर्य प्राप्ति की ओर आकृष्ट करके विवेकाभ्यासमें विघ्न अवश्य पैदा करती है इसलिये हम देखते हैं कि सांख्याचार्यने ईश्वर के झगड़ेमें अपना समय गंवानेका कष्ट नहीं किया है।"

वास्तवमें यह लेख उपरोक्त दोनों पुस्तकों का उत्तर रूप है। क्योंकि इसमें स्पष्ट है कि सूत्रोंमें ईश्वरकी सत्ताका निषेध है। उपादान कारणका नहीं अतः जो सज्जन इनसे उपादान कारणका निषेध बताते हैं। यह गलत है। अब रह गया प्रश्न 'अभाव' का अर्थात् सूत्रमें असिद्धि शब्द क्यों है। यदि उनको ईश्वर कानिषेध करना था तो वे 'ईश्वराभात्' सूत्र रचते इसका उत्तर यह है कि यदि वे 'अभावात्' सूत्र रचते तो वे अपनी दार्शनिकता को बट्टा लगा लेते क्योंकि उस समय यह प्रश्न उपस्थित होता कि आपने अभाव कैसे जाना। तब पुनः उनको यही उत्तर देना पड़ता कि

वह प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता इसलिये अभाव है अतः उन्होंने यह पहले ही असिद्ध शब्द रख दिया ताकि प्रश्नका अवसर ही न आवे, तथा अभाव चार प्रकारके हैं उनमें से कौनसा अभाव है। इत्यादि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते। यह तो योग्य स्नातकने अपने लेख में स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह ईश्वर साधक की सिद्धि में विघ्नकारक हैं कि यह ठीक है परन्तु आपका यह लिखना ठीक नहीं कि फिर सांख्याचार्यने ईश्वरकी सिद्धिके झगड़ेमें अपना समय नहीं गंवाया क्योंकि सांख्याचार्य ने ईश्वरका खण्डन प्रबल युक्तियों और प्रमाणोंसे किया है। अतः लेखक का यह लिखना चाहिये था कि इसीलिये सांख्याचार्यने ईश्वरका जोरदार खण्डन कियाहै। रहगया प्रश्न दबी जावनका उसका उत्तरतोआपने स्वयंसूत्रों का अर्थ करके दे दिया है। अतः ये सब बातें व्यर्थ हैं। शेष रहते हैं,आस्तिकवादमें दिये गये, सर्ववित् आदि सूत्र जिनको उन्होंने ईश्वर सिद्धिमें दिये हैं। अतः अब हम उनपर विचार करते हैं। प्रथम हम सूत्र लिखकर उसका अर्थ लिखते हैं पुनः शंकासमाधान।

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। ३। ५६।

प्राचीन आचार्योंने इसके दो अर्थ किये हैं। एक आचार्य तो 'स' शब्दसे प्रधान लेते हैं।तथा दूसरे आचार्य मुक्त पुरुष। ये दोनों ही अर्थ सांख्य प्रक्रिया के अनुकूल हैं। विज्ञानभिक्षु के भाष्यमें जिसको सेश्वर भाष्य कहा जाता है लिखा है कि—

सः इत्यस्य पूर्वसर्गे कारण लीनः पुरुषएव गृह्यते स एव सर्गान्तरे सर्ववित्, सर्वकर्ता, ईश्वरः आदि पुरुषो भवति।

अर्थात्—यहां 'स' प्रकृति लीन महा योगी है। वह योगी ही सर्गान्तरमें सर्व वित्त, सर्व कर्त्ता ईश्वर आदि पुरुष होता है। अर्थात् जीवन मुक्त महानात्माको ही ईश्वर कहते हैं। अब इस पर

आपने यह प्रश्न किया है कि योगियोंको या मुक्तात्माओंको तो चाँद सूरजका कर्त्ता जैन आदि भी नहीं मानते पुनः यह अर्थ किस प्रकार ठीक हो सकता है। उत्तर—आपके इस प्रश्नका उत्तर स्वयं सूत्रकारने दिया है, वहां यही प्रश्न किया गया है कि—

एवं तर्हि स हि सर्ववित् सर्वस्य कर्ता इत्यादि श्रुतिबाधः मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा । १ । ९५

अर्थात् जब आपने ईश्वरका खंडन कर दिया तो सहि सर्ववित् सर्व कर्त्ता. अर्थात् वही सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता है, आदि श्रुतियोंके साथ विरोध होगा। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि विरोध नहीं है क्योंकि उन श्रुतियोंमें जीवन मुक्तात्माओंकी अथवा योगियोंकी प्रशंसा मात्र है। उन श्रुतियों का विशेष विवेचन हम पहले कर चुके हैं। स्वयं आस्तिकवादके लेखकने ही आचार्यको द्यौ और पृथ्वी आदिका कर्ता माना है। तो क्या वास्तवमें आचार्य इनका कर्त्ता है। इस पर कहा जाता है कि बनानेका अर्थ उपदेश देकर उनका प्रकाश करना है। ठीक यही अर्थ कर्त्ताका यहां है वह जीवन मुक्त जीवोंको उपदेश देकर इनका ज्ञान कराता है यही उसका जगत कर्त्तापन है। जैन शास्त्रोंमें भी उनको कर्त्ता आदि लिखा है।यथा—

विश्वयोनि कारणं कर्ता, भवान्तक, हिरण्यगर्भ विश्व-भृद् विश्वसृज। (जिनवाणी संग्रह)

मीमांसकोंकी परिभाषामें इसीको अर्थवाद कहते हैं यहां भी यही भाव है जो सांख्याचार्यका है। अर्थात् वह मुक्तात्मा उपदेश द्वारा विश्वका ज्ञान करानेसे विश्वके कर्त्ता हैं। यही वैदिक मान्यता है। जिसको हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि सांख्य दर्शनमें इस काल्पनिक ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है।

वैशेषिक दर्शन

भारतीयदर्शनोंमें वैशेषिकदर्शनका भी मुख्य स्थान है।

इसके रचयिता कणादमुनि कहे जाते हैं। इनका जन्म कब और कहां हुआ यह भी निश्चित नहीं है। परन्तु वेदान्त सांख्य आदि दर्शनोंसे यह प्राचीन है यह बात निश्चित है।

वैशेषिकदर्शन में भी ईश्वरके लिये स्थान नहीं है। उसके निम्न कारण हैं।

(१) वैशेषिकदर्शनमें न तो ईश्वर आदि शब्दोंका व्यवहार हुआ है. और न उसकी सृष्टि रचनामें ही आवश्यक्ता समझी गई है।

(२) कर्मफलके लिये तथा जगत्‌रचनाके लिये वैशेषिकने ईश्वर के स्थानमें अदृष्टकी कल्पनाकी है।

(३) प्राचीन आचार्योंने तथा भाष्यकारोंने इस दर्शनको भी अनीईश्वरवादी ही मानते है।

अतः अंतरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षासे यह स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि वैशेषिकदर्शन भी ईश्वरका विरोधी था सर्वप्रथम हम बहिरङ्ग परीक्षा करते हैं।

उसके लिये हम प्रथम वेदान्तसूत्रका प्रमाण उपस्थित करतेहैं।

इसका भाष्य करते हुये श्री शंकराचार्यने लिखा है कि—

'परमाणु जगतका कारण है कणादिका यह सिद्धांन्त है। परन्तु यह बन नहीं सकता, क्योंकि परमाणु उसके मतमें स्वयं क्रिया नहीं करसकता. और विना क्रियाके जगत उत्पन्न नहीं होगा

यदि आद्यकर्मका कारण अदृष्ट मानें (जैसा कि कणाद मानता है) तो भी जगत नहीं बन सकेगा क्योंकि फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कर्म आत्मामें है या अणुमें। दोनों प्रकारसे

अदृष्ट अणुमें कर्मका होना असंभव है क्योंकि अदृष्ट अचेतन है और यदि अचेतन चेतन से अधिष्ठित न हो तो वह स्वतंत्रता से न तो प्रवृत्त ही हो सकता और न किसीको प्रवृत करा सकता है क्योंकि (कणादके मतमें) चैतन्य उत्पन्न न हुआ हो उस अवस्था में आत्मा तो अचेतन ही है। यदि अदृष्ट आत्मामें समवायी है ऐसा स्वीकार कर लो, तो भी वह अणुओंमें कर्मका निमित्त नहीं बन सकता क्योंकि उसका अदृष्टके साथ संबन्ध ही नहीं है। यदि कहोगे कि अदृष्टयुक्त पुरुषके साथ उसका (अणुओंका) सम्बन्ध है। तो वह संबध नित्य सिद्ध होगी, क्योंकि आपके यहां और कोई नियामक नहीं है। इस प्रकार कर्मका कोई नियत नियम नहीं मिलनेसे अणुओंका आद्यकर्म नहीं होगा। कर्मके अभावसे कर्मसे बनने वाला संयोग नहीं होगा। और संयोगके न होने से उससे होने वाला कार्य समूह भी उत्पन्न नहीं होगा।

इसी प्रकार प्रलय कालमें विभागकी उत्पत्तिके लिये कोई निमित्त देखनेमें नहीं आता (क्योंकि वैशेषिकके मतमें) अदृष्ट भोगकी सिद्धिके लिये है प्रलयकी सिद्धिके लिये नहीं है। इसीलिए निमित्त के अभावसे अणुओंमें संयोगकी या विभागकी उत्पत्तिके लिए कर्म नहीं बन सकता संयोग और वियोगके अभावसे उनसे होने वाले सृष्टि और प्रलयका अभाव स्वयं सिद्ध हो जाता है इसलिए परमाणुवाद अयुक्त है।

उपरोक्त सूत्र और भाष्यमें स्पष्ट प्रकट है कि वेदान्त-सूत्रके कर्ता तथा उसके भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य दोनों ही वैशेषिकको अनीश्वरवादी मानते थे। "भारतीय दर्शनका इतिहास" नामक पुस्तकमें देवराजजी ने लिखा है कि "इस आलोचनासे मालूम होता है कि सूत्रकार और शंकराचार्य दोनों वैशेषिकको अनीश्वर-वादी समझते थे, क्योंकि ईश्वर परमाणुओंके प्रथम संयोगका

कारण होता है यह तर्क आलोचनामें नहीं उठाया गया है "३०३ तथा पृ० २५३ पर आप लिखते हैं कि—

"वैशेषिक सूत्रोंमें ईश्वरका वर्णन नहीं है । विद्वानोंका अनुमान है कि वैशेषिक पहले अनीश्वरवादी था। वास्तवमें न्याय और वैशेषिक दोनों में जड़वादी प्रवृत्ति पाई जाती है" ।

तथा पृ० २५० पर लिखते हैं कि "न्याय वैशेषिकका मत श्रौत या वेदमूलक नहीं है । उपनिषदोंमें ब्रह्म और मुक्त पुरुषके आनंद मय होनेका स्पष्ट वर्णन है" ।

तथा महाभारत मीमांसामें (रायसाहबने) लिखा है कि "उपनिषद्में परब्रह्म वाची शब्द आत्मा है ।

'आत्मा और परमात्माका भेद उपनिषद्को मालूम नहीं है" । इससे भी यही सिद्ध होता है कि न्याय और वैशेषिक अवैदिक दर्शन हैं । क्योंकि ये आत्माको आनन्दमय नहीं मानते हैं । तथा "भारतीय दर्शन" में वल्देव उपाध्याय "लिखते हैं कि" वैशेषिक मतमें परमाणु स्वभावतः शांत अवस्थामें निष्पन्द रूपसे निवास करते हैं । उनमें प्रथम परिस्पन्दका क्या कारण है ।

प्राचीन वैशेषिक लोग प्राणियोंके धर्माधर्म रूपको इसका कारण बतलाते हैं ।

अदृष्टकी दार्शनिक कल्पना बड़ी विलक्षण है । अयस्कान्तमणि की ओर सूईकी स्वाभाविक गति, वृक्षोंके भीतर रसका नीचेसे ऊपर चढ़ना. अग्निकी लपटोंका ऊपर उठना, वायुकी तिरछी गति मन तथा परमाणुओंकी आद्य स्पंदनात्मक क्रिया—अदृष्टके द्वारा जन्य बतलाई जाती है । पर पीछेके आचार्योंने अदृष्टकी सहकारितासे ईश्वरकी इच्छासे ही परमाणुओंमें स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि क्रिया मानी है" ।

यहां भी स्पष्ट है कि वैशेषिक तथा उसके प्राचीन आचार्य

अनीश्वरवादी थे. नवीन विद्वानोंने उसमें उदृष्टके साथ ईश्वरेच्छा भी जोड़ दी। बादमें नैयायिकोंने अदृष्टको बिलकुल ही उड़ा दिया और उसका स्थान ईश्वरको दे दिया।

एवं दर्शन दिग्दर्शनमें "राहुलजी" लिखते हैं कि—"ईश्वरको पीछेके ग्रन्थकारोंने आठ गुणों वाला माना है। किन्तु कणाद सूत्रोंमें ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है। वहां तो ईश्वरका काम अदृष्टसे लिया गया है।"

इत्यादि अनेक प्रमाण इस विषयमें दिये जा सकते हैं परन्तु हम विस्तारभयसे यहीं समाप्त करते हैं।

यदि अन्तरंग परीक्षा करें तो भी हम इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि वैशेषिक दर्शन में ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है। क्योंकि वैशेषिक जितने पदार्थ मानता है उनमें ईश्वर नामका कोई पदार्थ नहीं है। यथा वैशेषिक छह पदार्थ मानता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, इनमें द्रव्य नव प्रकारके होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

इनमें वैशेषिक आत्माको प्रति शरीर पृथक् पृथक् असंख्य या अनंत मानता है। वह आत्मा के लिए कहता है कि यह स्वल्पविषयक अनित्य ज्ञानवान है।

आत्मा के

सामान्य गुण	(व)	विशेषगुण
(१) संख्या		(१) बुद्धि
(२) परिमाण		(२) सुख
(३) पृथक्त्व		(३) दुःख
(४) संयोग		(४) इच्छा
(५) विभाग		(५) द्वेष

(६) प्रयत्न
(७) भावना
(८) धर्म
(९) अधर्म

मुक्त अवस्थामें केवल सामान्य गुण ही रह जाते हैं, और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा आदि विशेष गुणोंका नाश होजाता है।

वैषेशिक दर्शनके मूलसिद्धान्त निम्न हैं।

(१) परमाणुवाद, जगतके मूल उपादान परमाणु हैं। भिन्न भिन्न परमाणुओंके संयोगसे भिन्न २ वस्तुयें बनी हैं।

(२) परमाणुओंमें संयोगविभागका निमित्तकारण (अदृष्ट) जीवोंके कर्म अर्थात् धर्म्मा धर्म हैं।

(३) अनेक आत्मवाद, आत्मा अनेक हैं तथा अपने २ अदृष्टानुसार कर्मफल भोग करनेके लिये वे उपयुक्त शरीर धारण करती हैं।

(४) असत्कार्यवाद—कार्य अनित्य है, उत्पत्तिसे पूर्व कार्यका सर्वथा अभाव रहता है, विनाशके बाद फिर उसका अभाव हो जाता है।

मन और आत्माके संयोगसे आत्मामें उत्पन्न होता है।

(५) परमाणु नित्यवाद—परमाणु नित्य हैं, निरवयव होनेके कारण परमाणुओंका कभी नाश नहीं होता है, कार्य द्रव्य सावयव होनेके कारण अनित्य हैं।

अवयवोंका विच्छेद होना ही नाश कहलाता है।

(६) षट्पदार्थवाद—पदार्थ छै ही हैं जैसा कि पहले लिख आए।

(७) मोक्ष, आत्माके विशेष गुणोंके नाश होनेका नाम मोक्षहै।

यह मोक्ष तत्वज्ञानसे प्राप्त होता है।

(८) पुनर्जन्मवाद—यह जीव कर्मानुसार अनेक शरीरोंको धारण करता रहता है।

(९) पीलुपाकवाद—पाक दो प्रकारके माने जाते हैं (१) पिठरपाक (२) पीलुपाक।

(१) पिठरपाक—नैयायिकों का सिद्धान्त है कि घड़ेको आग में डालने पर, घड़ेका नाश नहीं होता, अपितु छिद्रोंमेंसे होकर गरमी परमाणुओंके रंग को बदल देती है, अतः घड़ेका पाक होता है परमाणुओंका नहीं। इसका नाम पिठरपाक है।

(२) पीलु (अणु) पाक, वैशेषिकके मतमें अग्निके व्यापारसे परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं। पुनः वे ही परमाणु पक कर लाल होकर पुनः घटका रूप धारण करते हैं। इसे कहते हैं पीलुपाक अर्थात् परमाणुपाक. वैशेषिक पीलुपाकवादी हैं।

अभिप्राय यह है कि वैशेषिकके मतमें ६ पदार्थ हैं उनमेंसे ईश्वर द्रव्य ही हो सकता है अतः हमने द्रव्यके भेद लिखे हैं। उनमें आत्मा हीको ईश्वर कह सकते हैं शेष द्रव्योंको तो किसीने भी ईश्वर नहीं माना है। परन्तु वैशेषिकोंका आत्मा ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभावसे ज्ञानशून्य एवं जड़ है तथा अनन्त हैं। परन्तु ईश्वरको स्वभावसे ही आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ माना जाता है (अदृष्ट जो कि जगतका निमित्त कारण है वह भी ईश्वर नहीं है क्योंकि वह भी जड़ है वास्तवमें न्याय और वैशेषिक जड़वादी दर्शन हैं। चार्वाककी तरह उनके यहां भी चैतन्य और ज्ञान आदि प्रकृतिके ही कार्य हैं। यही कारण है कि इनको अवैदिक दर्शन माना जाता था। किसी कविने कहा है कि—

मुक्तये सर्वजीवानां यः शिलात्वं प्रयच्छति,
स एको गौतमः प्रोक्तः उलूकश्च तथापरः ।
वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्,
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन ॥

जो मुक्तिके लिये सब जीवोंको पत्थर बनता है वह एक तो गोतम (बैल) है और दूसरा उलूक (उल्लू) है ।

वृन्दावनमें मैं शृगाल आदि बनकर रहना पसन्द करूंगा परन्तु वैशेषिककी मुक्तिकी कभी अभिलाषा नहीं करूंगा ।

इस जड़वादी दर्शनमेंसे भी ईश्वर भक्तोंने ईश्वरको निकालने का प्रयत्न किया है उनका कथन है कि—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ वै० सू० १।१।३

इस सूत्रमें ईश्वरका कथन है क्योंकि इस सूत्रका अर्थ है तत् अर्थात् उस ईश्वरका वचन होनेसे वेद प्रामाणिक हैं ।

हमें वह नियम ज्ञात नहीं जिसमें यह बताया गया है कि जहां जहां, स, या तत्, आदि शब्द आवें वहां वहां उनका अर्थ ईश्वर करना चाहिये । यदि यह नियम नया आविष्कृत हुआ हो तो उसको प्रकाशित कर देना चाहिये । ताकि इससे जनता लाभ उठा सके । यदि ऐसा कोई नियम इजाद नहीं किया गया है तब तो यहां तत्, शब्दके अर्थ ईश्वर करना अपनी महान् अज्ञानता प्रगट करना है, क्योंकि इससे पूर्वके सूत्रमें धर्मका लक्षण किया गया है, यथा—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्मः ॥ वै० २।१।२

उसीका आगे कथन है कि तद्वचनाद् अर्थात् उस धर्मका (जिसका पूर्वसूत्रमें लक्षण है) वचन होने से ही शास्त्र प्रमाण है।

जब न तो ईश्वरका पहले कथन है और न बादमें ही कहीं जिकर है तो यहां 'तत्' में ईश्वरने आकर कैसे प्रवेश करलिया। अतः यहां ईश्वर अर्थ करना जनता में भ्रम फैलाना है तथा सुप्रसिद्ध वैशेषिक टीकाकार शंकरमिश्र ने अपनी उपस्कार नामक टीकामें तत् शब्दका अर्थ धर्मही किया है।

इसी प्रकार अन्य भाष्यकारों ने तथा टीकाकारोंने भी यही अर्थ किया है। इसी प्रकार अध्याय २।१।१८ में जहां योगियोंके प्रत्यक्षका कथन है वहां भी इन भक्तोंने ईश्वरको घर घसीटा है ?

इत्यादि व्यर्थ प्रयासों से इस दर्शनको ईश्वरवादी बनाने का प्रयत्न किया है, नवीन वैशेषिकों ने जो ईश्वर कल्पना की है उसका विचार हम तर्क प्रकरणमें करेंगे, यहां तो ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बतलाया गया है कि कणादके समय तक भी भारत में ईश्वर का आविष्कार नहीं हुआ था।

बा० सम्पूर्णानन्दजी लिखते हैं कि "वैशेषिकका मत तो बहुत ही स्थूल है। आज अनात्मवादी वैज्ञानिक और समाजवादी दार्शनिक भी इतने स्वतंत्र पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं समझता।

परमाणुओंको त्रसरेणु-सूर्य किरणोंमें देखपड़ने वाले रजकण के छह भागके बराबर मानना हास्यास्पद है। उससे भी अधिक हास्यास्पद सोनेको शुद्ध तेज मानना है" 'भारतीय सृष्टिक्रम' यहां प्रश्न यह है कि इन द्रव्योंका (जो वैशेषिकदर्शनमें हैं) नियामक क्या है तथा च जो इस दर्शनमें ६ पदार्थ माने गये हैं उनका भी नियामक क्या है ? अर्थात् यह पदार्थ न्यूनाधिक नहीं हो सकते इसमें क्या प्रमाण है। तथा च मनको द्रव्य माना तो बुद्धिमें क्या दोष था जो उसको तिलाञ्जलि देदी। तथा यह नियम है कि स्वतन्त्र पदार्थ किसीके आश्रित नहीं होता परन्तु कणादने गुण

और कर्मकी स्वतन्त्र सत्ता मानकर भी उन्हें द्रव्यके आधीन कर दिया। जातिकी कल्पना भी एक अनोखी सूझ है। वैशेषिक-दर्शनकार कणाद पर श्रीमान पं० अशोकने एक ताना कसा है। आप लिखते हैं कि पांच अंगुलियोंसे पृथक् सामान्य रूपसे जो व्यक्ति छठे पदार्थका भी अस्तित्व बताता है उसे अपने सिर पर सींगोंका भी सद्भाव मानना चाहिये।

पाँच तत्व

अनुमान पांच या ६ वर्ष हुए जब काशी विश्व विद्यालयमें पंचमहाभूत परिषद् हुई थी उसमें नवीन वैज्ञानिकोंको भी निमंत्रण दिया गया था, वैज्ञानिकोंने कहा कि आप लोग सबसे पूर्व भूतका लक्षण करें इस पर वैदिक दार्शनिकोंने पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल. आकाशको मूल पदार्थ बताया। वैज्ञानिकोंने इसका जोरदार खंडन किया और कहाकि ये मूल भूत पदार्थ नहीं है। उन्होंने कहा कि—

आप हमें जलके परमाणु दे दें हम उनकी आग, हवा, आदि बना देंगे, इसी प्रकार आगके परमाणुओंसे जल आदि इसी तरह अन्य परमाणुओंसे भी। वास्तव में जल आदि सब पदार्थ आक्सिजन आदि गैसोंके समिश्रणसे बने हैं।

अवैदिक है

जहां यह वर्तमान विज्ञानके विरुद्ध हैं वहां यह पंचभूत कल्पना वैदिक साहित्यसे भी सर्वथा विरुद्ध हैं। क्योंकि वेदोंमें तथा ब्राह्मण उपनिषदादिमें कहीं भी इनको मूल पदार्थ नहीं माना अपितु इनको अनित्य माना है।

"आत्मनः, आकाशः, सम्भूतः, आकाशादवायुः"

वेदान्त सांख्य योग मीमांसा आदि दर्शनोंने तथा बौद्ध और जैन शास्त्रोंने इस मान्यताका भयानक खंडन किया है। वास्तवमें यह भारतीय मान्यता नहीं है यह तो यूनानसे आईहुई सौगात है।

क्या शब्द आकाशका गुण है ?

इस वैज्ञानिक युगमें शब्दको आकाशका गुण मानना भी अपने हठधर्मका परिचय देना है। रेडियो तथा फोनोग्राफ व सिनेमाने यह सिद्ध कर दिया है कि शब्द गुण नहीं अपितु प्राकृतिक चित्र हैं। आज शब्दोंके चित्र भी लिये जाते हैं। आज उस की गतिका पता है आदि बातें शब्दके गुण होनेका प्रत्यक्ष खंडन है। इसीलिए जैन शास्त्रोंमें "स, शब्दः पुद्गलश्चित्रः" लिखा है उन्हीं चित्रोंको जैन भाषामें शब्द वर्गणा कहते हैं।

न्याय दर्शन

षट्दर्शनोंमें एक यही दर्शन ऐसा है जिसको कट्टर ईश्वरवादी समझा जाता है। अतः अब इस दर्शनका विचार करते हैं (गी० रहस्यके पृ१५० में लिखा है, नैयायिक दो प्रकारके हैं। एक ईश्वर वादी तथा दूसरे अनीश्वरवादी (अनीश्वरवादी नैयायिकके विषय में एक कथा प्रचलितहै जब वह विद्वान अन्तिम श्वास लेरहाथा तो लोगोंने उससे कहाकि-अब तो ईश्वर ईश्वर जपो तो उसने उत्तरमें पीलवः पीलवः कहना शुरू कर दिया। परन्तु हमें यहां इस पर विचार नहीं करना है अपितु ऐतहासिक दृष्टिसे पहले सूत्रों का ही विचार करना है। सूत्रोंके विषयमें सृष्टिवाद और ईश्वरमें

मुनि रतनचन्दजी शतावधानी लिखते हैं कि न्यायदर्शनमें जो ईश्वरका कथन है वह सूत्रकारका अपना मत नहीं है। अपितु उन्होंने दूसरेके मतका उल्लेख मात्र किया है।

न्यायदर्शनकार गौतमऋषिने स्वतन्त्र रूपसे अपनी निजी मान्यताके रूपमें ईश्वरको स्वीकार नहीं किया है परन्तु चौथे अध्यायके पहले आह्निकके १६ वें सूत्रमें अन्यवादियों द्वारा स्वीकृत ईश्वरका उल्लेख किया है और अभाववादी, शून्यवादी, स्वभाववादी इन सब वादियोंकी मान्यतायें तीन २ चार २ सूत्रोंमें दिखलाई हैं। साथ ही ईश्वरवादी की मान्यता भी तीन सूत्रों में बतलाई है। सूत्रका शीर्षक बनाते हुये अवतरणके रूपमें भाष्यकार वात्स्यायन भी यही कहते हैं कि 'अथापर आह' अर्थात् अभाववादीकी ओर से अपनी मान्यता बता देने के पश्चात् अपर अर्थात् ईश्वरवादी कहता है कि—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् (न्या० सू० ४।१।१६)
न पुरुषकर्माभावे फलनिष्पत्तेः। (न्या० सू० ४।१।२०)
तत्कारितत्वादहेतुः। (न्या० सू० ४।२१)

अर्थ, मनुष्यका प्रयत्न निष्फल न जाने पाये इसलिये कर्मफल प्रदाताके रूपमें ईश्वरको कारण मानना आवश्यक है।

दूसरा वादी शंका करता हैकि—ऐसा माननेसे तो पुरुष कर्मके बिना भी फलकी प्राप्ति होगी, कारण कि ईश्वरकी इच्छा नित्य है।

ईश्वरवादी उत्तर देता है कि पुरुषकर्म भी तो ईश्वर प्रेरित ही होता है अतः तुम्हारा यह हेतु हेत्वाभास है, अर्थ साधक नहीं है।

ईश्वरको कर्मफलके रूपमें स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी के ऊपर कहे गये तीन सूत्रोंको गौतम मुनिने अपने न्याय दर्शनमें स्थान जरूर दिया है परन्तु वे दूसरे की मान्यताके रूपमें हैं अपनी मान्यता के रूपमें नहीं। इससे यही कहा जा सकता है कि पतंजलिमुनिके समान गौतमने ईश्वरवाद को स्वीकार नहीं किया है कपिलके समान निषेध भी नहीं किया है और कणादके समान इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहनेके लिये मौन भी नहीं रक्खा है। हां दूसरेकी मान्यताको अपने सन्दर्भमें मात्र स्थान दिया है यह मान्यता भाष्यकार तथा टीकाकारोंको इष्ट होनेके कारण अन्यथा कहिये कि अपनी मान्यताके सम्बन्धमें अनुकूल एवं समर्थक मालूम होनेके कारण भाष्यकार तथा टीकाकार दोनों ही ने गौतम महर्षिके अपनी निजी सूत्रोंके रूपमें उनपर अपनी ओरसे गहरी छाप लगादी है। भाष्यकार वात्स्यायनने सूत्रके बिना भी स्वतन्त्र रूप में अपने न्याय भाष्यमें ईश्वरका स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है।

"गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः। तस्यात्मकल्पात् कल्पान्तरानुपपत्तिः। अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञान-समाधिसंपदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्य च धर्म-समाधिफल मणिमाद्यष्ट विधमैश्वर्यं संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसंचयान् पृथ्व्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। एवं च स्वकृताभ्यागमस्यालोपेन निर्माण प्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्।

अर्थ गुण विशेषसे युक्त एक प्रकारका आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर आत्मतत्व से कोई पृथक वस्तु नहीं है। अधर्म मिथ्याज्ञान

तथा प्रमाद उसमें बिलकुल नहीं है इसके विपरीत धर्म, ज्ञान तथा समाधि सम्पदा से वह पूर्णतया युक्त है। अर्थात् धर्मज्ञान और समाधि विशिष्ट आत्मा ही वास्तवमें ईश्वर है। धर्म तथा समाधि के फलस्वरूप अणिमा आदि आठ प्रकार का ऐश्वर्य उसके पास है ईश्वरको धर्म संकल्प मात्रसे उत्पन्न होता है किसी प्रकारके क्रियानुष्ठानसे नहीं। ईश्वरका वह धर्म ही प्रत्येक आत्माके धर्मा-धर्म संचयको तथा पृथिवी आदि भूतोंको प्रवर्ताता है—अर्थात् प्रवृति कराता है इस प्रकार स्वीकार करने से स्वकृताभ्यगमका लोप न होकर ईश्वरको सृष्टि निर्माणादि कार्य स्वकृत कर्मका फल ही जानना चाहिये।

ब्रह्म का खण्डन और ईश्वरका समर्थन

भाष्यकार ब्रह्मका खंडन और ईश्वर का समर्थन करते हुए कहते हैं कि—

"न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम् बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गै निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागम विषयातीतं कः शक्तः उपपादयितुम्। स्वकृताभ्यागमलोपेन च प्रवर्तमानस्यास्य यदुक्तं प्रतिषेध जातं। अकर्म निमित्ते शरीरसर्गे तत्सर्वं प्रसज्यते।

अर्थ—बुद्धिके अतिरिक्त और कोई धर्म ईश्वरकी उपपत्ति या सिद्धि करनेमें लिङ्ग हेतु नहीं बन सकता। ब्रह्म तो बुद्धि आदि धर्म माने नहीं जाते, फिर बतलाइये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के सर्वथा अविषय भूत ब्रह्मकी कौन सिद्धि कर सकता है। तथा उसमें सृष्टिजनक स्वकृतधर्मरूप कर्मका अभ्यागम स्वीकार नहीं किया गया फलतः अकर्मनिमित्तक शरीर सर्गकी मान्यतामें जितने

दोष आते हैं वे सब दोष यहां ब्रह्म सृष्टिमें भी ज्योंके त्यों उपस्थित होंगे उनका परिहार कैसे हो सकेगा ?

भाष्यकारका आशय क्या है ? पाठक ऊपरके उद्धरणोंसे बहुत कुछ समझ गये होंगे ? भाष्यकारके माने हुए ईश्वरमें बुद्धि संकल्प आदि होनेके कारण संकल्पसे सृष्टिजनक धर्मरूप कर्म उत्पन्न होता है और उसके द्वारा सृष्टि निर्माणका कार्य सम्भव बनाया जाता है। परन्तु ब्रह्ममें तो बुद्धि संकल्प आदि कुछ भी न होनेसे सृष्टिजनक कर्म नहीं उत्पन्न हो पाता है । फलतः सृष्टि निर्माण भी सर्वदा सर्वथा असंभावित ही बना रहता है। तथा ब्रह्मको जाननेके लिए कोई प्रमाण भी नहीं है अतः प्रमाण बहिर्भूत ब्रह्मके कौन बुद्धिशाली मान सकता है ? इस प्रकार ब्रह्मवाद को पराजित करनेके लिए ईश्वरवादका विस्तार शुरू हुआ। भाष्य कारकी तरफसे ईश्वरवाद पर इस भांति स्वीकार सूचक छाप लग जानेसे न्याय कुसुमांजलि, न्याय वार्तिक, न्यायमञ्जरी, न्याय कंदली आदि अनेकानेक न्याय ग्रन्थोंमें ईश्वरवाद अधिकाधिक पल्लवित होता चला गया। आपके इस कथनकी पुष्टि सर्व दर्शनसंग्रहसे भी होती है। वहां लिखा है कि—

एवं च प्रतितंत्र सिद्धान्त मिदंपरमेश्वरप्रामाण्यं संगृहीतं भवति ।

अर्थात्—इस प्रकार प्रतितंत्र सिद्धान्त द्वारा सिद्ध परमेश्वर संगृहीत होता है ।

दर्शन दिग्दर्शनमें राहुलजी लिखते हैं कि—

"अक्षपादने ईश्वरको अपने ११ प्रमेयों नहीं गिना है। (१) और न कहीं उन्होंने साफ कहा है कि ईश्वरको भी वह आत्माके अन्तरगत मानते हैं। ऊपर जो मनको आत्माका साधन कहा है

उससे भी यही साबित होता है कि आत्मासे उनका मतलब जीव से है। अपने सारे दर्शनमें अक्षपादका ईश्वर पर कोई जोर नहीं है। और न ईश्वर वाले प्रकरण को हटा देनेसे उनके दर्शनमें कोई कमी रह जाती है। ऐसी अवस्थामें न्याय सूत्रोंमें यदि क्षेपक हुए हैं तो उनमें इन तीन सूत्रोंको भी ले सकते हैं। जिनमें ईश्वर की सत्ता सिद्धकी गई है। डा० सतीशचंद्र विद्याभूषणने जहां न्याय सूत्रके बहुतसे भागको पीछेका क्षेपक मान लिया है फिर इन तीन सूत्रोंका क्षेपक होना बहुत ज्यादह नहीं है"।

अर्थात्—आपके मतमें ये तीन सूत्र जिनमें ईश्वरका कथन है प्रक्षिप्त हैं। हमारी अपनी धारणा यह है कि ईश्वरका अर्थ परमेश्वर नहीं है अपितु मीमांसाका अपूर्व तथा वैशेषिक का अदृष्ट ही न्याय दर्शनका ईश्वर है। क्योंकि संपूर्णदर्शनको यदि विचार दृष्टिसे देखा जाये तो यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि न्यायदर्शन में भी ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं है, उसके निम्न कारण हैं।

(१) प्रमेय न्यायाचार्यने जब प्रमेय गिनाये तो उनमें ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं रखा। इससे सिद्ध होता है कि गौतममुनि की दृष्टिमें ईश्वर प्रमेय नहीं है अर्थात् न तो वह ज्ञानका विषय है और न उसका तत्व जाना जासकता है। बादके नैयायिकोंने भाष्य आदि में आत्माके अन्तरगत ही ईश्वरको माना है इसलिये न्याय दर्शनमें आत्माका क्या स्वरूप है यह जानना आवश्यक है। अतः हम उसका वर्णन करते हैं।

नोट—प्रमेय १२ हैं, प्रमा विषयत्वं। अथवा यो, अर्थः तत्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्॥

अर्थात्—जो ज्ञान (बुद्धि) का विषय हो या जिसको तत्वतः जाना जाय वह प्रमेय है।

श्रीमान् पं० हरिदत्त जी शर्मा त्रिवेदी अमृतसरने रहस्य लहरी नामसे ईश उपनिषद्का भाष्य किया है उसमें आप लिखते हैं कि "ईश्वरः कारणम्" तत्कारित्वाद हेतुः ॥११॥ इन सूत्रोंके वात्स्यायन भाष्यमें ईश्वरका अर्थ जीव विशेष किया है।

वहां लिखा है कि "नात्म कल्पादन्यः कल्पोऽस्ति" अर्थात् जीव वर्गसे भिन्न वर्गका कोई ईश्वर विशेष नहीं है किसी योग आदि सामर्थ्यसे धर्म ज्ञान वैराग्य जिसमें सबसे अधिक होगया है उसीसे यह सब व्याप्त है अतः उसी योगीश्वर जीव के अर्पण कर भोग करो 'ईशावास्य' इस श्रुतिका यह अभिप्राय है' अतः यह सिद्ध है कि न्याय दर्शनमें तथा वैदिकवांगमयमें मुक्तात्माओं को ही परमात्मा, ब्रह्म ईश आदि नामोंसे संबोधित किया है।

आत्मा

न्यायदर्शनकी आत्मामें तथा वैशेषिक की आत्मामें कुछ भी भेद नहीं है। अर्थात् दोनों दर्शनोंमें आत्माका स्वरूप एकसा है। न्यायका सिद्धान्त है कि—

शरीरेन्द्रिय बुद्धिभ्यः पृथगात्माविभुर्ध्रुवः ॥

अर्थात्—शरीर इन्द्रियबुद्धिसे प्रथक् आत्मा है और विभु है तथा नित्य है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब आत्मा विभु है तब यह शरीर से संबंधित कैसे है। इसका उत्तर नैयायिक देते हैं कि—

"पूर्वकृत फलानुबन्धात् ।"

अर्थात्—पूर्वकर्मानुसार यह शरीर धारण करता है। इनका कहना है कि शरीरके साथ सम्बन्ध होने पर भी आत्माका विभुपना बना रहता है। यहां विभुका अर्थ सर्वव्यापक नहीं है। नैया-

यिक आत्माको जड़ पदार्थोंमें व्यापक नहीं मानते। अतः यहां प्रश्न होता है कि जीव एक हैं या अनेक इसका उत्तर ये लोग देते हैं कि

"जोवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नः।"

अर्थात्— प्रत्येक शरीरका जीव भिन्न भिन्न है। सूत्रकारने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्माके चिह्न बतलाए हैं। ये सब गुण औपाधिक हैं, आत्मा स्वभावसे न चैतन्य न ज्ञानवान्।

अतः इन औपाधिक गुणोंके नाश होनेका नाम ही इनके मत में मुक्ति है। श्री हर्षने, नैषधमें लिखा है कि—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गौतमस्त्वर्थ वत्येव यथानित्य स्तथैव सः॥

अर्थात्— मोक्षमें जीवोंको पत्थर बनानेके लिए जिसने न्याय शास्त्र बनाया है, वह नामसे ही गोतम नहीं है। अर्थात् यह गोतम नाम उसका सार्थक है। अतः यह सिद्ध है कि न्याय दर्शनका आत्मा ईश्वर नहीं हो सकता। तथा आत्माके दो भेद (जीवात्मा और ईश्वर) सूत्रकारने कहीं भी नहीं किये, यदि सूत्रकार को ईश्वरकी सिद्धि अभीष्ट होती तो अवश्य उसको प्रमेयोंमें लिखकर प्रमेय १३ बनाते अथवा आत्माके ही दो भेदों का जिकर करते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः यह सिद्ध है कि सूत्रकार को ईश्वरकी मान्यता स्वीकार नहीं थी।

(२) बुद्धि, सूत्रकारने कहीं भी दो प्रकारकी बुद्धिका कथन नहीं किया है, किन्तु जब नवीन नैयायिकोंने ईश्वरकी कल्पना की तो बुद्धिको भी दो प्रकारका माना गया, एक अनित्य बुद्धि (ज्ञान) यह जीवात्माका है तथा दूसरी नित्य बुद्धि, यह ईश्वरकी है।

(३) न्याय और वैशेषिक सूत्रोंमें कहीं भी ईश्वरके गुणोंका कथन नहीं है। यदि ये दर्शन ईश्वरकी सत्ता मानते होते तो—

जिस प्रकार अन्य द्रव्यों सामान्य व विशेष गुणोंका कथन किया है इसी प्रकार ईश्वरके गुणोंका भी होना चाहिये था। बादके विद्वानोंने ईश्वरके आठ गुण माने हैं। उनमें पांच सामान्य और तीन विशेष गुण।

सामान्यगुण	विशेषगुण
(१) संख्या	(१) बुद्धि
(२) परिमाण	(२) इच्छा
(३) पृथक्त्व	(३) प्रयत्न
(४) संयोग	
(५) वियोग	

किन्तु सूत्रकारोंके मतमें ये तीनों ही विशेषगुण औपाधिक और नाशवान हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि सूत्रकार ईश्वरको नहीं मानते थे।

(४) कारण और कार्य—नैयायिकों ने तीन प्रकार के कारण माने हैं। एक समवायिकारण (२) असमवायिकारण (३) निमित्त कारण।

इनमें समवायि कारणतो द्रव्य होता है. इसको हम उपादान कारण भी कह सकते हैं। तथा असमवायि कारण गुण औरकर्म होते हैं। अतः दोनों कारणोंमें से ईश्वर है नहीं अब शेष रहजाता है निमित्त कारण, ईश्वरको जगतका निमित्तकारण ही माना जाता है। यह निमित्त कारणभी दो प्रकारका है एकमुख्य दूसरागौण। जैसे कुम्हार घटका मुख्यनिमित्तकारणहै तथा दण्डचक्र आदि गौण

कारणका लक्षण नैयायिकों के यहाँ है

अन्यथा सिद्धिशून्यस्य, नियतापूर्व वर्तिता।
कारणत्वं भवेत्तस्य, त्रैविध्यंपरिकीर्तितम् ॥

अर्थात्—अन्यथा सिद्ध न होकर कार्यसे नियत पूर्ववर्ती हो वह कारण है। यहाँ अन्यथा सिद्ध भी समझ लेना चाहिये अन्यथा सिद्ध उसको कहते हैं जिसका कार्यके साथ साक्षात संबंध न हो। इसके पाँच भेद हैं.इनमें तीसरा अन्यथा सिद्ध विभु अर्थात व्यापकपदार्थ माना गया है। जैसे आकाश, काल, दिग् आदि. ये कार्यके लिये कारण नहीं मानेजाते क्योंकि ये विभु और नित्य होनेसे सम्पूर्ण कार्योंके साथ इनका समान संबंध है। अतः ये मुख्य कारण नहीं माने जाते।

कर्मफल प्राप्तिके लिये वैदिक दर्शनकार अपूर्व अथवा अदृष्ट को कारण मानते थे जैसाकि मीमांसाने अपूर्व और वैशेषिकने अदृष्ट माना है, दोनोंका अर्थ एक ही है। अतः उसी अपूर्वको न्यायमें ईश्वर कहा गया है। यही प्राचीन भारतीय दार्शनिकोंकी मान्यता थी। अथवा हो सकता है न्याय दर्शनकी रचनाके समय अपूर्वके स्थानमें ईश्वरकी कल्पना अंकुरित हो गई हो और उसीका उन्होंने उल्लेख कर दिया हो। जो कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि उस समय तक भी ईश्वरको सृष्टिकर्ताका स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

तथा यह भी सिद्ध है कि उस समय तक 'अपूर्व, अदृष्ट, और ईश्वर ये एकार्थ वाचक शब्द थे। इनका अर्थ था कर्मफल प्रादातृ-शक्ति। न कि द्रव्य विशेष। उसके पश्चात् इसी शक्तिको जो कि जड़ थी, एक चैतन्य द्रव्यका रूप दिया गया है। यह कार्य सूत्र

ग्रन्थोंकी रचनाके बहुत काल पश्चात् पंडितोंने किया है । परन्तु वात्स्यायन भाष्यके अनुसार जिसका प्रमाण हम इसी प्रकरणमें दे चुके हैं। मुक्तात्मा का नाम ही ईश्वर है। जो कि हमें अभीष्ट है ही ।

तथा च, "ईश्वरः कारणम्" यह सूत्र पूर्व पक्षका है इसका उत्तर सूत्रकारने दिया है कि ईश्वरको फलदाता माना जायगा तो बिना कर्मके भी फलकी प्राप्ति होगी । क्योंकि ईश्वरवादियोंके मतमें ईश्वरकी इच्छा व क्रिया आदि नित्य है। अतः जीवको नित्य ही फल मिलना चाहिए—

यह उत्तर अत्यन्त सारगर्भित है। इसका भाव है कि ईश्वरकी इच्छा आदिको नित्य मानोगे तब तो बिना कर्मोंके फल प्राप्त हो सकेगा। और यदि उसकी इच्छा क्रिया आदिको क्षणिक मानोगे तो ईश्वर विकारी व परिणमन शील हो जायेगा। पुनः वह साधारण जीवकी तरह बद्ध जीव ही सिद्ध होगा। अतः ईश्वर कर्मफल दाता नहीं है, यदि ईश्वरवादी कहे कि "तत्कारित्वात" अर्थात् ईश्वर ही कर्म कराता है. तो यह "हेतु" तो दुष्ट हेतु है। क्योंकि ईश्वर तो कर्म कराये और उसका फल बिचारे जीव भोगें यह कहांका न्याय है। अतः गौतम मुनि कहते हैं कि ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि इस सूत्रका उपरोक्त अर्थ न किया जाये तो ईश्वर अन्यायी, क्रूर, अत्याचारी सिद्ध होगा। क्योंकि वह परतन्त्र जीवोंको व्यर्थ ही फल देता है। जब ईश्वर कर्म कराता है तो फल भी उसी करानेवाले ईश्वरको मिलाना चाहिये। "आस्तिकवाद" कारने इस सूत्रका बिल्कुल विपरीत अर्थ किया है। उस पर कर्म फल प्रकरणमें विचार करेंगे।

—❀—

आस्तिक और नास्तिक

(लेखक—श्रीगोपाल शास्त्री, दर्शनकेसरी, काशी विद्या पीठ)

संस्कृतवाङ्मयके परिशीलनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन समयमें ईश्वर मानने या न मानने वालोंके लिये आस्तिक नास्तिक शब्दका प्रयोग नहीं था क्योंकि ईश्वर शब्दका प्रयोग परमेश्वर-अर्थमें इधर आकर बहुत अर्वाचीन समय से संस्कृत साहित्यमें प्रयुक्त पाया जाता है।

यद्यपि यह इतिहासका विषय है तथापि इतना यहां कह देना अप्रासङ्गिक न होगा कि पौराणिक कालमें आकर शैव सिद्धान्त में शिवके लिये जो ईश्वर शब्दका प्रयोग था वही पौराणिक काल के बाद इधर आकर शैव धर्म द्वारा भारतीय संस्कृतमें प्रविष्ट हो गया है. एवं शनैः २ परमेश्वर अर्थमें भी खूब प्रचलित हो गया है अब कोई ऐसी पुस्तक नहीं जिसमें ईश्वर शब्दसे परमेश्वरका अर्थ न लिया गया हो। इसकी पुष्टीके लिये थोड़ेसे प्रमाणोंका संग्रह करना उचित प्रतीत होता है।

पाणिनीय व्याकरणका सूत्र है—

"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः"

उसीसे अस्ति-नास्ति शब्द सिद्धहोते हैं उसके टीका कारोंने—

'अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः १ तथा
'नास्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः'

अर्थात् जो परलोक माने वह 'आस्तिक' और जो न माने वह 'नास्तिक' नकि जो ईश्वरको माने वह 'आस्तिक' और जो न माने वह 'नास्तिक'। ऐसा ही अर्थ दार्शनिक दृष्टि वालोंके अतिरिक्त सर्व साधारण जनताके लिये वेद-कालमें भी प्रसिद्ध था। यह कठोप-

निषद्से प्रतीत होता है जब नचिकेता यमसे तीसरा वर मांगता है तब यही कहता है कि —

"येयं प्रेतेविचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तितिचैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥"

अर्थात्—मरनेके पश्चात् आत्मा रहता है, ऐसा एक आस्तिक पक्ष वाले कहते हैं, नहीं रहता है ऐसा दूसरे नास्तिक पक्षवाले कहते हैं। हे यमराज? मैं आपके द्वारा अनुशासित होकर यह जान जाऊं कि इन पक्षों में कौन पक्ष ठीक है यही उन वरोंमें से तीसरा वर है" इत्यादि।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक काल में परलोक मानना न मानना ही आस्तिक नास्तिकका व्यावहारिक अर्थ था।

मनुने तो वेदकी निन्दा करने वालेको नास्तिक कहा है। (नास्तिको वेदनिन्दकः) औरभी, पाणिनीय सूत्रोंमें ईश्वर शब्दका प्रयोग -'अधिरीश्वरे १।४।९७ स्वामीश्वराधिपतिः २।३।३९, यस्मादधिकं यस्यचेश्वर वचनं तत्रसप्तमी २।६।९। ईश्वरेतोसुनकसुनौ ३।४ १३ तस्येश्वरः ६।१।४२ इत्यादि सूत्रोंके उदाहरणों में ईश्वर शब्द स्वामी अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। पतंजलीके उदाहरणोंमें ईश्वरका अर्थ राजाभी पाया जाता है जैसे—

'तद्यथा लोक ईश्वर आज्ञापयति ग्रामादस्मान्मनुष्या आनीयन्तामिति।'

राजा आज्ञा देता है कि इस गांवसे मनुष्योंको ले जाओ-इत्यादि उदाहरणोंसे ईश्वर शब्दका राजा अर्थ होता है।

इस अवस्थामें ईश्वर शब्दके परमेश्वर अर्थमें प्रयुक्त होनेसे पहले ही दर्शन सिद्धान्तोंके आविष्कर्ता दार्शनिकों की दृष्टिमें ईश्वर

मानने वाला आस्तिक और उसका न मानने वाला नास्तिक, यह अर्थ हो सकता है। ऐसा कैसे कहा जा सकता है, जब उसकी उत्पत्ति एवं स्थिति 'ईश्वर मानने वाले आस्तिक और नास्तिक' इस भावमें आस्तिक-नास्तिक शब्दोंके प्रयुक्त होनेके पहले ही सिद्ध हो चुकी है? इसी कारण ज्ञात होता है कि वैशेषिक (कणाद) सांख्य (कपिल और पूर्व मीमांसक (जैमिनि)ने अपने २ दर्शनों में ईश्वरका उल्लेख तक नहीं किया। नैयायिक गौतमने तथा योगी पतंजलिने क्रमशः—

"ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्य दर्शनात्"

"क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः"

इस तरह आनुषङ्गिक ईश्वर शब्दका प्रसङ्ग उठाया है। इन सूत्रोंमें परमेश्वरार्थक ईश्वर शब्दके प्रयोगसे इसकी पाणिनिसे प्राचीनता भी विचारणीय है तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि और योग सूत्रकार पतञ्जलिकी अभिन्नता भी विचारणीय है।

व्यासजी के ब्रह्मसूत्रोंमें तो नहीं, किन्तु उनकी श्रीमद्भगवद्-गीतामें ईश्वर शब्दका प्रयोग कहीं राजा अर्थमें, कहीं परमेश्वरमें दोनों तरहका पाया जाता है जैसे—

"ईश्वरोऽहमहं भोगीसिद्धोऽहं बलवान्सुखी"

यहां (मालिक) राजा अर्थमें—

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"

यहां परमेश्वर अर्थमें, यह विचारणीय है। वस्तुतः देखा जाय तो इनके सिद्धान्तोंमें ईश्वर कुछ आवश्यक वस्तु नहीं दीखता।

कणादने अपने छः पदार्थोंके ज्ञानसे—

धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेषप्रसू-ताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्य वै धर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसधिगमः"(१।१।४०)

इस सूत्रसे मुक्ति की प्राप्ति बतलाई है-(इस सूत्रमें अभाव नामक सप्तम पदार्थका उल्लेख नहीं है) और गौतमने अपने सोलह पदार्थोंके तत्व ज्ञानसे—

"प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव-तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभास च्छलजातिनिग्रह-स्थानानां तत्वानान्निः श्रेयसाधिगमः" (१।१।१)

इस सूत्रद्वारा मुक्तिक उपाय बतलाया कपिलने प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान से—

"दृष्टवदानुश्रविकः सह्य विशुद्धत्त्वयातिशय युक्तः तद्वि-परीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्" (का० २)

तथा पतञ्जलि ने भी—

चित्तवृत्तिनिरोध "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः"

'तदा द्रष्टुस्वरूपेऽवस्थानम्' (१।३)

आदि से मोक्ष-प्राप्ति बतलाई है। इसी प्रकार जैमिनिने धर्मा-नुष्ठानसे नित्यसुख रूपी मोक्षकी सत्ता मानी है। ईश्वरका पूरा उपयोग तो इन दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंमें आता ही नहीं।

आगे चलकर भाष्यकारों तथा अन्यान्य टीकाकारोंके साथ ही अन्यान्य ग्रंथकारों (न्याय कुसुमाञ्जलिकार ईश्वरानुमानचिन्ता-मणिकार) ने वैशेषिक और न्यायदर्शनमें ईश्वरका प्रवेश प्रत्य-क्षतः कर दिया है, किन्तु मीमांसा और सांख्यमें तो आगे चलकर भी किसी ग्रन्थमें प्रत्यक्ष ईश्वर-सिद्धि का उल्लेख नहीं है।

यहां एक बात विचारणीय प्रतीत होती है। वैशेषिक और सांख्यमें शङ्कराचार्यसे पहले ही कोई कोई दार्शनिक ईश्वरको निमित्त कारण मानकर इनके सिद्धान्तोंमें भी ईश्वरका प्रवेश करा चुके थे, क्योंकि वेदान्तसूत्रके ल सूत्रोंमें जहां सांख्य और वैशेषिक मतके—

'रचनानुपपत्तेश्च' (२।२।१)

इत्यादि सूत्रों द्वारा प्रधान और परमाणुमें स्वाभाविक प्रवृत्ति माननेवालोंका खंडन है वहां प्रधान कारणवादी और परमाणु कारण वादी की ही हैसियतसे जगतका कारण केवल प्रधान (प्रकृति) जड़ नहीं हो सकता। उनमें ये दोष हैं, इत्यादि बातें दिखाई गई हैं। और उन सूत्रों से किसी भी प्रकार यह सिद्ध नहीं हो सकता कि सांख्य और वैशेषिक सिद्धान्तोंमें भी ईश्वरका प्रवेश है।

परन्तु, आगे चलकर, बौद्धमतोंके खंडन कर देने पर भी पशुपति (माहेश्वर दर्शन) मतके खंडनमें—

'पत्युरसामञ्जस्यात्'

सूत्र पर शङ्कराचार्यजी भाष्य करते हुए कहते हैं—

केचित्तावत्सांख्ययोगाव्ययाश्रयात् कल्पयन्ति प्रधान-पुरुषयोः अधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वरः इतरेतर विलक्षणाः प्रधान पुरुषेश्वरा इति तथा वैशेषिकादयोपि-केचित् कथञ्चित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्त कारणईश्वर इति वर्णयन्ति'

अर्थात् "कोई कोई सांख्य योग-सिद्धान्तका आश्रय लेकर प्रधान पुरुषसे विलक्षण उनका अधिष्ठाता जगत्‌का केवल निमित्त

कारण ईश्वर मानते हैं और कोई २ वैशेषिक प्रक्रियाके अनुयायी भी अपनी प्रक्रियाके अनुसार ईश्वरको जगतका निमित्त कारण मानते हैं इत्यादि" इससे इतना तो स्पष्ट है कि सांख्य और वैशेषिक प्रक्रियाके मूलमें ईश्वरका स्वीकार नहीं था।

इतना होने पर भी, आगे आकर कुछ लोगोंने ईश्वरका प्रवेश उनमें करा दिया है। ऐसे ही, मीमांसकों में भी कुछ लोगों ने मीमांसामें यह कहकर ईश्वरका प्रवेश कर दिया है कि कर्मोंको ईश्वरको समर्पित कर देनेसे मुक्ति हो जाती है'इत्यादि—

'सोऽयं धर्मोयदुद्दिश्य विहितस्त दुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः श्रीगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः'।

(न्यायप्रकाश, पृष्ठ २६७) अस्तु।

जो कुछ हो, पर मेरी दृष्टिमें, इन दर्शनोंके आधीन वेद-संहिता के यम, सूर्य, प्रजापति, अग्नि और पुरुष तथा उपनिषद्के ब्रह्म, पुराणके ईश्वर, वर्तमान समयके ईश्वर, परमेश्वर, अल्लाह, खुदा न रहें तो कुछ बिगड़ता नहीं, क्योंकि वेदान्त-दर्शन (जिसके आगे इन सभी दर्शनोंके सिद्धान्त पीछे पड़ जाते हैं) तो ब्रह्म, पुरुष,ईश्वर चाहे जो भी कहिए सभीकी सिद्धिके लिये कमर कस कर ही बैठा है। संस्कृत दर्शनोंमें प्रस्थानत्रयीकी जो प्रथा है, उसका ध्यान न रहनेसे ही ये सब विवाद खड़े होते हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शनोंमें दार्शनिकोंने 'शाखारुन्धती न्याय' से अपने अपने विचारोंको व्यक्त किया है, मूल सिद्धान्तमें किसीका किसीसे भी विरोध नहीं है। जिसकी दृष्टि (दर्शन) में जो वस्तु अवश्य प्राप्त थी उसने उसकी व्याख्या की और उसीको प्रधानता दी। अन्यान्य पदार्थोंको उसने अभ्युपगमवादसे अपने दर्शनके विषयोंमें गौण मानकर स्वीकार या खंडन किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह पदार्थ सर्वथा मान्य नहीं है।

इसका आशय केवल यही होता है कि उस दर्शनके सिद्धान्त में उस पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संस्कृत शास्त्रोंको 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' हीकी शैली मानी गई है। यही बात विज्ञान भिक्षुने भी अपने सांख्य प्रवचनकी भूमिकायें कही हैं—

"तस्मादास्तिकदर्शनेषु न कस्याप्यप्रामाण्यं विरोधो वा स्वस्वविषयेषु सर्वेषामबाधत अविरोधाच्च"

अर्थात्—आस्तिक दर्शनोंमें अपने अपने विषयोंमें बाधाभाव और अविरोध होनेके कारण किसीमें भी अप्रमाण्य और विरोध नहीं है।' तभी तो जैमिनिकी खास पूर्व मीमांसामें ईश्वरका उल्लेख नहीं है, वल्कि मीमांसक लोग तो 'किमन्तर्गडुना ईश्वरेण' कह कर ईश्वरका खंडन ही करते हैं। उनके विषयमें 'कर्मेति मीमांसकाः'—ऐसी ही प्रसिद्धि है। हरि भद्रसूरिने भी षड्दर्शन समुच्चयमें पूर्व मीमांसकोंको निरीश्वर वादी ही बताया है। जैसे—

"जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादि विशेषणः। देवो न विद्यते कोपि यस्यमानं वचो भवेत् ॥"

अर्थात्—जैमिनीय मतके मानने वाले मीमांसक कहते हैं कि सर्वज्ञ, विभु नित्य इत्यादि विशेषणों वाला कोई देव (ईश्वर) तो है नहीं जिसका वचन प्रमाण मान लें।

कुमारिल भट्टने भी कहा है कि—

"अथापि वेदहेतुत्वाद् ब्रह्मविष्णु महेश्वराः।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञं मानुषस्य किम् ॥"

वेदकी रचना करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर सर्वज्ञ भले माने जायँ, परन्तु मनुष्यकी सर्वज्ञता किस कामकी है। पर वेदान्त सूत्रमें वादरायणाचार्य (व्यास) ने ईश्वर शब्दसे तो

नहीं किन्तु दूसरे शब्दोंसे उस विषयके जैमिनि महर्षिके विचारोंको पूरा पूरा व्यक्त किया है। देखिये निम्नांकित सूत्रोंका शाङ्करभाष्य-

"सत्त्वादप्यविरोधम्" जैमिनिः (१।२।२८)

"सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति" (१।२।३१)

"अन्यार्थन्तु जैमिनिप्रश्नव्याख्यानाभ्यामपिचैके।" (१।४।१८)

"परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्" (४।३।१२)

"ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः" (४।४।५) इत्यादि

इत्यादि ऊपर कहा ही गया है कि प्राचीन समयमें ईश्वर मानने या न माननेसे आस्तिक-नास्तिक नहीं कहे जाते थे, किन्तु परलोक (पुनर्जन्म) मानने न माननेके कारण आस्तिक-नास्तिक शब्दका प्रयोग होता था। जैसा ऊपर पाणिनी सूत्र (अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः)के टीकाकारोंकी व्याख्यामें तथा कठोपनिषद्के मन्त्रों द्वारा दिखाया गया है. और स्मृति कालमें वेद मानने न माननेके कारण भी आस्तिक और नास्तिक शब्दका व्यवहार था—ऐसा दिखाया गया है। पर दार्शनिक परिभाषामें तो असद्वादी और सद्वादी को ही उससे नास्तिक और आस्तिक कहनेकी प्रथा प्रतीत होती है जैसा उपर्युक्त पाणिनी सूत्रका यदि केवल सूत्रार्थ लिया जाय तो. अर्थ होगा कि जो 'अस्ति'—सद्वादको माने वह आस्तिक और जो 'नास्ति'—असद्वादको माने वह नास्तिक कहा जाता है।

छान्दोग्य श्रुतिने भी कहा है।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्"

"तद्धैक आहुरसदेवेदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्"

"तस्मादसतस्सज्जायते इति" (छा० ६।२।१)

अर्थात्—उत्पत्तिसे पहले यह संसार एक अद्वितीय सद्रूप (अस्ति रूप) में था उसीको एक आचार्य कहते हैं कि यह संसार उत्पत्तिसे पहले असत् (नास्ति) रूपमें था, इसलिये असत्से सत् (अभावसे भाव) होता है। इस प्रकार श्रुतिने तो उसको आस्तिक कहा है जो संसारके मूल कारण सत्को स्वीकार करता है। और जो असत् (अभाव-शून्य) से उत्पन्न मानता है उसको नास्तिक कहा है। गीतामें यही इस प्रकार कहा गया है—

"असत्यम प्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्पर संम्भूतं किमन्यत्काम हेतुकम् ॥"

इस नियमसे तो सिवा बौद्ध दर्शनके अन्य सभी दर्शन जो अस्तिवादी (भावसे संसारकी उत्पत्ति मानने वाले हैं) आस्तिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि चार्वाक् दर्शन भी चार पदार्थोंकी सत्ता (आस्तिकत्व) से ही सारे जगत् (जड़-चेतन) का परिणाम मानता है।

शंकराचार्यने भी अपने उपनिषद्भाष्य तथा शारीरिकभाष्यमें आस्तिक और नास्तिक शब्दका ऐसा ही अर्थ किया है। वे नास्तिक, वैनासिक इत्यादि शब्दोंसे बौद्धोंका आह्वान करते हैं, क्योंकि वे ही लोग उत्पत्तिसे पहले जगत्का अभाव मानते हैं—

"तथाहि—एके वैनाशिका आहुः वस्तुनिरुप यन्तोऽगत्सद्भावमात्रं + + सद्भावमात्रं प्रागुत्पत्तेस्तत्वं कथयन्ति बौद्धाः (छा० ६।२।१) सोऽर्द्ध वैनाशिक इति वैनाशिकत्वस्यसाम्यात्सर्ववैनामिकत्वसाम्यात् सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नितरामुपेक्षि तव्य इति + + + तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति केचित् सर्वास्तित्ववादिनः केचित् विज्ञानास्तित्व-

मात्रवादिनः अन्ये पुनः सर्वशून्यत्व वादिनः (वे० सू० शा० भा० २ । २ । ३८)" ।

वस्तुतः देखा जाय तो बौद्ध दार्शनिक भी नास्तिवादी नहीं हैं, क्योंकि उनके भेदोंमें जो क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार, क्षणिक वाह्यास्तित्ववादी वैभाषिक और वाह्यानुमेयत्ववादी सौत्रान्तिकके नामसे प्रसिद्ध है, वे तो अस्तिवादी ही हैं। एक जो सर्व शून्यत्व-वादी माध्यमिक हैं उनके मतमें भी शून्यताका अर्थ अभाव नहीं माना गया है। किन्तु पदार्थके स्वतन्त्र स्वरूपका अभाव माना गया है। जैसे—

"तस्मादिह प्रतीत्य समुत्पन्नस्य स्वतन्त्रस्य स्वरूप-विरतात् स्वतन्त्रस्य रूपरहितोऽर्थः शून्यतार्थः"–"न सर्वा-भावाभावोऽर्थः ++ तस्मादिह प्रतीत्यसमुत्पन्नं मायावत्"

(आर्यदेव, चतुर्थशतक, १४३७कारिकाकी चन्द्र कीर्तिव्याख्या)

अर्थात्—"इसके लिये यहां प्रतीति मात्रसे उत्पन्न पदार्थोंका स्वतन्त्र कोई स्वरूप न रहनेके कारण शून्यताका अर्थ है, वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव, न कि सब भावोंका अभाव। इस कारण यहां प्रतीति मात्र तक उत्पन्न होकर रहने वाले पदार्थोंको मायाके समान समझना चाहिये, यह चन्द्रकीर्तिकी व्याख्याका तात्पर्य है। तभी तो अमरसिंहने अपने'अमरकोष'में बुद्धदेवके नामोंमें 'अद्वय-वादी' भी एक नाम लिया है। इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध भी एक प्रकारके '-अद्वैतवादी" ही हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि वे वेद या वेदान्त नहीं मानते जिससे स्मृति कालीन 'नास्तिको वेद निन्दकः नियमानुसार वे नास्तिक ठहरते हैं।

इसी प्रकार चार्वाक और जैन भी वेदकी निन्दा करनेके ही कारण पंडित समाजमें नास्तिक शब्दसे प्रसिद्ध होगये हैं। परन्तु

यदि उपनिषद् और पाणिनि सूत्रके टीकाकारोंके मतानुसार तथा वेद कालीन सर्व साधारणमें प्रसिद्ध 'पुनर्जन्म' को मानना न मानना ही 'आस्तिक नास्तिक' शब्दका अर्थ लिया जाय तो बौद्ध भी परम आस्तिक सिद्ध होते हैं। उनके सिद्धांतोंमें तो पुनर्जन्मकी बड़ी मर्यादा है स्वयं बुद्धदेवने अपने अनेक जन्मोंकी पिछले घटनाओंका वर्णन किया है। जिनका उल्लेख ललितविस्तर, बौधिचर्य्या, बौधिसत्वावदान कल्पलता,प्रभृतिबौद्ध ग्रन्थोंमें विस्तृत रूप से है

बौद्ध सम्प्रदायमें बुद्ध हो जाने वाले जीवोंकी पूर्वजन्मकी अवस्थाको बोधि सत्वावस्था कहते हैं और उस बुद्ध जीवको पूर्व जन्ममें बोधि सत्व कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध सम्प्रदायमें पुर्नजन्म माना गया है। शान्तरक्षित कृत तत्व संग्रहसे यह पता चलता है कि वेदकी निमित्त शाखामें बुद्धदेवको सर्वज्ञ माना है इस शाखाको कुछ बौद्ध प्रामाण्य मानते थे। इससे यह सिद्ध है। कि वेदको प्रामाण्य मानने वाले बौद्ध भी थे। जैसा लिखा पाया जाता है—

"किन्तु वेदप्रमाणत्वं यदि युष्माभिरिष्यते। तत् किं भगवतो मूढैः सर्वज्ञत्वं न गम्यते" "निमित्तनाम्नि सर्वज्ञो भगवान मुनिसत्तमः। शाखान्तरेपि विष्पष्टं मुष्यते ब्राह्मणैर्बुधैः।"

अर्थात्—'यदि वेदको प्रमाण मानना आपको अभीष्ट है तो हे मूर्खो, भगवान (बुद्ध) का सर्वज्ञत्व क्यों नहीं मानते? निमित्त नामकी दूसरी वेदशाखामें ब्राह्मण-पंडितोंके द्वारा भगवान सर्वज्ञ कहा गया है जो स्पष्ट है अर्थात् अब वेद प्रामाण्य मानने पर भी सर्वज्ञत्व स्वीकार क्यों नहीं करते? इत्यादि

इसी प्रकार जैन दर्शन भी आस्तिक दर्शन सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उस दर्शनमें भी पुनर्जन्म एवं नाना योनिप्रभृति बातें मानी

गई हैं। हरिभद्र सूरिने भी इसी अर्थको मान कर बौद्ध, जैन, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक और पूर्व मीमांसकोंको आस्तिक कह कर सम्बोधित किया है—

"एवमेवास्तिकवादानां वृतं संक्षेप कीर्तनम्" "आस्तिकवादानां परलोकगति पुण्यपापास्तित्ववादिनां, बौद्धनैयायिक-सांख्य-जैन-वैशेषिक जैमिनिनानां संक्षेपकीर्तनम् कृत इति मणिभद्रकृतविकृतिः।"

अर्थात्—"आस्तिकवाद वे हैं जिनमें परलोकके लिये पाप पाप पुण्यकी सत्ता मानी जाती है, जैसे बौद्ध, नैयायिक, सांख्य (कपिल) जैन वैशेषिक जैमिनीय (पूर्व मीमांसक) आदि उनवादों का मैंने संक्षेपसे वर्णन किया है।" हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शन समुच्चयकी ७७ वीं कारिका पर मणिभद्र सूरिकी व्याख्या।

पहले कहे हुए स्मृति कालीन अर्थमें (अर्थात् वेद-विरोधीको नास्तिक कहते हैं। अथवा इसी अर्थके आधार पर चार्वाक्, जैन, और बौद्ध भले ही नास्तिक कहे जायें, किन्तु वर्तमान कालिक पौराणिक मतके ईश्वर न मानने वालेको नास्तिक कहनेके अर्थके आधार पर तो बौद्ध, चार्वाक्, जैन, कणाद्, गौतम, सांख्यकार कपिल, और मीमांसक जैमिनि, सभी नास्तिक कहे जा सकते हैं। इसलिये कणादि प्रभृति छः आस्तिक नामसे कहे जाने वाले दार्शनिक पुनर्जन्म माननेके कारण और वेद माननेके कारण आस्तिक शब्दसे पुकारे जाते हैं न कि ईश्वर माननेके कारण।

यहां इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि इन छः दार्शनिकों में वस्तुतः दो ही दार्शनिक वैदिक हैं, शेष चार तो तार्किक-दार्शनिक कहे जाते हैं—उनका तो वैदिक दार्शनिकों में प्रवेश ही

नहीं है? इस बातको बड़े गर्वसे शङ्कराचार्यजीने द्वितीय अध्याय के तर्कवादके ग्यारहवें और बारहवें सूत्रके भाष्यमें—

"न हि प्रधानवादी सर्वेषां तार्किकाणां मध्ये उत्तम इति सर्वैस्तार्किकैः परिगृहीतः येनतदीयं मतं सम्यग्ज्ञान मिति प्रति पद्येमहि"- "वैदिकस्य दर्शनस्य प्रत्यासन्नत्वाद् गुरुतर्क विलेपत्वात्"

सभी नैयायिक तार्किक दार्शनिकोंमें प्रधानवादी ही उत्तमतार्किक है, ऐसा सभी तार्किकोंने मिलकर उसे सर्टिफिकेट नहीं दिया है। जिससे हम वैदिक दार्शनिक ऐसा मान लें कि उसका कथन अच्छा है। सांख्यदर्शन वैदिकके बहुत कुछ पास पड़ता है। और बड़ी युक्तियोंके बल पर वह खड़ा होता है इसीसे हमने उसे पूर्व पक्षियोंमें प्रधान स्थान दिया है इत्यादि। वाक्यों द्वारा, जहां कहीं भी मौका मिला है सभी दार्शनिकों को वैदिक श्रेणीसे बाहर निकाल करनेका ही प्रयत्न किया है। ये नैयायिक प्रभृति भी अपने अपने दर्शनको तर्क कसौटीपर अधिक कसनेका प्रयत्न करतेहैं। हां जहां कहीं अवसर पाकर श्रुतिके अर्थोंको केवल अपने मतके समर्थनमें खींच-खींचकर लगा देते हैं। ये दार्शनिक सर्वदा श्रुति के आधीन नहीं चलते। सो भी आगेके टीकाकारोंकी ये बातें हैं, मूल सूत्रकारोंके विषयमें तो ऊपर कहाही गया है कि ये लोग प्रस्थान-भेदसे 'शाखा-रुन्धती' न्यायके अनुसार वेदके दार्शनिक अंगके एक एक पहलू लेकर अपने दर्शनोंका उपन्यास करते हैं। जैसे नैयायिक और वैशेषिक दोनों मिलकर आरम्भवादका, कपिल और पतञ्जलि परिणामवादका, चारो बौद्ध संघातवादका एवं वेदान्ती विवर्तवादका—

(यथा—हि आरम्भवादः कणभक्षपक्षः सांख्यादि पक्षः परिणामवादः । संघातवादस्तु भदन्तपक्षः, वेदान्त पक्षस्तु विवर्तवादः ।—सर्व मुनिका संक्षेप शारीरिक) ।

सर्वथावेदके दार्शनिक सिद्धान्तोंको व्यक्त करनेके लिये तो व्यास ही अग्रसर माने गये हैं । बल्कि देखा जाय तो—

'दृष्टावदानुश्रविकः' 'सह्यविशुद्धि क्षयाति शययुक्तः'

इत्यादि युक्तियोंसे सांख्य वाले तो वेदके हेतुओंका भी निरस्कार ही करते हैं । ऐसा ही—

'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन'

व्यासजी ने भी कहा है कि इन दोनों स्थानोंपर 'आनुश्रविक' और 'वेद' शब्दोंके अर्थमें संकोच करके क्रमशः कर्म कांडान्तर्गत वैदिकहेतुओं तथा कर्मकाण्ड मात्र वेदके लिये कहा गया है, ऐसा आधुनिक विद्वान अर्थ करते हैं । पर वेद पर एक प्रकारसे प्रहार तो हुआ ही। चाहे उसके किसी एक अंग परही हुआ तो क्या अस्तु

यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी दार्शनिक वेदके अक्षरशः पोषक नहीं हैं । कुछ लोग तो वेदको केवल अपने तर्ककी पुष्टिके लिये मान लेते हैं । चार्वाकके ऐसा —

'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्डधूर्त निशाचराः'

कहकर दिल्लगी नहीं उड़ाते यही उनकी विशेषता है ।

इन छः दार्शनिकोंमें केवल बादरायणाचार्य और जैमिनि हैं जो वेदके मन्त्र पुष्पोंमें अपने सूत्रोंको पिरोकर वैदिकआचार्योंकी एक अच्छी सुव्यवस्थित मालाके रूपमें अपने दर्शनोंको उपस्थित करते हैं । यह दूसरी बात है कि वेदकी ऋचाओं पर इन सभी दार्शनिकोंका मत अवलम्बित है जैसे—

"द्यावा भूमिजनयन् देव एक आस्ते विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता"

इस पर आधुनिक नैयायिकोंका कारणवाद अवलम्बित है।

"अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगा मजोन्यः"

इस पर कपिलका प्रकृति-पुरुषवाद इत्यादि।

इसका कारण तो वेदकी व्यापकता है (न कि इन दार्शनिकों का वेद मान लेना) जैसा—सदानन्दने अपने वेदान्तसारमें चार्वाक सिद्धान्तको भी—

"सवाएषपुरुषोन्नरसमयः"—"तमेवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति"

इत्यादि ऋचाओंका उद्धरण करके वैदिक सिद्ध कर दिया। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि चार्वाक-सिद्धान्त भी वैदिक है। उसी प्रकार व्यास और जैमिनिके अतिरिक्त सभी वैशेषिक प्रभृति दार्शनिक केवल तार्किक हैं. इन्हें वैदिक दार्शनिक नहीं कह सकते तथापि ये लोग आस्तिक दर्शनकार कहे जाते हैं। इसका कारण मेरी दृष्टिमें तो यही ज्ञात होता है कि वेद उपनिषद् स्मृति पुराणादि संस्कृतके समस्त वाङ्मय-महार्णवमें ओत-प्रोत एवं भारतीय संस्कृतिका मेरुदण्ड पुनर्जन्मवाद या परलोक मानने के कारण ही ये सभी दार्शनिक आस्तिक कहे गये हैं और कहे जाने चाहिए। इस परिभाषामें केवल चार्वाक् महाशयको छोड़ कर जो लोकायत (लोकैः आयतः विस्तृतः) नामसे प्रसिद्ध होकर साधारण जनताके प्राथमिक अज्ञान-कालिक भावको व्यक्त करने

मात्रके लिए अन्यान्य दर्शनोंके पूर्व पक्षी रूपमें प्रतिनिधि माने गये हैं। भारतीय संस्कृतिमें स्वरूपतः सम्प्रदाय रूपमें जिनकी कहीं सत्ता नहीं है जिनका कोई सूत्र ग्रन्थ भी नहीं है, पुराणोंमें जिनके दर्शनके प्रचारका कारण भी निन्दित ही बताया गया है—अन्य सभी बौद्ध तथा जैन दार्शनिक भी आस्तिक कोटिमें आ जाते हैं। परस्पर एक दूसरे को नास्तिक कहना तो भारतकी पराधीनावस्थामें फैला है। भूतकालके विद्वानोंमें परस्पर मतभेद होते हुए भी इस तरह बैर नहीं चलता था जैसा कि इधरके कालोंमें होने लगा है। देखिये बौद्धोंकी ओर से व्यङ्ग्योक्ति है—

"वेदे प्रामाण्यं कस्य चित्कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः। सन्तापे हा पापहानायचेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चचिह्नानि जाड्ये।"

अर्थात्—वेदकी प्रमाणता, किसीको—ईश्वरको—कर्त्ता मानना जातिवादका गर्व पापका प्रायश्चित इत्यादि मूर्खोंके लक्षण हैं।

इस लेखका निष्कर्ष यह है कि संक्षेपमें आस्तिक-नास्तिक शब्दोंके अर्थमें चार प्रकारके विचार संस्कृत-वाङ्मय महार्णवमें पाये गये हैं।

वेद कालमें, सर्व साधारणमें, प्रसिद्ध अर्थ—परलोक मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहा जाता है।

(२) दर्शनिकोंमें जो जगत्का कारण सत् (भाव) माना है वह आस्तिक और जो असत् (अभाव) को जगत्का कारण मानता है वह नास्तिक (अभाव वादी) वैनाशिक कहा जाता है।

(३) मनु आदि स्मृतिकालमें जो वेदको माने वह आस्तिक और जो न माने—उसकी निन्दा करे—वह नास्तिक कहा जाता है।

(४) आज कल जो ईश्वर-परमेश्वर, माने वह आस्तिक और जो न माने वह नास्तिक कहा जाता है।

यों संक्षेपमें आस्तिक-नास्तिक शब्दोंकी समीक्षा, दार्शनिक पद्धतिसे विचार करने पर, वेदसे लेकर आधुनिक काल पर्यन्त संस्कृत वाङ्मय महार्णव द्वारा सिद्ध होती है। इत्यलमति प्रपञ्चेनेति विरम्यते।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

नास्तिक कौन है?

नास्तिक, काफिर, मिथ्यात्वी, आदि ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरोंके लिये करता है। प्रत्येक मुसलमान ईसाई, हिन्दु यहूदी आदिको तो काफिर कहता ही है, अपितु एक मुसलमान दूसरे मुसलमानको भी काफिर कहता है, यथा शिया सुन्नियोंको काफिर कहते हैं और सुन्नी शिया लोगोंको। इसी प्रकार कादियानियोंको भी काफिर कहा जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी शब्दकी अवस्था है। नास्तिक शब्दका भी विचित्र हाल है। सब सनातनी आर्य समाज व स्वामी दयानन्दजीको नास्तिक कहते है तथा आर्य समाज सबको नास्तिक कहता है। सत्यार्थ प्रकाश पृ० २१७ से २१८ तक आठ नास्तिक गिनाये हैं। उनमें सब दर्शनकारोंको नास्तिक लिखा है। यथा—

१—प्रथम नास्तिक, शून्य ही एक पदार्थ है सृष्टिके पूर्व शून्य था और आगे शून्य होगा।

२—दूसरा, अभावसे भावकी उत्पत्ति मानता है (यह असत्कार्य वादी न्याय और वैशेषिक हैं)

३—तीसरा, कर्मके फलको ईश्वराधीन मानता है।

४—चौथा, कर्मके लिये निमित्त कारणकी आवश्यकताको नहीं मानता है।

५–पांचवां, सब पदार्थोंको अनित्य मानता है ।

६– छठा, पांच भूतोंके नित्य होनेसे जगत्को नित्य मानता है ।

७–सातवां, सब पदार्थोंको पृथक् २ मानता है मूल एक नहीं ।

८–आठवां, कहता है कि एक दूसरेमें एक दूसरेका अभाव होनेसे सबका अभाव है ।

इसमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य आदि सबको नास्तिककी उपाधि दे दी गई है । वेदान्तको चतुर्थ नास्तिक कहा गया है । अभिप्राय यह है कि प्रत्येक समुदायकी तरह आर्य-समाजने भी एक शब्द नास्तिक ले लिया है और अपने घेरेसे बाहरके सब व्यक्तियों को वह भी (मुसलमानादि की तरह) नास्तिक कहता है । इसी प्रकार उसको अन्य सब नास्तिक कहते हैं । अर्थात् आर्य समाजकी दृष्टिमें सब नास्तिक हैं, तथा सबकी दृष्टिमें वह नास्तिक है । यही अवस्था अन्य मत वालों की है । इन बातोंको भी न छेड़ें और इस पर तात्विक विचार करें तो भी इन शब्दोंमें कुछ सार नहीं है । यथा—

वेद निन्दक

मनु कहते हैं कि (नास्तिकोवेद निन्दकः) अर्थात् जो वेदकी निन्दा करता है [illegible] आस्तिक [illegible] वह नास्तिक है । अब विचार यह उत्पन्न होता है कि वेद क्या है तथा उनकी निन्दा क्या है ?

सनातन धर्मके अनुसार वेदोंकी ११३१ शाखायें तथा ब्राह्मण-आदि सम्पूर्ण ग्रन्थवेद हैं, और स्वामीजी केवल चार शाखाओं को वेद मानते हैं । तब ११२७१ शाखाओंको तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थोंको वेद नहीं मानते रूप निन्दा करनेसे स्वामीजी प्रथम श्रेणी के नास्तिक सिद्ध होते हैं । क्योंकि नास्तिकः 'नास्तिक मतिर्यस्य' इसके अनुसार ब्राह्मणादि ग्रन्थ वेद नहीं हैं ऐसी बुद्धि वाला

नास्तिक है। यदि चार शाखाओंको ही वेद मानलें तो भी सभी वेदानुयायी नास्तिक ठहरते हैं। क्योंकि पूर्वके आचार्य अथर्ववेद को तो वेद नहीं मानते, वे तो तीन ही वेद स्वीकार करते हैं। मनुस्मृति भी उसी सम्प्रदाय की है। तीनों वेदोंमें भी यजुर्वेदी, सामवेद, की निन्दा करते हैं तथा सामवेदी यजुर्वेदकी। जैसे कि मनुस्मृतिमें ही सामवेदकी निन्दा की है।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यः, तस्मात् तस्या शुचिर्ध्वनिः ॥

अ० ४ ॥ १२४

यहां सामवेदकी ध्वनि तक को अपवित्र माना है। परन्तु गीताके अ० १० में "वेदानां सामवेदोऽस्मि" कह कर अन्य वेदोंसे सामवेदकी श्रेष्ठता दिखलाई है। अतः ये एक दूसरे वेदकी निन्दा के कारण स्वयं नास्तिक बनते हैं।

गीता और वेद

गीता अध्याय ८ श्लोक २६ में "शुक्ल-कृष्ण-गती ह्येते" में दो गतियों का कथन किया है। आगे लिखा है—वेदेषु यज्ञेषुतपः-सुचैव" अर्थात् वेदोंमें (वेदादि पढ़नेमें) तप, दानादि में जो पुण्य कहा है योगी उन सबको जानकर (इनकी निस्सारताको जानकर) वह इनका उल्लंघन कर जाता है। यहां वेदादिके पठनको भी कृष्ण मार्ग कहा है। तथा अध्याय ११ में "नाहं वेदैर्न तपसा" कह कर वेदोंकी गौणता दिखाई है। और अध्याय १५ के प्रारम्भ में ही वेदोंको संसाररूपी वृक्ष के पत्ते बताकर वेदोंको संसारकी शोभा मात्र अथवा संसारको बढ़ाने वाला कहा है। तथा च अ० ९ में 'त्रै विद्या मां सोमपाः' कह कर तीनों वेदोंका फल स्वर्ग कहा है तथा जब पुण्य समाप्त होजातेहैं तो वहांसे वापिस भी आजाता है, कह कर वेदोंको मुक्ति के लिये अनुपयुक्त कहा है तथा अ०२ में

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! जो वेद वाक्यमें रत हैं वे स्वर्गादिकसेभिन्न मुक्तिको नहीं मानते. वे अविवेकीजन लुभाने वाली जन रंजनके लिये विस्तारपूर्वक संसारमें फंसाने वाली शोभायमान वाणी बोलते हैं । अतः हे अर्जुन ! त्रैगुण्या विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।" संसारमें बांधकर रखनेके लिये वेद तीन गुण रूपी रस्सी है,तू इससे मुक्ति पाकर त्रिगुणातीत होजा । आगे कहाहैकि-

"श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।"

हे अर्जुन ! जब अनेक श्रुतियोंसे (परस्पर विरूद्ध वेद मन्त्रोंके सुननेसे) विचलति हुई बुद्धि परमात्मा (शुद्धात्मा) के स्वरूप में अचल ठहर जायगी, तब तू समत्वरूप योगको प्राप्त होगा ।' गीताके उपरोक्त शब्द इतने स्पष्ट हैं कि उनपर प्रकाश डालनेकी आवश्यकता ही नहीं है । यही कारण था कि स्वामी दयानन्दजी गीताको त्रिदोषज सन्निपातका प्रलाप कहते थे । * अभिप्राय यह है कि वेद-निन्दकको नास्तिक कहा जाय तो सम्पूर्ण हिन्दू जनता तथा आर्यसमाज भी नास्तिकोंकी श्रेणीमें आ जायेगा ।

उपनिषद् और वेद (१)

ऋग्वेद मं० १० सू० ४४ मं० ६, में लिखा है कि—

"न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुह, मीर्मैव ते न्यविशन्तकेपयः॥"

जो यज्ञ रूप नौका पर सवार न हो सके, वे कुकर्मी हैं, ऋणी हैं और नीच अवस्थामें ही दब गये हैं ।

इसका उत्तर उपनिषद्कार ऋषि देते हैं कि —

* देवेन्द्रनाथजी लिखित स्वामीजीका जीवन चरित्र देखें पृ२०३-२०४

प्लवाह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥ मुण्डोपनि० १

अय वेद ! यह तेरी यज्ञ रूप नौकातो पत्थरकी नौका है, वह भी जीर्ण शीर्ण है। तेरे जैसे मूर्ख जो इसको कल्याण कारक समझकर आनन्दित होते हैं, वे इस संसार रूपी सागरमें जन्म मरण रूप गोते खाते रहते हैं। इसी उपनिषद्में गीताकी तरह ऋग्वेद. यजुर्वेद सामवेदको अपरा(सांसारिक)विद्या कहा है यथा–

"तत्रापराऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो अथर्ववेदः।"

अन्य अनेक स्थानों पर भी ऐसा ही मत है। अतः उपनिषद् कार भी वेदोंको मुक्तिका साधन नहीं मानते। तथा वैदिक क्रिया काण्डकी निन्दा करते हैं।

कपिल मुनि और वेद

ऋग्वेद मं० १० सू०२७। १६ में लिखा है कि—

"दशानामेकं कपिलं समानम्।"

अर्थात्— दस अंगिरसोंमें कपिल श्रेष्ठ हैं उस कपिलके विषय में महाभारत शांति पर्व अ० २६८ में गाय और कपिलका संवाद है। उस समय यज्ञोंमें गो वध होता था,गौ ने आकर कपिल मुनि से अपनी रक्षाकी प्रार्थनाकी। इस पर कपिलने दुःखित हृदयसे कहा कि वाहरे वेद ! तैंने हिंसाको ही धर्म बना दिया यही नहीं अपितु उन्होंने अपनी स्पष्ट घोषणाकी कि हिंसा युक्त धर्म, धर्म नहीं हो सकता चाहे वह वेदने ही क्यों न कहा हो। उन्होंने इस

हिंसक धर्मका विरोध रूपमें प्रचार किया था। प्रतीत होता है कि इसी कारणसे ब्राह्मणोंने कपिलको नास्तिककी उपाधि दी थी, अभिप्राय यह है कि जिस कपिल मुनिकी वेद स्तुति करता है वही वेदका विरोधी है। स्वयं वेदमें ही एक ऋषि दूसरे ऋषिका विरोध करता है। फिर किस ऋषिको आस्तिक मानाजाय और किसको नास्तिक माना जाय। सब दार्शनिकोंको सत्यार्थ प्रकाशने नास्तिक कह ही दिया पुराणकारोंको तो वह गाली देकर भी सन्तुष्ट नहीं होते जब यह बात है तो जैनोंको नास्तिक लिखना क्या कठिन था। तैतरीय ब्राह्मण ३। ३। ९। ११ में वेदोंको प्रजापतिके केश बताया है अर्थात् बाल (केश) की तरह वेद भी व्यर्थ हैं। ❀

(प्रजापते र्वा एतानि श्मश्रूणि यद्वेदः ॥)

इसी लिये कौत्स्य ऋषि वेद मन्त्रोंको निरर्थक मानता था।

निन्दा

सत्यार्थ प्रकाश पृ० ९५ में निन्दा स्तुतिके विषयमें लिखा है कि गुणोंमें दोष दोषोंमें गुण लगाना वह निन्दा है और गुणोंमें गुण दोषोंमें दोषोंका कथन करना स्तुति कहाती है।

अर्थात् मिथ्या भाषणका नाम निन्दा है और सत्य भाषण का नाम स्तुति है। यदि इस कसोटी पर कसके देखा जाय तो श्री स्वामी दयानन्दजी और आर्यसमाज ही प्रथम श्रेणीके नास्तिक ठहरते हैं क्योंकि इन्होंने ही वेदोंकी घोर निन्दाकी है। यथा—

❀ नोट—इसी लिये मीमांसकों ने उपनिषदों को वेद का वंजर भाग कहा है।

(१) वेद अनेक ऋषियोंके बनाये हुये हैं। ※ इसगुणको छिपा कर ये वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान अथवा ईश्वर रचित या नित्य कह कर निन्दा करते हैं। ×

(२) वेदोंमें इतिहास है, ये कहते हैं कि इतिहास नहीं है।

(३) वेदोंमें मृतक श्राद्धका वर्णन है, ये कहते कि नहीं हैं।

(४) वेदोंमें स्वर्ग, नरक आदि लोक विशेष माने हैं, ये विरोध करते हैं।

(५) वेद कहता है मुक्तिसे पुनरावृत्ति नहीं होती, ये कहते हैं होती है।

(६) वेदमें अद्वैतवादका मंडन है ये उसे नास्तिक कहते हैं।

※ वेदत्रयोक्ताये धर्मास्तेऽनुष्ठेयास्तु सात्विकैः। अधर्मोऽथर्व वेदोक्तो राजसै स्तामसैः श्रितः॥६३॥(श्री शंकराचार्य रचित सर्व दर्शन संग्रह) अर्थ, 'सात्विपुरुषको वेदत्रयीमें कथन कियेहुए धर्मका पालन करना चाहिए तथा राजसी और तामसी लोगोंको अथर्ववेदमें कहे हुए अधर्मका पालन करना चाहिये।' यहां स्पष्ट ही अथर्व वेदकी घोर निन्दा है। ज्ञात होता है यह अनार्य लोगोंका ग्रन्थ था। अनार्यों के सहवास से आर्यों ने भी बादमें इसको अपना लिया।

× बा० उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने ऋग्वेद के उपोद्घात प्रकरण के पृ० ६१ पर कौषीति की ब्राह्मण का निम्न वाक्य उद्धृत किया है। जिसका अर्थ है कि—

सामवेद और यजुर्वेद ऋग्वेदके सेवक हैं।

मैक्समूलरने भी इसी प्रमाणको उद्धृत किया है—

These two Vedas, the Yajur Veda and the Sam what they are Called in the Kaushitaki Brahman the attendents of the Rigveda

(S. T. Vol. 11, P. 203)

(७) वेद कहता है जगत नित्य है, ये कहते हैं अनित्य है।

(८) वेदोंमें यज्ञादिमें मांस व शराबका विधान है. ये कहते हैं निषेध है।

(९) वेदोंमें पुनरुक्त, परस्पर विरुद्ध, असम्भव. व्यर्थ आदि अनेक दोष हैं, ये कहते हैं नहीं है।

(१०) वेदोंमें अनेक देवतावाद है. ये कहते हैं नहीं है।

इस प्रकारसे श्री स्वामी दयानन्द जी व आर्यसमाज वेदोंके निन्दक ही नहीं अपितु महान अमित्र भी हैं. क्योंकि उन्होंने वेदों की आवाज दबा कर उनसे बलात् अपनी बातें कहलानेका प्रयत्न किया है। इस प्रकार ये ही वेद निन्दक ठहरे, और सनातन धर्मी और जैन आदि आस्तिक ठहरे। क्योंकि वे तो वेदोंमें जो गुण हैं उन्हीं गुणोंको कह कर वेदोंकी स्तुति करते हैं।

कलि कल्पना

वेद आदि शास्त्रोंसे तथा वर्तमान विज्ञानसे भी यह सिद्ध है। कि यह जगत अनादि निधन है इसपर भी सृष्टिकी उत्पत्ति मानने वालोंने इसकी रचनाकी तिथि आदि तक बतानेका साहस किया है। जोकि युगोंकी मान्यता पर निर्भर है अतः। इन युगोंका ऐतिहासिक विवेचन भी आवश्यक है।

'स्वामी दयानन्दजी ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकाके वेदोत्पत्ति प्रकरणमें मनुस्मृतिके श्लोकोंको उद्धृत करके लिखा है कि चार हजार वर्षका कृतयुग (सतयुग) होता है और तीन हजारवर्षका त्रेतायुग दो हजारवर्षका द्वापर एवं एक हजारवर्षका कलियुग।

इन सबके सन्धांशोंके २००० वर्ष मिलाने से १२००० वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। परन्तु ये वर्ष मनुष्योंके वर्ष नहीं अपितु देवोंके वर्ष हैं जो कि हमारेसे ३६० गुणा अधिक होते हैं इसलिये चतुर्युगका मान हुआ४३२०००० इसी प्रकार ७१ चतुर्युगोंका एक

मन्वन्तर होता है तथा १४ मन्वन्तर एक सृष्टिके होते है एवं इतना ही काल प्रलयका होता है. अर्थात् चार अरब ३२करोड़ वर्षकी सृष्टि होती है और उतनेही कालकी प्रलय होती है वर्तमान सृष्टिके ६ मन्वन्तर तो बीत चुके तथा सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियां भी बीत चुकीं अब २८ वीं चतुर्युगी बीत रही है इस हिसाब से सृष्टिकी उत्पत्तिको हुए आजतक १७६७२९४९०२३ सौ वर्ष हुए हैं। इसमें कल्पकी सन्धि भी गिनी गई है।

इन प्रमाणों पर विचार

इन प्रमाणों पर दो दृष्टियोंसे विचार किया जा सकता है। (१) ऐतिहासिक दृष्टि से (२) ज्योतिः शास्त्रकी दृष्टिसे अगर हम ऐतिहासिक दृष्टिसे इस पर विचार करें, स्वदेशी तथा विदेशी सभी सामयिक ऐतिहासिक विद्वान इसमें एक मत हैं कि यह सतयुग आदिकी वर्तमान मान्यता अत्यन्त आधुनिक है। प्राचीन ग्रन्थों में तथा प्राचीन खुदाई आदिमें इसका किसी स्थान पर उल्लेख नहीं मिलता।

(१) गुरुकुलके सुयोग्य स्नातक पं० जयचन्दजी ने भारतीय इतिहासकी रूप रेखामें इसी मतकी पुष्टिमें अनेक युक्तियाँ दी हैं।

(२) शिव शंकर काव्यतीर्थ जो कि आर्यसमाजके सर्व मान्य विद्वान थे, उन्होंने भी 'वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है' नामक पुस्तकमें यह स्पष्ट लिखा है कि यह कलियुग आदिकी मान्यता अवैदिक है' इनके अतिरिक्त पं० गोपीनाथ शास्त्री चुलैटने एक ग्रन्थ युग परिवर्तन नामसे ही लिखा है। उसमें विद्वान लेखकने, रावर्ट-सिवेल, मैक्समूलर, वेवर आदि पाश्चात्य विद्वानोंका विस्तार पूर्वक मत संग्रह किया है।

खुदाई में सबसे पुराना लेख जिसमें कलियुगका संकेत है राजा

पुलिकिसैन द्वितीयका है, यह चालुक्यका है, जो कि ई० सन् ६३४-३५ का है

इससे पूर्वके किसी भी लेख में इन युगोंका कहीं भी पता नहीं लगता। इसलिये खुदाईके प्रमाणोंसे तो इसको प्राचीन कहा नहीं जा सकता। अब रह गया ग्रन्थोंका प्रमाण, पुस्तकोंमें सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है, इसमें युग शब्दका अनेक बार प्रयोग हुआ है। इसलिये हम भी प्रथम ऋग्वेदमें आये हुये युग आदि शब्दों पर विचार करते हैं।

ऋग्वेद मं० १० सूत्र ९७ औषधी सूक्त है उसका प्रथम मंत्र

या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

इस मंत्रमें आये हुये (त्रियुगं) शब्दसे कई विद्वानोंने सत्य-युग आदि अर्थ निकालने का प्रयास किया है पं० आर्यमुनि जी ने वेद कालका इतिहास, नामक पुस्तकमें लिखा है कि यहां त्रेता द्वापर, तथा कलियुगको न्यून कथन करके इस प्रथम (सत्य) को प्रधान सर्वोपरि माना है। आगे आप लिखते हैं कि यह वह समय था जब कि आर्य जाति तिब्बत में निवास करती थी। पं० रामगोविन्द जी वेदान्त शास्त्रीने भी अपने ऋग्वेद भाष्य में लिखा है कि तीन युगों (सत्य त्रेता और द्वापर वा वसन्त वर्षा शरद्) में जो औषधियाँ प्राचीन देवोंने बनाई हैं। यही मन्त्र यजुर्वेद अ० १२ में भी आया है श्री स्वामीजी महाराजने भी वहां युग शब्दके अर्थ सत्य युगादि तथा वर्ष भी किये हैं।

इन भाष्यों की समीक्षा

इस सूक्तमें २३ मन्त्र हैं, उन सबमें प्राय औषधी से रोग दूर करनेकी प्रार्थना की गई है। यथा दूसरे ही मन्त्रमें लिखा है कि

हे मातृरूप औषधियों तुम्हारे जन्म असीम हैं और तुम्हारे प्ररोहण अपरिमित हैं तुम सौ कर्मों वाली हो। तुम मुझे आरोग्य प्रदान करो (मे अगदं कृत) इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कोई रोगी औषधी को सन्मुख देखकर अथवा रखकर उससे प्रार्थना कर रहा है। फिर कैसे माना जावे कि कोई व्यक्ति सत्ययुगमें तीन युग पहले अर्थात् लाखों वर्ष पहले उत्पन्न हुई औषधी से प्रार्थना कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करे भी तो पागल प्रलापके सिवा क्या समझा जायेगा। बहुत क्या विवादास्पद मन्त्रसे ही प्रथम लिखा है कि इन पीले रंगकी औषधियोंके १०७ स्थान मैं जानता हूँ बस स्पष्ट है कि ये औषधियां उसी समय विद्यमान थीं न कि लाखों वर्ष पहले, अतः इससे वर्तमानयुगोंकी कल्पना करना नितान्त भूल है। अब रह गया यह प्रश्न कि यहां युग शब्दके क्या अर्थ हैं ?

युग शब्द का वैदिक अर्थ

युग शब्द वेदोंमें अनेक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

(१)—(ऋतु) यजुर्वेदके भाष्यमें इसी प्रथम मन्त्रका भाष्य करते हुए युग शब्दका अर्थ तीन ऋतुमें, उव्वट, महीधर, ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० जयदेवजी आदि सभी विद्वानोंने किया है, तथा च ऋग्वेदालोचन में पं० नरदेवजी ने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

(२)—(मास) दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वनि दशमे युगे।

ऋ० म० १ सू० १२५। ८

यहां शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ वैदिक इतिहासार्थ निर्णयके पृष्ठ १७६ में युगके अर्थ मास महीने करते हैं। अन्य विद्वानोंने भी कई स्थानों पर ऐसा अर्थ किया है।

३— (पक्ष) यजुर्वेद अ०१२ मंत्र १११में महीधर आदि सभी

भाष्यकारोंने युगका अर्थ पक्ष (पर्व) पूर्णिमा अमावस्या आदि किया है।

४—(युगल) जोड़ा, दो। उपरोक्त मन्त्रके भाष्यमें ही पं० जयदेवजी ने युगका अर्थ जोड़ा किया है।

५—(चार) चार की संख्या अर्थ भी इसका प्रसिद्ध ही है। तथा च यजुर्वेद अ० २७ मंत्र ४५ के भाष्य में सभी विद्वानोंने ५ वर्षोंका युग माना है। जैन शास्त्रोंमें भी ५ वर्षका युग माना है।

६—(वर्ष) एक वर्ष, विवादास्पद मंत्रके भाष्यमें स्वामी दयानन्दजीने युगका अर्थ एक वर्ष भी किया है।

७—(यज्ञ) अथर्ववेद कां० २० सूक्त १०७ मं० १५ (युगानि वितन्वते) का अर्थ सभी विद्वानोंने यज्ञ किया है अर्थात् यज्ञोंको फैलाते हैं।

८—(दिन) युगे युगे नव्यं घोषादमर्त्यम्।

अ० कां० २० सूक्त ६७।२

अर्थात् सोमदाताका आश्चर्य कर्म दिन प्रतिदिन नया हो।

९—(जुवा) बैलों पर रखनेका जुवा (खे युगस्य)

अ० कां० १४। १। ४१

यहां सबोंने युगका अर्थ जुवा किया है। इत्यादि अर्थात् दिन, पक्ष, मास, ऋतु (२ मास या ३ मास) वर्ष, चार वर्ष, पांच वर्ष, युगल (जोड़ा) यज्ञ, तथा जुवा आदि अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है। जब कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें कहीं भी वर्तमान युगोंकी कल्पनाको स्थान नहीं है तो युग शब्द आने मात्रसे सतयुग आदि अर्थ करना अनर्थ करना है। अतः मन्त्रार्थ निम्न प्रकार है—

या औषधीः त्रियुगं पुरा पूर्वा जाता ।

अर्थात् जो औषधि प्रथम तीन मास तक पक कर पूर्ण उत्पन्न हुई है। देवेभ्यः वह औषधि वैद्योंके लिये उपयुक्त है। उसका रंग बभ्रु गहरा पीला होता है ऐसा मैं जानता हूँ, वह अनेक स्थानों पर प्राप्त हो सकती है।

अतः ऋग्वेदके विवादास्पद मन्त्रसे सतयुग आदिकी कल्पना निराधार तथा केवल कल्पना मात्र ही है। इस वेदमें से अन्य कोई मन्त्र किसीने इस विषयमें उपस्थित नहीं किया।

यजुर्वेदः

हां ऋग्वेदादि भाष्य भूमिकामें श्री स्वामी जी महाराजने एक यजुर्वेद का प्रमाण उपस्थित किया है उस पर विचार अवश्य करना है।

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि । यजु० १५।६५

श्री स्वामी दयानन्दजीने मन्त्रका कुछ भाग लिख कर इसका अर्थ इस प्रकार किया है:—हे परमेश्वर ! आप इस हजार चतुर्युगी के दिन और रात्री को प्रमाण अर्थात निर्माण करने वाले हो। श्री स्वामीजी महाराजने जो अधूरा मन्त्र लिखा है उसमें न तो युग शब्दका कहीं निशान है और न चतुर्युगी का ही। हां सहस्र शब्द अवश्य आया है यदि सहस्र शब्द के आने मात्रसे सहस्र चतुर्युगी का अर्थ होता है ऐसा नियम किसी ग्रन्थमें हो तो वह ग्रन्थ हमारे देखनेमें तो आज तक नहीं आया है। दूसरी बात, इसमें परमेश्वर शब्द भी नहीं है, पुनः परमेश्वर अर्थ कौनसी प्रक्रियासे किया गया है यह भी हमारे जैसा अल्पज्ञ नहीं समझ सकता। आगे चल कर प्रमाण शब्दका अर्थ निर्माण किया गया है यह भी एक

विचित्र अर्थ है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि "करता है" इस क्रियाकी कल्पना किस आधार पर की गई है यह भी विचारणीय है। क्या इस प्रकारके अर्थ अथवा अध्याहार करने का अन्य किसीको भी अधिकार है यदि हाँ तब तो बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। यदि नहीं तो ऐसा क्यों है ? श्री स्वामीजी महाराजने शतपथका एक प्रमाण देनेकी भी दया की है।

"सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि" शत०कां०७ब्रा०२कं०१३

बहुत कुछ ध्यानपूर्वक दीर्घकाल तक विचार करने पर भी हम यह न समझ सके कि यह प्रमाण क्यों दिया गया है बहुत सम्भव है किसी प्रतिपक्षीकी ओर से यह प्रमाण स्वामीजीने लिखा हो तथा इसका जो उत्तर स्वामीजीने लिखा हो वह आर्य भाइयोंकी कृपासे छपना रह गया हो।

कुछ भी हो इस प्रमाणके लिख जानेसे तो स्वामीजीके अर्थों का सर्वथा खण्डन होगया। क्योंकि इसमें "दातासि" यह क्रिया स्पष्ट है। अब इस ब्राह्मणके अनुसार मन्त्रके अर्थ हुये कि तू सब कुछ देने वाला है।

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि।
सहस्रस्योन्मासि साहस्रोऽसिमहस्रायत्वा॥ यजु० १५६५

इसका शब्दार्थ है कि तू सबका सहस्रका प्रमाण [illegible] सबका प्रतिमान (प्रतिनिधि) है तथाच सबका तराजू है तू स[illegible]का पूज्य है सबके लिए तेरेको।

इस मन्त्रमें जो 'त्वा' आदि शब्द आये हैं उनसे ईश्वरकी कल्पनाका निराकरण हो जाता है। क्योंकि ईश्वर न तो सबका प्रतिनिधि ही है और तराजू। यह सब कुछ होनेपर भी (त्वा) तेरा, इस शब्दका ईश्वर विषयक स्वामीजी के अर्थमें किस प्रकार

घटित किया जायेगा। वास्तवमें तो यहां अग्नि तथा सूर्यका वर्णन है यह बात इस अध्यायके पाठसे सहज ही अवगत हो जाती है, इसी अध्यायके मन्त्र ५२ में आया है।

"अयमग्नि वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योतताम्"

अर्थात्—यह अग्नि वीरवर है, तथाच वयस (अग्निका धारण करने वाला अथवा देने वाला है एवं सहस्रियः अर्थात् सबका पूज्य है अथवा सहस्रवाला है तथाच इसी अध्यायके मन्त्र २१में लिखा है कि —

अयमग्नि सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पति।

अर्थात्—यह अग्नि शत, सहस्र, अन्नोंके स्वामी हैं। मन्त्र ५२में सहस्रियः यह अग्निका विशेषण है जिससे स्पष्ट है कि यहां सहस्रके अर्थ हजार चतुर्युग किसी प्रकार नहीं लिये जा सकते मंत्र २१ में 'सहस्र और शत' यह अन्नका विशेषण है। बस मंत्र ६५ में भी सहस्र शब्दके अर्थ अन्नके ही है अन्न नाम हवि का भी है इसलिये यहां त्वा तेरेको यह शब्द पड़ा है जिसका अर्थ है अन्न के लिये अथवा हविके लिये तुझको प्रज्वलित करता हूँ। यदि यह अर्थ न करके श्री स्वामी जी कृत सहस्र शब्दके अर्थ स्वीकार किये जावें तो हजार चतुर्युगोंके लिये ईश्वरको क्या किया जायेगा, संभव है इतने समय तक ईश्वरको आज्ञा दी जाती हो कि आप इतने समय तक अवश्य ही सृष्टि उत्पन्न करें।

श्री स्वामी जी ने ही जो अर्थ इस मंत्रका स्वकीय भाष्यमें किया है हम उसीको उपस्थित करते हैं।

पदार्थः— हे विद्वान पुरुष! विदुषी स्त्री वा, जिस कारण तू सहस्र असंख्यात पदार्थोंसे युक्त जगतके (प्रमाण यथार्थ ज्ञान के तुल्य है। असंख्य विशेष पदार्थों के तोलन साधनके तुल्य हैं असंख्य स्थूल वस्तुओंके तोलनेकी तुलाके समान हैं। और

असंख्य पदार्थ और विद्याओं से युक्त है। इस कारण असंख्यात प्रयोजनों के लिये तुझको परमात्मा व्यवहारोंमें स्थित करे।

क्या अब भी कोई पक्ष पाती यह कहनेका साहस कर सकता है कि यहां युगोंका ही वर्णन है। इतना ही नहीं अपितु श्री स्वामी जी महराजने इस मंत्रके भावार्थमें इसको विल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है। यथा—

'इस मंत्र में परमेष्ठी, सादयतु, इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। तीन साधनोंसे मनुष्यके व्यवहार सिद्ध होते हैं। (१) यथार्थ विज्ञान (२) पदार्थ तोलनेके लिये तोलके साधन बांट और (३) तराजू आदि' फिर भी भाष्य भूमिका में यह मंत्र किस प्रकार युगोंकी पुष्टिमें लिखा गया यह अवश्य कुछ रहस्य मय घटना है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद भाष्यकार पं० क्षेमकरण दास जी ने अथर्ववेद का सू० २।२१ को इसी प्रकरण में लगाया है, तथा वैदिक सम्पत्ति (जिसका प्रचार आर्य समाजमें विशेष है तथा सभी आर्य विद्वानों ने जिसकी प्रशंसा करने में अपना गौरव समझा है)में भी यही मंत्र लिखकर सृष्टिकी आयु निकाली है। मंत्र निम्न प्रकार है:—

शतं ते युतं हानान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते नु मन्यन्ताम हृणीयमान।२११।

उपरोक्त आर्य विद्वान तथा अन्य भी इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "अंकानां वामतो गति" के अनुसार ४३२ के अंक लिख कर उन पर सौकी तीन बिन्दु तथा अयुत दस हजार की ४ बिन्दु रखनेसे सृष्टिकी आयु ४३२०००००००० सिद्ध हो गई। मुसलमानों आदिसे शास्त्रार्थोंमें भी आर्य विद्वान इस प्रमाणको दिया करते हैं तथा कहा करते हैं कि जिसने यह जगत् रचा है उसीने इसकी आयु भी निश्चितकी है।

इस पर विचार

जब हम इस सूक्तकी तथा इस मंत्रको देखते हैं और उपरोक्त अर्थको पढ़ते हैं तो हमें बड़ा ही दुःख होता है। भारतवर्षके दुर्भाग्य का कारण श्रीस्वामी दयानन्दजीने ही विद्वानोंका पक्षपात बतलाया है उसका ज्वलन्त उदाहरण यहां उपलब्ध होता है। हम इन भाइयों से इतना ही जानना चाहते हैं कि इस मंत्र में (कृणमः) यह जो बहु बचनान्त क्रिया है उसका कर्त्ता कौन है, यदि ईश्वर है तो क्या ईश्वर भी बहुतसे है। तथा च इसमें (ते) यह शब्द किसके लिये आया है, और आगे इसी मन्त्रके उत्तरार्धमें जो यह कहा है कि इन्द्र, अग्नि, सब देव क्रोध न करते हुए हमारे इस वचनको स्वीकार करें। क्या यह ईश्वर इन देवोंसे प्रार्थना कर रहा है। और क्या ईश्वर इन देवोंके क्रोधसे भयभीत होरहा है। क्या कहें वास्तव में तो इनके सम्पूर्ण सिद्धान्त ही निराधार हैं उनकी पुष्टिके लिए ये लोग इसी प्रकारके घृणित प्रयत्न किया करते हैं।

इस सूक्तका विनियोग बालकके नाम करण संस्कारमें है, और बालककी आयु वृद्धिके लिए इस मन्त्रमें आशीर्वाद है। हम विशेष कुछ न लिख कर विवादास्पद मन्त्रसे पूर्वके कुछ मन्त्र यथा पश्चात् के मन्त्र लिखकर उसके अर्थ लिख देते हैं जिससे पाठक भली प्रकार जान जकें—

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्णः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १६ ॥
अन्हे च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि।
अरायेभ्यो जिघत्सभ्य इमं मे परिरक्षत ॥ २० ॥

शतं ते युत हयनान द्वे युते त्रीणि चत्वारि कृएमः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्ताम हृणीयमानः ॥२१॥
शरदेत्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो कुछ तू खाता है जो कुछ तू पीताहै, अनाज जो कि पृथ्वीका रस है जो खाद्य पदार्थ हैं तथा जो अखाद्य हैं उन सब अन्नोंको तेरे लिए विष रहित करता हूं ॥१६॥ तुझे दिन और रात दोनोंको सौंपता हूं, मेरे इस (बालक) को उन अरायों (भूखों) से बचाओ जो इसे खाना चाहते हैं ॥२०॥ अब याज्ञिक आशीर्वाद देते हैं । हे बालक ! तेरी १०० वर्षकी पूर्ण आयु को हम द्विगुना त्रिगुणा तथा चौगुना करते हैं । (अर्थात् तू चार सौ वर्ष तक जी हम यह आशीर्वाद देते हैं) इन्द्र अग्नि आदि सब देवता क्रोध न करते हुए (शान्त भावसे) हमारी इस शुभ कामनाको स्वीकार करें

हम तुझे शरद, हेमन्त, बसन्त,तथा ग्रीष्मको सौंपते हैं वर्षायें जिनमें औषधियां बढ़ती हैं तेरे लिये सुखकारी हों ॥२२॥

उपरोक्त मन्त्र इतने सरल हैं कि प्रत्येक संस्कृतज्ञ सुगमतासे समझ सकता है । मन्त्र १८ में खाद्य अन्नोंका नाम भी (चावल, जौ) बतला दिया है । सबसे बड़े दुःखकी बात तो यह है कि मन्त्र २३ तथा२४ में स्पष्ट (मा बिभे) अर्थात् भय मत कर, तू मरेगा नहीं ऐसा लिखा है । कौन विचार शील ऐसा होगा जो उपरोक्त मन्त्रोंसे सृष्टिकी आयुका वर्णन समझेगा । हमने जो अर्थ इन मंत्रों के दिये हैं प्रायः सभी भाष्यकारोंने यही अर्थ किये हैं । परन्तु मन्त्र २१ में आये (अयुतं)के अर्थ दस हजार वर्ष तथा युगके अर्थ चार किये हैं, अर्थात् तू जुग २ जी ऐसा अर्थ भी किया है । आर्य समाजके प्रतिष्ठित विद्वान पं० राजाराम जीने अपने अथर्व

वेद भाष्यमें हमारे अर्थ की पुष्टिकी है। हमारी सम्मतिमें ये सब अर्थ ठीक नहीं हैं, क्योंकि (अयुत) शब्द पूर्ण अर्थ में इसी वेदमें आया है। यथा—

अयुतोहमयुतो म आत्मा युतं मे चक्षु रयुतं श्रोत्रम्।
अथर्ववेद कां० १६ सूत्र० ५१ मं० १

अर्थात्—मैं अयुत (पूर्ण) हूं मेरी आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि सब पूर्ण हैं। यहां अयुत शब्दके अन्य अर्थ हो ही नहीं सकते, अतः सभी भाष्यकारोंने यहां अयुतके अर्थ पूर्ण किए हैं। बस जब अयुतके अर्थ पूर्ण हैं तो यहां भी इस शब्दके अर्थ पूर्ण ही हैं। क्योंकि मनुष्यकी पूर्ण आयु १००वर्षकी मानना सर्वतंत्र वैदिक सिद्धान्त है तथा अधिक से अधिक ४०० वर्ष की आयु का परिमाण भी श्री स्वामीजी महाराजने स्वयं स्वीकार किया है (रह गया युग शब्द का अर्थ सो तो यहां 'द्वे') शब्दका 'युगे' ऐसा विशेषणार्थ में युग शब्द का प्रयोग हुआ है। वास्तवमें तो यहां (युगे) यह पद पाद पूर्त्ति के लिए रक्खा गया। अस्तु, जो कुछ भी हो। उपरोक्त वैदिक प्रमाणाभास जो इस विषयमें दिये गए हैं उनकी निःसारता प्रकट हो चुकी तथा इन प्रमाणोंके अलावा किसी अन्य प्रमाणको देनेका किसी भी विद्वान्ने साहस नहीं किया अतः यह सिद्ध है कि वेदोंमें इस सृष्टि उत्पत्ति की वर्तमान मान्यताका कहीं वर्णन नहीं है।

वेदों में कलि आदि शब्द

वैदिक वाङ्मयमें कलि, आदि शब्दों का व्यवहार द्यूतके पासों के लिए हुआ है। वैदिक समयमें जुवा बड़े जोरोंसे खेला जाता था तथा गन्धर्व जाति की स्त्रियां इस विषयमें दक्ष हुआ

करती थी, धनाढ्य जुवारी लोग इनको जूवा खेलनेके लिए अपने पास रखते थे। बहेड़े की लकड़ी के बने हुए ५३ पासोंसे यह खेला जाता था, एक से पाञ्च तक के पासे 'अयन कहलाते थे, उनमें पांचवां पासा कलि कहलाता था। तैत्तरीय ब्रा० १।५।११।१।

जिसके पास कृत अर्थात् चारका अयन आता था उसीकी विजय होती थी और पाँच वाले की हार इसी लिए ऋग्वेद मंडल, १ सूत्र ८१ में कृतका अयन पाने वाले जुवारीसे डरनेका उपदेश दिया गया है। तथा च निरुक्तकार यास्कने भी यही सलाह दी है। नि० ३। १६ इन जुओंमें बभ्रु नामका जुवा सबसे भयानक होता था। यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र १८ में—

अक्षराजाय कितवम् कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनम् द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभा स्थाणुम्।

इसका अर्थ है कि जूवेके लिए जुवारीको, अब ये जुवारी कितने प्रकारके होते थे यह आगे बतलाया है। सबसे बढ़िया जुवारीका नाम 'कितव' था यह कृतका अयन जीतने वाला बड़ा चालाक होता था। उससे नीचे दर्जे के जुवारीका नाम 'नवदर्श' और उससे छोटेका नाम 'कल्पी' यह त्रेता चिन्ह वाले पासेको लाता था तथा उससे छोटेको अधिकल्पी' कहते थे, इस जूवेका वर्णन अथर्ववेद कां० ४ सूत्र ३८ तथा कां० ७ सूत्र ५२—१४४ में देखने योग्य है। जब इस जुवेने भयानक रूप धारण कर लिया, तब इसके नियमोंका आविष्कार हुआ, परन्तु इतने पर भी इसकी वृद्धि न रुकी तो इसका निषेध किया गया।

"अक्षैर्मादीव्य कृषिमित्कृषस्व" (ऋग्वेद)

जब इसका भी कुछ प्रभाव न हुआ तो इसको पापका रूप दिया गया। तथा इसके लिये दण्डका विधान हुआ। अस्तु प्रकृत

विषय तो इतना ही है कि वेदमें कलि आदि शब्दोंका वर्तमान कलि आदिके अर्थोंमें कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। इसलिये वर्तमान युगोंकी कल्पना नितान्त नवीन तथा स्वकपोल कल्पित है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ❋

ब्राह्मण ग्रन्थ और युग

ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी कलि आदि शब्दोंको देखते हैं, अतः वहाँ इनका क्या अर्थ है इस पर विचार करना भी आवश्यक है।

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठं स्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥ ४ ॥

ऐतरेय ब्राह्मण ७।१५

यहां एक रोहित नामक राजाको कोई ऋषि उपदेशदेता है कि-

"नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुमः।"

अर्थात्— हे रोहित हमने ऐसा सुना है कि आलसीके लिये लक्ष्मी नहीं है। आगे कहा है कि आलस्यमें पड़े रहना (सोना) कलि है और उठना अर्थात् परिश्रमका विचार करना द्वापर है. एवं उठ बैठना उस विचारके अनुसार कार्य करनेको उद्यत होना अथवा नियम आदि बनाना त्रेतायुग है और जब उसके अनुकूल

❋ जैन ग्रन्थों में भी 'कलि' आदि शब्दों का प्रयोग—जूए के पासों के लिये ही आया है।

पूरे परिश्रमके साथ आचरण होता है तो वही कृत कहलाता है॥*
इसी भावको मनुस्मृतिकारने स्पष्ट किया है—

कृतं त्रेता युगं चैव द्वापरं कलि रेव च।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युग मुच्यते॥

अ० ९। ३०१

कलि प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्म स्वभ्युद्यत स्त्रेता विचरेस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥

अर्थात् कृत (सत्ययुग) त्रेता आदि युग सब राजा के आचारणों के नाम हैं 'वास्तव में राजा ही का नाम युग है।, जब वह (राजा) आलसी रहता है। अथव ।कुकर्मोंमें फंस कर प्रजा की रक्षा आदि नहीं करता तो वह कलियुग है अर्थात् उस राजमें कलियुग कहा जाता है। जब वह जागता है तो द्वापर हो जाता

---

*श्री स्वामी दयानन्दजी युगोंका यही अर्थ करते थे, जब मेलाचाँदापुर में शास्त्रार्थ हुआ तो स्वामीजी ने ऐतरेयब्रा० के इसी प्रमाणको देकर लिखा है।

"हम आर्य लोग युगोंकी व्यवस्था इस प्रकारसे नहीं मानते, इसमें प्रमाण—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठ स्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ ऐतरेय ब्रा०७।१५।

अर्थात् जो पुरुष सर्वथा अधर्म करता है और नाम मात्र धर्म करता है, उसको कलि, और जो आधा धर्म, और और अधर्म करता है उसको द्वापर, और जो एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है, उसको त्रेता, और जो सर्वथा धर्म करता है उसको सत्ययुग कहते हैं।

सत्यधर्म विचार —पृ०

है एवं जब कुछ क्रियाशील होता है। तब त्रेता कहलाता है तथा जब आलस्य को छोड़ कर अपना कार्य करता है तो कृतयुग कहलाता है। मनुस्मृतिकार ने "राजा हि युगमुच्यते" अर्थात् राजा को ही युग कहते हैं, ऐसा कहकर सम्पूर्ण विवाद को मिटा दिया है क्योंकि यहाँ 'हि' शब्द अन्य अर्थों के निवारणार्थ प्रयुक्त हुआ है। यही भाव ऐतरेय ब्राह्मण के हैं। अब यह बात सिद्ध हो गई कि ब्राह्मण काल में कृत युग आदि किसी समय विशेष का नाम नहीं था, अपितु राजा के नाम थे। यहां एक बात विचारणीय है कि कलि के लिये बुरे भाव अथवा इसे बुरा समझा जाना और कृतको अच्छा समझनेका भाव उस समय उत्पन्न हो गया था, इसका आधार क्या है।

इसका उत्तर स्पष्ट है कि वैदिक कालमें जूवे के पासों का नाम कृत आदि था जैसा कि हम दिखला चुके हैं। उन पासों में कृत के आने से विजय होती थी और कलि के आने से हार। अतः स्वभावतः कलि शब्द के अर्थ खराब और कृत शब्द के अर्थ सुन्दर शुभ प्रचिलित हो गये थे, उसी भाव को यहाँ दर्शाया है।

तथा च तैत्तिरीय ब्रा० में आया है कि—

"ये वै पचस्तोमाः कलिः सः।"

अर्थात् पांचवां स्तोम कलि है।

"ये वै चत्वारः सोमा कृतं तत्।"

चतुर्थ स्तोम कृत है। स्तोम नाम यज्ञका प्रसिद्ध है। पूर्व समय में वर्षमें पाँच यज्ञ ऋतुओंके अनुसार हुआ करते थे छठी ऋतुमें शीत अधिक होनेके कारण कुछ भी कार्य नहीं होता था, ऐसा कई विद्वानोंका मत है। जो भी हो, परन्तु पाँच यज्ञ होते थे, उनमें जो वसन्त ऋतुमें यज्ञ होता था उसका नाम कृत था. ग्रीष्मके यज्ञका

नाम त्रेता, वर्षाके यज्ञका नाम द्वापर शरदऋतुके यज्ञका नाम कलि एवं हेमन्तमें जो यज्ञ होता था उसका नाम अभिभू था कई स्थानों पर कलिका नाम आस्कन्द और अभिभू भी मिलता है।

यथा—एष वाऽअयनमभिभूर्यत्कलि रेष सर्वानयानभि भवति। शतपथ ब्रा० कां० ५.४४।६

अर्थात्—यह अयन यज्ञ अभिभू है, सो कलि ही अभिभू है। ब्राह्मण ग्रन्थमें उपरोक्त अर्थमें ही इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है इसलिये यह सिद्ध है कि ब्राह्मण कालमें भी वर्तमान युगोंका प्रचार नहीं था। ब्राह्मण ग्रन्थोंके पश्चात् उपनिषद् काल है, परन्तु उनमें भी हम इस युग प्रथाका अभाव ही देखते हैं। इसी प्रकार दर्शन शास्त्र तथा गृह्यसूत्र आदिकी भी अवस्था है।

महाभारत और युग

एषा द्वादश साहस्री युगाख्या परिकीर्तिता।
एतत्सहस्र पर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम्।

महाभारत, बन पर्व अ० १८८ अर्थात् बारह हजार वर्षोंकी युग संज्ञा है। ऐसे ऐसे हजार युगोंका ब्रह्माका एक दिन होता है। चतुर्युगके बारह हजार वर्ष होते हैं यह कल्पना महाभारत काल ही में मिलती है। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण कालके पश्चात् और महाभारत ग्रन्थसे पूर्व इन युगोंकी कल्पना हुई, परन्तु उस समय इन चारों युगोंके १२ हजार वर्ष माने जाते थे।

बा०संपूर्णानन्द जी ने आर्योंका आदि देश नामक पुस्तकके पृ० ८८ में लिखा है—

'जैसा कि हमने इस दसवें अध्यायमें लिखा है ४,३२'०००वर्ष

का एक युग माना जाता है। कलिकी आयु १ युग होती है, द्वापर की २युग त्रेताकी ३ युग, और सतयुगकी ४ युग। इसप्रकार १० अर्थात् ४,३२,००० वर्षका एक चतुर्युग या महायुग होता है। ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर और १००० महायुगोंका एक कल्प होता है। इस प्रकार एक कल्पमें १०९० ÷ ७१ = १४ मन्वन्तर होते हैं और ६ महायुग बच रहते है।

युगादिकी आयुका यही मान प्रचलित है। इसके हिसाबसे अन्तिम सतयुगके प्रारम्भ कालको, जोकि वैदिक समयका प्रारम्भ काल था, १७,२८,००० × १२,९६,००० × ८,६४,००० × ५००० = ३८,९३,००० वर्ष हुये।

युगोंके मानके और भी कई प्रकार हैं। श्री गिरीन्द्रशेखरबोष ने अपने पुराण प्रवेशमें इस प्रश्न पर अच्छी खोजकी है। उसका सारांश श्री पी०सी० महालनवीसके एक लेखमें जो १९३६ जूनकी (संख्या) में छपा था दिया गया है। यह विषय रोचक है और वैदिककालके विद्यार्थियोंको विशेष महत्व रखता है। इसलिये हम यहाँ उसका थोड़ेमें दिग्दर्शन कराये देते हैं।

युगका अर्थ है जोड़, मिलना। जहां दो या दोसे अधिकसे अधिक चीजोंका मेल होता है युग, युति, योग होता है। विशेषतः युग वह मिलन है जो नियम कालके बाद फिर फिर होता रहता है।

हमारे यहाँ चार प्रकारके मास प्रचलित हैं। (१) ३० सूर्योदयोंका सावन मास, (२) एक राशिसे दूसरी राशि तकका सौर मास (३) पूर्णिमासे पूर्णिमा तकका चान्द्र मास और (४) चन्द्रमा का पृथ्वीकी परिक्रमामें लगने वाला नाक्षत्र मास। इन सबकी अवधि एक दूसरेसे भिन्न है यदि इन सब अवधियोंको लघुतम-समायवर्त्य निकाला जाय तो हम देखते हैं कि ५ सौर वर्षोंमें ६० सौर मास, ६१ सावन मास, ६२ चान्द्र मास, और ६७ नाक्षत्र

मास आते हैं। पांच पांच वर्षमें यह चारों मास एकत्रित होते हैं। इसलिए ५ सौर वर्षोंका नाम वेदांग-ज्योतिषमें युग है। इस प्रकार कलि ५ वर्ष, द्वापर १० सौर वर्ष, त्रेता १५ सौर वर्ष और सतयुग २० सौर वर्षका हुआ। ५० सौर वर्षोंका एक महायुग हुआ। पर इतना पर्याप्त नहीं है। और लम्बे काल मानोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है उनकी उपलब्धि इस प्रकार होती है।

चांद्र वर्ष में ३५५ दिन और सौर वर्षमें ३६६ दिन होते हैं यो अपनी सुविधाके लिये प्रति तीसरे वर्ष एक महीना जोड़ कर दोनों को मिला लिया जाता है पर ऐसा न किया तो ३५५ सौर वर्षों में दोंनों फिर मिलेंगे। अतः ३४५ सौर वर्षो का भी एक प्रकार का युग है इसको मनुकाल कहते हैं। ३५५ को ५ से भाग देने से ७१ युग आता है। इसलिये कहा जाता है कि एक मन्वन्तर में ७१ युग होते हैं। १००० युग अर्थात् ५००० सौर वर्षों का एक कल्प होता है। एक कल्प में १४ मनुकाल होते है। इन में ४९७० वर्ष लगे। दो दो मनुओं के बीच में दो वर्ष का सन्धिकाल होता है इस प्रकार १५ सन्धिकालों में ५०००-४९७० = ३० वर्ष लगते हैं।

कल्प का नाम धर्म्मयुग या महायुग है। दो युगों के बीच में काल होता है। सन्धिकाल युग की आयुका दशांश होता है। सन्धिकालों को मिला कर युगों की आयु इस प्रकार हुई।

कलि ५०० वर्ष द्वापर १००० वर्ष, त्रेता १५०० वर्ष और सतयुग २००० वर्ष।"

देवों का अहोरात्र

उत्तरीयध्रुव प्रदेशमें ६ मासकी रात्री होती है। अनेक विद्वानों ने सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि शास्त्रों में जो देवों के अहोरात्र का वर्णन है वह उसी स्थान का वर्णन है। अतः यह सिद्ध है कि यह कल्पना न वैदिक है और न प्राचीन है।

कलियुगका कब आरम्भ हुआ इस सम्बन्धमें भी शास्त्रकारों तथा आधुनिक विद्वानोंमें भी भयानक मतभेद पाया जाता है।

(१) मद्रासके सुप्रसिद्ध विद्वान् किलन्डी-के अय्यरका मत हैकि कलियुगका आरम्भ ११९६ शक पूर्व है।

(२) पं० रमेशचन्द्र दत्त और अनेक पाश्चात्य पण्डितोंका कथन है कि कलियुगका आरम्भ १३२० वर्ष शक पूर्व है।

(३) मिश्र बन्धुओंने सिद्ध किया है कि २०९९ वर्ष शक पूर्व कलिका आरम्भ हुआ।

(४) राजतरंगणीके हिसाबसे २५२६ शक पूर्व कलिका आरम्भ ठहरता है।

(५) वर्तमान पंचाङ्गमें तथा लोकमान्य तिलक आदिके मतसे ३१७९ वर्ष शक पूर्वका समय आता है।

(६) कैलाशवासी मोडकके मतसे कलिका आरम्भ ५००० वर्ष शक पूर्व का है।

(७) वेदान्तशास्त्री त्रिल्लाजी रघुनाथ लेलेके मतसे ५३०६ वर्ष शकपूर्व कलिका आरम्भ हुआ।

हमने यहां मतोंका दिग्दर्शन मात्र कराया है। इसी प्रकार अनेक मत हैं। यहां ११९६ वर्ष और ५३०६ वर्षकी संख्याओंका भेद कितना विशाल है।

इस पर जरा दृष्टि डालो। इस भारी अन्तरका कारण यही है कि वास्तव में कलि आरम्भ हुआ ही नहीं है, यह तो एक निराधार कल्पना मात्र, जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके विरोध में की गई थी। या उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रचारको नष्ट करने के लिये की गई थी। यही कारण है कि किसीने कुछ अनु-

मान लगाया तो किसीने किसी प्रकारकी धारणाकी, इसी प्रकार कलियुगकी समाप्तिके विषयमें भी भारी मत भेद है। नागरीप्रचारणी पत्रिका भाग १० अङ्क १ में एक लेख भारतके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री काशीप्रशाद जी जायसवाल एम० ए० विद्या महोदधिका छपा था। उसमें अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि विक्रमादित्यसे पूर्व ही कलियुग समाप्त हो चुका था। उसके पश्चात् विक्रम संवत् चला जिसको प्राचीन लेखोंमें कृत संवत्के नामसे उद्धृत कियाहै. कृत = सतयुग। इसीकी पुष्टि श्रीजयचन्द जी विद्यालंकारने अपनी भारतीय इतिहासकी रूप रेखामें, की है। इस कल्पनाका कारण यही था कि जब ब्राह्मणोंने देखाकि विक्रमादित्यके राज्यमे लोगोंको सुख और समृद्धि प्राप्त है तो उन्होंने ये फतवा दे दिया कि कृतयुग (सतयुग) आरम्भ हो गया और उनके संवत्का नामभी कृत संवत रख दिया। परन्तु जब उनके पश्चात् फिर भी पूर्ववत् अनाचारादि होने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया कि 'कलिवृद्धिर्भविष्यति' कलियुग की आयु बढ़ गई है और कलियुगकी आयु भी बढ़ा दी।

इस विषय में हम भारत के ही नहीं परन्तु संसार में ज्योतिष विद्याके सर्व श्रेष्ठ विद्वान पं० बालकृष्ण जी दीक्षित का मत लिख देना ही पर्याप्त समझते हैं। आप लिखते हैं कि ज्योतिष ग्रन्थों के मत से ३१७९ वर्ष शकाब्द के पूर्व कलियुग का आरम्भ हुआ ऐसा कहते हैं सही किन्तु जिन ग्रन्थों में यह वर्णन है, वे ग्रन्थ २६०० वर्ष कलि लगने बादके हैं। इन ज्योतिष ग्रन्थोंके अलावा प्राचीन ज्योतिष या धर्म शास्त्र आदि ग्रन्थों में कलियुग आरम्भ कब हुआ यह देखने में नहीं आया, न पुराणों में ही खोजने से मिलता है। हाँ यह बात तो अवश्य है कि कुछ ज्योतिष ग्रन्थों के कथनानुसार यह वाक्य मिलते हैं कि कलियुग के आरम्भ में सब

ग्रह एकत्रित थे किन्तु गणित से यह निश्चित नहीं होता कि ये किस समय एकत्रित थे। यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लें कि ये सब ग्रह अस्तंगत थे तो भारतादि प्राचीन पुराणोंमें इस का उल्लेख क्यों नहीं मिलता हाँ उल्लेख मिलता २६०० वर्ष के बाद बने हुये सूर्यसिद्धान्त आदि नवीन ग्रन्थोंमें "भारतीय ज्योतिष शास्त्र" पृष्ठ २६

"इसी प्रकार कलियुग आरम्भ की कल्पना है। इस के विषय में भी शास्त्रोंका मत है। जब सूर्य चन्द्रमा तथा बृहस्पति एक राशि में आते हैं तब कृत युग आरम्भ होता है परन्तु ज्योतिर्विद् जानते हैं कि इन का एक राशि में आना नितान्त असम्भव है।"

ऐतिहासिकोंने इस कल्पनाका एक अन्य कारण भी बतायाहै। वह यह है कि खाल्डियन् लोगोंमें सृष्टि संवत् या युग ४३२०० वर्ष का माना जाता है. उसी के आधार पर इस कलि का जन्म देकर इसमें ४ बिंदियां और बढ़ा दी इसकी ४३२०००००००० सृष्टि की आयु बनादी।

मतलब यह है कि कलियुग आदि की कल्पना निराधार और नवीनतम है। प्राचीन समय में भारतवर्ष में उत्सर्पिणीका सिद्धान्त प्रचलित था, वैदिक ज्योतिष्क के प्राचीन ग्रन्थ आर्य सिद्धान्त अध्याय ३ श्लोक ९ में है।

'उत्सर्पिणी युगार्धं च पश्चादवसर्पिणी युगार्धं च मध्ये युगस्य सुष्मादावन्ते दुष्णामेन्दु चात्"

इस में काल के दो भेद किये हैं। पहिले के भाग का नाम उत्सर्पिणी और दूसरे का अवसर्पिणी रक्खा है। उन दोनों भाग

के ६-६ विभाग सुष्मा दुष्मा आदि किये गये हैं। यदि उपरोक्त श्लोक के साथ वैदिक ज्योतिष का नाम न होता तो कोई भी व्यक्ति इसको वैदिक सिद्धान्त कहनेके लिये उद्यत न होगा क्यों कि शब्दकल्पद्रुमकोश, और आप्टेकी संस्कृत इङ्गलिश डिक्शनरी में भी इसको जैनियों की ही मान्यता बतलाई है। इसी काल चक्र का नाम विकासवाद तथा ह्रासवाद है।

कर्म फल और ईश्वर

कर्म, फल कैसे देते हैं, इसके जाननेके लिए सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि कर्म क्या वस्तु है ?

भारतके दर्शनकारोंने मन, वचन, कायकी क्रियाको कर्म माना है। परन्तु जैन शास्त्र इसकी और भी अधिक गहराईमें पहुंचा है, और उसने कर्मके दो विभाग किए हैं-(१) भावकर्म, (२) द्रव्यकर्म।

भावकर्म

मन, बुद्धिकी सूक्ष्म-क्रिया या आत्माके संकल्परूप प्रतिस्पंदन को भावकर्म कहते हैं।

द्रव्यकर्म

यह जैनदर्शनका पारिभाषिक शब्द है। इसके समझनेके लिए कुछ अन्तर्दृष्टि होनेकी आवश्कता है। जैन शास्त्रके इस सिद्धान्त को, कि प्रत्येक क्रिया का चित्र उतरता है; विज्ञान ने स्वीकार कर लिया है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सिद्ध हो चुका है कि आत्मा जो संकल्प करता है, उस संकल्पका इस वायुमण्डल में चित्र उतरता है। अमेरिका के वैज्ञानिकों ने इन चित्रों का फोटो

भी लिया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि यह चित्र समस्त संसारमें व्याप्त हो जाते हैं। इन चित्रों का नाम जैनदर्शनकी परिभाषामें "कार्माण वर्गणा" है, और ये लोकाकाशमें व्याप्त हैं।

जब कोई आत्मा किसी तरहका संकल्प-विकल्प करता है तो उसी जातिकी कार्माण वर्गणाएं उस आत्माके ऊपर एकत्रित हो जाती हैं। इसीको जैन शास्त्रोंमें "आस्रव" कहा गया है ये ही कार्माण वर्गणाएँ जब आत्मा के साथ चिपक जाती हैं तो वह प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बंध रूपसे आत्माको जकड़ लेती हैं, इसीका नाम 'द्रव्यकर्म' है। इसी द्रव्य कर्मके ज्ञानावरणादि आठ (८) भेद हैं जो आत्माकी आठ मुख्य शक्तियों को या तो विकृत करते हैं या आवरण करते हैं। इनका अतिसूक्ष्म और विस्तारपूर्वक मनन करनेके लिए जैनशास्त्रोंका स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है।

कर्म, फल कैसे देते हैं ?

कर्म, फल कैसे देते हैं ? इस के जाननेके लिए यह जानना आवश्यक है कि फल किसे कहते हैं ?

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। कर्म भी एक क्रिया है, अतः उसकी भी प्रतिक्रिया होती है। ये प्रतिक्रियाएँ अनेक प्रकारकी होती हैं। यथा—इस कर्मरूपी क्रिया की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होंगी—(१) स्वगत (२) परगत।

जिस क्रियाका प्रभाव हमारी आत्मा, सूक्ष्म व स्थूल शरीर पर पड़ता है वह स्वगत प्रतिक्रिया है। जैसा कि शास्त्रकारों ने लिखा है—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः"। भगवान कृष्ण गीतामें

कहते हैं कि मनुष्य जैसी श्रद्धा, संकल्प व विचार करता है उसी प्रकार का उस का सूक्ष्म व स्थूल शरीर बनता है और जैसा स्थूल, सूक्ष्म शरीरादि होता है उसी प्रकार का उस के आस-पास का वायु मंडल भी हो जाता है। अतः वह तदाकार हो जाता है भगवान कृष्ण आगे कहते हैं:—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥"

—गीता अ० ५, श्लोक ६२-६३

विषयों के चिन्तन से पुरुष इन विषय के साथ संग करता है उस से वासना राग द्वेष इच्छादि उत्पन्न होती हैं अर्थात् अमुक पदार्थ प्राप्त होना ही चाहिए ऐसी कामना उत्पन्न होती है। इस कामनाकी पूर्तिके लिए प्रयत्न करता है। यदि उसकी प्राप्ति न हो तो उसके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह (अविवेक) होता है मोह से उसका स्मृति विभ्रम होता है और उससे बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि का नाश होने से आत्माका सर्वस्व नाश हो जाता है। यह स्वगत प्रतिक्रियाका फल है।

कर्मके अन्य प्रकारसे भी २ विभाग किए हैं १ पुण्य २ पाप पुण्य का फल सुख और पापका फल दुःख होता है।

सुख दुःख का लक्षण करते हुए न्यायाचार्योंने कहा है कि—

अनुकूल वेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ।

अर्थात्—आत्माके अनुकूल जो वेदना होती है उसे सुख कहते हैं और प्रतिकूल वेदनाको दुःख।

विचारणीय विषय यह है कि अनुकूलता और प्रतिकूलता

कता पदार्थों में विद्यमान है। यदि ऐसा हो तो प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक व्यक्ति को अनुकूल ही या प्रतिकूल ही प्रतीत होना चाहिए। परन्तु अनुभवसे यह सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थ न तो प्रत्येक के अनुकूल ही है और न प्रतिकूल ही, अतः यह सिद्ध हुआ कि अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पदार्थोंमें नहीं है। यथा एक व्यक्तिको पानी पीनेमें आनन्द आता है अब अगर पानी में ही आनन्द है तो उसे हमेशा पानी ही पीते रहना चाहिये क्योंकि उसे आनन्द की इच्छा है और पानी में आनन्द है और एक व्यक्ति यदि पानी में डूबकर मर जाय तो उसे कहना चाहिये कि वह आनन्दमें डूब कर मर गया है। परन्तु यह बात लोकविरुद्ध है। अतः यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ में आनन्द नहीं है अपितु आनन्द आत्मामें ही है। अतएव शास्त्रकारोंने कहा है "संतोषादनुत्तम सुखलाभः"

अर्थात्—संतोषसे अत्युत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। और "तृष्णार्ति प्रभवं दुःखं" अर्थात् दुःख का मूल कारण तृष्णा ही है।

तृष्णा और संतोष आत्मा की स्वाभाविक और वैभाविक आदि परिणतियों का ही नाम है। अतः सुख दुःख कोई वस्तु विशेष न होकर आत्माने कल्पित किए हैं। मनुष्य के जितनी ही तृष्णा अधिक होगी उतना ही वह अधिक दुःखी होगा, यही उस कर्मबन्ध रूपी आत्मा का फल है और इसी का नाम स्वगत प्रतिक्रिया है। इसीसे पाप और पुण्यको भी समझ लेना चाहिए अर्थात् जो २ कर्म आत्मा पर अधिक गाढ़ दीर्घकालिक द्रव्य कर्म का बंध बांधते हैं वे सब पाप हैं और जिनसे पाप रूपी द्रव्यकर्मकी सम्बर और निर्जरा होती है उसीको पुण्य कहते हैं।

जिस प्रकारके द्रव्यकर्मका हम बंध करते हैं वह द्रव्यकर्म उसी प्रकारके स्थूल सूक्ष्म शरीरकी रचना करते है और उसी प्रकारके स्वभावोंका निर्माण होता। मनुष्यमें पूर्व द्रव्य कर्मानुसार

ही उसकी आदतें बनती हैं उसीके अनुकूल वह आचरण करता है और तदनुकूल ही सुख दुःख रूपी फल भोगता है। इस प्रकार हमारे कर्म रूपी क्रियाकी अनेक स्वगत प्रति क्रियायें हैं ? जैसे दो व्यापारी एक साथ एक ही तरहकी पूंजीसे व्यापार करते हैं परन्तु उनमें किसीको घाटा तो होता है और किसीको लाभ होता है। इसका कारण सिर्फ यही है पहलेको तो पूर्वकर्मानुसार असद्बुद्धि उत्पन्न होती है, और तदनुकूल आचरणसे वह ऐसा व्यापार करता है कि उसे घाटा होता है तथा, दूसरेको ऐसी सुबुद्धि उत्पन्न होती है कि उससे वह ऐसा काम करता है जिससे लाभ होता है। इसी प्रकार मानो एक आदमी जा रहा है और रास्तेमें सोनेका ढेला पड़ा हुआ है। जब वह सोनेके ढेलेके पास आता है तब उसे यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि अंधे किस तरह चलते हैं इसका अनुभव करना चाहिये अतः वह आंख बंद करके चलने लगता है। जब वह ढेलेसे दूर निकल जाता है तब आंखें खोल लेता है, इससे सिद्ध हुआ कि अन्तराय कर्मके उदयसे अंधा बननेकी बुद्धि उत्पन्न हुई। इसी प्रकार कर्मोंके कारणही किसीका उदार स्वभाव है किसीका ओछा और कोई कंजूसहै कोई दानीतो कोई चिड़चिड़ा है कोई ईर्ष्यालु कोई दयालु है कोई परोपकारी है तो कोई स्वार्थी है मस्त है कोई रोता ही रहता है इस प्रकार असंख्य मनोवृत्तियां अपने २ कर्मानुसार ही होती है। जैसी मनोवृत्तियां होती हैं वैसा ही वातावरण बन जाता है और तदनुकूलही वह आत्मा सुखी दुःखी होता है इसीका नाम कर्मोंका फल है।

स्वगत प्रतिक्रिया

इंग्लैण्डके मनोवैज्ञानिकोंने यह जाननेके लिये कि हमारे संकल्पोंका प्रभाव हमारे शरीर पर कहां तक पड़ता है प्रयत्न किया

उन्होंने हाईकोर्टमें दरख्वास्त देकर एक ऐसे व्यक्तिको लेलिया जिसको फांसी होने वाली थी। उन डाक्टरोंने कहा कि तुम्हारा खून निकाला जावेगा और तुम्हारे खूनसे दवाई बनाई जावेगी। उस आदमीको उन्होंने संगमरमरकी मेज पर लिटा दिया। लिटा कर उसकी आंखे बन्द करदीं और उसको कसकर बांध भी दिया जिससे कि उसका कोइ अङ्ग हिल डुल न सके। एक बहुत बारीक इन्जेक्शनकी सुई लेकर उसके अङ्गमें एक जगह स्पर्श मात्र कराया और कहने लगे कि इसके बदनसे खून निकलने लगा. उस मेजके नीचे एक टप रक्खी हुई थी। टपमें वे बूंदें भी गिराते जाते थे जिससे कि आवाज हो और उसे मालूम हो कि टपमें मेरा खून गिर रहाहै। साथ ही वे लोग कहते जाते थे कि अब तो बहुत खून निकलने लगा। उसकी नाड़ीकी गतिभी देखते जाते थे धीरे धीरे उसकी नाड़ी मंद पडती जाती थी और वह समझता जा रहा है कि मेरे खूनसे टप भर गई है। इस प्रकार से वह बेचारा इसी विश्वास पर जीवनसे हाथ धो बैठा। ठीक इसी प्रकार हमारे संकल्पोंका प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है कोई बहादुर है तो कोई कायर है; यह सब संकल्पोंका ही प्रभाव है।

एक हस्तरेखा विज्ञानवेत्ता किसी हस्तरेखाओं और शारीरिक चिन्हों को देख कर उन के स्वभाव आदि और भूत भविष्यत में होने वाली प्रायः तमाम घटनाओंका वर्णन कर देता है। यह सिद्ध कर रहा है कि हमारे द्रव्य कर्मानुसार जैसा सूक्ष्म स्थूल शरीर बनता है, उसी प्रकार के हमारे स्वभावादि बनते हैं और उसी प्रकार हम फल भोगते हैं यही तरीका कर्मों के फल देने का है।

परगत प्रतिक्रिया

जहाँ हमारे संकल्पों का प्रभाव हमारी आत्मा और हमारे

शरीर पर पड़ता है, वहाँ दूसरोंकी आत्मा और शरीर परभी पड़ता है। जैसे हम किसी की प्रशंसा करते हैं तो वह प्रसन्न होताहै और उसके चेहरे पर मुस्कराहट आ जाती है। यह हमारे शब्दों का दूसरों पर प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार गालियाँ आदि का भी बुरा प्रभाव क्रोधादि उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार हमारे विचारोंका भी दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। स्थूल-दृष्टि से चाहे हम उसे भले ही न जान सकें। परन्तु आजके मनोवैज्ञानिकों ने हस्तामलक की तरह सिद्ध कर दिया है और हम अपने जीवन में भी इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण देखते हैं। परन्तु उन पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। इतिहास में भी इसके कम उदाहरण नहीं है।

विभीषण रामचन्द्र जी से प्रेम करता था इसी लिये रामचन्द्र जी भी उससे प्रेम करते थे। जिस समय रावण से पृथक होकर वह रामचन्द्रजी की सेना में आया। उस समय सभीके हृदयमें यह भाव उत्पन्न हुये कि यह कोई गहरी चाल हैं। परन्तु रामचन्द्रजी ने उसे गले से लगा लिया। इसी तरह भीष्म और द्रोणाचार्य का प्रेम पाण्डवों पर था तो पाण्डवोंकी भी हार्दिक श्रद्धा उन पर थी।

एक दृष्टान्त भी लीजिये—

किसी समय एक राजा बीमार हुआ, बड़े बड़े वैद्य, डाक्टर उसके इलाजके लिये बुलाये गये, परन्तु अन्तमें सब निराश होगये उन्होंने कह दिया कि यह राजा कल मर जायगा। पर विधि का विधान, दूसरे दिन वह नहीं मरा और उसी दिन से उस की तबियत अच्छी होने लगी और कुछ दिनों में वह अच्छा चंगा होगया। एक दिन राजाकी सवारी निकली, राजा ने एक बनियेको देख कर अपने वजीर से कहा, वजीर! तुम इस आदमीको अपने देश से निकाल दो। वजीर ने सोचा राजा साहब बीमारी से उठे हैं, इस लिये ऐसा कुछ खयाल होरहा है। मन्त्रीने उस पर विशेष

ध्यान नहीं दिया। थोड़े दिन बाद राजा की फिर सवारी निकली तो राजाने उसी बनिये को देख कर कहा—क्यों वजीर! आपने इसको निकाला नहीं! वजीर ने माँफी माँगी और कहा कि अब निकाल दूँगा। इस पर वजीर के हृदय पर विचार उत्पन्न हुआ कि क्या कारण है राजा इसी बनियेको देखकर नफरत करता है इस पर वजीरने उस बनियेसे मित्रता बढ़ा ली और एक दिन बनियेसे पूछा कि क्या बात है जो आप इतने चिन्तित रहते हैं। इस राज्य में तो सारी प्रजा ही सुखी है, किसी को किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, आपका चेहरा हर समय मुरझाया ही रहता है। इसपर बनिये ने कहा कि भाई राजाके मरने का निश्चय हो चुका। तब मैंने यह समझ कर कि अन्त्येष्टि संस्कार के लिये तेरी ही दूकान पर से सामान जायेगा, मैंने हजारों रुपये का सामान खरीद लिया था मगर राजा नहीं मरा, मैं सोचता हूँ कि राजा मर जाय तो मेरा सारा सामान बिक जाय। वजीर समझ गया कि यही कारण है जो राजा इसे निकालने को कह रहा था। उसने बनिये का सारा सामान खरीद कर गरीबोंको बांट दिया। किसी दिन फिर राजाकी सवारी निकली तो राजा ने उस आदमी को देख कर का कहा—वजीर! मैं गलती कर रहा था। तुमने ठीक किया जो इसे नहीं निकाला, यह तो बड़ा अच्छा आदमी है।

यही कर्मोंकी परगत प्रतिक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार के सैंकड़ों अनुभव अपने जीवनमें बराबर करता है किन्तु उन पर सूक्ष्म-दृष्टि से कभी ध्यान नहीं देता।

बदला

कर्मरूपी क्रियाकी अनेक प्रतिक्रियाओंमें से एक बदला रूप भी प्रतिक्रिया है। इसके लिये साधु लोग एक दृष्टान्त दिया करते

हैं कि एक समय एक साधु और उनका शिष्य तीर्थ-यात्राको जा रहे थे। मार्ग में उनको एक मछुवा मछली मारता हुआ मिला। शिष्यने उसे अहिंसाका उपदेश दिया, परन्तु वह उपदेशसे कब माननेवाला था, जब वह न माना तो शिष्य उसके साथ झगड़ा करने लगा, इस पर साधु ने अपने शिष्य से कहा कि भाई, साधुओंका काम केवल उपदेश देना है लड़ना-झगड़ना नहीं। इस पर वे दोनों आगे चले गये। कुछ दिनोंके बाद जब वे तीर्थ-यात्रा करके वापिस आये तो उसी स्थान पर (जहां कि मछुवेसे वाद-विवाद हुआ था) क्या देखते हैं कि एक सांप पड़ा हुआ है और हजारों कीड़ियां उसको खा रही हैं। सांप का यह घोर कष्ट देख कर शिष्य ने चाहा कि किसी प्रकार इस का कष्ट दूर किया जाय। इस पर साधु ने अपने शिष्य से कहा—'यह वही मछुवा है जो मछलियां मारा करता था और जिसने तेरे उपदेश को नहीं माना था और ये कीड़ियां वे ही मछलियां हैं जो कीड़ी के रूप में अपना बदला ले रही हैं'।

इसी प्रकार के ऐतिहासिक दृष्टान्त भी दिये जाते हैं, जैसे कि शिवाजी के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह पूर्व जन्म में एक मंदिर के महन्त थे और मन्दिर को मुसलमानों ने लूटा और महन्त को भी जान से मार डाला। मरते समय महन्त यह निदान करके मरा कि मैं मुसलमानों से इसका बदला लेऊँ। उन्होंने किसप्रकार से बदला लिया इसका इतिहास साक्षी है। इसी प्रकार की एक घटना बहुत दिन हुये जब अखबारों में प्रकाशित हुई थी।

एक साहूकार जंगल से गुजर रहा था उसके पास बहुत सा माल था। रास्ते में एक डाकू ने उसका सारा माल लूट लिया और उसे भी मार डाला। मरते समय साहूकारने यह निदान बांधा कि मैं अपना धन अपने आप भोगूं। उस डाकू ने डाकूपने का

पेशा छोड़ कर दूर जाकर किसी शहर में दूकान करली। उस दूकान से भी बहुत कुछ फायदा हुआ और वह बड़ा मालदार बन गया। उसकी शादी हो गई। कुछ दिनों के बाद उसके लड़का पैदा हुआ। उसके जन्मोत्सव में बहुत सा रुपया खर्च किया गया इसके बाद उसके लालन-पालन, शिक्षण में भी खूब व्यय किया गया। फिर उसकी शादी की गयी उसमें भी बहुत धन लुटाया गया। कुछ दिन बाद दुर्भाग्यवश लड़का बीमार पड़ गया। वर्षों बड़े बड़े डाक्टर और वैद्यों से ईलाज कराया गया जिसमें बेशुमार रुपया खर्च में आया। अन्त में डाक्टर आदि सब निराश हो गये और उन्हों ने जवाब दे दिया कि अब इसके बचने की कोई आशा नहीं। एक दिन लड़का एकान्त देख कर अपने पिता से कहने लगा—"पिता जी! आपने मुझे पहिचाना? इस पर सेठ बड़ा हैरान हुआ और कहने लगा, बेटा! यह तुम क्या कह रहे हो? क्या आज तुम्हारी तबियत अधिक खराब है?" इस पर उसने उस जंगल वाले किस्सेकी याद दिला कर कहा कि "लो मैं अब जा रहा हूँ। मैंने उतना ही धन आपसे खर्च करवाया है जितना कि आपने मुझसे लूटा था। उस धन का व्याज अवशिष्ट है उस व्याज से मेरी स्त्री का पालन करना यह कह कर उसने अपना शरीर छोड़ दिया।

इसी प्रकार महाभारत में भीष्म पितामह और काशीराज की लड़की का वृत्तान्त आता है। जो कि दूसरे जन्म में शिखण्डी बन कर भीष्म पितामहकी मृत्युका कारण हुआ।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। जैनशास्त्रों में तो हजारों उदाहरण इस प्रकार के दिये हुए हैं जिनको दिखलाना पिष्टपेषण करना है। इसी बदले की भावना को जैनशास्त्रों में "निदान बन्ध" कहते हैं। इसी प्रकार और भी अनेक प्रतिक्रियाएँ

होती हैं जिनका प्रभाव जातियों, कुलों तथा राष्ट्रों पर पड़ता है। इसीका नाम कर्मफल देनेकी विधि है।

हम अपने जीवन में नित्य प्रति देखते हैं कि किसी से राग हो जाता है, किसी से द्वेष हो जाता है, कोई हम से प्रेम करता है, कोई घृणा कोई नुक्सान पहुंचाने का प्रयास करता है तो कोई सहायता पहुंचाता है। सहसा किसी को देख कर हमारे मन में सद्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और इच्छा होती है कि इससे मित्रता करें। इसी प्रकार किसीको देख कर खामखां नफरत हो जाती है। यह सब पूर्वोपार्जित कर्मों का परिणाम है। जो हमारे अन्दर (फल देने और दिलाने के लिए) अनेक प्रकार की बुद्धि उत्पन्न कर देता है।

कर्मफल और दर्शन

भारतीय दर्शन में तीन दर्शनों का ऊंचा स्थान है। १—जैन-दर्शन, २—बौद्धदर्शन, ३—वैदिकदर्शन।

इन में से जैनदर्शन और बौद्धदर्शन इस बात में एक मत हैं कि कर्मों का फल प्रदाता कोई ईश्वर-विशेष नहीं है। रह गया वैदिक दर्शन उसके छह ! विभाग हैं १ सांख्य, २ योग, ३ मीमांसा, ४ वेदान्त, ५ न्याय, वैशेषिक। इनमें से सांख्य और मीमांसाकार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते इस लिए वे भी कर्मों का फल स्वयं कर्मों द्वारा ही प्राप्त होता है इस बातके समर्थक हैं। सांख दर्शन का मत है कि लिंग शरीर बारंबार स्थूल शरीर को धारण करता है तथा पूर्व देह को त्यागता रहता है। सांख्य परिभाषा में इस का नाम संसरण है। सांख्य कारिका ४२ में लिखा है "नटवत् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्" जिस प्रकार अभिनेत्री कभी राम कभी रावण कभी स्त्री कभी पुरुष, कभी राजा

कभी रंक आदि रूप धारण करती है उसी प्रकार लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर कामना के वश होकर अनेक प्रकार के शरीर धारण करता रहता है। कभी देवता बन जाता है कभी नारकी, कभी पशु पक्षी तो कभी पुरुष आदि का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार लिङ्ग शरीर स्वयमेव बगैर किसी ईश्वर आदि की प्रेरणा या सहायता के अनेक प्रकार के शरीर धारण करता है और सुख दुःख भोगता रहता है। सांख्य दर्शन में आत्मा तो निर्लेप है ! न वह कर्त्ता है न भोक्ता है।

सांख्य दर्शन कर्मफल के लिये भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। इसी लिये सांख्यदर्शन अनीश्वरवादी प्रसिद्ध है। उसने ईश्वर का खण्डन किन प्रबल युक्तियों से किया है, इसका दार्शनिक और ऐतिहासिक विवेचन हम "विश्वविचार" में कर चुके हैं।

मीमांसा

सांख्य दर्शन की तरह पूर्व मीमांसा भी अनीश्वरवादी है। उसके मतानुसार भी कर्मफल देने के लिये ईश्वर आदि की कल्पना करने की जरूरत नहीं हैं। तन्त्रवार्तिककार का कथन है।

> "यागादेव फलं तद्धिशक्तिद्वारेण सिध्यति।
> सूक्ष्म शक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते।"

अर्थात् कर्म से अपूर्व (धर्माधर्म उत्पन्न करने की शक्ति) उत्पन्न होती है उस अपूर्व रूप सूक्ष्म शक्तिसे फल प्राप्त होता है।

योगदर्शन

योगदर्शन के अनुसार चित्त अनेकों क्लेशों की खान है। सम्पूर्ण क्लेश विपर्ययरूप हैं। इन सम्पूर्ण क्लेशोंका कारण अविद्या

को ही माना जाता है। महत्तत्व अहंकारादि परंपरा से परिणाम को स्थापित करते हैं और आपस में एक दूसरे के अनुग्राहक बन कर कर्मों के फलों को जाति, आयु, भोग रूप से निष्पन्न करते हैं।
—योगदर्शन व्यास भाष्य २, ३

योगदर्शनानुसार कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं और क्लेशों से कर्मों का बन्ध होता है। जैनदर्शन में इसी को द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का उत्पन्न होना कहा है। अतः योगदर्शन भी कर्मफल देने के लिये ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता। योगदर्शनका ईश्वर सम्पूर्ण वैदिक दर्शनों से निराला है। जिस को हम मुक्तात्मा कह सकते हैं।

वेदान्त दर्शन

वेदान्तदर्शन के अनुसार तो जीव, कर्म, सुख, दुःख व संसार की सत्ता ही नहीं है। यह सब भ्रममात्र है। अतः कर्म और उसके फल के विषय में जो कुछ लिखा है वह सब निराधार सिद्ध हो जाता है। क्योंकि ईश्वर के सिवाय उसके मत में कोई वस्तु ही नहीं है। उसके मत में—ब्रह्म भ्रमवश माया में फंस गया है। यह माया क्या है यही एक जटिल समस्या है। जिसको सुलझाने में सारे आचार्य असफल ही रहे हैं। अतः उसके विषय में हम विशेष विचार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते।

न्यायदर्शन

न्याय आदि दर्शनों के विषय में हम विस्तार पूर्वक विवेचन दर्शन और ईश्वर प्रकरण में कर चुके हैं। न्यायके मूल सूत्रों में वर्तमात ईश्वर के लिये स्थान नहीं है। न्यायदर्शन के आचार्योंमें २ सम्प्रदाय हैं। १ ईश्वरवादी, २ अनीश्वरवादी। अनीश्वरवादी के

विषयमें कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। जो ईश्वर वादी कर्मफल देने के लिये ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करते हैं उनके मत में ईश्वर सम्पूर्ण कर्मों का फल नहीं देता अपितु जिस कर्म का फल देना चाहता है, उसको देता है।

"ईश्वरः कारणं पुरुष कर्माफल्यदर्शनात्।"

अर्थात्—हम देखते हैं कि मनुष्य कर्म करता है और उसके फलको नहीं भोगता इससे जाना जाता है कि कर्मफलदाता कोई अन्य शक्ति है, वह जिस कर्मका फल देना चाहती है उसीका देती है। न्यायमतानुसार फल को ईश्वराधीन माना है। स्वामी दयानन्द जी ने 'सत्यार्थप्रकाश' में इसको तीसरे नास्तिक का नाम दिया है क्योंकि कर्मफलको ईश्वराधीन माननेमें अनेक आपत्तियां हैं। जो ईश्वर किन्हीं कर्मों का फल देता है किन्हीं का नहीं वह किन्हीं जीवोंको बगैर कर्म किए ही फल देता होगा। इस प्रकार वह पक्षपाती और अन्याय दोषका भागी ठहरेगा।

स्वामीजी ऐसे स्वच्छन्द ईश्वरको ईश्वर माननेके लिये तैयार नहीं हैं इसलिये उन्होंने गौतम को नास्तिक की उपाधि सुशोभित किया है। ईश्वर किसी कर्मका फल देता है किसीका नहीं इसका कारण क्या है? क्या वह जीवों की भलाईका इच्छुक है! यदि ऐसा है तो सभी जीवोंको सुखी बना देता या मुक्ति दे देता, जिससे जीव भी सुखी हो जाते और ईश्वर भी झंझटोंसे छूट जाता। यदि और कुछ कारण है तो वह कारण गुप्त होगा जिसका रहस्य ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं जान सक्ता।

वैशेषिकदर्शन

रह गया वैशेषिक दर्शन। वैशेषिक दर्शन ईश्वरको मानता है या नहीं यह विद्वानोंके लिये आज भी विवादका विषय बना हुआ

है वैशेषिकदर्शन में कर्म फलका कोई विशेष विवेचन नहीं किया गया है और नही ईश्वरको कर्मफल दाता माना है यह हम अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध कर चुके हैं।

गीता

कर्म, फल किस प्रकार देतेहैं यह गीता के प्रमाणसे हम पहिले बता चुके हैं उसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि कर्म फल देनेकेलिये किसी ईश्वर विशेषकी आवश्यकता नहीं है परन्तु गीताने इतने ही से संतोष नहीं किया उसने स्पष्ट शब्दों में कर्मफल देने के लिये ईश्वरकी आवश्यकता का निषेध किया है यथा—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥" गीता ५।१४

वर्तमान समयके सर्वश्रेष्ठ विद्वान लोकमान्य तिलकने इसका अर्थ इस प्रकार किया है। 'प्रभु (परमात्मा) ने लोगोंके कर्मका या उनसे प्राप्त होने वाले कर्म फल संयोगका भी निर्माण नहीं किया। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ किया करती है।

आगे चल कर गीता कहती है—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेनमुह्यन्ति जन्तवः ।" गीता ५-१५

ज्ञान पर [illegible] अज्ञान का परदा पड़ जाने से जीव मोहित (विवेक हीन होकर सुख दुःख भोगता है।

महाभारतमें लिखा है—

"यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विदन्ति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म-कर्तार मनुगच्छति ॥"
शान्तिपर्व अ० १८१-१६

अर्थात्—जिस प्रकार हजारों गायों में से बछड़ा अपनी मां को पहिचान कर उस के पास पहुंच जाता में उसी प्रकार किया हुआ कर्म कर्त्ताके पास आ जाता है।

विज्ञान ने भी इस बातकी पुष्टि की है। जिस तरहसे विद्युत जिस स्थान से चलती है लौट कर उसी स्थान पर वापिस आ जाती है। उसी प्रकार कर्म भी लौट कर वापिस आते हैं, और कर्त्ता को सुख दुःख देते हैं। अर्थात् भावकर्म इन कार्मांण वर्गणाओं कोआकर्षित कर लेता है। यह आये हुए कर्म (कार्मांण वर्गणाएं) आत्मा की मूल शक्ति (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) पर पर्दा डाल कर उसको आच्छादित कर देते हैं। उस स्वाभाविक शक्तिके तिरोभूत हो जाने से आत्मा अपने को तदनुसार समझ कर उन्हीं कर्मों के आधीन हो कर नवीन कर्म करता है। इसी को जैनशास्त्रों में विभाव परिणति कहते हैं। इसी विभाव परिणति के कारण यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों के बन्धन में पड़ा हुआ सुख दुःख भोगता है।

उपनिषद् और कर्मफल

उपनिषद्कारों ने इस विषयको स्पष्ट किया है कि—

"काममय एवायं पुरुष इति स यत्कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्मकुरुते तदभिसंपद्यते"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४—४—५

अर्थात्—यह पुरुष कामनामय है अतः उस कामना के अनुसार ही यह चिन्तन करता है और चिन्तनके अनुकूल ही कर्म करता है। और जैसा वह कर्म करता है वैसा वह बन जाता है। आगे कहते हैं "सईयते पत्र काममम्" जैसा वह बन जाता है उसके

अनुकूल वह जिस पदार्थ को पाने की इच्छा करता है वहां वह पहुंच जाता है।

"कामान्यः कामायते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र"

—मुण्डकोपनिषद् ३–२–२

अर्थात्—जिस २ वस्तु की कामना से यह आत्मा शरीरको छोड़ता है उसी योनि या स्थान आदिमें जन्म लेकर पहुंच जाता है।

"तदेव शक्तः स कर्मणेति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।"

बृहदारण्यकोपनिषद् ४–४–६

अर्थात्—यह आत्मा जिस पर अनुराग करता है यह कर्म (लिङ्ग शरीर) आत्माको उसी जगह ले जाता है। यही बात गीता में कही गई है।

"यं यं वापिस्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥"

अर्थात्—आत्मा जिस २ भाव से प्रभावित होकर शरीरका त्याग करता है। उसी भावको दूसरे जन्ममें प्राप्त हो जाता है।

कर्मफल और ईश्वर

ऊपर हम यह सिद्ध कर [illegible] चुके हैं कि वैदिक साहित्यमें भी ईश्वर को [illegible] अज्ञात [illegible] कर्मफल दाता नहीं माना है। अब हम तर्क द्वारा इसकी परीक्षा करते हैं कि ईश्वर कर्मफल दाता है या नहीं। इसके लिये बा० सम्पूर्णानन्द जी ने चिद्विलास में बहुत ही अच्छा लिखा है आप लिखते हैं कि—

"कौन सा काम अच्छा व कौन बुरा है" इसका निर्णय ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है या इस बात की समीक्षा

करता है कि वर्तमान परिस्थितिमें क्या श्रेयस्कर है। किस कामका क्या पुरस्कार या दण्ड दिया जाय, यह ईश्वरकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है या नियम बद्ध है! अर्थात्—क्या अमुक कामका अमुक फल होगा यह निश्चल है? यदि इन बातोंमें ईश्वर की इच्छा स्वतन्त्र है तो सदाचार निराश्रय हो जाता है। इच्छा का क्या भरोसा न जाने कब पलट जाय। जो पुण्य है वह पाप हो जाय, जो दण्ड है वह पुरस्कार्य हो जाय। यदि कार्याकार्य का निर्णय वस्तुस्थिति की समीक्षा पर निर्भर है तो प्रत्येक मनुष्य को अपनी बुद्धिके अनुसार स्वयं समीक्षा करनी होगी। क्योंकि किसी समय विशेषपर ईश्वर की क्या सम्मति है इसके जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

कामका फल नियमानुकूल मिलता है तो ईश्वरको मानना बेकार है। ईश्वर फल देता है न कहकर यह कहना ठीक होगा कि नियति के अनुसार फल मिलता है। ऐसी स्थिति को वैदिक वाङ्मय में ऋत्य का नाम दिया गया है।

अपने से बाहर किसी ईश्वरकी ओर दृष्टि लगाये रहने की अपेक्षा कर्म और फल के अटल सम्बन्ध को जिसे कर्म सिद्धान्त कहते हैं बराबर सामने रखना सदाचार के लिये दृढ़तर सहारा है।" पृ० ६३२। आगे आपने 'दर्शन और जीवन' नामक पुस्तकमें लिखा है कि—"कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यह जगत् ईश्वर की सृष्टि है" यदि यह बात ठीक है तो ईश्वर ने ही मनुष्य को पैदा किया। ईश्वरने ही उसके लिये एक विशेष प्रकारकी आर्थिक और और कौटुम्बिक चहार दीवारी खड़ी की। ईश्वरने ही उसे जन्मान्ध या बात रोगी या बावला या प्रतिभा शाली बनाया फिर यह सोचने की बात है। कि उसके सत्कर्मों के लिये पुरस्कार और दण्ड उसको मिलना चाहिये या ईश्वर को।"

उपरोक्त कथन इतना तात्विक और स्पष्ट है कि इसके ऊपर कुछ लिखने को आवश्यक्ता नहीं है। यहां सबसे प्रथम तो प्रश्न यह है कि— कौन सा कर्म बुरा है और कौन सा अच्छा है, इसको पहचाननेकी कौनसी कसौटी है। शास्त्रकारोंने स्वयं कहा है।

"न धर्म्माधर्म्मौ चरतः आवां स्व इति"

अर्थात् धर्म और अधर्म घूमते नहीं फिरते और न यह कहते फिरते हैंकि मैं धर्म हूँ और मैं अधर्म हूं। जब श्रुति ही यह कहती है तो इस मनुष्यके पास कौनसा साधन है जिससे यह जान सके कि अमुक काम करने से ईश्वर पुरस्कार या दण्ड देगा। स्वयं आस्तिक वाद में ही लिखा है कि 'न कोई कर्म पुण्य है और न पाप' जब यह बात है तो ईश्वर फल किसका देता है। यदि आप्त पुरुषों के वचनों को धर्म माना जाय तो भी किस आप्त के वचन धर्म हैं यह कैसे सिद्ध होगा। क्योंकि सभी देशों में समय समय पर महापुरुष हुए हैं उन्होंने अपने अपने धर्म भी प्रचलित किये हैं साधारण जनता उन सभी को आप्त मानकर उनके धर्म पर चलती है अतः उनमें से किस धर्म को ईश्वर पसन्द करता है यह कैसे जाना जाय। जब ईश्वर ने मनुष्य को इस प्रकार के ज्ञानके लिये साधन नहीं दिये तो उसे उस कर्मका फल क्यों मिलना चाहिये

मानलो एक बालक मुसलमानके घरमें उत्पन्न हुआ है माता पिता ने उस पर अपने धर्म के अनुसार ही संस्कार डाले हैं बचपन से ही उसने कुरान आदि अपनी धार्मिक किताबें पढ़ी है तथा मुसलमान महापुरुषों के ही जीवन चरित्र पढ़े हैं तथा उन्हींका इतिहास पढ़ा है, अब इन सबसे उसके मनमें यह दृढ विश्वास हो गया है कि मुसलमानों के सिवाय सब काफिर हैं। और काफिरों को कत्ल करना, उनका माल लूटना, उनकी बहू बेटियों पर बलात्कार करके उनकी बेइज्जती करना परमधर्म है,

इससे खुदा खुश होकर हमेशा के लिये स्वर्ग में भेज देता है। इसलिये वह ऐसा ही करता है, तो यह पाप है या पुण्य? तथा इसका फल इसको क्यों मिलना चाहिये? क्योंकि इसका कुछ भी अपराध नहीं है, इसमें यदि अपराध है तो ईश्वरका है, क्योंकि उसीने इसको ऐसे कुल में व धर्म व जाति में उत्पन्न किया कि जिसमें इसको ऐसी शिक्षा मिली और वह उस रूप होगया। अतः ईश्वर की ही यह सब करतूत है, फल भी उसीको मिलना चाहिये इसलिये आप्त वचन को भी धर्म नहीं कह सकते।

यदि सृष्टि नियमको धर्म मानें तो भी वही समस्या है कि सृष्टि नियम क्या है. यह जानना भी आज तक सम्भव नहीं हुआ है। अतः यह साधन भी गलत है। बस जब यही ज्ञान नहीं है कि ईश्वर किस कार्यसे प्रसन्न होता है और किससे नाराज होता है, तो हम उसको नाराज करके दण्डके भागी भी नहीं बन सकते। यदि कहो कि—वेद ईश्वरीय ज्ञान है उसमें जो लिखा है वह धर्म है। तो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं है।

दूसरी बात यह है कि वेदों में क्या लिखा है इसी को आज तक किसी ने नहीं जाना है। मांस, शराब, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि सभी पापों की शिक्षा वेदोंसे प्राप्त हो जाती है तथा वेदोंमें ही इनका विरोध भी मिलता है, अतः वेदोंमें कौनसे धर्मका प्रतिपादन है यह जानना भी कठिन ही नहीं अपितु असंभव ही है इसलिए यह साधन भी धर्मका ज्ञान नहीं करा सकता।

स्वतन्त्रता

कर्मका उत्तरदायी वही हो सकता है जो स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करता है. परन्तु हम संसार में देखते हैं कि—कोई भी व्यक्ति कर्म

करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। इसके दो कारण हैं १—अन्तरंग कारण २—बहिरंग परिस्थिति।

अन्तरंग कारणोंमें इसके स्थूल और सूक्ष्म शरीर की रचना तथा पूर्व जन्मके और इस जन्मके संस्कार हैं। प्राणी इनसे विवश होकर अनेक प्रकारके कार्य करता है, इसलिए सबसे प्रथम हम शरीर आदि की रचनाका विचार करते हैं। श्री नारायण स्वामीने आत्मदर्शनमें लिखा है कि—

"मस्तिष्क और चित्तके सम्बन्धमें योरोपके मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकोंमें मतभेद हैं। एक दल कहता है कि मस्तिष्क और चित्तमें सत्ताभेद नहीं, ये दोनों पर्यायवाचक हैं, दूसरा दल कहता है कि मस्तिष्क जड़ और "माइण्ड" (आत्मा) का यन्त्र मात्र है। इस दलके अनुयायी "माइण्ड" को जीवात्मा कहते हैं तीसरा विचार यह है कि मस्तिष्क और चित्त दोनोंसे पृथक आत्मा है और ये दोनों उसके यन्त्र मात्र हैं। जड़वादी नास्तिक जो आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते, पहिले दोमें एक न एक प्रकारका मत रखते हैं, परन्तु आस्तिक जगत् अन्तिमवाद का समर्थक है। इसी जगह हम यह बता देना चाहते हैं कि भारतीय दर्शन और उपनिषद् इस विषय (शरीरके आन्तरिक व्यापार के सम्बन्ध) में क्या शिक्षा देते हैं जिससे विषयके तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त होनेमें सुगमता हो।

आंतरिक व्यापार दर्शन और उपनिषद्

जीवात्मा नित्य चेतन और स्वतन्त्र सत्तावान है शरीर उसे अपने गुणों ज्ञान और प्रयत्न को क्रियात्मक रूप देने के लिये मिलता है।

शरीर के ३ भेद हैं— (१) स्थूल शरीर-जिससे हम सब

बाह्य क्रियायें किया करते हैं और जिसमें चक्षु आदि १० इद्रियों के गोलक अथवा करण हैं। (२)सूक्ष्म शरीर-यह अदृश्य शरीर प्रकृतिके उन अंशों से बनता है। जो स्थूल भूतोंके प्रादुर्भाव होनेसे पहिले सत, रज और तमकी साम्यावस्था रूप प्रकृति में विकार आने से उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म शरीर के १७ अवयव हैं। ५ ज्ञानेद्रिन्द्रयों की अन्तारिक शक्ति × ५ प्राण × ५ तन्मात्रा सूक्ष्मभूत × १ मन × १ बुद्धि × । ये १७ द्रव्य मिल कर सूक्ष्म शरीर को निर्माण करते हैं। समस्त जगत सम्बन्धी आन्तरिक क्रियायें इसी शरीर के अवयवों द्वारा हुआ करती हैं। (३) कारण—शरीर। यह कारण रूप प्रकृतिका वह अंश होता है जो विकृत नहीं होता। इसके विकास के परिणाम ही से मनुष्य योगी होता है और समाधिस्थ होनेकी योग्यता प्राप्त करता है।

सूक्ष्म शरीरकी कार्य प्रणाली

आत्मा की प्रेरणा बुद्धि के माध्यम से मन को होती है। जो समस्त ज्ञान और कर्म इद्रियों का अधिष्ठाता है। मन की प्रेरणा से समस्त इन्द्रियें अपना अपना कार्य करती हैं। सूक्ष्म शरीर के १० करण (५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ उनके विषय सूक्ष्मभूत) मस्तिष्कमें रहते हैं। ५ प्राण समस्त शरीरमें फैले रहते हैं। श्वासोच्छ्वास, भोजन मेदे में पहुंचना, रक्त, प्रवाह आदि उनके कार्य्य हैं जो निरंतर होते रहते हैं। बुद्धि मस्तिष्क में, मन चित्त और आत्मा शरीर के केन्द्र हृदयाकाश में रहते हैं। मृत्यु केवल स्थूल शरीर की होती है। सूक्ष्म और कारण शरीर आत्मा के साथ मृत शरीर से निकलकर "यथा कर्म यथा श्रुतम्" दूसरी योनियों में आया जाया करते हैं। और आत्माके साथ बराबर उस समय तक रहते हैं जब तक जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेता। मुक्ति प्राप्त करने पर

इन्द्रियों के व्यवहार

जर्मनी के वैज्ञानिक "पौल फ्लैशजिग" (Paul Flechrig of Leipzig) ने बतलाया है कि मस्तिष्कके भूरे मज्जाक्षेत्र (grey matter or Correx of the krain) इन्द्रियानुभव के चार अधिष्ठान या भीतरी गोलक है जो इन्द्रिय-संवेदनाको ग्रहण करते हैं, उसने उनका इस प्रकार विवरण किया है—

(१)—स्पर्श ज्ञानका गोलक मस्तिष्कके खड़े लोंथड़ेमें ।
the sphere of touch in the Vertical Loke.
(२)—घ्राणका गोलक मस्तिष्कके सामनेके लोथड़ेमें ।
the Sphere of smallin rhe Frontal Loke
(३)—दृष्टिका गोलक पिछले लोथड़ेमें ।
the Sphere of Sight in the Occipital Loke.
(४)—श्रवणका गोलक कनपटीके लोथड़ेमें ।
the Sphere of hearing in the temporal Loke.

और यह भी बतलाया कि इन चारों भीतरी इन्द्रिय गोलको के बीचमें विचारके गोलक (thought centres or centres of association, the real organs of mental life) हैं, जिनके द्वारा भावोंकी योजना और विचार आदि जटिल मानसिक व्यापार होते हैं" इस प्रकार यह शरीरोंकी रचना अपने आप करता रहता है । जिस प्रकारके इसके भाव होते हैं, उसी प्रकारका इस का शरीर बन जाता है, जैसे शरीरकी बनावट होगी वैसा ही यह कार्य करता रहता है । आस्तिक वादमें भी लिखा है कि "एक प्रकारसे जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र और दूसरी अपेक्षासे परतन्त्र भी है । अर्थात् उसकी स्वतन्त्रताकी मर्यादा है, उससे बाहर वह

नहीं जा सकता, उस मर्यादाके भीतर ही उसको अमुक काम करने न करने, उल्टा करने की स्वतन्त्रता है" यहां यह तो माना गया है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है भी और नही भी. अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह कैसे जाना जाय कि जीव किस काम में स्वतन्त्र है और किसमें परतन्त्र। आपने एक चोरी का दृष्टान्त दिया है अर्थात् आपने लिखा है कि जीव चोरी करने में स्वतन्त्र है। परन्तु यह बात बिलकुल गलत है। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि चोरी करनेवाले स्वभाववश होकर चोरी आदि करते हैं। उनके शरीर की आकृति अथवा बनावट से भी ज्ञान हो सकता है कि यह चोर प्रकृतिका मनुष्य है। हस्तरेखा विज्ञानसे भी इस बातका पता लग सकता है कि यह चोरी आदिके स्वभाव वाला है अथवा ईमानदार है। हम इस विषयका संक्षेपमें वर्णन करते हैं।

चोर

(१) जिसका हाथ बहुत छोटा होकर जाड़ा (कठोर) मांसयुक्त हो वह प्रायः चोरी का काम करने वाला होता है।

(२) कनिष्ठिका अंगुली के तीसरे पर्व पर कुछ टेढ़ी बांकी रेखाएं होकर क्रासका चिन्ह बनाती हो तो भी चोर सिद्ध होता है।

(३) बुधका पर्वत ऊंचा उठा हुआ होकर छोटी अंगुली की नोक मांसमय और मोटी हो।

इनका और जीव का वियोग होता है और उस समय ये शरीर वापिस जाकर प्रकृति के उन्ही अंशो में मिल जाते हैं जहां से आये थे।

(४)बुधके पर्वत पर ताराके चिन्ह हों व जालीके सदृशचिन्हहों

(५) मस्तिक रेखा टेढ़ी और लाल वर्ण की हो।

(६) छोटी अंगुलीके जोड़ की सन्धि मोटी हो और हाथ कठोर होना चोरके लक्षण हैं।

खूनी

१—मंगल का पर्वत ऊँचा उठा हुआ हो तथा उस पर तारा के चिन्ह भी हों।

२—शनिके नीचे मस्तिष्क रेखा पर नीले रंग की रेखा हो।

फांसी का दण्ड

तर्जनीसे रेखा निकल कर यदि अंगूठेकी प्रथम सन्धिके साथ जाकर मिली हो तो उसको फांसी होगी।

शस्त्र से मौत

मध्यमाके तीसरे पर्व पर नक्षत्रका चिन्ह हो तो शस्त्रसे मौत होगी।

जानवर भय

शनि और मंगलके पर्वत पर नक्षत्रका चिन्ह हो तो जंगली जानवरका भय है।

आत्म हत्या

(१) चन्द्र पर्वत पर क्रासके सदृश चिन्ह हो तथा यह चिन्ह धन रेखाके अन्तमें भी होना चाहिये।

(२) मस्तिष्क रेखा और आरोग्य रेखा परस्पर मिली हुई होकर आयु रेखा अन्य अनेक रेखाओंसे छेद न हुई हो तथा शनिका पर्वत ऊँचा हुआ हो तो आत्मघात करेगा।

(३) मध्यमाका प्रथम पर्व लम्बा होकर चतुष्कोण आकृतिका हो तथा बुध व मंगलके पर्वत पर क्रासका चिन्ह हो।

दुष्ट के लक्षण

मस्तिष्क रेखा व अन्तःकरण रेखा बिलकुल समीप रह कर बुधका पर्वत सबसे अधिक ऊँचा उठा हुआ हो।

(२) अंगूठा छोटा होकर अंगुलियां लम्बी तथा चन्द्रका पर्वत सबसे अधिक ऊँचा उठा हुआ हो।

(३) बुधके पर्वत पर शुक्रकी रेखा आई हो।

(४) मस्तिष्क व अन्तःकरण रेखाओं पर जगह जगह बिन्दु सदृश चिन्ह हों तथा आयु रेखाके अन्तमें त्रिकोण चिन्ह हो।

धनहीन

(१) धन रेखा जंजीरके समान आकृति की हो और बारीक बारीक रेखाओंसे धन रेखा व आयु रेखा छेदती हुई हो।

(२) धन रेखा जगह जगहसे टूटी हो, अन्तःकरण रेखा और धनरेखा स्थान स्थान पर अन्य रेखाओंसे छेदी हो।

(३) धनरेखाका उदय मणिबन्धकी रेखाके नीचेके भागमेंसे होकर मध्यमाके तीसरे पर्व तक गया हो।

(४) मणिबन्ध रेखा स्थान स्थानसे टूटी हो।

(५) शुक्रके पर्वत पर क्रास या तारे का चिन्ह हो।

(६) कोई रेखा शुक्रसे होकर मंगल पर गई हो।

(७) शुक्रके पर्वत पर जाली समान चिन्ह होकर अन्तःकरण रेखा जगह जगह चिन्हांकित हो और धन रेखाका उदय चन्द्रके पर्वतसे होकर मस्तिष्क रेखा तक ही गया हो।

(८) बुधके पर्वत पर क्रासका चिन्ह होकर उसकी एक शाखा अन्तःकरण रेखामें मिली हो तो अकस्मात् द्रव्य जाता है।

(९) करतलके जो त्रिकोणाकृति स्थान हैं उसमें फूली या क्रास का चिन्ह हो।

(१०) गुरु अथवा बुधके पर्वत पर कोई भी चिन्ह अधिक गहरा या उठावदार हो।

लोभी

(१) मस्तिष्क रेखा मूलमेंसे अन्त तक लम्बी चली गई हो, किसी किसी समय अन्तःकरण रेखासे मस्तिष्क रेखा ही जोरदार व अधिक स्पष्ट दीख पड़ती है तथा अनामिका अंगुली चतुष्कोण आकारकी हो तो वह लोभी होता है।

(२) मध्यमा और अनामिकाका तीसरा पर्व लम्बा व कम चौड़ा और चौकीन आकारका होना लोभीका मुख्य लक्षण है।

(३) हाथका अंगूठा करतलकी ओर झुका हुआ हो और सूर्यका पर्व अधिक ऊंचा हो तो भी लोभी होता है।

(४) हाथके ऊपर अन्तःकरणरेखाका बिल्कुल अभाव हो।

(५) एक रेखा अन्तःकरण रेखामेंसे निकलकर बुधकेपर्वत पर जाती हो तथा बुधका पर्वत भी अधिक ऊँचा हो।

नोट

(१) अन्तःकरण रेखा में से निकल कर मंगल के स्थान में से हो कर सूर्य के स्थानमें जाकर मिलती होतो उसको वृद्धअवस्था में जाकर धन लाभ होगा।

(२) मस्तिष्क रेखा में से निकली हुई धन रेखा यदि दोनों हाथों पर स्पष्ट हो तो भी यही फल मिलेगा।

(३) जब कुछ छोटी छोटी रेखाएं आयु रेखा में से निकल कर मस्तिष्क रेखाको पार करके आगे जावे तो उसको वृद्ध अवस्था में व अन्य अवस्था में धन प्राप्त होगा परन्तु वह टिकेगा नहीं।

इसी प्रकार अन्य सब पापों के और भलाइयों के भी चिन्ह होते हैं। जिनके हाथों में उपरोक्त चिन्ह होते हैं वे चोरी आदि के लिये विवश से होकर चोरी करते हैं। हमारा अपना अनुभव है कि हमने अनेक व्यक्तियोंके हाथोंमें उपरोक्त चिन्ह देखकर उनको बिना संकोच के चोर कह दिया और उन्होंने इस दोष को स्वीकार किया। उनमें से अनेकों ने यह भी स्वीकार किया कि हम इसको हर तरह छोड़ना चाहते हैं परन्तु फिर भी आदत वश कर बैठते हैं। यही अवस्था अन्य पापों की है। महाभारत में दुर्योधन ने ठीक ही कहा है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति, जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात्—मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है तथा अधर्म और उसके फल को भी जानता हूँ परन्तु विवश उसमें ही मेरी प्रवृत्ति है। उससे निवृत्ति नहीं है प्रतीत होता है कि मेरे हृदयमें कोई ऐसा देव (संस्कार) विराजमान है जो मुझे जिधर लेजाना चाहता है। लेजाता है। और मैं भी मन्त्रविमुग्ध सा हो कर उसी के अनुकूल आचरण करता हूं। अतः सिद्ध है कि यह जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है अपितु जैसा इसका स्वभाव है और जैसी इसके सूक्ष्म व स्थूल आदि शरीरोंकी रचना है उसी के अनुकूल यह कार्य करता है। जब यह स्वतन्त्र ही नहीं है तो परमेश्वर इसको फल किस कर्मका देता है। ईश्वरने स्वयं तो इस गरीबका चोरी आदि करनेका स्वभाव बना दिया तथा ऐसे ही कुल में भी भेज दिया जहां इसका बचपन से ही चोरी आदि की शिक्षा आदिप्राप्त होती रहीहै। जब सब बातें ईश्वरने कीहैं तो इसके कर्मका उत्तरदायित्व उसी ईश्वरपर है न कि हम बेचारे जीव पर।

एनी वेसेन्ट साहिवा के विचार

गूढ़ तत्व विद्याके अनुसार यह विचार शक्ति ही शक्लों (रूप) की एक मात्र जड़ है। इसके लिए एच० पी० ब्लावेट्स्की ने यह कहा है कि "विचार* की विलक्षण शक्ति जो उससे बाहरी गोचर सृष्टि अपने ही भीतरी बलसे रचवा देती है"।

जैसा कि ब्रह्माण्डके पांचवें लोककी तरह मनुष्यकी भी पांचवें लोकमें अर्थात् चिंतक या मनमें वह शक्ति रहती है जिससे सब वस्तुएं बनती हैं, और विचारकी इस रचना शक्तिमें ही पुनर्जन्म की विधिका भेद मिल सकता है।

४२, जो कोई यह निश्चय करना चाहे कि विचार से मूर्तियां या विचाराकार बनते हैं और यों सचमुच विचार कोई वस्तु है तो उसको मिस्मैरिज़म के अनुभवोंके वृत्तान्तों में जो अब ऐसे विस्तारसे फैले हुए हैं तलाश करनेसे इसका प्रमाण मिल जावेगा। किसी संकल्प (ख्याल) की मूर्त्ति कोरे कागज पर डाली जा सकती है और वहां वह मिस्मैरिज्मके बलसे सुलाये हुए साध्य पुरुषको दिखलाई पड़ जाती है या वह ऐसी उठी हुई बन जाती है कि वह साध्य पुरुषको देखने व छूनेसे ऐसी लगती है कि वह सचमुच स्थूल पदार्थ है। ऐसे ही भूत विद्याका साधक भूतको अर्थात् किसी मनुष्यके मनकी बात किसी पासके मनुष्यके मनमें देख लेता है क्योंकि इस विचारकी शक्ल उसके क्रांतिमंडल में अर्थात् तेजके मंडलमें छिप जाती है। या अगर कोई मनुष्य अपने मनमें कोई चित्र बनावे और मुँहसे कुछ न कहे केवल अपनी इच्छा शक्तिसे उस तस्वीरको अपने मनमें भली भांति स्पष्ट करले तो कोई दिव्य दृष्टि वाला जो उसके पास हो चाहे समाधिमें हो

---

* सिक्रेट डाक्ट्रिन वाल्यूम १ पेज २९३

चाहे जागता उस चित्रको पहचान लेगा और उसका हाल बतला देगा। जो लोग कि प्रायः मनमें चित्र बनाया करते हैं उन सबको कुछ न कुछ दिव्य दृष्टि होती है और अपने आप इसकी परीक्षा करके यह निश्चय कर सकते हैं कि इच्छासे वे सूक्ष्म मन लोकके पदार्थ (अणु) को सांचेमें ढाल सकते हैं अर्थात् उसमें चित्र बना सकते हैं।

(४३) वासना लोक के पदार्थ के अणु, मन लोक के अणुओं से कुछ कम सूक्ष्म तो हैं परन्तु इसमें भी इसी प्रकार चित्र बन सकते हैं जैसे कि मैडम एच० पी० ब्लावेटस्कीने एडी नामी [illegible] के घर पर मामूल* की वासना अणुओं के चित्र को [illegible] शक्ति से बदल कर उनमें उन लोगोंके चित्र बना दिये जिनको स्वयं मैडम ही पहचानती थीं और कोई वहां पास नहीं था जो पहचानता हो। इसमें कुछ अचम्भे की बात नहीं गिनी जा सकती है जब हमको यह मालूम है कि विशेष प्रकार के विचार की टेव डाल देने से हमारे स्थूल शरीर तक का आकार बदलता जाता है यहां तक कि बुढ़ापे की छवि चेहरे पर छप जाती है क्योंकि स्थूल शरीर की सुन्दरता आकार और रङ्ग में नहीं है किन्तु छवि में है। यह ढब मानो अंदरके आत्माके सांचे पर ढला हुआ भेष है। अगर किसी विशेष विचार (खयाल) या भलाई या बुराई की टेव पड़ जाती है तो उसके संस्कार या अंक स्थूल शरीर के शकल पर अंकित हो जाते हैं और बिना दिव्य दृष्टि के ही हम यह कह सकते हैं कि किसी का स्वभाव उदार है या लालची, धीरज करने वाला है या अविश्वासी, प्रेमी है या द्रोही। यह बात ऐसी साधारण है कि इसकी ओर हम दृष्टि ही नहीं

* वह मनुष्य जिस के शरीर में दूसरी आत्माएं आ जाती हैं और जिसको आत्माओं के आवेश या बल से असाधारण शक्तियाँ हो जाती हैं।

डालते परन्तु यह बात है बड़ी; क्यों कि अगर मन के विचारों के बल से शरीर का स्थूल पुतला ढलने में इस प्रकार नर्म हो तो उसमें क्या अचरज या न मानने की बात है कि सूक्ष्म पदार्थ की शक्लें भी इतनी ही नर्म मान ली जावें कि जिससे इसमें इस अमर कारीगर अर्थात् चिंतमन शक्ति वाला मनुष्य जो जो रूप अपनी कुशल अंगुलिओं से बनाना चाहे वे सब इस में सहज ही बन जावें।

४४ यहां यह मानलिया है कि मन असलमें रूप अथवा शकल बनाने वाली शक्ति है और गोचर अर्थात् बाहरी वस्तुओं के प्रगट करनेका क्रम इस भांति है कि पहले मन किसी विचारको निकालता है और वह विचार मन लोक में एक रूप धारण कर लेता है, वह काम मनोमय लोक में जाकर कुछ गाढ़ा हो जाता है, और वहां से वासना लोक में जाता है वहां और भी गाढ़ा हो जानेसे दिव्यदर्शी की आंख को दिखलाई पड़ सकता है। अगर किसी अभ्यासी ने अपनी इच्छा से इसको जान बूझकर भेजा है तो यह विचार भूलोक (जागृत) में तत्क्षणचला आता है और यहां स्थूल अणुओं से मंड कर वेष्टित हो जाता है, और इस प्रकार सबको दिखलाई पड़ने लगता है परन्तु अन्यथा प्रायः यह वासना लोकमें ही सांचे की तरह रह जाती है और स्थूल लोकमें अनुकूल देशकाल मिलने पर उस सांचे से स्थूल वस्तु बन जाती है। एक ऋषि (गुरुदेव) ने यह लिखा है कि "महात्मा उन शकलों को जोकि उसने कल्पना शक्ति से सूक्ष्म लोक की जड़ सामग्री से बनाया है स्थूल लोक में डाल कर स्थूल बना देता है"। महात्मा कोई वस्तु नई नहीं बनाते हैं, तो वे केवल उन चीजों को जो उनके चारों ओर प्रकृतिने संचय कर रक्खी है उस सामग्री को कल्पांतरों में सब रूपों में रह चुकी है काम में लाते हैं। उन्हें तो केवल इतना करना होता है कि

जिस वस्तु की चाहना होती है उस वस्तु को चुन लेना पड़ता है और उसको बाहरी जगत में गोचर या स्थूल बना लेते हैं । ❀

४५ स्थूल लोक की प्रसिद्ध बातों का प्रमाण देने से हमारा पढ़ने वाला जान जायगा कि अदृश्य अर्थात् सूक्ष्म कैसे दृश्य या स्थूल बन सक्ता है । मैं यह कह चुकी हूं कि मानसिक लोक से काम मानसिक में आने में और इससे वासनिक में और वासनिक से स्थूलमें आनेमें रूप या चित्र क्रमसे धीरे२ गाढ़ा होता जाता है। एक कांच का पात्र लेलो जोकि देखने में रीता हो परन्तु अदृश्य हाइड्रोजन हवा और आक्सीजन हवासे भरा हुआ हो। इसमें एक चिनगारी लगने से ये दोनों हवाएँ मिलजाती हैं और पानी बन जाता है परन्तु वह होता है वायु के (भाफ) रूपमें । कांचके पात्र को ठंडा करो तो धीरे२ धूएँ कीसी भाफ दिखलाई पड़ने लगती है फिर यह भाफ जम कर कांच पर बूंदें सी बन जाती हैं, फिर यह पानी जम जाता है और ठोस वर्फ की कलमों की झिल्ली सी बन जाती है ।

ऐसे ही जब मनकी चिनगारी चमक जाती है तो इसकी चमक से सूक्ष्म से अणु मिलकर एक विचार का चित्र बन जाता है, यह कुछ गाढ़ा पढ़ कर काम मानसिक चित्र बन जाता है जैसे कि कांचमें धूएंकी,सी भाफ बनी थी। यह काम मानसिक गाढ़ा होकर वासनिक चित्र बन जाता है जैसे कि पानी कांचमें था । इसी तरह वासनिक से स्थूल बनता है जैसे कि वर्फ । गूढ़ तत्व विद्या का विद्यार्थी जानने लगेगा कि प्रकृति की क्रमोन्नति में सब बातें नियत क्रम से होती हैं और स्थूल लोक के पदार्थ जैसे हवा से द्रव और द्रव से ठोस बनते हैं उसीके अनुसार सूक्ष्म लोकोंमें भी होता है । परन्तु जिसने ब्रह्मविद्या नहीं पढ़ी है उसको यह उपमा इसलिये

❀ नोट—आकल्ट वर्ल्ड पुस्तक की पांचवी प्रति के सफा ८८ में देखो ।

दीजाती है कि स्थूल लोकमें जैसे पदार्थ क्रमसे गाढ़े हो होकर रूप बदलते जाते हैं वैसे ही सूक्ष्म वस्तु गाढ़ी हो होकर दृश्य अथवा स्थूल बन जाती है।

४६. सच तो यह है कि पतले से गाढ़े होने की क्रिया रात दिन सब ठौर देखनेमें आती है। वनस्पति वायु मण्डलमें से हवाएं लेलेकर बढ़ती हैं और उन हवाओंको द्रव (पानीसी) तथा ठोस बना लेती हैं। अदृश्य अर्थात सूक्ष्ममें से दृश्य शक्लें बनानेसे ही प्राण शक्तिकी क्रिया प्रकट होती है। और विचार क्रिया अर्थात विचार से स्थूल तक बनने की क्रिया चाहे सच्ची है चाहे झूठी, परन्तु उसमें ऐसी कोई बात नहीं है कि जो अनहोनी या असाधारण ही हो। विचार क्रिया तो साक्षीके प्रमाण से सिद्ध है और यहां साक्ष (गवाही) उन लोगों की जो विचार के चित्रों को अलग २ लोकों में देख सकते हैं निस्संदेह उन लोगों की गवाही से जो देख नहीं सक्ते हैं अधिक प्रमाणिक है। अगर सौ अंधे पुरुष किसी दृश्य वस्तु के लिये यह कहें कि वह नहीं है तो उनका कहना कम प्रमाण का होगा. उस एक पुरुष के कहने के सामने जिसको सूझता हो और जो यह गवाही दे कि वह स्वयं उस वस्तु को देखता है। इस विषय में ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी को धीरज रखना चाहिये क्योंकि उसको यह खबर है कि किसी के केवल न मानने से असली बातें बदल नहीं जाती हैं और संसार धीरे धीरे जानने लगेगा कि विचारोंके आकार वास्तवमें होते हैं जैसे कि संसार कुछ दिन इसी कामको करने के पीछे अब कोई २ बातों को सच्ची जानने लगा है जिनको कि पिछली शताब्दी के अंत में (Mesmer) मेजमर ने प्रतिपादन किया था।

४७—यह देखा गया है कि जो बातें (घटनायें) होती हैं वे पहले मानसिक या काम मानसिक लोकमें शुद्ध (काम रहित)

विचार या काम अथवा वासना की भावना के रूपमें उत्पन्न होते हैं फिर वे वासनिक रूप धारण कर लेते हैं और अन्तमें इस भूलोक में प्रत्यक्ष कर्म या घटना के रूपमें प्रकट हो जाते हैं। यों जो बातें या घटनाएं यहाँ होती हैं वे उन कारणोंके फल हैं जो कि मन में पहले से विद्यमान होते हैं। यह शरीर भी गूढ़ तत्व ज्ञानके अनुसार ऐसा एक फल है और इसका सांचा वासनिक शरीर या लिंग शरीर है जिस शब्दसे हमारे विद्यार्थी परिचित हो गये होंगे इस बातको भली भांति समझ लेना चाहिये कि वासनिक सामग्री का शरीर सांचेका काम देता है जिसमें स्थूल सामग्री ढाली जाती है. और अगर पुनर्जन्मकी शैलीको कुछ भी समझना है तो इस बातको थोड़ी देरके लिये मान लेना चाहिये कि पहलेसे विद्यमान वासनिक सांचेमें स्थूल कणोंके जमनेसे स्थूल शरीर बनता है।

४८—अब चिंतकके विचारसे जो रूप अर्थात् चित्र बनते हैं उनकी ओर लौटते हैं। यह विचार साधारण मनुष्यमें अशुद्ध मन अर्थात् काम करता है क्योंकि शुद्ध मनके कामके तो हाल कुछ समय तक हमें बहुत चिन्ह मिलनेकी आशा नहीं हो सकती है। हमारे साधारण रात दिनकी रहनगतमे हम सोचा करते हैं और इससे हम विचाराकार अथवा मानसिक चित्र बनाया करते हैं। जैसा कि किसी महात्मा ने कहा है ❀ मनुष्य जहां जहां होकर फिरता है वहां आकाशमें बराबर अपनी ही दुनियां बसाता रहता है जिसमें उसके मनकी तरंगें. कामनाएं. अकस्माती वेग, और काम क्रोधादिकी भीड़ रहती है।

४९—[इसका दूसरे लोगों पर क्या असर पड़ता है उसका संबंध "कर्म"के साथ है और उसका वृत्तांत आगे दिया जावेगा।]

❀ देखो अकल्ट वर्ल्ड्स पुस्तक पृष्ठ ९०

विचार करने वाले विचारके चित्रके क्रांतिमंडलमें (अर्थात् उस तेजमें जो उसके शरीरके आस पास घिरा हुआ रहता है) बने रहते हैं और जैसे २ ये गिनतीमें बढ़ते जाते हैं वैसे ही इनका असर उस पर अधिक से अधिक बढ़ता जाता है। जो विचार बार बार किये जाते हैं उनके चित्र अलग नहीं बनते किन्तु पुराने उनसे चित्र दिन २ अधिक प्रबल बनते जाते हैं यहां तक कि बढ़ते बढ़ते किसी २ विचार चित्रका उसके मन पर इतना अधिकार हो जाता है कि जब कभी ऐसे विचारका अवसर आता है तब वह छानबीन नहीं करता किन्तु उसे सहज ही अंगीकार कर लेता है और ऐसे विचार संचयसे आदत पड़ जाती है। यों सुभाव बन जाता है और हमारा परिचय किसी ऐसे मनुष्यसे हो जिसका सुभाव परिपक्व हो गया हो तो हम प्रायः निश्चय कह सकते हैं कि यदि ऐसा ऐसा देशकाल हो तो उसका बर्ताव इस भांतिका होगा।

५०—जब मौतकी घड़ी आती है तब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरसे अलग निकल आते हैं और उस स्थूल शरीरके साथ केवल लिंग शरीर धीरे धीरे बिखर जाता है। पिछले जन्मका विचारमय शरीर बना रहता है और इसमें पिछले संस्कारों के सार निकालने और उनको मिटानेको कई क्रियायें होती हैं। मरने के पीछे या जन्म लेनेसे पहले जो यह फेरफार होता है उसके केवल फुटकर संकेत संसारको बतलाये गये हैं और अगर किसी जिज्ञासु को सहायता न मिले तो इन फुटकर संकेतोंके सहारे ही जहां तक बन सके रास्ता टटोलना पड़ता है। परंतु इतना तो निश्चित है कि पुनर्जन्म होनेके पहले यह विचारमय शरीर वासनिक लोक में आ जाता है यहां वासनिक द्रव्य लेकर नये जन्म के लिये लिंग शरीर बन जाता है। यह लिंग शरीर सांचेका काम देता है और इस सांचेके ऊपर ही स्थूल भेजा (मस्तिष्क) स्थूल

शरीरके और सब अंग ढलते हैं इसलिए यह भेजा ऐसा बनता है कि चाहे कितना ही अधूरा क्यों न हो परंतु इस जन्म लेने वाले मनुष्यके मनके स्वभावों और गुणोंका स्थूलमें दरसाने वाला होता है और अब जो शक्तियां कि पिछले संस्कारों के आधार से वह स्थूल में प्रगट कर सकता है उनके लिये यह ठीक बैठता हुआ शरीर होता है।

५१–उदाहरणकी तरह बुराई अर्थात् स्वार्थ वाले और भलाई अर्थात् परोपकारी पुरुषों को लो। इनमेंसे एक मनुष्य तो बराबर स्वार्थता के विचार चित्र पैदा करता रहता है जैसे कि स्वार्थ की लालसाएं स्वार्थ की भांति भांति की आस, स्वार्थकी जुगतें; और इन चित्रोंके झुण्ड के झुण्ड उसके इर्द गिर्द मंडलाते रहते हैं और उसी पर अपना रङ्ग जमाते रहते हैं। इससे वह अपने स्वार्थमें ऐसा अन्धा हो जाता है कि दूसरोंके अर्थका तिरस्कार करके अपने ही हित के जतन में लगा रहता है। यह अंत में मरता है और तब तक इसका स्वभाव पकते पकते कठोर स्वार्थीपन का नमूना बन जाता है। यह स्वभाव स्थिर हो जाता हैं और फिर क्रम से शक्ल बनकर आगे स्थूल में जन्म लेने के लिए सांचे का काम देता है। यह अपने स्वभाव से मिलते हुए घरानेमें और उन माँ बापों के यहां जन्म लेने को जाता है कि जिनके स्थूल शरीरसे इसके गुणों से मिलते हुये स्थूल अंश मिल सकें. और वहां इस वासनिक सांचेमें इसका स्थूल शरीर ढलता है और इसके सिरका भेजा ऐसी शक्लका बनता है कि उसमें जितनी अधिकता उन स्थूल अंशों की होती है जिनसे स्वार्थता की पशुवृत्तियां प्रगट हो सकें उतना ही अभाव सदाचार के अच्छे २ गुणों के प्रगट करने वाले स्थूल अंशों का होता है। अगर कोई विरला मनुष्य एक जन्मभर लगातार अपने स्वार्थ ही में अंधा (स्वार्थान्ध) बना रहे तो आगे

जन्म में इससे उसके सिर का भेजा उस चाल का बन जाता है जिस को अपराधी कहते हैं; और जब बच्चा ऐसे अधम औजार को लेकर संसार में पैदा होता है तो वह चाहे जितना यत्न करे उसमें से प्रायः एक भी शुद्ध और मधुर स्वर नहीं निकल सकता। इस शरीर में यह मन की किरण (जीवात्मा) जन्म भर मन्द, बिखरी हुई और काम के बादलों में तड़फती रहेगी। यद्यपि देश-काल उल्टा रहेगा तो भी कभी २ उस किरण की चमक की झलक उसके स्थूल शरीर में कुछ न कुछ उजेला और सुधार कर देगी और बड़े कष्ट और परिश्रमसे बिरले अवसर ऐसे भी मिल जावेंगे कि वह अपनी नीच प्रकृतिको दबा लेगा और धीरे २ कष्टके साथ एक दो कदम आगे बढ़ ही जावेगा। परंतु जन्म भर पीछे (बुरे) संस्कार सर्वोपरि प्रबल बने रहेंगे और जो पापका प्याला पिछले जन्म में उन दिनों भरा गया था जिनको अब याद भी नहीं रही है उसकी बूंद २ कांपते हुए होंठोंसे चूसना पड़ेगा।

५२- दूसरी प्रकार का मनुष्य लगातार ऐसे विचार चित्र पैदा करता रहता है जैसे कि परमार्थ और दूसरों की सहायता की इच्छा, दूसरों की भलाई के लिए प्रेम भरी युक्तियां या लाल-सायें। ये चित्र उसके इर्द गिर्द झुण्ड के झुण्ड मंडलाते रहते हैं और फिर उसी पर अपना असर डालने लगते हैं और इससे वह स्वभाव परमार्थी हो जाता है और दूसरों की भलाई को अपने स्वार्थ से बढ कर मानने लगता है और इस प्रकार जब वह मरता है तो उसके स्वभाव में परोपकार रह जाता है और यों अंतकाल तक उसकी प्रकृति में परोपकारी भाव रम जाता है। जब यह फिर जन्म लेता है तब उसके पहले जन्म के गुणों का दरसाने वाला वासना शरीर ऐसे कुल में खिंच आता है कि जहां उसको ऐसी शुद्ध स्थूल सामिग्री मिल सके कि जो उस मन के

भावों के अनुकूल हो। इस सामिग्री से उसके वासना शरीर के ढाचे में ढलने से ऐसा भेजा (मस्तिष्क) बन जाता है कि जिस से परोपकारी गुण ही प्रगट हो सकते हैं न कि पशुओं की सी नीच वृत्तियाँ। यों अगर कोई मनुष्य एक जन्म भर अत्यन्त परोपकार में लगा रहे तो आगे जन्म में उसका भेजा (मस्तिष्क) उदार और हितकारी शक्ल का बन जाता है और जब ऐसा बच्चा इस भेजे के साथ पैदा होता है कि जिससे उत्तम से उत्तम प्रेम और उपकारके मधुर स्वरोंकी ध्वनि निकलती है इस अद्भुत प्रभाव पर जगत् भर अचम्भा करके यह मानने लगता है कि यह विधाता की स्वाभाविक देन है न कि उस बच्चे की पहले जन्म की कमाई। परन्तु ये उत्तम प्रकृतियां जो सद्गुणों से भरपूर हैं उन कष्टों का फल हैं जो कि बहुत काल तक वीरता के साथ सहे गये हैं। ये कष्ट पिछले जन्मों में उठाये गये हैं जिसकी अब याद नहीं है परन्तु अन्तरात्मा को इनका ज्ञान (खबर) है और एक दिन ऐसा होगा कि इनका ज्ञान स्थूल अर्थात् जागृत अवस्था में भी होने लगेगा।

५३—यों क्रमसे मनुष्यकी उन्नति होती जाती है। जन्म २ में हमारा सुभाव बनता जाता है और जो कुछ लाभ या हानि होती जाती है उसका लेख वासनिक शरीरोंमें बराबर होता रहता है और इनके ही आधार पर आगे स्थूल शरीर बनता है। एक २ सद्गुण यों उन्नति की एक २ पंक्ति अर्थात् नीच प्रकृतिके बार २ जीत लेनेका बाहरी चिन्ह है। सो बुद्धि और भलाइयां कि जन्म से ही किसी बच्चेमें पाई जाती हैं उनको उसका "सहज स्वभाव" कहते हैं और पहिले जन्मोंमें उसने विपदा (आफतें) झेली हैं और उसकी हार और जीत हुई है उन सबका इस सहज स्वभाव से पक्का पता और प्रमाण मिलता है। यह बात (सिद्धान्त)

उन लोगोंको तो बहुत बुरी लगेगी जो बुद्धि या शीलमें मन्द और जिनमें साहस (हिम्मत) नहीं है। परन्तु ऐसे वीर लोगोंको जो क्या मनुष्य क्या देव किसीसे दान पुण्य लेनेकी लालसा नहीं रखते और केवल अपने पुरुषार्थ और परिश्रमसे धीरजके साथ कमाई करने पर भरोसा रखते हैं, ऐसे सिद्धान्त से अत्यन्त प्रसन्नता और उत्साह होता है।

५४—ऐडवर्ड कारपिंटर साहबने अपनी पुस्तक 'प्रजातंत्रराज्य' में "शैतान और कालके मर्म" के प्रसंगमें इस सिद्धान्त को यों भली भांति दरसाया है। सृष्टिरचना की विद्या और सब विद्याओं की भांति (तरह) सीखनेसे ही आती है, बहुत से। वर्षोंमें धीरे २ तू अपने शरीरको बनाता है और इस आज कलके शरीरको बनानेका सामर्थ्य जैसा कुछ कि तुझमें अभी है इसको तूने पिछले समयमें दूसरे शरीरोंमें प्राप्त (हासिल) किया था, जो सामर्थ्य तुझको अब प्राप्त है उसे तू आगे काममें लावेगा। परन्तु शरीर बनाने के सामर्थ्य में सब सामर्थ्य शामिल हैं। जिन २ चीजों की तुम चाहना करो उनको छांटने में सावधानी रक्खो. मैं यह नहीं कहता कि किस२ चीज की चाह करना चाहिये। क्योंकि अगर कोई सिपाही लड़ाई पर जाता है तो वह यह नहीं देखता कि कौन २ सी नई चीजें मैं अपनी पीठ पर लेसकता हूँ बल्कि यह देखता है कि किस२ चीज को मैं पीछे छोड़ सकूंगा। इसलिये उसे मालूम है कि जो कोई नई चीज मैं अपने साथ ऐसी लेजाऊंगा कि भलिभांति चल न सके और काम में न आसके वह मेरे लिये जंजाल हो जावेगी।

इसलिये अगर तुझे अपने लिये यश (नामवरी) या सुख चैन की चाह है तो जो बात चाहेगा उसकी शकल तुझ पर आचढ़ेगी और तुझ पर उसके लिये २ फिरना पड़ेगा और जो शकलें

और शक्तियां कि तू इस तरह बुला लेगा वे तेरे चारों ओरसे घिर आवेंगी और तेरे लिये एक नया शरीर बनकर वे अपने तोष और पोषण के लिये तुझे तंग करेंगी ।

और अगर इस शकल को तू अभी नहीं दूर कर सकेगा तो तब भी नहीं दूर कर सकेगा बल्कि तुझे इस लिये फिरना पड़ेगा ।

इसलिये सचेत रहो कि यह दिव्य और आनन्दका महल बनने के बदले यह तेरी कबर या कैदखाना न बनजावे ।

और क्या तू नहीं देखता है कि बिना मरे तू मौत को कभी नहीं जीत सका है—क्योंकि इन्द्रियों के भोगकी चीजों का दास हो जानेसे तू ऐसा शरीर धारण करलेता है कि जिसका तू मालिक नहीं रहता इसलिये अगर यह शरीर नष्ट नहीं कर दिया जावे तो मानो तू जीतेजी कबरमें कैद होजावेगा। परन्तु अब इस कबरमें से कष्ट और दुःख से ही तेरा छुटकारा हो सकेगा। और इस कष्ट के अनुभव (तजुरबे) से ही तू अपने लिये एक नया और उत्तमतर शरीर बनालेगा। और योंही बहुत बार होते २ तेरे परनिकल आवेंगे और तेरे मांस (के शरीर) में सब दैवी और आसुरी शक्तियां भर जावेंगी ।

और जो शरीर कि मैंने धारण किये थे उसके सामने तब गये और मेरे लिये आगके अंगारे के कमरबंद की तरह थे परन्तु मैंने उनको अलग फेंक दिया। और जो कष्ट कि मैंने एक शरीर में सहे आगे के शरीर में काम में लाने के लिये शक्तियां बन गये।

५८. ये बड़ी सिद्धान्त की बातें हैं और विशाल रीतिसे लिखी गई हैं और जैसे पूरब में कि इन बातों को सदा मानते आये हैं और अब भी मानते हैं वैसे ही पच्छम के देशों में भी एक दिन लोग इनको मानने लगेंगे ।

५६. हजारों जन्मों तक अमर चिन्तक (पुरुष) यो पशु मनुष्य को ऊपर लेजाने में हजारों जन्मों तक परिश्रम (मेहनत) करता रहता है जहां तक कि यह दैव से मिलने के योग्य न हो जावे। किसी एक जन्म में कदाचित् कार्य्य का केवल तनिक सा अंश पूरा हो पाता है तो भी जन्म होते समय जो वासनिक शरीरकी बनावट थी उसमें सुधरतेर अंतकाल के समय तक पशुपने में कुछ न कुछ कमी हो जाती है। आगे जो जन्म होगा उसमें इस सुधरे हुए नमूने का मनुष्य जन्मेगा और मरने पर उससे वासनिक नमूना कुछ और भी सुधरा हुआ होगा अर्थात् उसमें पशुपन घटता जावेगा। योंही बार बार जन्म जन्म में कल्पांतरों तक सुधार होता चला जावेगा। इस बीच में अनेक भूल चूक भी होती जावेगी। परन्तु यह संभल संभल कर ठीक होती जावेगी। इस बीचमें अनेक घाव लगलगकर धीरे धीरे भरते जावेंगे परन्तु इन सबके उपरांत उन्नति बराबर होती चली जावेगी, पशुपन घटता जावेगा और मनुष्यता बढ़ती जावेगी। वृतान्त उस क्रम का है जिससे मनुष्य की उन्नति चलती है और जीवात्मा का कार्य्य दैवीगति तक पहुंचने का सम्पूर्ण होता है। इस क्रम में एक दरजा ऐसा आता है कि वासना शरीर कुछ कुछ पारदर्शक होजाते हैं जिससे इनमें अमर चिन्तक (पुरुष) की झलक पड़ने लगती है और कुछ यह भान होने लगता है कि ये (वासना शरीर) कोई अलग जीव नहीं है किन्तु किसी अमर और सदा रहने वाली वस्तु से लगे हुये हैं। इनको अभी पूरार यह तो नहीं समझमें आता कि इनका अन्तिम लक्ष्य क्या है परन्तु जो प्रकाश इनपर पड़ता है उससे इनमें कंपन और अकुलान होने लगती है जैसे कि वसंत ऋतुमें कलियां अपने वेठन में इसलिये अकुलाने लगती हैं कि वेठन को फाड़कर बाहर निकलने और सूरज के उजेले से बढ़ने लगें।

जैन फिलोसफी

जिस समय बहुतसे परमाणु मिल कर स्कन्धके रूपमें हो जाते हैं तब उनमें खास २ पदार्थ बननेकी शक्ति हो जाती है। कोई स्कंध लोहा रूप बनता है, कोई पत्थरके रूप कोई हवा. कोई पानी रूप इत्यादि भिन्न २ तरहके स्कन्धोंमें भिन्न २ तरहके पदार्थ रूप हो जानेकी शक्ति हो जाती है। उन ही पुद्गल स्कन्धोंमें एक तरहके स्कन्ध भी होते हैं जिनमें संसारी जीवके सूक्ष्म शरीर बनने की शक्ति (खासियत) होती है। उन स्कन्धोंको कार्माण स्कन्ध कहते हैं।

जीवमें चुम्बककी तरहसे आकर्षण शक्ति (अपनी ओर कशिश करने-खींचनेकी ताकत) मौजूद है तथा उन कार्माण स्कन्धोंमें लोहेकी तरह जीवकी ओर खिंच जानेकी शक्ति मौजूद है।

तदनुसार संसारी जीवमें मनके विचारोंसे, बोलनेसे अथवा शरीरकी किसी हरकतसे वह आकर्षण शक्ति हर एक समय जागृत (हर एक रूप) रहा करती है क्योंकि सोते. जागते. उठते, बैठते चलते आदि किसी भी हालतमें सोचने. बोलने या शरीर द्वारा कोई कार्य होने रूप यानी-मन, वचन, शरीरको कोई न कोई हरकत अवश्य होगी अतः उस आकर्षण शक्ति (जैन दर्शनमें जिसे योग शक्ति कहते हैं) के द्वारा वे कार्माण स्कन्ध (कार्माण मेटर) आकर्षित (कशिश) होकर लिपटे रहते हैं। जैसे पानीमें रक्खा हुआ लोहेका गर्म गोला अपनी ओर पानीको खींचता रहता है। तथा वह गोला जब तक गर्म बना रहेगा तब तक वह अपनी तरफ पानीको अवश्य खींचता रहेगा। इसी तरह संसारी जीवमें जब तक क्रोध, अभिमान, छल, लोभ. विषयवासना. प्रेम, वैर आदिके निमित्तसे मन. वचन. शरीरकी हरकत (क्रिया) होती

रहेगी तब तक जीव कार्माण स्कन्धों को अपनी ओर बराबर खींचता रहेगा और वे खिचे हुए कार्माण स्कन्ध उस जीव के साथ एकमेक होते रहेंगे।

जीवके साथ दूध पानीकी तरह एकमेक रूपसे मिला हुआ वह कार्माण स्कन्ध ही जीवके ज्ञान, सुख, शान्ति आदि गुणोंको मैला करता रहता है, जीवकी स्वतन्त्रता छीनकर उसको पराधीन बना देता है। और जीवको अनेक तरहके नाच नचाता रहता है। उसी कर्माण स्कन्ध को कर्म कहते हैं भाग्य, तकदीर, दैव आदि सब उसीके दूसरे नाम हैं।

जैसे ग्रामोफोनके रेकार्डमें गाने वालेकी ध्वनि (आवाज) ज्यों की त्यों समा जाती है ठीक उसी तरह जीवके साथ मिलने वाले उन कार्माण स्कन्धोंमें भी जीवकी मन, बचन, शरीरसे होने वाली अच्छी बुरी क्रिया (हरकत) की छाया ज्योंकी त्यों अंकित हो जाती है। जीव यदि अपने मनसे, बोलनेसे या शरीरसे कोई अच्छी क्रिया कर रहा है तो उस समयके आकर्षित (कशिश) हुए कार्माण स्कन्धोंमें अच्छा यानी भला करनेका असर पड़ेगा और यदि उस समय उसके विचार, बचन, या शरीरकी क्रिया किसी लोभ, अभिमान आदिके कारण बुरी है तो उन आकर्षित होने वाले कार्माण स्कंधोंमें बुरा यानी बिगाड़ करनेका असर पड़ेगा। जिस तरह रेकार्ड ग्रामोफोनके ऊपर सुईकी नोकसे उसी तरह की गानेकी आवाज निकालती है जैसी कि उसमें अंकित हुई थी। ठीक इसी तरह कर्मका नशा समय पर जीवके सामने उसी रूपमें प्रकट होता है जिस रूपमें जीवने उसे अपने साथ मिलाया है। यानी—जिस कर्ममें अच्छा असर पड़ा है वह जीवको अच्छी तरह प्रेरित करके अच्छा सुख कर फल देगा और जो बुरे असर वाला कर्म जीवने अपने साथ मिलाया है वह दुखदायक साधनों की ओर जीवको प्रेरित करके दुखी बनायेगा।

कर्मों के भेद

वैसे तो जीवोंकी अगणित (वेतादाद) तरह की क्रियाएँ होती हैं तदनुसार कर्म भी अगणित तरहके बना करते हैं। किंतु उनके मोटेरूपसे आठ भेद होते हैं। १–ज्ञानावरण, २–दर्शनावरण, ३–वेदनीय, ४–मोहनीय, ५–आयु, ६–नाम, ७–गोत्र, ८–अन्तराय।

१–ज्ञानावरण कर्म—वह कर्म है जो आत्मा के ज्ञान गुणको छिपाता है, उसको कमकर देता है। आत्मामें शक्ति है कि वह संसार का भूत (गुज़रा हुआ जमाना) भविष्यत् (आने वाला जमाना) और वर्तमान (मौजूदा वक्त) समयकी सब बातोंको ठीक जान लेवे, किन्तु ज्ञानावरण कर्मके कारण आत्माकी वह ज्ञान शक्ति प्रगट नहीं होने पाती।

जिस समय कोई मनुष्य दूसरे मनुष्यके पढ़ने लिखने में रुकावट डालता है, पुस्तकोंका और पढ़ाने सिखाने वाले गुरुका अपमान करता है, अपनी विद्याका अभिमान करता है। तथा इसी प्रकार के और भी ऐसे अनुचित कार्य करता है जिससे दूसरेके या अपने ज्ञान बढ़नेमें रुकावट पैदा हो तो उस समय उसके जो कार्माण पुद्गल आकार कर्म बनता है उसमें उसकी ज्ञान शक्तिको दबानेकी तासीर पड़ती है। यदि कोई पुरुष अपनी अच्छी नियतसे यह उद्योग करे कि सब कोई पढ़ लिखकर विद्वान बने, कोई मूर्ख न रहे तो उस समयकी उसकी उस कोशिश से उसका ज्ञानावरण कर्म ढीला हो जाता है। उसकी ज्ञानशक्ति अधिक प्रगट होती है।

आज हम जो अपनी आंखों से किसी को मूर्ख, किसी को विद्वान किसीको बुद्धिमान और किसी को बुद्धिशून्य देखते हैं, उसका कारण ऊपर कहे हुए दो तरहके कार्य ही हैं।

२—दर्शनावरण कर्म—वह कर्म है जो कि आत्माके दर्शन गुणोंको पूरा न प्रकट न होने दे दर्शन गुण आत्माका ज्ञानसे मिलता जुलता बहुत सूक्ष्म गुण है जो कि ज्ञानके पहिले हुआ करता है।

जब कोई मनुष्य दूसरे मनुष्यके दर्शन गुणमें रुकावट डालता है, दूसरेकी आंखें खराब करता है, अंधे मनुष्योंका मखौल उड़ाता है इत्यादि, उस समय उसके "दर्शनावरण" कर्म बहुत जोर दार तैयार होता है जिस समय इनसे उलटे अच्छे काम करता है तब उसका दर्शनावरण कर्म कमजोर होजाता है, साथ ही दर्शन गुण प्रगट होता जाता है।

३—वेदनीय कर्म—वह कर्म हैकि जिसके कारण जीवोंको इन्द्रियों का सुख या दुख प्राप्त करने का अवसर (मौका) मिलता है यानी जीवों को इस कर्म की वजह से सुख दुख मिलने वाली चीजें मिलती हैं।

यह कर्म दो प्रकारका है, साता और असाता। साता वेदनीय के कारण संसारी जीव इन्द्रियोंका सुख पाते हैं। और असाता वेदनीय कर्म का फल दुख मिलना होता है।

यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को बुरे विचार से मारे पीटे दुख देवे, रुलावे रञ्ज पैदा करावे अथवा खुद आप ही अपने आपको बुरे भाव से दुख दे, रोवे, शोक करे, फांसी लगा ले अन्य तरहसे आत्म हत्या (खुदकशी) करले इत्यादि, तो उसके इस प्रकारके कामोंसे असाता वेदनीय कर्म बनता है जो कि अपने समय पर दुख पैदा करता है।

यदि कोई पुरुष दूसरों का उपकार करे अन्य जीवों के दुख हटानेका उद्योग करे, शान्तिसे अपने दुःखोंको सहे, दया करे आदि। यानी—अपने आपको तथा दूसरे जीवोंकी सेवा भावसे

दया भावसे सुख पहुंचानेका काम करे तो उसके साता वेदनीयकर्म बनेगा जो कि अपना फल उसको सुखकारी देगा।

४—मोहनीय कर्म—वह है कि जो आत्मामें राग, द्वेष, क्रोध, अभिमान, छल, कपट, लोभ आदि बुरे २ भाव उत्पन्न करता है। शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मकान आदि से मोह (प्रेम) इसी कर्मके निमित्त से होता है। दूसरे को अपना शत्रु (दुश्मन) मान लेना भी इसी कर्म के निमित्त से होता है।

अर्थात् यह कर्म आत्मा पर ऐसी मोहनी (वशीकरण) डालता है कि जिससे आत्माको अपने भले बुरेका विचार जाता रहता है। जिन शांति, क्षमा, सत्य विनय, संतोष आदि बातोंसे आत्माकी भलाई होती है उन बातोंसे इस कर्मके कारण आत्मा दूर भागता है और जिन बातोंसे वैर, अशांति, लालच, क्रोध, घमंड, संसारी चीजोंसे मोह पैदा होता है उन बातोंकी ओर इस आत्माका खिचाव हो जाता है।

जो जीव या मनुष्य दुष्ट स्वभाव वाले, क्रोधी गुस्सा बाज़) अभिमानी (घमंडी) उपद्रव करने वाले, झगड़ालू, धोखेबाज़, लालची, हिंसक, निर्दयी (बेरहम) अधर्मी अन्यायी देखनेमें आते हैं उनका मोहनीय कर्म बहुत तीव्र है। तथा जो मनुष्य सदाचारी क्षमाशील, निरभिमानी, सरल, परोपकारी, विरागी देखे जाते हैं; समझना चाहिये कि उनका मोहनीय कर्म बहुत हल्का है।

क्रोध, मान, छल, लोभ, मोह और दुर्भावोंके कारणसे प्रायः दूसरे २ बुरे भाव पैदा हुआ करते हैं और ऐसे ही बुरे विचारोंसे तथा खराब कार्योंसे बुरे कर्म बँधते हैं इसलिये असलियतमें मोहनीयकर्म ही अन्य सब कर्मोंके बँधनेका कारण समझना चाहिये। इसी कारण यह कर्म अन्य कर्मोंसे अधिक बुरा है।

हिंसा, धोखेबाज़ी, घमंड, अन्याय, अत्याचार, लोभ, काम. क्रोध आदि करनेसे, सच्चे पूज्य परमात्मा, गुरु, शास्त्रकी निन्दा करनेसे, दूसरेको ठगने आदि बुरे कार्य करनेसे मोहनीय कर्म तैयार होता है। और इनसे उल्टे अच्छे कार्य किये जावें तो मोहनीय कर्म हल्का होता जाता है।

५—आयु कर्म--वह है. जो कि जीवको मनुष्य. पशु, देव. नरक इनमेंसे किसी एकके शरीरमें अपनी आयु (उम्र) तक रोके रखता है। उस शरीरमेंसे निकल कर किसी दूसरे शरीरमें नहीं जाने देता। जिस प्रकार जेलर किसी सख्त कैद वाले कैदीको कुछ समयके लिये काल कोठरीमें बन्द कर देता है। उससे निकल कर दूसरी जगह नहीं जाने देता। उसी प्रकार यह कर्म भी पहले कमाये हुए कर्मके अनुसार पाये हुए मनुष्य आदिके शरीरमें उस उम्र तक रोके रखता है जो कि उसने पहले जन्ममें बांधी थी।

जो जीव दयालु, परोपकारी, धर्मात्मा, सदाचारी होते हैं. हिंसा आदि पापोंसे दूर रहते हैं सन्तोषी होते हैं वे देव आयु कर्म बांधते हैं।

जिन जीवोंके कार्य न बहुत अधिक अच्छे होते हैं और न बहुत अधिक खराब ही होते हैं, बिना कारण किसीको कष्ट नहीं देते, अधिक लालची, अधिक क्रोधी नहीं होते, उनके मनुष्य आयु कर्म बंधता है।

जो जीव दूसरों के ठगने में. धोखा देने में, छल कपट करने में, झूठ बोलने में, मीठी बातें बनाकर दूसरों को फंसा लेनेमें, विश्वास घात करने में प्रायः लगे रहते है वे पशु आयु कर्म को आगे के वास्ते अपने लिये करते है। और जो जीव अधिक दुष्ट होते हैं. हिंसा करना बिना कारण दूसरों का नाश करना सदा दूसरों के बिगाड़ में लगे रहना, बल पूर्वक (जबरदस्ती)

दूसरोंका धर्म बिगाड़ना आदि बुरे निन्दनीय कर्म करनाही जिनका काम होता है वे जीव नरक आयु बांधते हैं।

नाम कर्म—वह है जिसके कारण संसारी जीवों के अच्छे बुरे शरीर बनजाते हैं। जैसे चित्र बनाने वाला अनेक तरहके चित्र (तसवीरें) बनाया करता है। उसी प्रकार नाम कर्म के कारण, सुडौल, बेडौल, लम्बा; ठिगना कुबड़ा. काला, गोरा, कमजोर, हड्डियों वाला मजबूत हड्डियों वाला आदि अनेक तरह के शरीर तैयार होते हैं।

यह कर्म दो प्रकार का है शुभ और अशुभ जिसके कारण अच्छा, सुहावना, सुडौल शरीर बनता है वह शुभ नाम कर्म है और जिससे बेडौल, कुबड़ा, बदसूरत आदि खराब शरीर बनता है वह अशुभ नाम कर्म है। जो जीव कुबड़े, बौने, और लूले. लगड़े आदि असुंदर (बदसूरत) जीवों को देखकर उनका मखौल उड़ाते हैं। अपनी खूबसूरतीका घमण्ड करते हैं। अच्छे सदाचारी मनुष्यों को दोष लगाते हैं, दूसरे की सुंदरता बिगाड़ने का उद्योग करते हैं उनके अशुभ कर्म बनता है। और जो इनसे उल्टे अच्छे कर्म करते हैं वे अपने लिये शुभ नाम कर्म तैयार करते हैं।

७ गोत्र कर्म—गोत्र कर्म वह है जो कि जीवों को ऊंचे नीचे कुल (जाति) में उत्पन्न करें। जिस प्रकार कुम्हार कोई तो घड़ा आदि ऐसा बर्तन बनाता है जिसको लोग ऊँचा रखते हैं उसीमें घी पानी रखकर पीते हैं तथा कोई कुन्ली आदि ऐसा बर्तन बनाता है जो कि टट्टी पखानेके लिये ही काम आता है जिसको कोई छूता भी नहीं है।

इसी प्रकार गोत्र कर्मके कारण कोई जीव तो क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि अच्छे कुलीन घरमें पैदा होता है और कोई चमार. मेहतर चांडाल, आदि, नीच कुल में उत्पन्न होते हैं। जिनका नीच काम करके आजीविका करना ही खास काम होता है।

देव तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि मनुष्य ऊँच गोत्रकर्म के निमित्त से होते हैं और चमार, चांडाल, आदि मनुष्य पशु तथा नरक वाले जीव, नीच गोत्रकर्मके कारण होते हैं। इस प्रकार नीच ऊँचके भेदसे यह कर्म दो प्रकारका है।

जो मनुष्य अपने बड़प्पनका घमण्ड करता है दूसरोंको छोटा समझता रहे, अपना बड़ाई और दूसरोंकी निंदा करना खास काम हो, अपनी जाति कुल आदिका अभिमान कर कमीने ख्याल रक्खे, अच्छे पुरुषोंको तथा पूज्यदेव, गुरु, शास्त्रकी विनय न करे वह जीव नीचगोत्रका कर्म बांधता है और जो इनके विरुद्ध अच्छे कार्य करते हैं उनके ऊँच गोत्र कर्म तैयार होते हैं।

८—अन्तराय कर्म—अंतराय कर्म वह है जो कि अच्छे कार्योंमें विघ्न (रुकावट) डाल दिया करता है या जिसके निमित्त से अच्छे कार्योंमें विघ्न आ जाये। जैसे दो व्यापारियोंने एक साथ एक ही व्यापार शुरु किया। उनमेंसे एक ने तो उस व्यापारमें अच्छा धन पैदा किया, किन्तु दूसरे व्यापारीके माल बेचते समय बाजार मन्दा होगया और खरीदते समय महगा हो गया। घरमें पुत्र बीमार हो जानेसे वह ठीक समय पर जब कि उसे लाभ होता, खरीद विक्री नहीं कर पाया। फल यह हुवा कि उसने कुछ भी नहीं कमाया। यह तो बात दूर रही किंतु अपनी पूंजीसे भी हाथ धो बैठा।

यहां पहिले व्यापारी को अन्तराय कर्म नहीं दबाया था, जिससे कि उसको अपना व्यापारमें कोई विघ्न नहीं आया। इस कारण वह धन पैदा करनेमें सफल होगया और दूसरा व्यापारी को पहिला बाँधा हुआ कर्म अपना फल दे रहा था, इस कारण उसको निमित्त ऐसे मिले कि वह अपने व्यापारमें असफल (ना कामयाब) रहा।

दूसरे जीवोंके खाने पीनेमें विघ्न करनेसे, दूसरोंकी काम आने योग्य चीजोंको विगाड़नेसे साधारण जनताके विरुद्ध कोई लाभ उठानेसे, दान करने वाले को दानमें कोई रुकावट खड़ी कर देनेसे इत्यादि बुरे कार्योंसे अंतराय कर्म बँधता है और इससे उलटे अच्छे कार्य करनेसे अंतराय कर्मका बोझा हल्का होता है।

इन आठ कर्मोंमें साता वेदनीय, मनुष्य आयु, देव आयु, शुभ नाम कर्म, उच्च गोत्र कर्म यह कर्म पुण्यकर्म (अच्छे कार्य) माने गये हैं क्योंकि इनके कारण जीवोंको कुछ सांसारिक सुख मिलता है। इनके सिवाय शेष सभी पापकर्म (दुखदायक) बुरे कर्म हैं।

जिस समय जीव अच्छे कार्य करता है, सत्य, दया, क्षमा, सरल व्यवहार करता है, परोपकार, विनय, सदाचारसे कार्य करता है तब उसके पुण्य कर्मोंमें अनुभाग (रस) बढ़ता है। जिससे वह आगामी समयमें सुख पाता है। और जिस समय जीवहिंसा, झूठ, धोखेबाजी, व्यभिचारी, क्रोध, अभिमान, लोभ, अन्याय, अत्याचार करता है तब उसके पापकर्मोंमें रस बढ़ता है (वे ज्यादा मजबूत हो जाते हैं) जिसका नतीजा आगे चलकर बुरा भोगना पड़ता है।

स्थिति और अनुभाग

पिछेल यह बताया जाचुका है कि मानसिक विचार, वचनकी धारा और शरीरकी क्रिया जिस उद्देश(इरादे या मंशा) के अनुसार होती है आकर्षित(खींचे हुये)कार्माण स्कन्धोंमें उसी तरहका सुधार, विगाड़, भला, बुरा करने का असर पड़ता है। यहां पर एक यह बात ध्यान में और रखनी चाहिये कि जीव जो भी काम करता है वह या तो तीव्रता(गहरी दिलचस्पी) करता है या मंद रूपसे यानी

वेमना (दिल चस्पी न लेकर) करता है इस बातका प्रभाव भी उस खींचे हुये और दूध पानी की तरह अपने आत्मा के साथ मिलाये हुये कर्म पर पड़ता है । तदनुसार उस कर्म में थोड़े या बहुत समय तक, कम या अधिक सुख दुख आदि फल देने की शक्ति पड़ जाती है ।

जैसे एक मनुष्य अपना बदला लेने के लिये बड़े क्रोध के साथ किसीको मार रहा है उस मनुष्य द्वारा कमाये हुये "असाता वेदनीय' कर्म में लम्बे समय तक, बहुत ज्यादा दुख देनेका असर पड़ेगा और जो मनुष्य अपनी नौकरी की खातिर अपने मालिक की आज्ञा से लाचार होकर किसीको मार रहा है वह भी असाता वेदनीय कर्म बांधेगा किन्तु उसमें थोड़े समय तक हल्का दुख देनेकी शक्ति पड़ेगी । एक नौकर पुजारी भगवान की भक्ति पूजा ऊपरी मन से करता है उसको पुण्य कर्म थोड़े समय तक हल्का फल देने वाला बंधेगा जो स्वयं अपनी अन्तरंग प्रेरणा से बड़ा मन लगाकर भक्ति पूजन करता है उसका कमाया हुआ पुण्यकर्म अधिक समय तक अधिक सुखदायक फल देगा । समय की इसी सीमा (मियाद) को स्थिति और देनेकी कम अधिक शक्ति को अनुभाग कहते हैं ।

कर्म, फल कब देते हैं

कर्म बन जानेके पीछे तत्काल ही अपना फल नहीं देने लगता किन्तु कुछ समय बीत जाने पर उदय में आता है । जैसे हम भोजन करते हैं भोजन में खाये गये दूध, चावल, रोटी, फल आदि पदार्थ पेट में पहुंचते ही रस नहीं बन जाते हैं कुछ समय तक पेट की मशीन पर खाया हुआ भोजन पकता है तब उस भोजन का रस, खून आदि बनता है । उसी तरह कार्माण स्कन्ध आत्मा के

साथ सूक्ष्म शरीर के रूप में मिलजाते हैं तब कुछ समय बीतजाने पर अपने स्वभाव (तासीर प्रकृति) के अनुसार अच्छा बुरा फल देना शुरू करते हैं। जिस कर्म की जितनी लम्बी स्थिति (मियाद) होती है वह कर्म उसी के अनुसार कुछ समय पीछे उदय होता है जिसकी स्थिति थोड़ी होती है वह जल्दी फल देने लगता है। ❀

जैसे दूध, चावल, गन्ना, सन्तरा आदि हलके पदार्थ खावें तो वे जल्दी पच कर रस बन जाते हैं, और यदि कला, बाटी, बादाम आदि भारी गरिष्ठ चीजें खावें तो वे देर में पचते हैं और उनका रस देर से बनता है इसी के अनुसार लम्बी मियाद वाले देर से उदय में आते हैं, थोड़ी मियाद वाले कर्म जल्दी फल देने लगते हैं।

संसार में बहुतसे पापी जीव घोर पाप करते हुये भी सुखी दीख पड़ते हैं, रात दिन व्यभिचार करने वाले भी वेश्याएं दुखी नहीं देखी जाती इसका कारण यही है कि अनेक कमाये हुये पाप कर्मोंमें बुरा दुखदायी फल देने की शक्ति बहुत ज्यादा, लम्बे समय तककी पड़ी है इस लिये उन पाप कर्मों का फल भी जरा देर से मिलेगा संभव है वह इस जन्मके पीछे दूसरे जन्ममें मिले।

जो जीव हलका पुण्य-पाप करते हैं उनके कमाये कर्मोंमें थोड़ी मियाद पड़ती है तदनुसार वे उदय भी जल्दी हो आते हैं यानी— जल्दी फल मिल जाता है।

फल देने के पीछे

फल देने के पीछे कार्माण स्कन्ध निःस्सार हो जाते हैं उन में

❀ एक कोड़ा कोड़ी सागर (असंख्य वर्षों) का स्थिति वाला कर्म एक सौ वर्ष पीछे फल देने योग्य होता है।

आत्मा के साथ लगे रहने की शक्ति नहीं रहती तब वे कार्माण स्कन्ध अपने आप आत्मासे अलग हो जाते हैं। जैसे सर्पके शरीर का पुराना चमड़ा (केंचुल) उसके शरीर से उतर जाती है उसी तरह कर्म भी अपना कार्य करके आत्मा से अलग हो जाते हैं।

इस तरह पहले के कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग होते रहते हैं और नयेर कर्म आत्मासे बँधते रहते हैं। जिस तरह कि समुद्र में हजारों नदियों का पानी प्रति समय आता रहता है और उधर सूर्य की गर्मी से उसका बहुत सा पानी भाफ बन कर उड़ता भीरहता है। जिस प्रकार कोई ऋणी (कर्जदार)मनुष्य पहले का कर्जा चुकाता है किन्तु लाचार होकर अपने खाने पीने के लिये नया कर्जा भी ले लेता है इस कारण वह कर्जे से नहीं छूट पाता इसी प्रकार संसारी जीव पहले कमाये कर्मों का फल भोगकर ज्यों ही उनसे छूटता त्योंही अपने भले बुरे कामोंसे और नयाकर्म कमा लेता है। इसी कर्मों की उधेड़ बुन के कारण जीव संसारमें हमेशा से (आदि समय से) अनेक योनियों में जन्मता मरता चला आ रहा है।

कर्मों में उलटन पलटन

कमाये हुये कर्मों में उलटन पलटन भी हुआ करती है। जिस तरह खाये हुये पदार्थ का असर हम बदल सकते हैं किसी आदमी ने भूल से या जान बूझ कर विष खालिया और उसके पीछे विष नाशक दवा खाली तो वह विष उस आदमी पर असर नहीं कर पावेगा या बहुत थोड़ा असर करेगा। इसी तरह किसी मनुष्य ने क्रोध में आकर किसी को मारा जिससे उसने असाता वेदनीय (दुखदायक) कर्म बांधा किन्तु उसके बाद उसे अपने किये पाप पर पश्चाताप हुआ उसने फिर परोपकार, दया, क्षमा, शांति आदिसे

ऐसा जबरदस्त साता वेदनीय (सुख दायक) कर्म बांधा कि जिसने पहले के दुख दायक कर्म को भी सुख बना दिया ।

इसी तरह बाँधे हुए कर्मोंके विपरीत (खिलाफ) काम करने से कर्मोंकी तासीर (प्रकृति) पलट जाती है। तथा उनकी मियाद (स्थिति) तथा शक्ति घट जाती है और बांधे हुए कर्मोंके अनुकूल (मुआफिक) कार्य करते रहनेसे बांधे हुए कर्मोंमें शक्ति अधिक हो जाती है। उनकी स्थिति (मियाद) भी अधिक लम्बी हो जाती है ।

कोई २ ऐसे वज्र कर्म भी बांध लिये जाते हैं जिनके बांधते समय घोर पाप रूप या पुण्यरूप मानसिक विचार वचन या शारीरिक क्रिया होती है कि उन कर्मोंमें ऐसी अचल शक्ति पड़ जाती है जिसको जरा भी हिलाया चलाया उलटा पलटा नहीं जा सकता । अतः वे अपना नियत (मुकर्रिर) फल देकर ही जीव का पीछा छोड़ते हैं। ऐसे कर्म "निकाचित" कहलाते हैं। कर्म की तासीर (प्रकृति) बदल जानेको "संक्रमण" तथा स्थिति अनु-भाग घट जानेको "अपकर्षण" और बढ़ जानेको "उत्कर्षण" कहते हैं ।

काल को भी कारण माना है

संचितानां पुनर्मध्यात् समाहृत्य कियत्किल, देहारम्भे च समये कालः प्रेरयतीव तत्"

देवि भागवत स्कंध ६-१०-६-१२

अर्थात्—संचित कर्मोंमें से जिस निर्दिष्ट अंशको भोगने के लिये नये जन्मसे पहिले काल प्रेरणा करता है, वही प्रारब्ध कर्म है। अतः पुराणकार भी कर्म फल देनेके लिए ईश्वरकी सत्ताकी आवश्यकता नहीं समझते ।

स्वामी दयानन्द जी और कर्मफल

सम्पूर्ण वैदिक साहित्यसे कर्म फल दाता ईश्वरकी सिद्धि जब न हो सकी तो स्वामीजीने कर्म फलके लिये कर्म और कर्म फल ईश्वर विषयक नवीन कल्पनाओंसे काम लिया। आप लिखते हैं कि "ईश्वर फल प्रदाता न हो तो पापके फल दुःखको जीव अपनी इच्छासे कभी न भोगे। जैसे चोर आदि चोरीका फल अपनी इच्छासे नहीं भोगते किन्तु राज व्यवस्थासे भोगते हैं। अन्यथा कर्म संकर हो जायेंगे अन्य कृत कर्म अन्यको भोगने पड़ेंगे।"

यहां स्वामीजीने कर्मोंका फल दुःख माना है और वह दुःख जीवोंको परमात्मा देता है। वाहरे परमात्मा ! तेने पेशा भी अपनाया तो बेचारे जीवोंको दुःख देनेका, आज तो कोई भला आदमी भी किसीको दुःख देना नहीं चाहता और आपका वह परमात्मा जीवोंको दुःख देना रूप कर्म करता है उसका फल भी देने वाला कोई नियुक्त करना चाहिये ताकि उसकी यह वृत्ति सीमित रह सके। क्योंकि इसने बंगाल, क्वेटा आदिमें लाखों जीवोंको दुःख देकर अपने इस अधिकारका दुरुपयोग किया है। आपने जो दृष्टान्त राज्य व्यवस्थाका दिया है वह जज (न्यायाधीश) अपने स्वार्थ (वेतन) के लिये काम करता है और राज्यने यह व्यवस्था इस लिए कर रक्खी है कि कहीं प्रांतमें अराजकता न फैल जाय जिससे दूसरे राजाको चढ़ाई करनेका अवसर मिल जाय और मैं बरबाद हो जाऊँ। प्रजा राजाको टैक्स भी इसी प्रबन्ध करनेका देती है।

तो क्या परमात्मा वेतन लेता है ? अथवा टैक्स लेने की व्यवस्था करता है। या अन्य राजाके चढ़ आनेसे ऐसा करता है। अगर जीव अपने आप दुख नहीं भोगना चाहता तो परमात्माका

इसमें क्या बिगड़ता है। वह क्यों इनको सुखी देख कर जलता है? अगर कहो कि संसारमें गड़बड़ फैल जावेगी तो, ईश्वरको इसकी चिन्ता क्यों है? यदि जीव दुःख नहीं भोगना चाहता—इसलिये परमात्मा फल देता है, तो पुण्य का फल सुख क्या परमात्माके बगैर दिये भोग लेता है। यदि ऐसा है तो आपका यह हेतु भागा सिद्ध हुआ। जीव दुःख तो भोगना नहीं चाहते, परन्तु दुःखको सुख समझ कर प्राप्त करनेकी इच्छा और प्रयत्न तो सारा संसार ही कर रहा है। हमने स्वयं ऐसे अनेक बीमारों को देखा है जिनको यह अच्छी तरह विदित थाकि अमुक स्वादिष्ट या गरिष्ट चीज खाने से हमें अत्यन्त दुःख भोगना होगा, परन्तु वे बार बार खाते थे और बार बार महान कष्ट भोगते थे। एक तपेदिक के बीमार को डाक्टरों ने—वैद्यों ने प्रारम्भ से ही मिर्च छोड़ने का आग्रह किया। परन्तु वह न छोड़ सका और अन्त में अनेक कठिन यातनायें भोगता हुआ, इस शरीर को छोड़ कर संसार से चल दिया। उपरोक्त घटनाएं इस बातका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं कि जहाँ जीव दुःख को सुख समझ कर भी उस को ग्रहण कर लेता है, वहाँ आदत से लाचार हो कर दुःख को दुःख समझ करभी उसको बार बार ग्रहण करता है; और अनेक प्रकार के महान कष्टों को सहन करता है, फिर आपका यह कहना कि जीव स्वयं दुःख भोगना नहीं चाहता, क्या अर्थ रखता है?

हम इन तमाम प्रश्नोंको न भी छेड़ें तो भी यह विचार हृदय में अवश्य उत्पन्न होता है कि ये दुख-सुख हैं क्या पदार्थ? ये द्रव्य हैं? या गुण हैं यदि द्रव्य हैं तो इनका गुण क्या है? यदि कहो गुण हैं तो फिर किसका गुण हैं? परमात्माका गुण तो आप मानते ही नहीं। प्रकृति जड़ है उस में सुख दुख के होने का प्रत्यक्ष प्रमाण विरोधी है। रह गया जीव तो क्या जीव का

सुख दुख है ? यदि ऐसा है तो परमात्मा देता क्या है ? क्योंकि सुख दुख उसका गुण होने से जीव के पास सदा रहेगा. क्योंकि गुण गुणी से पृथक् नहीं होता। इस प्रकार तर्क की कसौटी पर रगड़नेसे सुख दुख की कोई हस्ती सिद्ध नहीं होती। है भी वास्तव में यही बात, जीव ने सुख दुख की अपनी अज्ञानता से कल्पना कर रक्खी है। रह गया कर्मों के संकर होने का भय। सो तो कर्मफल के न समझ ने के कारण हुआ है। हम इसका विवेचन विस्तार पूर्वक पहले कर चुके हैं। यदि स्वामी जी समझ लेते तो इस प्रकार का भय नहीं रहता। इसके अलावा न्यायाधीश चोरी आदि के समय वहाँ उपस्थित नही रहता. यदि वह वहाँ उपस्थित हो तो वह गवाह बन सकेगा; जज नहीं। क्योंकि जज के लिये यह आवश्यक है कि कोई बात उसने पूर्व से निश्चित न करली हो! परन्तु आपका ईश्वर तो सर्वव्यापक होने से चोरी आदि के समय उस पापी को देखता रहता है। अतः उसे न्यायाधीश बनने का अधिकार नही है। दूसरी बात यह है कि जब परमात्मा वहाँ मौजूद है तो पापी को पाप करनेसे रोकता क्यों नहीं।! यह कहां का न्याय है कि पाप करते समय तो ईश्वर भी मजेमें आकर देखता रहे और फिर उस बेचारे को दण्ड आदि देने का स्वाँग भरे? यदि कहो कि ईश्वर उनके मन में शङ्का आदि उत्पन्न करके रोकने का प्रयत्न करता है। परन्तु वह फिर भी जबरदस्ती पाप करता है तो ऐसे निर्बल व्यक्ति को ईश्वर क्यों बनाया गया है, जिसके मना करनेपर एक जीव भी नहीं मानता। फिर वह मन में ही शङ्का आदि उत्पन्न करके क्यों रह गया, वह तो सम्पूर्ण शरीर में भी व्यापक था, उसने शरीर को क्यों न जकड़ करके रक्खा? यदि इसने ऐसा नहीं किया तो क्यों न इससे जबाब तलब किया जावे। फिर यह ईश्वर दुख देता भी क्यों है? यदि कहो जीवों की उन्नति के लिये ? तो क्या इसने

आजतक ऐसी कोई जाँच कमेटी बनाई, जिससे यह जाना जा सके कि इस व्यवस्था से उसने कितने जीवों की उन्नति की। यदि कोई जांच कमेटी नहीं बनाई तो ये कैसे जाना जा सके कि यह सब खुराफात जीव की भलाई के लिये है।

श्री स्वामी जी महाराज ने एक और युक्ति देनेका भी साहस किया है—सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास में ["मद (शराब) के नशे के समान कर्म स्वयं फल दे देते हैं ? " का उत्तर देते हुवे लिखा है कि जो ऐसा हो तो जैसे मद पान करने वाले को मद कम चढ़ता है और अनभ्यासी को बहुत चढ़ता है। वैसे बहुत पाप करने वाले को फल कम प्राप्त होगा और कभी कभी थोड़ा थोड़ा पाप पुण्य करने वालों को अधिक फल होना चाहिए !]

यहां पर स्वामी जी ने 'कर्म का फल स्वयं प्राप्त होजाता है' इस सिद्धान्त को तो स्वीकार कर लिया। रह गया प्रश्न न्यून और अधिकका, सो न्यून और अधिक तो सापेक्ष शब्द हैं। किसी दृष्टि से एक ही वस्तु छोटी है और किसी से बड़ी। इस लिये न्यूनाधिक की कोई विशेष बात नहीं है।

हम पहले लिख चुके हैं कि प्रत्येक कर्म के अनेक फल होते हैं अर्थात्—एक क्रिया की एक ही प्रतिक्रिया हो ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः कर्मरूपी क्रियाकी स्वगत परगत आदि अनेक प्रतिक्रियाएं होतीहैं जिनका विस्तारपूर्वक हम पहिले वर्णन कर चुकेहैं। अतः शराब पीनेका फल नशा ही नहींहै अपितु नशा भी एक फल है और भी अनेक फलहैं जैसे अब वह शराबके बिनारह नहींसकता उसके लिये वह चोरी करता है भीख मांगता है आदि अनेक पाप करता है। शराबी समझ कर कोई भला आदमी उसे अपने पास नहीं बैठने देता, कोई उसका विश्वास नहीं करता। अतः वह सच जुआ आदि व्यसनों में फंस जाता है। जुए में हार जाता है तो

चिन्तित रहता है। चोरी करता है पकड़ा जाता है मार खाता है जेल भोगता है। इस प्रकार से उसका सर्वनाश शराबने ही तो किया है।

जब उसने पहले पहल थोड़ी सी शराब पी थी तब तो उसे केवल नशा ही हुआ था परन्तु अब तो वह स्वयं नशारूप बन गया है आज तो इस शराबने उसको इस अवस्था में पहुंचा दिया है कि यदि इसके पास थोड़ी भी विवेक बुद्धि हो तो यह हजार आंखोंसे रोये और अपने किए पर पश्चात्ताप करे परन्तु हाय! इस शराबने आज इसकी उस बुद्धिको भी छीन लिया है जिससे यह न रो सकता है. न पश्चात्ताप कर सकता है. इससे अधिक सर्वनाशका और क्या उदाहरण हो सकता है। अतः इसको न्यून फल कहना भारी भूल है। यह तो नित्यप्रति भयानक रूप धारण करता जा रहा है।

मनुस्मृति और कर्मफल

मनुस्मृति अध्याय १२ में किस कर्मके अनुसार कौन कौन योनि मिलती है इसका संक्षेपसे वर्णन किया गया है वहाँ लिखा है कि जो गुण जिस जीवकी देहमें अधिकतासे होता है वह गुण उस जीवको अपने जैसा कर देता है। यदि शरीरमें तमो गुण अधिक है तो वह शरीरको तामसिक बना देता है। इसी प्रकार रजोगुण रजोगुणी और सतोगुण सात्विक। जैसा जीव तमोगुणी या रजोगुणी आदि बन जाता है वह आत्मा वैसा ही शरीरको प्राप्त कर लेता है अर्थात् तमोगुणी जीव तामसी योनियोंमें चला जाता है तमोगुणकी प्रधानताका चिन्ह लिखा है-"तमसो लक्षणं कामः।" अर्थात्—पुरुष यदि अधिक विषयी हो चोर जुआरी. डाकू हो तो समझना चाहिये कि इसमें तमोगुणकी प्रधानता

अधिक है। और जो धनका लोभी हो विषयवासनामें लिप्त हो तो राजसी (रजोगुण) के लक्षण समझना चाहिये "विषयोपसेवा चाजस्र राजसं गुणलक्षणं" "रजस्त्वयं उच्यते।" तमोगुणी और रजोगुणी जीव किन किन योनियोंको प्राप्त करता है, उसके बारेमें लिखा है।

हस्तिश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिता।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसी सूत्तमा गती॥"

अर्थात्—तामस स्वभाव वाले कछुआ, हाथी, घोड़ा, सांप, शूद्र, म्लेच्छ आदि तथा राक्षस, मांसाहारी, शराबी, डाकू, चोर आदि नीच योनियोंमें जाता है तथा "द्यूतपान प्रसक्ताश्च जघन्या राजसीगती।" अर्थात्—जुएमें रत तथा व्यभिचारी व शराबी आदि के कुलोंमें शराबी जाता है आदि आदि।

स्वामीजी ने भी सत्यार्थप्रकाश में इन प्रमाणों को उद्धृत किया है और स्वामीजीके कथनानुसार परमात्मा जीवोंकी भलाई लिये कर्मोंका फल देता है तो वह इन जीवोंको ऐसी जगह क्यों भेजता है जहाँ जाकर यह जीव अधिक बिगड़ता है। यथा—जो कामी था शराबी था मांसाहारी चोर डाकू था उसको सांप, कछुवा, सूअर, चांडाल आदि म्लेच्छ जंगली जाति राक्षस पिशाच आदि महापापी लोगोंके कुलमें क्यों उत्पन्न किया? क्योंकि वहाँ बजाय सुधरनेके और भयानक पाप करनेका आदी हो जाता है। उसके रिश्तेदार पड़ौसी सम्बन्धी जाति वाले सब इन पापोंके करनेमें सहायक होते हैं, उसको उत्साहित करते हैं। उस कुलमें जो ऐसा नहीं करता है उसको कायर, बुजदिल कुलकलंक आदि कह कर धिक्कारते हैं और उसे पाप करनेके लिये विवश करते हैं। बस, इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा जीवोंकी

भलाई के लिये फल नहीं देता अपितु उसको और गर्तमें गिराने के लिये ऐसा करता है। ऐसा करना परमात्मा के योग्य नहीं समझा जाता। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा कर्मोंका फल देने वाला नहीं है किन्तु कर्म अपने आप फल देते हैं।

आस्तिकवाद और कर्मफल

श्री पं० गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय एम० ए० ने आस्तिकवाद नामक एक गवेषणात्मक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है उसमें कर्म और कर्मफल पर भी विचार किया है। उस पर भी विचार करना आवश्यक है।

आपने कर्मका लक्षण करते हुए लिखा है कि कर्म उसको कहते हैं जिसमें कर्ता स्वतन्त्र हो अर्थात्—करना न करना कर्ताके आधीन हो। जो कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक इच्छासे किया जाय वह कर्म है। आप लिखते हैं कि हम स्वासादि लेते हैं वे क्रियायें तो हैं परंतु हम उनको इच्छापूर्वक नहीं करते इसलिये वे कर्म नहीं हैं।

स्थूल दृष्टिसे देखने पर तो यह कथन कुछ ठीक सा प्रतीत होता है परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उपरोक्त कथन में कुछ सार नजर नहीं आता। क्योंकि इस शरीर में जो भी क्रिया होती है वह जीव की इच्छा से ही होती है. विना जीव के किये इसमें कुछ भी क्रिया नहीं होती! यह दूसरी बात है कि वह इच्छा इतनी सूक्ष्म हो कि हम उसको साधारण बुद्धि से न जान सकें। यथा देखना सुनना आदि सब कर्म होते हैं इच्छापूर्वक परन्तु उनको स्वाभाविक समझा जाता है। आपने स्वयं जीवात्मा नामक पुस्तक के पृ० २३१ पर लिखा है कि "शरीर का प्रत्येक व्यापार पहिले तो शरीर विकास के लिए और अन्त में मानसिक या आत्मिक विकास के लिए है! इन सब में प्रयोजनवत्ता है प्रयोजन शून्य कुछ नहीं।"

बस जब शरीर की प्रत्येक क्रिया का कुछ प्रयोजन है तो श्वास प्रश्वास भी क्रियायें हैं। अतः इन का भी प्रयोजन है! प्रयोजनवती क्रिया ज्ञान पूर्वक होती है। ज्ञानपूर्वक क्रिया के लिये इच्छा का होना परमावश्यक है। अतः श्वासादि भी इच्छापूर्वक होने से कर्म हैं। इससे आपने जो कर्म का लक्षण किया है वह ठीक नहीं! जिस प्रकार आप कर्म के लक्षण में भूल कर गये हैं, उसी प्रकार कर्म फल के लक्षण में भी आप से भूल हुई! आपने लिखा है कि "जिस प्रयोजन से कर्म किया जाता है या जो कर्म का अन्त होता है उसको कर्म का फल नही कहते।" आपने 'आस्तिकवाद' पुस्तक बेचने के लिये, मंगलाप्रसाद पारितोषक पुरस्कार अथवा आस्तिकता का प्रचार करने के लिए लिखी! जब इन प्रयोजनों की पूर्ति हो गई तो क्या यह पुस्तक लिखनेरूपी कर्म का फल नही!

कर्म का अंत

आपने कर्म के अंत के विषय में परस्पर विरुद्ध बातें लिखी हैं! 'आस्तिकवाद' पृ० २९८ में लिखा है—चोरी करने का अन्त कभी धन की प्राप्ति तथा कभी पकड़ा जाना भी होता है, परन्तु हम इन दोनों को फल नहीं कह सकते। यहां पर आपने पकड़ा जाना या धन प्राप्ति चोरी रूपी कर्मका अन्त माना है, परन्तु आगे चल कर पृष्ट ३०८ पर लिखा है कि संस्कार कर्मका अन्त है। इन दोनों बातों में से कर्म का अन्त किस को माना जाय! सच बात तो यह है कि कर्म का फलप्रदाता ईश्वर को मानने में अनेक शंकाएं हैं जिनका समाधान आज तक वैदिक दर्शन नहीं कर सका है। इसी लिये इस मिथ्या कल्पना को सिद्ध करने के लिये नित्य नई कल्पनाएं घटती बढ़ती हैं।

यदि ये कल्पनाएं कुछ विचार पूर्वक की जावें तो कुछ फलप्रद हो सकती हैं परन्तु ऐसा न करके सर्वसाधारण को भ्रम में डालना ही इनका मुख्य उद्देश्य होता है। यही कारण है कि पण्डित जी को दस पृष्ठ पहिले लिखी अपनी ही बात स्मरण न रह सकी। क्योंकि उसी आस्तिकवाद के पृष्ठ ३०८ पर आप लिखते हैं कि "स्थूल शरीर से किये हुये कर्म का स्थूल शरीर में अन्त नहीं हो जाता। मैंने यदि आज एक मनुष्य को गाली दे दी तो यह स्थूल शरीर कर्म हुआ। मैंने समझा कि यह कर्म यहाँ समाप्त हो गया, परन्तु नहीं, यहाँ तो केवल आरम्भ हुआ है अन्त तब होगा जब कारण शरीर में इसका सार रूप बैठ जावेगा—बहुत से आदमी संस्कार को ही कर्मों का फल कहते हैं। गौण रूप से यह माना जा सकता है परन्तु वास्तविक रूप से यह ठीक नहीं।

यहाँ पर आपने संस्कारोंको कर्मोंका अन्त माना है और उन संस्कारों को आपने (गौण रूपसे) कर्मोंका फलभी स्वीकार किया है फिर नहीं मालूम आपने पृष्ठ ३११ पर यह कैसे लिख दिया कि "जैनी लोगों को भ्रम कर्म की मीमांसा न समझने के कारण होता है। वह संस्कारको ही फल समझ बैठे हैं। वस्तुतः यह कर्म का अन्त है—फल नहीं।" संस्कारोंको गौण रूप के कर्मोंका फल तो आपने स्वयं ही पृष्ठ ३०८ में स्वीकार किया है जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं। मालूम नहीं यह आपको किसने बहका दिया है कि जैनी लोग संस्कार को ही कर्म का फल मानते हैं। जैन धर्म के विषयमें इस तरह की मनघड़ंत बातें लिखना ही शायद आप लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है या जनतामें भ्रम फैलाना ही वैदिक धर्म का शायद आदर्श हो। जैन धर्मके विषयमें आप को एक गुरु बता देते हैं कि जब आप जैन धर्म के विषय में कुछ लिखे या विचार करें तब आप "ही" के स्थान में "भी" का प्रयोग

किया करें। ऐसा करने से जैनधर्म को समझने में बहुत सुविधाएं हो जावेंगी। यहां भी हम यही कह देना चाहते हैं कि जैनशास्त्र संस्कार को ही नहीं, अपितु संस्कार को भी कर्म का फल मानते हैं। अर्थात्—कर्म रूपी क्रिया की अनेक प्रतिक्रियाओं में से संस्कार भी एक प्रकारकी प्रतिक्रिया है। इसको आप भी स्वीकार करते हैं। रह गया कर्म का अन्त! इसके लिये हम इतना ही कहते हैं कि दुनिया में आज तक जितनी भाषाएं प्रचलित हुई हैं, उनमें से किसी में भी वस्तु के सार को वस्तु का अन्त नहीं माना है अगर आपको यह नई परिभाषा गढ़नी पड़ी हो तो इसे स्पष्ट करना चाहिये था। यदि अन्त से आपका अभिप्राय नाशसे है तो आप भारी भूल में हैं। ये संस्कार कर्मों का अन्त नहीं है, इसका ज्ञान तो आपको सत्यार्थप्रकाशसे ही होजाता! संस्कारोंकी महिमा के लिये स्वामी जी को "संस्कार-विधि" बनानी पड़ी। इन संस्कारों से ही आत्मा उन्नत होताहै और कुसंस्कारोंसे ही आत्मा अधोगति को चली जाती है। मनुस्मृति के अनुसार भी (जिसको स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के ९ वें समुल्लास में प्रमाण-रूप से उपस्थित किया है) ये संस्कार ही आत्मा को जन्मान्तर में नीच या ऊंच योनियों में ले जाते हैं। आपके कथनानुसार भी संस्कार वे ही कर्म हैं जो सार रूप से सूक्ष्म-शरीर में जा बैठते हैं, अतः संस्कारों को कर्म का अन्त कहना—कर्मफिलासफी से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

कर्म और उसका फल

जिस प्रकार आपने कर्म का अंत समझनेमें भूल की उसी प्रकार कर्म के फल के संबन्धमें भी भारी भूल की है। आस्तिक वाद के पृष्ठ २०८ में आप लिखते हैं कि "इष्टको सुरक्षित रखनेके लिये सुख और अनिष्टको खोने के लिए दुःख होता है यही कर्म

का फल है।" यहां आपने सुख और दुःखको कर्मका फल माना है परन्तु आगे १ पृष्ठबाद ही पृष्ठ ३०९ में आपने शरीर को कर्म फल माना है और उसमें न्याय दर्शन का प्रमाण भी दिया है यथा "पूर्वकृत फलानुबंधात् तदुत्पत्तिः" अर्थात्—पूर्व जन्ममें किये हुए कर्म के फलस्वरूप शरीरकी उत्पत्ति होती है। अर्थात् जो जन्म हमने इस समय पाया है वह पूर्व जन्म के संस्कारोंमें से इष्टकी रक्षा और अनिष्टके विनाश के लिए दिया जाता है। यहां आपने शरीरको कर्मका फल मान लिया और शरीर को पूर्व जन्मके संस्कारों में से दिया जाना माना। और संस्कारोंको आपने कर्म का सार मान लिया अतः स्पष्ट होगया कि कर्मोंमें से शरीर मिला, और आपके कथनानुसार शरीर हुआ कर्मोंका फल। तो कर्म से ही फलकी उत्पत्तिको आपने भी मान लिया। और "जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले" इस कहावतको चरितार्थ कर दिया। फिर नहीं मालूम आपने इस कर्म फलके दाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके मण्डन का क्यों साहस किया?

आगे चल कर आप इसको भी भूल गए, और लिख दिया कि "चोरीका फल कारागार है। वह दूसरेसे मिला है, चोरी में से फूट नहीं निकला है। चोरी उसका निमित्त कारण है। उपादान कारण नहीं, इसी प्रकार अध्यापक को जो वेतन मिलता है वह उसके पढ़ानेका फल है।"

यहाँ आपने वेतन और कारागारको फल बना दिया, आपने पहिले तो दुख दुखके लिये 'यही फल है" इसमें यही लगा कर सब का विरोध कर दिया, परन्तु फिर शरीरको फल मान लिया, और अब वेतन और कारागारको फल कहने लगे, अब आपके कथनानुसार किसको फल माना जावे? क्या आपके मतानुसार शरीर, कारागार, वेतन आदि ही सुख दुख है। यदि ऐसा है तब

तो आपको यह न कहना चाहिये यह मेरा शरीर है अपितु यह कहना चाहिये कि यह मेरा सुख दुःख है। परन्तु इस प्रकारका व्यवहार तो कहीं होता ही नहीं। अतः कारागारको भी यही कहना पड़ेगा कि यह दुःख है परन्तु हम देखते हैं कि बहुतसे व्यक्ति कारागारोंमें ही मस्त रहते हैं और बाहर आकर भी वहीं जानेकी कोशिश करते हैं अतः कारागार भी सुख दुःख नहीं है। इसी प्रकार वेतनका भी हाल है। अतः यह कहना चाहिये कर्मोंके अनेक फलोंमेंसे ये भी फल हैं न कि यही फल हैं।

अगर चोरीका फल कारागार ही है तो अनेक धूर्त आयु भर चोरी आदि करते हैं परन्तु कभी पकड़े नहीं जाते। संयोग वश कभी पकड़े भी गये तो रिश्वत आदि देकर अथवा गवाहोंके बिगड़नेसे और साक्षीके न मिलनेसे छूट जाते हैं तो उनको चोरी का फल कहां मिला और उन्होंने उम्र भर चोरी करके जो धन एकत्रित किया और आनन्द लूटा वह किसका फल है।

तथा च लाखों देश भक्त बिना ही चोरी किए जेलोंमें पड़े हैं यह सिद्ध कर रहा है कि कारागार मिल जाता है। इससे चोरी का फल कारागार सिद्ध न हो सका क्योंकि इसमें अव्याप्ति और अति व्याप्ति दोनों ही दोष मौजूद है।

इसी प्रकार वेतन को अध्यापनका फल कहने में भी अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि बहुतसे परोपकारी महानुभाव बिना वेतन लिए हुए पढ़ाते हैं तो क्या यह मानना होगा कि उन्हें पढ़ानेका कोई फल प्राप्त नहीं होगा ? क्योंकि आपके कथनानुसार तो उन्होंने वेतनरूपी फल लिया ही नहीं। और बहुतसे व्यक्ति वेतन तो लेते हैं परन्तु पढ़ाते हैं नहीं जैसे पेन्शनयाफ्ता कर्मचारी। वास्तवमें न तो वेतन फल है और न पढ़ाना फल है। यह तो एक दूसरे का आदान प्रदान है। एक व्यक्तिको हमारे समय

और हमारी विद्या की आवश्यकता थी और हमें रुपये की आव-श्यकता थी। हमने रुपया लेकर विद्या और समय दे दिया जिस प्रकार एक के पास गेहूं है और दूसरे के पास घी उन्हों ने आपस में आदान प्रदान कर लिया। दोनों का काम चल गया इस में फल घी है या गेहूँ? इसी प्रकार चोरी और कारागार में भी कर्म और फलका संबन्ध नहीं है। एक व्यक्ति साधारण प्रजामें रह कर अव्यवस्था उत्पन्न कर रहा था। जिसके ऊपर व्यवस्था की जिम्मे-दारी थी उस ने वहां से उस व्यक्ति को हटा कर एक पृथक् जगह रख दिया। जिस प्रकार कमरे में कोई १ वस्तु अड़चन पैदा कर रही हो तो मकान वाला उस को दूसरी जगह रख दे तो क्या इस को कर्म का फल कहा जायगा।

असल बात तो यह है कि कर्मों का फल प्रदाता ईश्वरको सिद्ध करने के लिये इस प्रकार का वाग्जाल रचा जाता है। आगे आप कर्म को फल का निमित्त कारण मानते हैं उपादान कारण नहीं। यदि फल का निमित्त कारण कर्म है तो ईश्वर क्या अन्यथा सिद्ध कारण है और यदि कर्म निमित्त कारण है तो फल का उपादान कारण क्या है यह आपने बताने का कष्ट क्यों नहीं किया। क्या इस लिए कि उससे आपका बनाया हुआ यह बालू का महल उस की हवा के थपेड़े से ढह जाता। और यह कहना कि इष्ट की रक्षा के लिए सुख और अनिष्ट को धोने के लिए दुःख दिया जाता है यह कहना भी निरी कल्पना मात्र है। क्यों कि इष्ट क्या और अनिष्ट क्या इसीका आज तक कोई निर्णय नही कर सका। इसी प्रकार सुख और दुःखकी भी समस्या है जिसे समझना असम्भव सा हो रहा है। एक व्यक्ति के लिए जो सुख है वही दूसरे के लिए दुःख प्रतीत हो रहा है। हम कहां तक कहें इस गवेषणात्मक सुंदर ग्रन्थ में यह "कर्म और फल" प्रकरण इसी प्रकारकी शास्त्र

तर्क, एवं विज्ञान विरुद्ध मिथ्या कल्पनाओं से सुशोभित है। हमें यह कदापि आशा न थी कि एक सुयोग्य विद्वान इस प्रकरण को लिखने में इस तरह असफल होगा। संस्कारों के विषय में आपने पैसों, रुपयों और नोटों का उदाहरण देकर हमारे इस कथन की पुष्टि कर दी है। क्यों कि वस्तुस्थिति इस के बिल्कुल विपरीत है। आप के जिस मनुष्य ने देवदत्त यज्ञदत्त सोमदत्त के यहां से चोरी की है कौन कहता है उस चोरी का, रुपयों का और जिन के यहां चोरी की है उनका प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर नहीं, अपितु स्थूल शरीर पर है? श्रीमान् जी प्रभाव तो आत्मा पर हुआ न सूक्ष्म शरीर पर और न स्थूल शरीर पर। क्योंकि सूक्ष्म शरीर का आत्मा से निकट का सम्बन्ध है अतः सूक्ष्म शरीर पर ही अधिक और स्थायी संस्कार जमते हैं उनके नाम क्या स्थूल शरीर याद रखता है? क्या उस स्थान को देखकर जहां आपके मनुष्य ने चोरीकी थी स्थूल शरीर को चोरी याद आ जाती है? क्या याद करना स्थूल शरीर का कार्य है? आज भी हम यहीं बैठे हुए उन सम्पूर्ण शहरों के सूक्ष्म चित्रों को आंख बन्द कर देख लेते हैं जिनमें हमने भ्रमण किया है तो क्या यह स्थूल शरीर देख रहा है? श्रीमान् जी आप तो एक बार चोरी का जिकर करते है। तथ्य तो यह है कि असंख्य जन्म जन्मान्तरोंमें जो इस जीवने कर्म किये हैं उन सब के चित्ररूप अलंकार स्वयं इसके सूक्ष्म शरीरमें विद्यमान हैं। इसी लिए भगवान कृष्णने गीता में कहा है "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तवचार्जुन? यान्यहं वेद सर्वाणि नत्वं वेत्थ परंतप?"

हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं परन्तु तू उन्हें नहीं जानता है मैं उन सबको जानता हूं। क्या भगवान कृष्ण ने यह दावा अपने इस स्थूल शरीर पर पड़े हुये संस्कारों

को देखकर किया था, नहीं वे सूक्ष्म शरीर पर पड़े हुये अपने योग द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से उन संस्कारों को प्रत्यक्ष देखते थे। बस यह सिद्ध हुआ कि संस्कार (भले बुरे) स्थूल शरीरपर न पड़कर सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं और उन्हीं सूक्ष्म शरीर पर पड़े हुये कुछ संस्कारों को लेकर स्थूल शरीर का निर्माण होता है। क्या आपने जो इतनी पुस्तकें लिखी हैं या इतना पढ़ा है क्या वह आपके स्थूल शरीर में विद्यमान है ? क्या आप स्थूल शरीर पर लिखे हुये को पढ़ कर स्मरण करते हैं। यदि ऐसा है तो आपको स्मरण करते समय आँख बन्द नहीं करना चाहिये। अतः सिद्ध हुआ कि आत्मा जो कुछ करता है उसे सूक्ष्म शरीर पर लिखता रहता है यही उसका बहीखाता है। जन्मान्तरों के सम्पूर्ण कर्मों को इस में लिख रहा है।

क्या ईश्वर कर्म फल दाता है

ईश्वरको कर्म फल दाता किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाता है प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से ? यदि कहो प्रत्यक्ष से तो यह असिद्ध है। क्यों कि ईश्वर को किसी भी व्यक्ति ने कर्म का फल देते हुये नहीं देखा अतः प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकता। रह गया अनुमान. अनुमानके लिये पक्ष सपक्ष और विपक्ष होना अत्यावश्यक है। क्योंकि बगैर इनके अनुमान बनता ही नहीं। आप के इस पक्ष में सपक्ष तो इस लिये नही है कि आज तक यह सिद्ध नही हो सका कि आपके ईश्वर के सिवाय कोई दूसरा ईश्वर कर्म फलदाता है। और विपक्ष इस लिये नहीं है कि ऐसा कोई स्थान आप सिद्ध नहीं कर सकते जहाँ ईश्वर कर्मका फल न देता हो और जीव कर्म का फल न भोगते हों। इस लिये अनुमानाभास है।

जिस पक्ष के साथ सपक्ष और विपक्ष न हो वह पक्ष झूंठा

होता है। जिस प्रकार —जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहां बन्हि होती है औरजहां जहां बन्हि नही होती वहां वहां धूम नहीं होता। इसी को अन्वय और व्यतिरेक भी कहतेहैं परन्तु आपके अनुमान में न अन्वय है और न व्यतिरेक. क्योंकि आप ऐसा कोई स्थान नहीं मानते जहां ईश्वर के बगैर दिये कर्म का फल न मिलता हो मगर आप ऐसा मानते हैं कि ईश्वर तो वहां है परन्तु कर्म फल नहीं देता जैसा कि वेद में कहा है—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि" अर्थात् परमात्मा के चार पाद हैं. एक पाद में जगत है और बाकी तीन पाद जगत से शून्य है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर न तो कर्म का फल देता है न सृष्टि रचता है इसी को उपनिषद्कारों ने नाम ब्रह्म कहा है ।

अतः ईश्वर कर्मफलप्रदाता है, यह अनुमान से सिद्ध नही हो सकता। यदि कहो शब्द प्रमाण है तो वह साध्यसमा हेत्वाभास होगा। क्योंकि अभी तक यही सिद्ध नहीं हो सका कि जिस को तुम शब्द प्रमाण मानते हो, वह प्रमाण कहलाने के लायक है भी या नहीं ? अतः किसी भी प्रमाण से ईश्वर कर्म फलदाता सिद्ध नहीं हुआ। और यदि हम इन तमाम प्रश्नों को न भी उठायें तो भी आप के पास इसका क्या उत्तर है कि आप के माने हुए जज आदिकी तरह शरीरी अल्पज्ञ और एक देशी कर्मफलदातासे भिन्न निराकार फलदाता होता है। क्योंकि हम अशरीरी सर्वज्ञ एवं सर्व-व्यापकको कर्मफल दाता नहीं देखते । अतः आपका माना हुआ सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा कर्मफलदाता सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि ईश्वर कर्म-फल देता है तो भी यह प्रश्न शेष रहता है कि ईश्वर कर्म फल क्यों और कैसे देता हैं।

१—क्या ईश्वर जीवों को आज्ञा देता है कि तूने अमुक २ कर्म किए हैं इस लिए तू अमुक २ योनियों में जाकर अपने कर्मों का फल भोग और वह जीव उन की आज्ञा मान कर अपने आप कर्मफल भोगने लगता है।

२—क्या ईश्वर ने सिपाही वगैरह का इन्तजाम कर रखा है जो जीवों को पकड़ २ कर ईश्वर के पास लाते हैं और ईश्वर उन दूतों द्वारा कर्मों का फल दिलवाता है जैसा कि अथर्ववेद काण्ड ४ में वरुण के दूतों का कथन है।

३—अथवा ईश्वर स्वयं जीवों को पकड़ २ कर अनेक शरीरों में ढकेलता रहता है और वहां सुख दुःख देता रहता है।

४—अथवा ईश्वर प्राकृतिक पदार्थों को आज्ञा देता है कि तुम अमुक २ जीवों को अमुक २ सुख दुःख देना।

५—क्या मानसिक सुख दुःख का देने वाला भी परमात्मा है? यदि हां तो क्या ईश्वर जीवों को चिन्ता, शोक, तृष्णा, लोभ, मोह आदि (जिन से कि मानसिक दुःख होता है) करने के लिए विवश करता है या जीव में इन गुणों को उत्पन्न कर देता है। यदि कहो ईश्वर मानसिक सुख दुःख का देने वाला नहीं तो मानसिक सुख दुःख देने वाला कौन है।

६—शारीरिक दुःख ईश्वर किस प्रकार देता है क्या ईश्वर जीव को अधिक खाने के लिये व खराब खाने के लिये बाध्य करता है। यदि कहो जीव स्वतन्त्रतापूर्वक खाता है तो क्या ईश्वर रोग के कीड़ों को वहां लाकर रख देता है या वहीं बैठा बैठा बनाता रहता है। यदि वह अधिक न खाय तो क्या ईश्वर कीड़े बनाने से महरूम रह जायगा।

—०—

ईश्वर असिद्ध है

वा० सम्पूर्णानन्द जी (शिक्षा मन्त्री यू० पी०)ने चिद्विलास में एक अधिकरण में ईश्वर विषयक विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं। ईश्वर मनुष्य का परिवर्द्धित और परिशोधित संस्करण है। उसमें वे सब सद्गुण है जो मनुष्य अपनेमें देखना चाहता है। इसी लिये प्रत्येक संस्कृति व प्रत्येक व्यक्ति के ईश्वर में थोड़ा २ भेद हैं। किसीके लिये कोई गुण मुख्यहै किसीके लिये गौण। जो एक एक की दृष्टि में सद्गुण हैं वह दूसरे की दृष्टि में दुर्गुण हो सकता है।" पृ० ११४

"ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है साध्य सम है सूर्य चन्द्रमा कर्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है? समुद्र और पहाड़ को बनाये जाते किसने देखा है? जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तब तक जगत का कोई कर्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता। जो लोग जगत को कर्तृक मानते हैं उनके सामने अपने व्यवहारकी वस्तुयें रहती हैं घर बनानेके लिके राजगीर घड़ेके लिये कुम्हार, गहने के लिये सुनार और घड़ी के लिये घड़ी साज चाहिये। ये सब कारीगर किसी प्रयोजन इन वस्तुओं को बनाते हैं, ईश्वर का क्या प्रयोजन था।" पृ १०४

पुनः इस जगत का उपादान क्या था। यदि उपादान अकर्तृक है तो जगत को अकर्तृक मानने में क्या आपत्ती है। यह कहना सन्तोष जनक नहीं है कि जगत ईश्वर की लीला है। निरुद्देश्य खेल ईश्वर के साथ अनमेल है। क्या वह एकाकी घबराता था जो इतना प्रपंच रचा गया? यह भी ईश्वरत्व कल्पनासे असङ्गतहै। यह कहने से भी काम नहीं चलता कि ईश्वर अप्रतर्क्य है। इच्छा किसी ज्ञातव्य के जानने की किसी आप्तव्यके पाने की होती है।

ईश्वरके लिये क्या अज्ञात और अप्राप्त था। और जब उसकी इच्छा ऐसी ही अकारण निस्प्रयोजन है तो अब उस पर कोई अंकुश तो लग नहीं गया है। वह किसी दिन भी सृष्टि का संहार कर सकता है। अंध विश्वास चाहे जो कहे परन्तु किसीकी बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती कि ऐसा होगा। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वरका स्वभाव ही अंकुश है और नियम वर्तित्व उसका स्वभाव है। जगत में जो कुछ होरहा है वह नियमोंके अनुसार हो रहा है। इन सब नियमों को समष्टि को ऋत कहते हैं। ऋत ईश्वर का स्वभाव है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि यह स्वभाव ईश्वर का सदा से है या जगत रचना के बाद हुआ।

यदि पीछे हुआ तो किसने यह दवाब डाला ? वह कौनसी शक्ति है जो ईश्वर से भी बलवती है ? यदि पहले से है तो जो इच्छा जगत का मूल थी वह ईश्वर के स्वभाव से अविरुद्ध रही होगी अर्थात् जगत को उत्पन्न करना ईश्वरका स्वभाव है परन्तु जहाँ स्वभाव होता है वहां पर्याय (परिवर्तन) रहते ही नहीं। ईश्वरकी सिसृक्षा उसके स्वभाव के अनुकूल होगी। पानी का स्वभाव नीचे की ओर को बहने का है, आग का स्वभाव गरमी है ईश्वर का स्वभाव जगत उत्पन्न करना है। न पानी नीचेको बहना छोड़ सकता है और न ईश्वर जगतको उत्पन्न करना। उस अवस्था में उसको जगत का कर्त्ता कहना उतना ही होगा जितना आग को जलनका कर्ता कहना। कर्तृत्व का व्यपदेश वहीं होसकता है जहां संकल्पकी स्वतन्त्रता हो, यह काम करूँ या न करूँ स्वभाव से इस प्रकारकी स्वतन्त्रता के लिये स्थान नहीं रहता। अतः ये सब तर्क ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध नहीं करते।" पृ० १०५-१०६

—o—

श्री जिन सेनाचार्य लिखते हैं कि—

"कृतार्थस्य विनिर्मित्या, कथमेवास्ययुज्यते ।
अकृतार्थोपिन सृष्टुं, विश्वमीष्टे कुलालवत् ॥"

अब यह कहो कि तुम्हारा सृष्टि कर्त्ता ईश्वर कृतार्थ है अथवा अकृतार्थ है ? यदि कृतार्थ हैं अर्थात् उसे कुछ करना बाकी नहीं रहा, चारों पुरुषार्थोंका साधन कर चुका है, तो उसका कर्त्ता पन कैसे बनेगा ? वह सृष्टि क्यों बनावेगा ? और यदि अकृतार्थ है अपूर्ण है, उसे कुछ करना बाकी है, तो कुम्भकार के समान वह भी सृष्टि को नहीं बना सकेगा। क्योंकि कुम्भकार भी तो अकृतार्थ है इसलिये जैसे उससे सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती है, उसी प्रकारसे अकृतार्थ ईश्वरसे भी नहीं हो सकता है ।

अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेषः जगत्सृजेत् ।
न सिसृक्षापि तस्यास्ति, विक्रिया रहितात्मनः ॥

यदि ईश्वर अमूर्त, निष्क्रिय और सर्वव्यापक है, ऐसा तुम मानते हो तो वह इस जगतको कैसे बना सकता है ? क्योंकि जो अमूर्त है, उससे मूर्तिक संसारकी रचना नहीं हो सकती है, जो क्रिया रहित है, सृष्टि रचना रूप क्रिया नहीं कर सकता है, और जो सबमें व्यापक है, वह जुदा हुए बिना अव्यापक हुए बिना सृष्टि नहीं बना सकता है ।

इसके सिवा ईश्वरको तुम विकार रहित कहते हो। और सृष्टि बनानेकी इच्छा होना एक प्रकारका विकार है—विभाव परिणति है, तो बतलाओ उस निर्विकार परमात्माके जगत बनानेकी विकार चेष्टा होना कैसे सम्भव हो सकती है ?

"कर्मापेक्षः शरीरादि, देहिनां घटयेद्यदि ।
नन्वेवमीश्वरो नस्यात्, पारतन्त्र्यात् कुविन्दवत् ॥"

यदि सृष्टि-कर्त्ता जीवोंके किये हुए पूर्व कर्मोंके अनुसार उनके शरीरादि बनाता है तो कर्मोंकी परतन्त्रताके कारण वह ईश्वर नहीं हो सकता है जैसे कि जुलाहा । अभिप्राय यह है कि जो स्वतन्त्र है समर्थ है उसीके लिये ईश्वर संज्ञा ठीक हो सकती है । परतन्त्रके लिये नहीं हो सकती जुलाहा यद्यपि कपड़े बनाता है, परन्तु परतन्त्र है, और असमर्थ है, इसलिये उसे ईश्वर नहीं कह सकते ।

ईश्वर के प्रति श्री सम्पूर्णानन्दजी के विचार

निर्धन के धन और निर्बल के बल कोई भगवान हैं ऐसा कहा जाता है । यदि है तो उनसे किसी बलवान या धनी को कोई आशंका नहीं है । वह उनके दरबारमें रिश्वत पहूंचानेकी युक्तियां जानता है । पर उनका नाम लेने से दुर्बल और निर्धनका क्रोध शान्त हो जाता है । जो हाथ बनाने वालोंके विरुद्ध उठते हैं, वह भगवानके सामने बँध जाते हैं । आंखोंकी क्रोधाग्नि आंसू बनकर छलक जाती है । वह कमर तोड़कर भगवानका आश्रय लेता है । इसका परिणाम कुछ भी नहीं होता । उसके आर्त हृदयसे उमड़ी हुई कम्पित स्वर लहरी आकाश मण्डल को चीर कर भगवानके सूने सिंहासनसे टकराती है । टकराती है, और ज्यों की त्यों लौटती है । कबीर साहबके शब्दोंमें 'वहां कुछ है नहीं' आज हजारों कुलवधुओंका सतीत्व बलात् लुट रहा है, हजारोंको पेटकी ज्वाला बुझानेके लिये अबलाका एकमात्र धन बेचना पड़ रहा है । लाखों बेकस, निरीह राजनीतिक और आर्थिक दमन और शोषण की

चक्की में पिस रहे हैं पर जो भगवान् कभी खम्भे फाड़कर निकला करते थे और कोसों तक चीर बढ़ाया करते थे, वह आज उस कलाको भूल गये, और अनन्त शयनका सुख भोग रहे हैं। फिर भी उनके कामकी लकड़ी दीन दुखियोंको थमाई जाती है। जो लोग ऐसा उपदेश देते हैं वह खूब जानते हैं कि अशान्तोंको काबू में रखनेका इससे अच्छा दूसरा उपाय नहीं है।

ईश्वरने विभिन्न मतानुयायियोंको विभिन्न उपदेश दे रखे हैं। जगज्जनक होकर भी बलि और कुरबानी से प्रसन्न होता है। एक ओर विश्वेश्वर बनता है, दूसरी ओर विधर्मियोंको और कभी-कभी स्वधर्मियोंको भी मार डालने तकका उपदेश देता है। एक ही अपराधके लिये अलग-अलग लोगों को दण्ड देता है, और एक ही सत्कर्म के पुरस्कार भी अलग अलग देता है। अपने भक्तोंके लिये कानूनकी पोथीको बैठनमें बन्द करके रख देता है।

प्रायः सभी सम्प्रदायों का यह विश्वास है कि उनको सीधे ईश्वर से आदेश मिला है, पर हिन्दू का ईश्वर एक बात कहता है। मुसलमानका दूसरी और ईसाईका तीसरी। इटलीकी सेनां अबीसीनिया पर आक्रमण करती है, और उभय पक्ष ईश्वर, ईसा और ईसा की माता से विजय की प्रार्थना करते हैं।

(समाजवाद पृष्ठ १५-१८, ११)

ईश्वर के विषय में महात्मा गान्धी का अभिप्राय-ईश्वर है भी और नहीं भी है। मूल अर्थ से ईश्वर नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान है। भक्ति का सच्चा अर्थ आत्मा का शोध ही है। आत्मा को जब अपनी पहिचान होती है, तब भक्ति नहीं रहती फिर वहां ज्ञान प्रगट होता है।

नरसी मेहता इत्यादिने ऐसी ही आत्माकी भक्ति की है। कृष्ण राम इत्यादिक अवतार थे, परन्तु हम भी अधिक पुण्य से वैसे हो

सकते हैं। जो आत्मा मोक्ष के प्रति पहुंचने के लगभग आ जाती है वही अवतार है। इनके विषय में उसी जन्म में सम्पूर्णता मानने की आवश्यकता नहीं।

(महात्मा गान्धी के मिति पत्र पृष्ठ ४७)

भगवद्गीताका अवतरण

कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म फल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ गीता ५-१४

जगत का प्रभु न कर्तापन रचता है, न कर्म रचता है, न कर्म और फलका मेल साधता है। प्रकृति ही सब करती है।

टिप्पणी—ईश्वर कर्ता नहीं है कर्म का नियम अटल और अनिवार्य है और जो जैसा करता है, उसको वैसा करना ही पड़ता है।

नादत्ते कस्यचित्पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ ५-१५

ईश्वर किसीके पाप या पुण्यको अपने ऊपर नहीं ओढ़ता है। अज्ञान द्वारा ज्ञान ढक जानेसे लोग मोहमें फंस जाते हैं।

टिप्पणी—अज्ञानसे "मैं करता हूँ" इस वृत्तिसे मनुष्य कर्म-बन्धन बाँधता है, फिर भी वह भले बुरे कर्मका आरोप ईश्वर पर करता है, यह मोह जाल है।

श्री मत् परमहंस सोऽहं स्वामीका अभिप्राय

जो वेदको ब्रह्मसे उत्पन्न मानता है, उसके लिये बाईबिल को ईश्वरके द्वारा निर्माण किया हुआ न मानना, अथवा जो लोग

बाईबिलको ईश्वरकी बनाई हुई मानते हैं। उनके लिये वेद का ब्रह्म से उत्पन्न न होना मानना युक्ति संगत नहीं है। 'जगत् के कर्त्ता ने विविध नामोंसे प्रकट होकर विभिन्न देशोंमें देश-काल और पात्रके भेदसे अलग अलग धर्मका उपदेश किया है, इस पर जो लोग विश्वास करते हैं, क्या वे विविध देशोंके सृष्टितत्व विषयक मतोंमें जो भेद पड़ गया है उसका निर्णय कर सकते हैं?
(भगवद्गीताकी समालोचना-अनु॰गोपालचन्द्र वेदांत शास्त्रीपृ॰१८)

सारांश यह है कि, इस जगतका कर्त्ता हर्त्ता कोई ईश्वर विशेष नहीं है। क्योंकि प्रथम तो जगतका कार्यत्व ही असिद्ध है, क्योंकि कार्यके लक्षण ही जगतमें नहीं घटते। यदि कार्यका लक्षण 'प्राग-भाव प्रतियोगित्वम्' ऐसा करें तब तो चाँद व सूर्य आदिका कभी अभाव था यह असिद्ध है इसलिए यह लक्षण उसमें नहीं घटता। तथा वेदने स्वयं इसका स्पष्ट शब्दोंमें विरोध किया है। जिनके प्रमाण हम पहले लिख चुके हैं। वर्तमान विज्ञानने भी यह सिद्ध कर दिया है—कि इनका न कभी अभाव था और न कभी अभाव होगा यह भी विज्ञान प्रकरण में हम लिख चुके हैं। इसी प्रकार मीमांसा दर्शनके भी हम उन प्रमाणोंको लिख चुके हैं। सृष्टि रचना तथा प्रलयका जिन प्रबल युक्तियोंसे खण्डन किया है। पाठक 'मीमांसा' प्रकरणमें देख सकते हैं। अतः यह लक्षण तो कार्यत्वका जगतमें घटता नहीं है।

श्री सम्पूर्णानन्दजी और ईश्वर

यह बहुत पुराना और व्यापक विश्वास है कि इस जगत का कोई कर्ता है, किसी ने बनाया है। देख ही पड़ता है कि बहुत सी बाधाओं के रहते हुये भी मनुष्य जी रहा है, पशु पक्षी जी रहे हैं, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पहाड़, समुद्र, सभी बने हुये हैं, अतः

जगत् का पालन भी हो रहा है। इस बात के मानने में लाघव होता है कि जो कर्त्ता है वही पालक है इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि वही एक दिन जगतका संहार भी करेगा। इस कर्त्ता-पाता-संहरताको ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द प्रमाणसे ही हो सकता है। जब तक सर्व सम्मत आप्त पुरुष निश्चित न हो जाय तब तक शब्द प्रमाणसे काम नहीं लिया जासकता। विभिन्न सम्प्रदायोंमें जो लोग आप्त माने गये हैं उनका ईश्वर के सम्बन्ध में ऐक्य मत नहीं है। जो लोग के अस्तित्व को स्वाकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द प्रमाणका सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। इसमें यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तुका कोई न कोई रचयिता होता है इसलिये जगत का भी कोई रचयिता होना चाहिये। इस अनुमान में कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तुका कर्त्ता होता है तो फिर वस्तु होने से ईश्वरका भी कर्ता होगा और उस का कोई दूसरा कर्ता, दूसरे का तीसरा। यह परम्परा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्क में अनवस्था दोष होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वर को कर्त्ता की अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा मानने में क्या आपत्ति है कि विश्व को कर्त्ता की अपेक्षा नहीं है? फिर ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है साध्यसम है। सूर्य चन्द्रमा कर्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है। समुद्र और पहाड़ को बनाये जाते किसने देखा? जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि प्रत्येक वस्तु का कर्त्ता होता है तब तक जगत का कोई कर्त्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

जो लोग जगत् को कर्तृक मानते हैं उनके सामने अपने

व्यवहार की वस्तुएं रहती हैं। घर बनाने के लिये राजगीर घड़े के लिये कुम्हार, गहने बनाने के लिये सोनार, घड़ीके लिये घड़ी साज चाहिये। यह राजीगर ईंट पत्थर मिट्टी सोना, पुर्जों से गृहादि का निर्माण करते हैं। कारीगर उपादन सामग्री को काम में लाता है। और निर्माण कार्य में लगनेमें कोई न कोई प्रयोजन होता है। वह प्रयोजन यदि हमको पहिले से भी न ज्ञात हो तो निर्मित वस्तु को देखने से समझ में आसकता है।

अब यदि गृहादिकी भांति जगत भी कर्तृक है तो उसकी उपादान सामग्री क्या थी और सृष्टि करनेमें ईश्वरका प्रयोजन क्या था। जगतमें जो कुछभीहै वह या तो जड़है या चेतन, अतः जो भी उपादान रहा होगा वह या तो दो प्रकारका रहा होगा या उभय आत्मक। दोनों ही अवस्थाओंमे यह प्रश्न उठता है कि वह जगत की उत्पत्तिसे पूर्व कहांसे आया। यदि उसका कोई कर्त्ता नहीं था तो जगतके लिए ही कर्त्ताकी कल्पना क्यों की जाये। यदि कर्त्ता था तो वह ईश्वरसे भिन्न था या अभिन्न। यदि भिन्न था तो ईश्वर की कल्पना क्यों की जाये। क्या जो व्यक्ति जड़ चेतनको उत्पन्न कर सकता था वह उनको मिलाकर जगत नहीं बना सकता था ? जड़ चेतनके बनने पर तो बिना किसी ईश्वरको माने भी जगतका विस्तार समझमें आ सकता है। यदि उपादान कर्त्ता ईश्वरसे भिन्न था अर्थात् ईश्वरने ही जड़ चेतनकी सृष्टिकी तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि असत्से सत्की उत्पत्ति हुई जो प्रत्यक्षके विरुद्ध होनेसे अनुमानसे भी बाधित है। यदि यह माना जाय कि ईश्वरने अपने सत् स्वरूपसे जड़ चेतनको उत्पन्न किया तो यह प्रश्न होगा कि उसने ऐसा क्यों किया ऐसा करने में प्रयोजन क्या था। यह नहीं कह सकते कि जीवोंकी भोगोपलब्धिके लिए ऐसा किया गया क्यों कि जीवोंको तो उसीने बनाया। न उनको बनाता न उनके लिए

भोगोंका प्रश्न उठता। जीवोंका मोक्ष भी उद्देश्य नहीं हो सकता क्योंकि जब जीव थे ही नहीं तो फिर उनका बन्धन कहां था जिस को तोड़नेके लिए जगत रचता। यह कहना भी सन्तोष जनक नहीं है कि जगत ईश्वरकी लीला है। निरुद्देश्य खेल ईश्वरके साथ अनमेल है। क्या वह एकाकी घबराता था जो इतना प्रपंच रचा गया। यह भी ईश्वरत्व कल्पनासे असंगत है। यह कहनेसे भी काम नहीं चलता कि ईश्वर की इच्छा अप्रतर्क्य है। इच्छा किसी ज्ञातव्य को जानने की किसी आप्तव्य के पाने की होती है। ईश्वर के लिये क्या अज्ञात और क्या अप्राप्त था। फिर जब उसकी इच्छा ऐसी ही है अकारण, निष्प्रयोजन, है तो अब उस पर कोई अंकुश तो लग नहीं गया है। वह किसी सृष्टि का संहार कर सकता है. आग को शीतल कर सकता है, कमल के वृन्दपर चन्द्र सूर्य उगा सकता है। अन्ध विश्वास चाहे सो कहे परन्तु किसी की बुद्धि यह स्वीकार नहीं करती कि ऐसा होगा। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर का स्वाभाव ही अंकुश है और नियम वर्तित्व उसका स्वभाव है। जगतमें जो कुछ होरहा है वह नियमानुसार हो रहा है। इन सब नियमोंकी समष्टि को ऋत कहते हैं। ऋत ईश्वर का स्वभाव है। इस पर प्रश्न उठता है कि यह स्वभाव ईश्वर का सदा से है या जगत की सृष्टि के पीछे हुआ। यदि पीछे हुआ तो किसने दबाव डाला। वह कौन सी शक्ति है जो ईश्वर से भी बलवती है। यदि पहले से है जो इच्छा जगतकी उत्पत्ति का मूल थी वह ईश्वर के स्वभाव से अविरुद्ध रही होगी। अर्थात् जगत् उत्पन्न करना स्वभाव है। परन्तु जहाँ स्वभाव होता है वहाँ पर्याय रहते ही नहीं। ईश्वरकी ससिसृक्षा उसके स्वभावके अनुकूल होगी। पानी का स्वभाव नीचेकी ओर बहना है, आगका स्वभाव गरमी है ईश्वरका स्वाभाव जगत उत्पन्न करना है। न पानी नीचे बहना छोड़ सकता

है । न ईश्वर जगतको उत्पन्न करना । ऐसी दशा में उसको जगत का कर्त्ता कहना उतना ही उचित होगा जितना पानीके नदी या आगको जलनका कर्ता कहना । कर्तृत्वका व्यपदेश वहीं हो सकता है जहाँ संकल्प की स्वतन्त्रता हो । यह काम करूं या न करूं, स्वभाव से इस प्रकार के स्वतन्त्रता के लिये स्थान नहीं रहता । अतः यह सब तर्क ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध नहीं करते।" आदि२

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने इसी प्रकार इस पुस्तक में तथा दर्शन और जीवन में ईश्वर की मान्यता का शतशः प्रबल युक्तियों द्वारा खंडन किया है । हम आगे तर्कवादमें उन युक्तियोंका खण्डन करेंगे जो कि ईश्वर पक्ष में दी जाती हैं । यहां तो वैदिक प्रमाणों की परीक्षा करनी है । अतः यह सिद्ध है कि 'नासदीय' सूक्त में आत्यन्तिक प्रलय का कथन श्री सम्पूर्णानन्द जी को स्वीकार नहीं है । तथा च न वे किसी ईश्वरको कर्त्ता मानते हैं । वे स्वतन्त्र विचारक होते हुये भी शङ्कर के अनुयायी प्रतीत होते हैं ।

पाश्चात्य-दर्शन

आजसे तीन हजार वर्ष पहले पश्चिम (यूनान, मिश्र आदि) में अनेक देववादका ही प्रचार था । उनके देवता भी वैदिक देवताओंकी तरह ही शक्तिशाली और सर्व दैविक गुणोंसे युक्त थे । गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक प्रो० प्राणनाथजीने नागरी प्रचारिणी पत्रिकामें वैदिक देवताओंका तथा ईरान, मिश्र आदि देशोंमें प्रचलित प्राचीन देवताओंका बहुत सुन्दर मिलान किया है । आपने स्पष्ट लिखा है कि—

"ऋग्वेदके ऋषिके सन्मुख, बाईबिलकी आदम हव्वा तथा सांपके सदृश कोई प्राचीन उत्पत्तिकी गाथा अवश्य ही रही होगी, कारण उसने बिना वस्त्रोंमें रहने वालोंकी तरह (वस्त्रापसेव),

साथ साथ रहने वाले (सध्रीचीना), यातेव इधर उधर फिरने वाले, बुद्धिका विस्तार करते थे (वितन्वाथे धियोः) यह लिखा ।"

सूर्य तथा चन्द्र, या शिव तथा शक्ति, या आदम तथा हव्वा को फलोंके द्वारा प्रकट करना बेबिलिनीया आदि प्रदेशोंमें एक प्रथा सी बन गई थी। वेद मन्त्रोंके रचयिता इस प्रथासे अनभिज्ञ न थे। बहुत संभव है वे स्वयं ही इस प्रथाके जन्मदाता रहे हो" यही नहीं अपितु आपने इस लेख मालामें, उन देशोंमें प्रचलित प्राचीन देव मूर्तियोंसे वेद मन्त्रोंमें वर्णित देव स्तुतियोंके चित्र देकर यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक तथा ये देवता एक ही हैं। वहां प्रचलित प्राचीन देवोंसे वैदिक देवताओंकी समानताका कथन आपने शब्दशः दिया है। इस विषयमें यह लेख बहुत ही उपयोगी गवेषणापूर्ण एवं तात्विक है। अभिप्राय यह है कि उस समय पश्चिममें बहुदेववादका साम्राज्य था। उसके पश्चात् अनुमानतः २५०० वर्ष पहले यूनानमें तीन दार्शनिक हुये—(१) थेलीज, (२) एनेक्समेण्डर (३) एनेक्समेनीज।

इन सबके सन्मुख एक मात्र प्रश्न यह था कि इस जगत्का मूल तत्व क्या है ? उस समय तक संसारमें ईश्वरका आविष्कार नहीं हुआ था, और न पश्चिममें आत्मज्ञानका ही उस समय तक उदय हुआ था। अतएव इनके मनमें ईश्वर या आत्माके लिये कोई प्रश्न ही न था। अतः थेलीजने तो निश्चय किया कि इस संसारका मूल तत्व जल है, कनेक्स मेण्डरके मतसे एक अनियत द्रव्य ही इस संसारका मूल कारण निश्चित हुआ तथा एनैक्समेनीजने वायुको ही संसारका मूल कारण बताया। ये सब सिद्धांत भारत में भी प्रचलित थे, जिनका वर्णन पहले हो चुका है। इसके पश्चात् हेरैक्लीटस—नामक एक दार्शनिकने कहा कि प्रत्येक क्षण प्रत्येक पदार्थमें परिणमन होता रहता है, अतः विश्वका मूलकारण

कोई परिणमनशील पदार्थ ही होना चाहिये। अतः इसने यह निश्चय किया कि वह परिणमनशील पदार्थ अग्नि ही हो सकता है। अतएव उसने अग्निको ही संसारका मूल कारण माना। यह दार्शनिक जगत्को नित्य भी मानता था।

पारमेनिडीज—इस दार्शनिक मत से संसार सत्स्वरूप है, न इसका आदि है और न अन्त। इसके मतसे जहां कालकी अपेक्षा जगत् नित्य है वहां देशकी अपेक्षा जगत अनन्त भी है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान या आकाश नहीं है जहां यह संसार न हो।

क्सेनोफेन—सर्व प्रथम यूनानमें क्सेनोफेनने ही देवतावादका विरोध किया, इसने कहा कि–लोग विश्वास करते हैं कि देवता भी उसी तरह अस्तित्वमें आये हैं जैसे कि हम! और देवताओंके पास भी इन्द्रियां, वाणी और काया है। उपर्युक्त दार्शनिकका कहना था कि यदि पशुओंके भी वाणी और कल्पना शक्ति होती तो वे भी देवताओंकी कल्पना करते। प्रत्येक पशुका अपना (अपने ही आकार का) देवता होता। जिस प्रकार मनुष्योंने अपने अपने वर्णानुसार अपने २ देवता बनाये हैं वैसे ही पशु भी बनाते। तात्पर्य यह कि यहांसे यूनानादिदेशोंमें देवतावादका ह्रास प्रारम्भ हुआ, और वहां दार्शनिक विचारों का प्रचार बढ़ता गया।

पिथागोरस—यह यूनान का महान् दार्शनिक माना जाता है। कहते हैं यह भारत में आया था, शायद यहाँ इस को उपनिषदों का उपदेश प्राप्त हुआ हो। इसी ने यूनानमें आत्मवाद का प्रचार किया, इसका कथन था कि अग्नि आदि जगत के पदार्थ नहीं हैं। तथा उनका परमाणु ही मूल तत्त्व हैं। यह आकृति को ही मूल माना था तथा आत्मा को और पुनर्जन्म को भी मानता था। जिस प्रकार भारत में शब्द ब्रह्मकी स्थापना हुई उसी प्रकार इसने

संख्या ब्रह्म की स्थापना की। यह शङ्कराचार्य की तरह अद्वैतवादी था। इसका सिद्धान्त था कि दस हजार वर्ष बाद सम्पूर्ण संसार जैसा पहले हुआ था फिर ऐसा होजाता है। इसी दस हजार वर्षों को लेकर यहाँ चार वर्षों की कल्पना की गई तथा चतुर्युगी के भी दस हजार वर्ष माने गये हैं। यथा—सतयुग के चार हजार, त्रेता के तीन, द्वापर के दो और कलियुग का एक हजार वर्ष।

देमोक्रितु—यह यूनान का सुप्रसिद्ध युगपरिवर्तक और एक महान् दार्शनिक आचार्य हुआ था। यह अनुमानतः ईसा से ४५० वर्ष पूर्व हुआ था। यह परमाणुवादी तथा द्वैतवादी था। इसके मत से भाव और अभाव दो पदार्थ हैं। भाव वह है जिससे शून्य भरा हुआ है तथा अभाव शून्य रूप है। भाव पदार्थ अनेक परमाणुओंसे बना है। इसका कहना था कि परमाणुओं में परस्पर आकर्षण होनेसे जगत बना है। तथा परमाणुओं के विभाग से जगत का नाश हो जाता है परमाणुओं में गुरुत्व होने के कारण अनादिकाल से वे आकाश में नीचे गिरते जाते हैं। जो हलके हैं धीरे धीरे गिरते हैं और जो भारी हैं वे शीघ्र नीचे गिरते हैं। अग्नि के चिकने और गोल परमाणुओं से मनुष्य की आत्मा बनी है। आत्माके ये परमाणु शरीर भरमें व्याप्त हैं। सांस बाहर निकलने से आत्मा के परमाणु बाहर निकल जाते हैं, परन्तु इसकी पूर्ति प्राण वायु द्वारा आग्नेय परमाणुओं को अन्दर लेने से हो जाती है। इन्द्रियों और पदार्थों से कुछ परमाणु निकलकर मार्गमें मिलते हैं। उसीसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। जिस आकार के परमाणु जिस इन्द्रियोंमें हैं उस इन्द्रियसे उसी प्रकारके आकार वाले पदार्थ का बोध होता है। यह भी जैन धर्म दर्शन की तरह मूल परमाणुओं को एक ही प्रकार के मानता है। अग्नि आदि सब एक ही प्रकार के परमाणुओं का विकार मात्र है। यही जैन

सिद्धांत है। इसके कुछ काल बादही यूनानमें एक अन्य दार्शनिक हुआ जिसका नाम इम्पीडो क्लेस था। उसका मत था कि परमाणुओंमें इच्छा और द्वेष भी है। राहुलजीका कहना है कि भारत में परमाणुवाद इन्हींसे आया परन्तु हम इस बातसे सहमत नहीं हैं क्योंकि भ० महावीर तथा उनके समय में ही कात्यायन भी परमाणुवादी था। तथा इनसे पूर्व भी चार्वाकके आचार्य भूतवादी थे ये सब पृथक् २ भूतोंके पृथक परमाणु मानतेथे। तथा वैशिषिक दर्शनकी भी आप नवीनता सिद्ध नहीं कर सकते हैं, अतः आपका यह मत केवल कल्पना मात्र है। तथा आपने भी इस कल्पना के लिये एक भी आधार उपस्थित नहीं किया है, अतः यह कल्पना बिल्कुल निराधार भी है।

ईश्वर

एनक्सागोरस—पश्चिममें सबसे पहला यह दार्शनिक है जिसने ईश्वर की कल्पना का आविष्कार किया था। इससे पूर्व यूरुप आदि के लोगों को ईश्वर के विषयमें कुछ भी ज्ञान न था। इसके मत से भी सृष्टि अनादि और अनन्त है। इस जगत के रचने के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं, परन्तु इस जगत में जो सौन्दर्य है, तथा नियम आदि हैं उनके लिये ईश्वर भी आवश्यक है। इस तरह ईसा से ५०० वर्ष पहले पश्चिम में मनुष्य की बुद्धि ने ईश्वर की रचना की।

महर्षि सुकरात और उसके बादके दार्शनिक

सुकरात जिसे यूरोपमें विज्ञानका पिता समझा जाता है, उसका मत आत्माके सम्बन्धमें इस प्रकार था:—सुकरातने शिमी

(SHAMMI) को उत्तर देते हुये कहाकि—" 1 मुझे विश्वास है कि मृत पुरुष भी एक प्रकारका जीवन रखते हैं जैसा कि पूर्वजोंने कहा है—वह जीवन पापिओंकी अपेक्षा सत्पुरुषोंके लिये श्रेष्ठ तर हैं।"

(२) " 2 जब तक हम यह शरीर रखते हैं और जब तक यह साधन शरीर हमारी आत्माओंसे सम्पर्क रखता है उस समय तक हम इच्छित उद्देश्यको कदापि न प्राप्त कर सकेंगे"

(३) "चित्तकी शुद्धता शरीरसे आत्माको पृथक करते हुए और पृथक करनेकी भावनाको दृढ़ करते हुए आयु बिताना ही है।

(४) " 3 शरीरसे पृथक होना और छूटना ही मृत्यु है"।

(५) सिबीने कहा—" 4 तब हम इस बातमें सहमत होगयेकि जिन्दें मुर्देसे और मुर्दे जिन्देसे पैदा होते हैं और इसी लिए इस बातमें भी हम सहमत हो गये कि यही यथेष्ट प्रमाण है कि मृत पुरुषोंकी आत्मा पहले कहीं अवश्य थी जहांसे वह फिर जन्म लेती है"।

(६) सुकरातने कहा—" 5 हां निसंदेह ऐसा ही है। हमने इस सिद्धान्तके स्थिर करनेमें भूल नहीं की है मनुष्य मरकर अवश्य पुनः जन्म लेते हैं और उन्हीं मुर्दोंसे जीवित पुरुष उत्पन्न होते हैं और मृत पुरुषोंकी आत्मा अमर है"।

(७) सुकरात—"तो आत्मा किससे सादृश्य रखता है ?"

---

1 Trial and death of socrated P. 115
2 " " " P. 120
3 " " " P. 122
4 " " " P. 130
5 " " " P. 131 and 132

सिबी—यह तो स्पष्ट ही है कि आत्मा दैवी और शरीर
मरणधर्म है।

सुकरात—"जो कुछ मैंने कहा क्या उसका परिणाम
यही निकला, कि जीवात्मा दैवी, नित्य, बोधगम्य, समान, अविनाशी और अजर है, जब कि शरीर विनाशी, जड़, बहुविध, परिवर्तन शील और छिन्न भिन्न होने वाला है ? सिबी ! क्या तुम इसके विरुद्ध और कोई तर्क रखते हो ? सिबीने कहा—नहीं।6

(८) फिर सिबी को उत्तर देते हुये सुकरात ने कहा, कि जीवात्मा जो अदृश्य है जो अपने सदृश शुद्ध निर्मल, अदृश्य लोक में पवित्र और ज्ञान मय ईश्वर के साथ रहने को जाता है जहां यदि भगवानकी इच्छा हुई तो मेरा आत्मा भी शीघ्र जायगा। क्या हम विश्वास करें कि जीवात्मा जो स्वभाव से ही ऐसा शुद्ध निर्मल और निराकार है वह हवाके झोंकों में उड़ जायगा ? और क्या शरीर से पृथक होते से ही छिन्न भिन्न हो जायगा। जैसा कि कहीं कहते हैं। ×

सुकरात ने यूनान के दर्शन का झुकाव बाहर (प्रकृति) की ओर से हटाकर भीतर (आत्मा) की ओर कर दिया। वह सदैव अपने शिष्योंको शिक्षा दिया करता था कि "अपने को जानो" और यह कि "आचार परम धर्म है।" आचार युक्त जीवन तप से प्राप्त होता है, तप इन्द्रिय संयम और दमको कहते हैं।

(जैन तीर्थंकरों का भी यही उपदेश था)

---

6 " " " P. 146 and 147

× Trail and Death of Socrates P. 148.

अफलातून (प्लेटो)—प्लेटो आत्मा के अमरत्वका उत्कृष्ट प्रचारक था। सुकरातकी मृत्यु के पश्चात् वह इटली चला गया था। इस यात्रामें उसे पिथागोरस के मन्तव्योंका ज्ञान हुआ, वह आदर्शवादसे भी प्रभावित था। और अपने शिष्योंको सिखलाया करता था कि मेज के ख्यालमें मेज से अधिक वास्तविकता है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "फेडो" (Phaedo) प्रश्नोतर रूपमें है। पुस्तक में उसने आत्मा के अमरत्व पर अच्छा विचार किया है। उसका कथन है कि जीवात्मा अभाव से उत्पन्न नहीं हो सकता, इस लिये उसकी पूर्वसत्ता होनी चाहिये, और वह भी अनादि-काल से। इसी विचारकी पुष्टि वह इस प्रकार करता है, कि केवल जीव ही उन आदर्शोंका विचारकर सकता है जो वस्तुओंकी सत्ता के कारण हैं, और जिनके द्वारा वस्तुओंकी उत्पत्ति हुआ करती है। परन्तु जीवोत्पत्तिके विचारको उसने कभी क्षणमात्रके लिये भी स्वीकार नहीं किया। वह सदैव उनकी निरन्तर सत्ताका उपदेष्टा और अभावसे भाव होनेका सर्वथा विरोधी रहा। उसका जीवन के संबंधमें यही विचार था कि शरीर से पृथक् होनेके बाद उसी प्रकार अन्तकाल तक बना रहता है, जिस प्रकार शरीरमें आनेसे पूर्व अनादिकाल से अपनी सत्ता रखता था. "आर्चाहिन्ड" (Archar Hind) जिसने "फेडों" का संस्करण प्रकाशित किया था उसकी भूमिका में उपर्युक्त विचारोंको प्रकाशित करते हुए यह भी लिखा है कि प्लेटोका विचार था कि बुद्धिमान विज्ञान वेत्ताओंको मृत्युसे भयभीत नहीं होना चाहिये।

प्लेटो (देखो रिपब्लिक का तृतीय भाग) अपने शिष्योंको परलोक संबंधी ऐसे विचारों से जिनका आर्फियसकी शिक्षासे संबन्ध है, बचानेका यत्न किया था। क्योंकि वह उन्हें निस्सार समझता था। सृष्टि संबंधी उसका विचार था कि "आदर्श सृष्टि

सत्य और सौन्दर्यसे भरपूर है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियोंके जगत्में इनका अभाव है।" वह धर्मके आदर्शको सर्वप्रधान बतलाते हुए उस आदर्शकी सत्ता ईश्वरको समझता था। वह समाजको बड़ी महत्ता देता था, और व्यक्ति के कुछ अधिकार नहीं समझता था, उसका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति समाजके लिये जीता है। अफलातूनको प्रकृतिका अनादित्व स्वीकार था।

अरस्तू—३८५—३२२ ई० पूर्व—जीवात्मा संबंधी अरस्तूके जो विचार हैं उनके तीन भाग हैं—

(१) एक भाग जीवनका वह है जो वनस्पतियों और पशु पक्षियों में भी पाया जाता है।

(२) दूसरा भाग इन्द्रिय ज्ञान का है, वह केवल पशु पक्षियों में पाया जाता है।

(३) तीसरा भाग बुद्धि का है जो केवल मनुष्यों को मिलता है मनुष्यों में आत्मा का भाग पितासे आता है।

इस प्रकार अरस्तू मानता है कि मनुष्य की आत्मा में एक भाग नाशवान है और दूसरा भाग अमर। वह भाग जो अमर है बुद्धि है, और वह बुद्धि (ज्ञान की शक्ति) कामनाओं से उच्च आसन रखती है। जीव और शरीर के सम्बन्धमें उसका विचार यह कि शरीर सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा आकृतिका प्रकृति, दृष्टि का चक्षुओं और असली का अप्रगट से है। जीवात्मा जो आकृति, रूप और शरीरका वास्तविक अंश है न तो स्वयं शरीर ही है और न बिना शरीर के विचार में आने योग्य है। डाक्टर गोम्पर्ज ने लिखा है कि 'पांचवी शताब्दी के अन्त में जीवात्मा सम्बन्धी अरस्तू के मन्तव्य एथेम में इस प्रकार समझे जाते थे कि बुद्धि पूर्वक नियम मनुष्य में जन्म से पहले अंकुरित होते हैं

और शरीरके नष्ट होनेपर जहाँसे आये थे वापिस चले जाते हैं।*

अपने गुरु प्लेटों का अनुकरण करते हुये अरस्तू लोगों को समझाया करता कि बुद्धिमान् को मृत्यु से भय भीत नही होना चाहिये किन्तु उसे अपनेको अमर समझकर कार्य करना चाहिये तभी सफलता प्राप्त कर सकता है।

ऐपी क्यूरस (Empicurus) इसकी शिक्षा का सार था कि मनुष्य को प्रसन्नता के साथ जीवन व्यतीत करना चहिये।" खाओ पीओ और खुश रहो।

३४२ के ईसा से पूर्व भौतिक विज्ञान मनुष्यको अन्ध विश्वास बचाने के लिये है, जगत् की अन्य वस्तुओं की तरह मनुष्य भी (सजीव) प्राकृतिक अणुओंका एक समुदाय है। अर्थात् प्रत्येक जीव सूक्ष्म प्राकृतिक परमाणुओंसे बना हुआ है और गिलाफरूप शरीर स्थूल अणुओंका संधानहै। शरीर और आत्मा दोनों मरण धर्मा है और एकसमय नष्ट होजावेंगे। उसका मन्तव्य था कि मूर्ख ही मृत्यु की खोज करते हैं परन्तु मृत्यु से डरना भी मूर्खता ही है मृत्यु आने पर शरीर अथवा जीव दोनों में से एक भी बाकी नहीं रहते।

"ऐपीक्यूरस" की शिक्षा यूरोपमें बहुत फैली और प्रकृतिवाद के विस्तार में उससे अच्छी सहायता मिली।

उसी शिक्षाके विस्तारका कारण यह भी कहा जाता है, कि "ल्यूक्रेटियस" (Lucrstious) एक प्रसिद्ध कवि ने उस की शिक्षाओंको छंदबद्ध करके अपनी पुस्तक "डिरोमनैचर" (De-Rerumnature) द्वारा विस्तृत किया था।

---

* Greeak thinker by Dr Gompery Vol. IV d English Translation P. 209

जैनो (Zsno)—ईसासे ३४० वर्ष पहले हुआ था, इसने "त्यागवाद" की स्थापनाकी। यह अद्वैतवादी था। इसका विचार था कि जीवात्मा प्राकृतिक है और शरीरके साथ ही उसका भो नाश होजाता है। प्रलय होने पर ईश्वरके सिवाय सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। जैनोंका त्यागवाद मुख्यतया आचारसे सम्बन्धित था। प्रो० सिजविक (Prof Henry Sedqwick)ने अपने प्रसिद्ध आचार संबन्धी *इतिहासकी पुस्तकमें त्यागवाद का जीवके अमरत्वसे क्या सम्बन्ध था यह प्रश्न उठाया है, और इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है उनके कथनका सार यह है। :—"त्याग वादमें जीवकी अमरताका विश्वास बहुत संदिग्ध था, परन्तु बिल्कुल रद्द भी नहीं किया गया था। (इस वादके) पुराने शिक्षकों के विषय में हमें बतलाया जाता है कि "क्लीनथीस" (Cleanthis) के मतानुसार शरीरके नष्ट हो जाने पर जीव बाकी रहताहै, और क्राईपिसस"(Cryseppus)कहता है कि जीव बाकी तो रहता है परन्तु केवल बुद्धिमानोंका अद्वैतवाद के प्रभाव से वह अन्तको उसके भी बाकी रहनेका निषेध करता है। इपिक्टेटस (Epictetus)—अमरत्वके विश्वासके सर्वथा विरुद्ध था। दूसरी ओर "सैनेका" (Senec) अपने कतिपय लेखोंके भी शरीर रूपी बन्दीग्रहसे जीव के मुक्त होने का विवरण प्लेटोकी भाँति देता है। परन्तु एक और स्थल पर परिवर्तन और नष्ट होने के मध्य में मार्कस ओरिलियस (Maruss Aurelins) की भाँति अपनी सम्मति देता है।

पिर हो (Pyrrho) इसके उपरान्त "पिर हो" के संशय वाद का यूनानमें प्रारम्भ होता है, परन्तु जीव सम्बन्ध विचार की दृष्टि से ग्रीक फिलासफी प्रायः यहीं समाप्त होती है।

---

* History of Ethieps By. H. Sidgwick P. 102

संशयके पश्चात् सन् २०० और ३०० ई० के मध्यमें एक प्रकार के अद्वैतवादका प्रारम्भ यूनानमें हुआ। जिसका आचार्य प्लाटीनस (Pilotinus)था। अद्वैतवादियोंकी तरह वह भी जीवको शरीर की भांति उत्पन्न सत्ता बतलाता था। इसकी शिक्षा थी कि केवल ब्रह्म ही सत्य पदार्थ है और वही जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, परन्तु जगदुत्पत्ति उसके हाथ नहीं किन्तु विकास का परिणाम है। वह पहले बुद्धि उत्पन्न करता है। बुद्धिसे जीव उत्पन्न होता है। इत्यादि सुकरात आदिके ये सिद्धान्त और विचार नारायण स्वामी जी ने अपनी "आत्मदर्शन" शीर्षक पुस्तकमें दिये हैं। इनमें सुकरात का आठवां उपदेश ईश्वर विषयक है, जो विशेष विचारणीय है। यह उपदेश जैन धर्म की प्रतिकृति ही है। जैनधर्म में भी आत्मा और परमात्माका यही रूप है। जिसका वर्णन सुकरात ने किया है। वैदिक धर्म की भी प्राचीन मान्यता यही थी। इसके अलावा सुकरात ने तप आदिसे आत्म शुद्धि का कथन भी जैनधर्मानुसार ही किया है। सुकरात ही पश्चिमीय विद्वान और दर्शन एवं धर्मका जन्मदाता समझा जाताहै। कारण यहहैकि इनसे पूर्व जो सिद्धान्त प्रचलित थे उनमें परस्पर विरोध देखकर जनतामें अविश्वाससा उत्पन्न हो गया था। तथा मनुष्योंके हृदयोंमें अनेक प्रकार की शंकाएं भी उत्पन्न होती थी। सुकरात ने उन दर्शनोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया। तथा प्रत्येककी शंकाका समाधान भी किया। अतः यूनान में तथा यूरोप में इसी के मतका प्रचार अधिक हुआ। अभिप्राय यह है कि सुकरातने पश्चिममें एक नया युग और नया दोर आरम्भ किया जो कि अब तक प्रबल वेगके साथ चलता रहा है।

—०—

यूरोपीय-दर्शन

यूरोपके प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूमने ईश्वरके विषयमें लिखा है कि "जब ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता तो उसके होनेका प्रमाण क्या है ? उसके गुण आदि। किन्तु ईश्वरके स्वभाव, गुण, आज्ञा और भविष्य योजना के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं है जिससे हम उनको जान सकें। कार्य कारण के अनुमान द्वारा हम ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते जब हम एक घरको देखते हैं तो निश्चित रूपसे यह समझ लेते हैंकि इसका कोई कारीगर बनाने वाला था क्योंकि हमने सदा मकान जाति के कार्यों को कारीगर जाति के कारणों द्वारा सम्पन्न होते देखा है। किन्तु विश्वजातिक कार्योंको ईश्वर जाति के कारणों द्वारा सम्पन्न होते हमने नहीं देखा, इस लिये यहाँ घर और कारीगरके दृष्टान्तसे ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकते। आखिर अनुमानको जिस जातिके कार्यको जिस जाति के कारणसे बनते देखा गया है, उसी जातिके भीतर रहना पड़ता है।

जगत पूर्ण नहीं अपूर्ण क्रूरता संघर्ष एवं विषमतासे भरा हुआ है। और यह भी तब जब कि ईश्वर को अनन्तकाल से अभ्यास करते हुए बेहतर जगत बनाने का अभ्यास हुआ था। ऐसे जगत का कारण ईश्वर लोक था कोई क्रूर अथवा संघर्ष प्रेमी ही होगा यूरोपके एक अन्य दार्शनिक ने ठीक ही कहा है कि ईश्वरको ठोंक पीट कर प्रत्येक दार्शनिक अपने मन के अनुकूल उसका निर्माण करना चाहता है। परन्तु प्रयोजन सबका एक ही है कि इस बेचारे को खतरे से बचाना।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भारतीय दर्शनकारोंमें मतभेद है उसी प्रकार पश्चिमीय देशोंके दार्शनिक भी किसी एक परिणाम पर नहीं पहुंचते। कोई ईश्वरको मानताहै कोई नहीं मानता। कोई चेतना अद्वैतवादीहै तो कोई जडाद्वैतवादी है। कोई ईश्वरको साकार

सगुण मानता है तो कोई भी निराकार और कोई निर्गुण मानता है। इसी प्रकार जगत को कोई अनादि मानता है तो कोई सादि मानता है। अर्थात् जितने विद्वान हैं उतने ही मत हैं। इनकी विभिन्नता ही इस कल्पना को निराधार सिद्ध कर रही है।

विज्ञान और ईश्वर

सन् १९३३ में पानीपत में जैनियों के साथ ईश्वर सृष्टि कर्त्ता पर एक बड़े पैमाने पर लिखित शास्त्रार्थ हुआ था। उस समय आर्यसमाज की तरफ से मैंने शास्त्रार्थ में भाग लिया था. उस समय मैंने एक आर्य विद्वान की पुस्तक में कुछ वैज्ञानिक प्रमाण उपस्थित कर दिए उनका जो उत्तर आया तब उन प्रमाणों के अर्थ की जांच की गई तो मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। और उन लेखकोंके प्रति एक प्रकारकी अरुचिसी उत्पन्न होगई। उसके उत्तर में जो कुछ लिखा गया सबसे प्रथम आपके सन्मुख में उसे ही उपस्थित करता हूँ। जैन समाज ने लिखा कि—आपने जो पहिला प्रमाण दिया है वही आप के सृष्टि कर्तृत्व वाद का पूर्णतया खण्डन करता है।

"And this conclusion is that there is no such thing as any primal creation any more than there can be any such thing as final destruction"

अर्थात्—उनका मन्तव्य है कि जगत्की न कोई आदि सृष्टि है और नाही कोई इसका कोई अंतिम प्रलय है, यानि जगत अनादि और अनन्त है।

इसे कहते हैं 'जादू वह है जो सर पर चढ़कर ले' महाशयजी, तुम्हारा क्या दोष तुम्हारा ईश्वर ही तुम्हारी कर्तावाद रूप भ्रान्ति का नाश कर रहा है।

आपने जो दूसरा प्रमाण (Charles Jhonston) का दिया है वह भी आपका उल्टा घातक है। वह तो जैनियोंके उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालको स्थापना करता है। जैसा कि दिन के पश्चात रात्रि आती है और रात्रिके पश्चात् फिर दिन इसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का चक्र अनादिकाल से अनन्तकाल तक चलता रहता है।

इसी प्रकार तीसरा प्रमाण देकर तो आपने कमाल ही कर दिया कौन नहीं जानता कि "कांट" विज्ञानवादी नहीं था। किन्तु वह तो एक अद्वैतवादी फिलोसफर था।

अब लीजिये आधुनिक विज्ञान जिससे आपके सृष्टि कर्तावाद का पूर्णतया खण्डन होता है। 1 Hackel अपनी किताब The riddle of the universe में पृष्ठ १६८ पर फरमाते हैं।

(2) The duration of the world is equally infinite and unbounded, it has no beginning and no end, it is no eternity (3) substance is everywhere and always in uninterrupted movement and transformation nowhere is there perfect repose and rigidity, yet the infinite quantity of matter and of eternally changing force remains constant.

अर्थात्—यह विश्व भी अनादि और अनन्त है, इसका न कोई आरम्भ है न अन्त यह सनातन है. जगत द्रव्यसे परिपूर्ण है जो सदा अन्तर रहित परिणमनशील है। जगतमें कहीं पर भी सर्वथा निष्क्रियपन अथवा कूटस्थता नहीं है पुद्गलकी अनन्त मिकदार और उसकी सदा परिणमनशील शक्ति सदैव एकसी रहती है।

2-- Modern Inorganic Chemistry में J. W. Mellor D. Sc. पृष्ठ ८४४ पर पुद्‌गल द्रव्यके संबन्धमें निम्न लिखित मन्तव्य प्रकट करते हैं—

"We have here the principal of opposing reactions and the radioactivity of normal radium in an equilibrium value because the rates of production and disintegration of the emanation are evenly balanced"

अर्थात् हम इस रेडियममें दो विभिन्न शक्तियोंको एक साथ काम करते हुए पाते हैं, साधारण रेडियो एक्टिविटी सदा एक सी रहती है चूंकि उसकी शक्तिकी छटाकी उत्पत्ति और चाल की रफ्तारें दोनों समान रहती हैं।

3- "The science for you" chapter 3 the Moon is our saviour.

४–यदि आपको अत्यन्त आधुनिक सृष्टि और प्रलयके सम्बन्धमें वैज्ञानिक तत्वको समझना है तो आप "Natur" 31st January 1931, Page 167 & 170 देखें, जिसमें प्रो० R. A. Millikam noble prize winner in Physics ने इस बात को सिद्ध करके दिखलाया है कि चूंकि अंतरिक्ष प्रदेशोंसे Cosmic Rays. (कॉस्मिकरेजी) पैदा हो कर सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि की निरन्तर ह्रास हुई शक्तियोंकी पूर्ति करती रहती हैं इसलिए विश्वके इतिहासमें कोई समय ऐसा सम्भव नहीं हो सकता जब कि विश्वका सर्वथा परमाणु रूप विनाश हो जाय।

अब रहा आपके जगत्‌की व्यवस्थाके सम्बन्धमें वैज्ञानिक मत सो भी देखियेः— Inorganic Chemistry J. W. Mellor D. Sc. Page 861 पर Mayers floating magnetsके परीक्षणसे सिद्ध करतेहैंकि पुद्‌गलस्कन्धोंकी व्यवस्था

मय आकृति, परमाणु और सन्निकट अन्य स्कन्धोंकी पारस्परिक-आकर्षण शक्ति से बन जाया करती है। यही तथ्य उन्होंने पृष्ठ १७६ १७७ पर Crystalisation का उल्लेख करते हुए सिद्ध किया है। और यह नित्य प्रति देखनेमें भी आता है कि हलवाईके सकोरोंमें पड़ी हुई मीठेकी चाशनी कुछ ही कालमें कैसे सुन्दर २ मिश्रीके रवोंकी आकृति धारण कर लेती है। महाशय जी ! जरा आप अपने आर्य समाजके प्रामाणिक ग्रन्थों में यह तो ढूंढने का प्रयत्न कीजिये कि जगत्के पैदा करने वालेने इसको किस दिन बनाना आरम्भ किया और कितने समयमें बनाकर समाप्त किया २ इसका भी पता लगाइये कि दुनियां कहांसे बननी आरम्भ हुई और किस स्थान पर जाकर समाप्त हुई। ३ यह भी फरमाइये कि कौन चीज कैसे किसके पश्चात् कितने समयमें किन किन साधनों से बनकर तैयार हुई ?

—०—

परमाणुवाद

प्राकृतिक अणुओं के सम्बन्ध में जो नई नई खोजें हुई हैं, उनसे प्रकट होता है कि परमाणु प्रकृतिका सबसे अधिक सूक्ष्मांश नहीं है, जैसा कि अब तक वैज्ञानिक समझते थे। वह विद्युत कणोंका समुदाय है। उनके भीतर एक केन्द्र होता है और विद्युत कण उसके चारों ओर उसी प्रकार नियम पूर्वक परिभ्रमण करते हैं, जिस प्रकार पृथिवी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। सर आलिवर लाज का कथन है कि सूर्य मण्डलके अत्यन्त सूक्ष्म रूप परमाणु हैं उसके भीतर समस्त कार्य उसी प्रकार होते हैं।

जिस प्रकार सूर्यमण्डल के अन्तर्गत। * नवीन खोजों में प्रकृति दो भागों में विभक्त हुई है—व्यक्त और अव्यक्त ! व्यक्त प्रकृति का सबसे सूक्ष्म अंश नियुक्त है †परंतु प्रो० बोटमली विद्युत्कणको भी आकाश (Ether) का परिणाम समझते हैं। * परन्तु इस आकाशके सम्बन्धमें वैज्ञानिकों को थोड़ा ज्ञान है। इस बात को खुले तौर से वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। ‡ कल तक जो द्रव्य भौतिक समझे जाते थे और जिनकी संख्या लगभग ८० के पहुंच चुकी थी। अब वह सब विद्युत्कण का समुदाय समझे जाने लगे हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि हाईड्रोजन के एक परमाणु का एक हजार वां भाग विद्युत्कण की मात्रा समझी जाती है। परन्तु अब विद्युत्कणवाद भी बदलता दिखलाई देता है। सर आलिवर लाज ने हाल ही में अपने व्याख्यान में कहा है कि अब तक समझा जाता था कि विद्युत्कण से प्रकाश उत्पन्न होता था परन्तु अब मालूम यह होता है कि प्रकाश से विद्युत्कण उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार अग्नि ही प्रकृति का आदिम मूल तत्त्व प्रतीत होता है। (Vide the times Educational Supplement quoted in the Vedic Magazine for October 1923.) इस प्रकार व्यक्त प्रकृति जिसको कपिलने (व्यक्ति "विकृति 'नाम दिया था प्रचलित विज्ञान में कतिपय श्रेणी में विभक्त है। सब से सूक्ष्म भाग आकाश (ईथर) है। आकाश से विद्युत्कण विद्युत्कण से परमाणु परमाणुसे अणु और अणुओंसे पंचभूतों की रचना होती है।

---

*Science and religion by Seven men of Science P.18.

† ,, ,, ,, ,, ,, ,, P. 76.

* ,, ,, ,, ,, ,, ,, 63.

‡Evolution of matter by Gustove de Bon.

गति

वैज्ञानिकोंने अणुओंकी गति वेगवती बतलाई है। प्रत्येक अणु एक या अधिक परमाणुओंका बना होता है, और प्रत्येक परमाणु बड़े भयंकर वेग से परिक्रमण करता रहता है। जहां पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा १८॥ मील प्रतिसेकेंड करती है वहां एक एक परमाणु अनेक सहस्र मील प्रति सेकंडके हिसाबसे प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इस तरह ब्रह्मांडके सूर्यसे विशाल काय पिण्डोंसे लेकर अणुवीक्षण यन्त्रसे भी अनावीक्ष्य परमाणुओं तक गति शील हैं। और गति भी अधिक भयानक और निरन्तर। परन्तु सूक्ष्म परमाणुओंकी गतिसे ही गतिशीलता पूर्ण नहीं हो जाती, प्रत्येक परमाणु अनेक विद्युत कणोंका बना हुआ है। विद्युत्कण दो प्रकारके हैं। ऋणाणु और धनाणु। धनाणुके चारों ओर ऋणाणु प्रायः एक सेकंडमें एक लाख अस्सी हजार मील तकके वेगसे परिक्रमण करते हैं। और धनाणु? धनाणु तो परमाणुका केन्द्र है, और वही तो अणु में धनाणुओंको लिये हुए उसी प्रकार चक्कर लगा रहा है जैसे गृहोपग्रहों को लिये हुए कृत्तिकाओं की प्रदक्षिणा सूर्य कर रहा है। ऋणाणुओंमेंसे अनेक टूट टूट कर परमाणु मण्डल तो दूर भी भागते जाते हैं। और दूसरे परमाणुओंसे मिल कर भी अपने तीव्र वेगका परित्याग नहीं करते। ये ऋणाणु ही जो छिटकते हुए चलते हैं धारारूपसे, सूर्यसे, अग्नि से या विद्युतसे आते हैं। यहां तक संसारके वैज्ञानिकोंका सिद्धान्त है। यह सब रामदासजी गौड़ M. A. कल्याणके शक्ति अंकमें है

परमाणुओं का संयोग

(१) परमाणुओंका संयोग सरल संख्यामें ही होता है जो आठसे अधिक कभी नहीं बढ़ती।

(२) मूल तत्वोंके विभिन्न परमाणुओंकी संयोग शक्ति निश्चित रहती है, इसी संयोग शक्तिके अनुसार वे परस्पर अपना संबंध स्थापित करते हैं। इस शक्तिकी मापका हिसाब वैज्ञानिकोंने इस प्रकार निकाला है।

हाईड्राजन, आक्सीजन, आक्सिजन के एक और हाइड्रोजन के दो परमाणु मिल कर जल बनता है।

क्लोरीन के एक परमाणु और सोडियम के एक परमाणु से नमक बनता है। प्रकृतिमें इन परमाणुओंका अस्तित्व एकाकी रूपसे नहीं रहता। कारण कि अकेलेमें उनकी संयोजन शक्ति परितृप्त नहीं रहती हां! रासायिनिक कियाओंमें वे अवश्य भाग लेते हैं, परन्तु उसके पश्चात् ही संयोग द्वारा वे अपनी संयोजन शक्तिको तृप्त करके स्थिर रूपमें आ जाते हैं। किसी मूलतत्व के परमाणुओंको जब तक किसी अधिक आकर्षक तत्वके परमाणुओके साथ अनुकूल दशाओंमें मिलनेका अवसर नहीं दिया जाता है तब तक वे आपसमें ही अनेक प्रकारसे सहजीवन व्यतीत करते हैं। जिन समूहोंमें किसी तत्वके परमाणु इसप्रकार साथ साथ रहते हैं उन्हींको उस तत्वके अणु कहते हैं। यह सम संयोग भी संयोजन शक्तिके अनुसार ही होता है।

सूर्य में गरमी

(सौर परिवार ले० गोरखप्रसाद D. Sc. (Edin) F.R R.S. Reader Allah. University)

आधुनिक विज्ञानने पता लगाया है कि शक्ति न तो उत्पन्न की जा सकती है और न इसका नाश ही किया जा सकता है। जब मिट्टी के तेल वाले एंजन से शक्ति पैदा की जाती है, तब शक्ति उत्पन्न नही होती केवल वह शक्ति जो मिट्टी के तेल में जड़ रूप से

छिपी रहती है एंजन से गति रूपमें प्रकट होती है। जितनी शक्ति इस विश्वमें हैं उतनी ही रहती है न घटतीहै न बढ़ती है। अब प्रश्न उठता है कि सूर्यमें इतनी शक्ति कहांसे आती है कि करोड़ों वर्षों लगातार आश्चर्यजनक गर्मी और प्रकाश एक अधिक मात्रामें भेज रहा है। यह तो प्रत्यक्ष है कि इसे शक्ति कहीं से बराबर मिला करती है क्योंकि यदि यह अपनी आदि शक्ति को ही व्यय किया करता तो २-३ हजार वर्ष से अधिक न चमक सकता। यह बात भौतिक विज्ञान के वाले ठण्डा होने वाले नियम से तुरंत सिद्ध की जासकती है। एक वैज्ञानिक ने इस सिद्धान्तका प्रचार करना चाहा था कि सूर्य उल्काओं के बराबर गिरने से गरम रहता है। इस सिद्धान्तको कोई भी नहीं मान सकता। क्योंकि ऐसी अवस्था में उल्काओं की मूसलाधार वर्षा होनी चाहिये परन्तु गणना करने से पता चला है कि यदि उल्काएं इतनी अधिक होती तो पृथिवी पर भी वर्तमानकी अपेक्षा करोड़ों गुणी अधिक उल्काएं गिरतीं। जर्मन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक "हेल्म होल्टस"ने सन् १८५४ में बताया कि सूर्य अपने ही आकर्षण के कारण दबा जारहा है। दबनेसे गरमी उत्पन्न होती है। सूर्य की तोल और नाप पर ध्यान रखते हुये इस बातको देखकर कि इससे कितनी गरमी आती है अनुमान किया गया है कि यदि इसका व्यास प्रति वर्ष २४० फुट घट जाय तो यह ठण्डा नहीं होने पावेगा। २४० फुट घटनेका अन्तर इतना कमहैकि बड़े से बड़े दुरबीन यन्त्र से भी सूर्य के व्यास का अन्तर १० हजार वर्ष से पहिले नहीं चल सकता। परन्तु तर्क से जान पड़ता है कि यह सिद्धांत भी ठीक नहीं है। क्योंकि हिसाब लगानेसे यह सिद्ध होता है कि ऐसी अवस्था में सूर्य और पृथिवी की आयु २-३ करोड़ वर्षकी माननी पड़ेगी परन्तु पृथिवी इससे बहुत पुरानी है यह सिद्ध हो चुका है। अतः जान पड़ता है कि सूर्य में गरमी

या तो पूर्ण रूप से किसी अन्य रीतिसे आती है या कम से कम इसका कुछ अंश किसी अन्य रीति से आता है ।

पृथ्वी

लावेल का विचार है कि समय पाकर पृथिवी भी मंगल की तरह समुद्र हीन हो जायगी। उधर मंगल धीरे धीरे चन्द्रमा की तरह निर्जीव हो जावेगा! पृथिवी भी इस दशा में पहुंच जावेगी परन्तु घवराने की बात नहीं है. इसमें प्रायः असंख्य वर्ष लगेंगे ।

पृ० ५६०

आधुनिक सिद्धान्त

इसके अतरिक्त वैज्ञानिकोंने पता लगाया हैकि जिन २ मौलिक पदार्थों को रसायन वेत्ता विल्कुल भिन्न समझते थे वे एक दूसरे में बदले जासकते हैं। इस प्रकार हाईड्रोजनका जब अन्य पदार्थों में रूपान्तर होजाता है तब बहुत सी गरमी निकलती है, होसकता है कि सूर्य में भी इसी प्रकार की गरमी उत्पन्न होती हो।

आइन्स्टाइन

सब से आश्चर्य जनक "आइक्टाइन" का प्रसिद्ध सापेक्षवाद है। सापेक्षवाद बतलाता है कि पदार्थ और शक्ति असल में एक ही है। एक सेर गरमी की बात करना वैसा ही न्याय संगत है जैसे एक लोहे की बात करना। परन्तु एक सेर गरमी सवा अरब मन पत्थर पिघला देगा। यदि सूर्य की गरमी इस सिद्धान्त के अनुसार पदार्थों के क्षय और इसके स्थान में शक्तिके प्रकट होने से आवे तो भी पिछले दस खरब वर्षों में सूर्य का केवल सेर पीछे आधी रत्ती भर भी नाश हुआ होगा। इसलिये शायद यह हजारों अरब वर्षोंसे चमकता आरहा है और हजारों शंख वर्ष तक चमकता रहेगा। सौर परिवार पृ० ७५२

पृथ्वी की आयु

यूरेनियम युक्त पत्थरों की आयु लगभग १३० करोड़ वर्ष निकलती है। पृथ्वी अवश्य इन पत्थरोंसे अधिक पुरानी होगी। सौर परिवार २५०

हैकल का द्रव्यवाद

हैकल ने अपने वाद के प्रकाश में कुछेक सिद्धान्त स्थिर किये हैं। वे ये हैं:—

(१) वह जगत नित्य और असीम है (२) जगत का द्रव्य (वही हेकल का एक द्रव्य) अपने दो गुणों—प्रकृति और गति शक्ति—के साथ नित्य है और अनादि काल से गति में है। (३) यह गति अखण्डशः क्रम के साथ असीम कालसे काम कर रही है। सामयिक परिवर्तन (जीवन, कण, विकास ह्रास) उनके द्वारा हुआ करते हैं। (४) समस्त प्राणी-अप्राणी जो विश्व में फैले हुए हैं सभी एक द्रव्यवादसे शासित और उसीके अधीन है। (५) हमारा सूर्य असंख्य नष्ट होने वाले पिण्डोंमेंसे एक है और हमारी पृथ्वी भी ऐसे ही छोटे-छोटे पिण्डों (नष्ट होने वालों) में से हैं, जो सूर्यके चारों ओर भ्रमण करते हैं। (६) हमारी पृथ्वी चिरकाल तक ठंडी होती रही थी तब उस पर जलका प्रादुर्भाव हुआ। (७) एक प्रकारके मूल जीवसे क्रमशः असंख्य योनियोंमें उत्पन्न होनेमें करोड़ों वर्ष लगे हैं। (८) इस जीवोत्पत्ति परम्परा के पिछले खेवे में जितने जीव उत्पन्न हुए. रीढ़ वाले प्राणी गुणोत्कर्ष द्वारा सबसे बढ़ गए। (९) इन रीढ़वाले प्राणियोंकोसब से प्रधान शाखा दूध पिलाने वाले जीव थलचरों और सरीसृपोंसे पैदा हुए। (१०) इन दूध पिलाने वाले जीवों में सबसे उन्नत और पूर्णता-प्राप्त पुरुष (Order of Primates) जो लगभग

३० लाख वर्षके हुए होंगे, कुछ जरायुज जंतुओंसे उत्पन्न हुए। (११) इनकी पुरुष शाखाका सबसे नया और पूर्ण कला मनुष्य है जो कई लाख वर्ष हुए कुछ वन मानुषोंसे निकला था। हैकलने इन नियमोंका वर्णन करते हुए रेमौंडको जगत्संबन्धी सात × प्रश्नों मेंसे तीनका हल अपने एक द्रव्यवादसे बतलाया है। वे सात प्रश्न ये थे—(१) द्रव्य और शक्तिका वास्तविक तत्व (२) गतिका मूल कारण (३) जीवनका मूल कारण (४) सृष्टिका इस कौशलके साथ क्रम विधान (५) संवेदना और चेतनाका मूल कारण। (६) विचार और इससे संवद्ध वाणीकी शक्ति (७) इच्छा का स्वातन्त्र्य। एक द्रव्यवादके उपर्युक्त ७ प्रश्नोंमेंसे ६ का हल उसने (हेकने) अपने एक द्रव्यसे बतलाते हुए ईश्वर और जीव की स्वतन्त्र सत्ताको इनकार किया है और चेतनाकी उत्पत्ति जड़ प्रकृति से संभव समझी है।

सारांश—उपरोक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि परमाणुओंमें स्वाभाविक गति है, अतः वे प्रति समय क्रिया शील रहते हैं। ऐसा होनेपर जगतके प्रलयका प्रश्न नहीं होता। क्योंकि प्रलयवादी प्रलय अवस्था में परमाणुको निष्क्रिय मानते हैं। इसी लिये तो परमाणुओंमें आद्य क्रिया देनेके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। परन्तु जब यह सिद्ध होगया कि परमाणुओंमें गति किसी अन्य द्वारा नहीं आती अपितु गति परमाणुका स्वाभाविक

× इमिलड्यू, वाइस, रेमौंड(Enil Du, Bois Raymond) १८६० ई० वारलिन में एक व्याख्यान दिया था उसी में इन ७ प्रश्नों को उठाया था। इनमें से उसने १, २, ५ को हल करनेके अयोग्य ठहराया था। शेषमें से ३, ४, ६ को समझाया था कि इनका हल होना संभव है पर अत्यन्त कठिनताके साथ ७ वें और अंतिम प्रश्नको भी हलके अयोग्य ठहराया था।

गुण है। ऐसी अवस्था में विज्ञान के भीतर ईश्वरवाद की गंध खोजना भ्रम मात्र है।

सृष्टिकी आयु

संसारके सबसे बड़े वैज्ञानिक "आइन्स्टाइन" ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह सूर्य असंख्य वर्षोंसे इसी रूपमें चला आ रहा है। तथा आगे भी असंख्य वर्षों तक इसी रूपमें वर्तमान रहेगा। हैकल जैसे वैज्ञानिक लोगों ने इसीलिये स्पष्ट शब्दोंमें इस संसारके नित्य होनेकी घोषणा की।

पंचभूत कल्पना

वर्तमान विज्ञानने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वैशेषिक आदिकी पंचभूत कल्पना मिथ्या कल्पना है। वास्तव में मूल तत्व एक ही है शेष सब उसके प्रकार हैं। इस विषयके वैज्ञानिक प्रमाण ऊपर दिये हैं। वास्तवमें वैदिक साहित्यमें भी पंचभूतोंकी कल्पना नहीं है।" सृष्टिवाद और ईश्वर" नामक पुस्तकमें वैज्ञानिक प्रमाण निम्न प्रकारसे दिये हैं—

तथा जैनशास्त्रानुसार भी मूल प्रकृति जिसे पुद्गल कहते हैं एक ही प्रकारकी है, अर्थात् अग्नि, जल, वायु, पृथिवी आदिके पृथक पृथक परमाणु नहीं है। अपितु ये सब एक ही मूल पदार्थ के विकार हैं। वैदिक दर्शनोंका भी पूर्व समयमें ऐसा ही सिद्धान्त था। वैदिक साहित्यमें प्रत्यक्ष ही इन महाभूतोंकी उत्पत्ति एक ही पदार्थसे लिखी है। हम इसका वर्णन क्रमशः करते हैं। गीता रहस्यमें विश्वकी रचना और संहार प्रकरणमें इस बातको भली भांति सिद्ध किया है कि यह "पंचीकरण" पांच भूतोंकी कल्पना प्राचीन शास्त्रोंमें नहीं है। अपितु वहां तो त्रिवृत्तकी कल्पना है

अर्थात् वहां तीन भूत ही माने गये हैं। (१) अग्नि (तेज) (२) आप (पानी) (३) अन्न अर्थात् पृथ्वी। छान्दोग्योपनिषद्में इसका स्पष्ट वर्णन है। छान्दो० (६।२।६)। इसी प्रकार वेदान्तसूत्र में भी पांच महाभूत नहीं माने अपितु यही माने हैं। गीता रहस्य पृ० १८६।

४ भूत

भारत वर्ष में एक चार्वाक मत था जो नास्तिक मत के नाम से प्रसिद्ध था। उसके आचार्य चार्वाक थे। वे दुर्योधन के सखा थे। उन्होंने चार ही भूतों को माना है, आकाश को नही माना। इसी प्रकार ग्रीक लोग भी चार ही भूत मानते हैं।

एक तत्व

वास्तवमें यदि देखा जाय तो वैदिक साहित्यमें एक तत्व मान्य है। तैतिरियोपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि, आत्मनः, आकाशः, सम्भूतः आकशाद्वायु। और वायु से अग्नि और अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न हुई है। (२। १) तथा च ऋग्वेद में हम देखते हैं कि इसके विषय में भिन्न २ मत दिये हैं। यथा—देवानां पूर्वे युगेऽसतः सदजायत। ऋ० १०। १२। ७।

अर्थात्—देवताओं से भी पूर्व असत् से सत् उत्पन्न हुआ। यहां असत्का अर्थ अव्यक्त किया जाता है। तथा च—एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋ० १। ११४। ५।

अर्थात्—एक मूल कारणको अनेक नामोंसे कल्पित किया गया है। तथा च लिखा है कि पहले "आप" (पानी) था। उससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई। इसी प्रकार कहीं आकाशको ही मूल तत्व लिखा है छान्दो० (१। ६) तथा च इन सब का खण्डन नासदीय सूक्तमें कर दिया है। यह सब सू० ऋ० १०।१२९। में है

इस प्रकार वैदिक साहित्य मूलभूत एक ही तत्व को मानता है उसके पश्चात् तीन तत्वों की कल्पना हुई। और फिर चार भूत माने जाने लगे। पुनः पांच तत्व का सिद्धान्त प्रचलित हो गया।

परन्तु आज भौतिक विज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि पांच प्रकार के पृथक् पृथक् परमाणु नहीं हैं। अपितु मूल परमाणु एक ही प्रकार के हैं। और अग्नि आदि सब एक ही वस्तु के विकार हैं वास्तव में सांख्य शास्त्र का भी यही सिद्धान्त था, वह इन पाच महाभूतों को मूल तत्व नहीं मानता था अपितु इनको उत्पन्न हुआ मानता था। ये सब एक ही के विकार हैं ऐसा उनका स्पष्ट मत था। हां प्रकृति को कपिलदेव अवश्य त्रिगुणात्मक मानते थे। परन्तु वे गुण भी मूल में नहीं थे, उसकी विकृति अवस्थामें थे क्योंकि मूल प्रकृति तो अव्यक्त है।

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृति वादिनः, तस्मात्महत्-समुत्पन्नं द्वितीयः राजसत्तमम्। अहंकारस्तुमहतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्, पंचभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः॥

शान्तिपर्व अ० ३०३

अर्थात्—सांख्यशास्त्रकार परा प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। तथा उस परा प्रकृति से महत् उत्पन्न हुआ, और महान से अहंकार पैदा हुआ तथा उससे पांच सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुये। यहां स्पष्ट ही एक मूल तत्व माना है। जिसका नाम यहां परा प्रकृति अथवा अव्यक्त है। उसके पश्चात् उससे महत् और महत् से अहंकार और उससे पांच सूक्ष्मभूल की उत्पत्ति बतलाई, अतः स्पष्ट है कि सांख्य में पांचभूत मूल तत्व नहीं है अपितु अव्यक्त (पुद्गल) का विकार है। जैन सिद्धान्त भी इनको विकार ही मानता है। इस विषय पर "विश्व विवेचन" नामक ग्रन्थमें विशेष प्रकाश डालेंगे। यहां तो संक्षेप से इतना लिखना था कि प्राचीन

भारतीय दर्शनकारों ने अलग २ पांच भूतों की कल्पना नहीं की थी। अपितु उनके मत में आत्मा और जड़, ये दो ही कारण इस सृष्टि के थे। जड़ के परमाणु वे पृथक २ जाति के नही मानते थे, अपितु मूल परमाणु एक ही प्रकार के माने जाते थे उन्हीं के संयोग से अग्नि, वायु, जल, पृथिवी आदि बनते थे। मूल पांच भूतों की कल्पना अवैदिक एवं नवीन और वर्तमान विज्ञान के विरुद्ध है। इस विषय में जैन सिद्धान्त ही सर्व श्रेष्ठ है। जब इन ईश्वर भक्तों ने जगत् रचने की कल्पना की तो एक झूठ को सिद्ध करने के लिये सैकड़ों अन्य झूठी कल्पनाएं भी इन्हें निर्माण करनी पड़ी। उनमेंसे एक युगोंकी कल्पना है जिसकी पोल हम पहले खोल चुकेहैं। दूसरी गप्प इनकी तिब्बतपर सृष्टि उत्पन्न करनेकी है। आज विज्ञानने यह सिद्धकर दियाहैकि यह हिमालय आदि जो कि सबसे ऊँचे पर्वत हैं, ये सबसे बादमें बने हैं। इनके स्थानमें समुद्र लहरारहा था। तथा आज जहां समुद्र हैं वहां किसी समय नगर बस रहेथे। इसी प्रकार संसारमें परिवर्तन होता रहता है, परन्तु मूलतः इन पृथिवी आदि का कभी नाश नहीं होता।

रेडियम

"यह पृथ्वी कितनी पुरानी है यह सिद्ध करने वाले वैज्ञानिकों ने रेडियम नामक पदार्थ की खोज की है। रेडियम युरेनियम नामक पदार्थसे निकलता है अर्थात् युरेनियम रेडियम रूपसे परिवर्तित होता है। एक चांवल भर रेडियम तीस लाख चांवल भर युरेनियमसे प्राप्त होता है। युरेनियम के एक परमाणुको रेडियम रूपमें परिणत होनेमें सात अरब पचास करोड़ वर्ष लगते हैं ऐसा वैज्ञानिकोंका मत है। इस रेडियमसे नासूर आदि रोगोंका नाश होता है। जो रोग बिजलीसे भी नष्ट नहीं होते वे रेडियमकी शक्ति से नष्ट होजाते हैं। यह रेडियम नामक धातु दुनियामें बहुत अल्प

प्रमाणमें प्राप्त हुई है। एक तोला भर रेडियम की कीमत तेईस लाख रुपया है। जब कि रेडियमके एक परमाणुके बननेके लिये तीस लाख गुने युरेनियमकी आवश्यकता होती है और उसे भी रेडियम रूपमें परिणत होनेके लिये सात अरब पचास करोड़ वर्ष चाहिये तब एक रत्ती भर या तोले भर रेडियम तय्यार होने में कितना युरेनियम चाहिये और उसे रेडियम रूप बननेमें कितने वर्ष लगने चाहिये। गंगाविज्ञान अंक प्रवाह ४ तरंग

लेखक—श्री अनन्त गोपल भिंगरन

आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद

पृथ्वीकी प्राचीनता के विषयमें सबसे अधिक आश्चर्य जनक बात आइन्स्टाइन के सापेक्षवादमें मिलती है। आइन्स्टाइन इनके सिद्धान्तने अर्थात् सापेक्षवादने वैज्ञानिक संसारमें खलबली मचा दी है। ई० सन् १६१६ में प्रायः सभी समाचार पत्रोंमें सापेक्षवाद की प्रमाणिकताके लेख छपाये जा रहे थे सापेक्षवाद कहता है कि 'पदार्थ और शक्ति वस्तुतः एक ही हैं। एक सेर गरमीकी बात करना एक सेर लोहेकी बात के बराबर है। एक सेर गरमीकी शक्ति सवा अरब मन पत्थरको पिघलानेमें समर्थ है।

कदाचित सूर्यकी गरमी इस सिद्धान्तके अनुसार पदार्थका क्षय करने और उसके स्थानमें शक्ति प्रकट करने में कम होती हो तो दस खर्ब वर्षोंमें एक सेर पीछे केवल आधी रत्ती भले ही एक कम हुई हो सेरमें आधी रत्ती कुछ महत्व नहीं रखती अतः सिद्ध हुआ कि वह सूर्य हजारों अरब वर्षोंसे चमकता आरहा है और हजारों शंख वर्ष पर्यन्त चमकता रहेगा। (सो. प. अ. ५ सारांश)

जैन दृष्टि से समन्वय

वैज्ञानिकों ने सूर्य और पृथ्वी के अस्तित्व का जो अनुमान रेडियम तथा पदार्थ और उसकी शक्ति की एकता के आधार पर

बांधा है वह निश्चित रूप से नहीं है किन्तु अन्दाजा है। उसमें रेडियम की बनावट से आज तक का काल निश्चित है किन्तु आगे पीछे का काल अज्ञात है।आईन्स्टारन का सापेक्ष वाद तो जैनों के नयवाद या स्याद्वाद से बहुत मिलता हुआ है। जैन द्रव्य गुण तथा पर्याय को भिन्न भिन्न मानते हैं। एक अपेक्षा से भिन्न है तो दूसरी अपेक्षा से अभिन्न है। आइन्स्टाइन का पदार्थ जैनों का द्रव्य है और शक्ति पर्याय है। आइन्स्टाइन के अन्दाज में अनिश्चित शर्त्त है कि यदि ऐसा हो तो ऐसा होगा किन्तु जैनों के सिद्धान्त में शर्त्त नहीं है। उसमें निश्चित बात है कि पर्यायों का चाहे कितना ही परिवर्तन हो किन्तु द्रव्य न तो परिवर्तित होता है और न घटता ही है। द्रव्यांश ध्रुव–स्थिर है। आइन्स्टाइनके कथनानुसार हजारों वर्षो में गरमी खतम हो जायगी। पदार्थ और शक्ति को एकान्त अभिन्न मानने पर यह हिसाव लागू होता है किन्तु अनेकान्त भेदाभेद पक्ष में लागू नहीं पड़ सकता। शक्ति चाहे कम ज्यादा होती हो किन्तु पदार्थ द्रव्य का नाश तो अनन्त काल में भी नहीं हो सकता। वस्तुतः गर्मी या शक्ति का जितना प्रमाणमें व्यय या नाश होगा उतनी ही आमदनी भी हो जायगी। क्योंकि लोक में गर्मी शक्ति के द्रव्य अनन्तानन्त हैं। द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। इस लिये जर्मन विद्वान हेल्म होल्टस को जो' शक्ति नई उत्पन्न नहीं होती और पुरानी नष्ट नहीं होती है, मान्यता है वह ठीक है और वह जैनों को अक्षरशः लागू पड़ती है। किं बहुना?

शक्ति का खजाना सूर्य

ईश्वर वादी कहते हैं कि ईश्वर जगत् उत्पन्न करता है और जीवों का पालन करता है, संहार भी ईश्वर ही करता है अर्थात् ईश्वर सर्व शक्तिमान् है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि इस पृथ्वी के सब जीवों को जीवनी-शक्ति देने वाला सूर्य ही है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि सूर्य की रश्मियों से ही रासायनिक परिवर्तन होता है जिसके जरिये से छोटे छोटे तृण से लेकर बड़े बड़े वृक्ष पर्यन्त सब वनस्पति हरी भरी रहती है। हरिण, शशक आदि पशुओं का जीवन भी इन्हीं उद्भिज्ज पदार्थों पर अवलम्बित है।

इसी सूर्य के प्रकाश से वाष्प बनता है और वर्षा होती है। वर्षा से कई उद्भिज्ज पदार्थों और चलते फिरते प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है. यह बात किसीसे छिपी नहीं है। दक्षिण ध्रुव और उत्तर ध्रुव की तरफ यात्रा करने वाले कहते हैं कि दोनों ध्रुवों पर प्राणी वनस्पति या वृक्षका नामोनिशान नहीं है। यह स्थान जीवन शून्य है। इसका कारण यह है कि वहां सूर्य का प्रकाश बहुत कम है। सूर्य की शक्ति के अभाव से वह प्रदेश प्राणी और वनस्पति से शून्य है। यहां ईश्वरवादियों से पूछना चाहिये कि ईश्वर तो सर्व व्यापक है—ध्रुव प्रदेश पर भी उसकी शक्ति रही हुई है वैसी अवस्था में वहां वृक्षादि की सृष्टि क्यों नहीं होती? इसका उत्तर उनके पास नहीं है. जब कि वैज्ञानिकों ने इसका खुलासा ऊपर कर दिया है।

सूर्यताप और विद्युत् धारा

अलग अलग दो धातु के सलीये सूर्यके ताप में इस प्रकार रक्खे जायें कि उनमें से एक जोडा गर्म हो और दूसरा ठण्डा रहे तो उस कक्षा में विद्युतधारा होने लगती है। इस धातु के योग को 'ताप विद्युतयुग्म' Tsermo-Couple कहा जाता है।

एक विशेष प्रकार का कांच जिसे एकीकरणताल (Lens Condensing) कहते हैं उसे सूर्यकी कक्षामें रखने से ताप इतना

बढ़ जाता है कि उससे कागज कपड़ा आदि वस्तु जल सकती हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर इंजन के बोयलर का पानी गर्म हो कर वाष्प रूप बनता है।

अभी बर्लिन के वैज्ञानिक डाक्टर ब्रूनोलेंगे ने अपनी प्रयोग शाला में एक ऐसे यन्त्र की रचना की है जिससे सूर्य ताप निरंतर विद्युतशक्ति में परिणत होता रहता है। इस यन्त्र की अंगभूत प्लेट्स यदि हजारों की तादाद में तय्यार कराकर उपभोग में कराई जायेगी तो उससे मील आदि कारखानों का कार्य भी चलाया जा सकेगा। यद्यपि जल प्रपात से भी विद्युत् प्रवाह उत्पन्न होता है किन्तु इसकी अपेक्षा सूर्य ताप से उत्पन्न होने वाले विद्युत्-प्रवाह की यह विशेषता है कि वह हर स्थान पर उत्पन्न हो सकता है। सूर्य प्रकाश हर स्थान पर मिल सकता है। विशेष करके भूमध्य रेखा के पास उष्णकटि बन्ध वाले देशों में विद्युत् शक्ति बहुत सस्ती पैदा की जा सकती है। यदि सूर्य से शक्ति ग्रहण करने का प्रयोग बहुतायत से किया गया तो कोयले, तेल, लकड़ी आदि की आवश्यकता बहुत कम रह जायगी। डोक्टर लेंग की प्लेट का उपयोग अन्य भी कई प्रकारों से होता है। जैसे जहाज या वायु-यान में इस यन्त्र के द्वारा भय की सूचना प्राप्त की जा सकती है। फोटोग्राफर की प्लेट पर लाल रंग की किरणें एकत्रित की जा सकती हैं।

गंगाविज्ञानाङ्क प्रवाह ४ तरंग।

लेखकः—श्री युत् रामगोपाल सक्सेना

सूर्य की गर्मी

सूर्य की गर्मी वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सब को जीवन प्रदान करती है। सूर्य की गर्मी से ही जमीन में पत्थर के कोयले बनते है। जिनसे एंजिन के जरिये मील आदि चलते हैं।

न्यूटन ने शोध की है कि सूर्य और पृथिवीमें आकर्षण शक्ति है। सूर्य पृथिवी को अपनी ओर खींचता है और पृथिवी सूर्य को अपनी ओर। किन्तु सूर्य का वजन पृथिवी से तीन लाख तीस हजार गुना अधिक है, उसमें आकर्षण शक्ति है जिससे वह खींची जाती हुई सूर्य में नहीं मिलती किन्तु समान अान्तरे पर सूर्य के आस पास घूमती है। पृथिवी की अकर्षण शक्ति की अपेक्षा सूर्य की आकर्षण शक्ति अट्ठाईस गुनी अधिक है अर्थात् जिस वस्तु का वजन पृथिवी पर एक सेर है उसी वस्तु का वजन सूर्य पर कर ने पर अट्ठाईस सेर होगा। जिस मनुष्य का पृथिवी पर डेढ़ या दो मन वजन होगा सूर्य पर उसी का वजन ४२ मन या ५६ मन होगा। मनुष्य अपने वजन से ही दब कर चूर चूर हो जायगा।

वातावरण और शरदी गर्मी

सूर्य की गरमी सदा समान रहती है तो भी सीयाले में ठण्ड और उन्हाले में गर्मी। किसी देश में शरदी अधिक और किसी में गर्मी अधिम मालूम पड़ती है। इसका कारण वायु मण्डल-है। पृथिवी के चारों ओर २०० मील तक वायु मण्डल-वातावरण है। इसमें किसी समय पानी वाष्प भाप अधिक होती है तो सूर्य की गरमी पृथिवी पर कम आती है और किसी वक्त वाष्प वर्षाके रूप में नीचे गिर जाती हैं तब शुष्क वातवरण से गर्मी अधिक बढ़ती है। किसी वक्त वातावरण से वर्फ गिरता है तब शरदी अधिक हो जाती है।

उष्ण कालमें किसी देशमें तापमान ११० से ११५ या १२० तक पहुंच जाता है तब बहुतसे पशु पक्षी मर जाते हैं। यदि तापमान इससे भी अधिक बढ़ जाय तो मनुष्य भी मर जाते हैं शरदी में शिमला जैसे प्रदेशों में ताप मान घटता ४५-५० डिग्री तक रह जाता है तब बहुत शरदी बढ़ जाती है। यदि ताप मान इससे भी

नीचे जाय तो मनुष्य, पशु, पक्षी आदि मर जाते हैं। ठण्डे देशमें जन्मे हुये मनुष्य अधिक गर्मी सहन न कर सकने से गर्म देश में नहीं रह सकते अथवा रहते हैं तो मर भी जाते हैं। इसी प्रकार गर्म देश में जन्मे हुये ठण्डे देश में अधिक शरदी सहन नहीं कर सकते। बीमार हो जाते और मर भी जाते हैं। यही बात पशु पक्षियों के लिये भी है। कहिये मनुष्य आदि प्राणियों को जिलाने या मारने की शक्ति ईश्वर में है या वातावरण और सूर्यमें। ईश्वर शरीर रहित और वजन रहित होने से उसमें गर्मी भी नहीं है और आकर्षण शक्ति भी नहीं है। यदि यह कहो कि सूर्य और वातावरण को ईश्वर ने ही बनाया है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो शक्ति गर्मी और आकर्षण स्वयं ईश्वर में नही है तो दूसरों को कैसे दे सकता है। यदि ईश्वरमें भी गर्मी और आकर्षण माने जांय तो वह सर्व व्यापक होनेसे सर्वत्र गर्मी या शरदी समान रूप से होनी चाहिये। मगर ऐसा नहीं है। यन्त्रादि के द्वारा जो ताप क्रम का माप किया जाता है उसका अन्वय व्यतिरेक नहीं होता अतः ईश्वरमें उसकी कारणता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। कारणता की यथार्थ खोज वैज्ञानिकोंने प्रत्यक्ष सिद्ध कर के दिखा दिया है। ईश्वर वादियों ने विचार शून्य कल्पना पर अन्ध श्रद्धा रख करके वाद विवादमें निरर्थक समय व्यतीत किया है। अस्तु। 'गतं न शोचामि' (सौ० प० अ० ५ सारांश)

जल और वायु की शक्ति

वायुसे कई स्थानों पर पवन चक्की चलती है। कूएका पानी ऊपर चढ़ाया जाता है। वाहन पर ध्वजा बांध कर हवाके जरिये इष्ट दिशाकी तरफ समुद्र में जहाज चलाया जा सकता है। जल प्रपातसे भी पवन चक्की चलती हैं। अमेरिका के सुप्रसिद्ध जल प्रपात से बिजली की बड़ी बड़ी मशीनें चलाई जाती हैं। नायगरा

के जल प्रपातमें अनुमानतः अस्सी लाख अश्व बलकी शक्ति है। प्रति घंटा बीस मील की चालसे चलने वाली सौ वर्ग फुटकी हवा में ५६० अश्व बलकी शक्ति रही हुई है। पांच दस अश्वबल के तैल इंजिन खरीदने या चलानेमें कितना खर्च होता है यह सब कोई जानते हैं। जब कि ऊपर बताई हुई ५६० अश्वबल वाली हवा और पानीमें शक्ति कहाँ से आती है? हवा कौन चलाता है? पानीको पहाड़ों पर कौन चढ़ाता है? उत्तर—सूर्य! सूर्य ही पृथिवीको गर्मी देता। गर्म पृथिवी पर हवा गर्म होती है। गर्मी से हवा पतली होकर ऊपर चढ़ती है और ऊपरकी नीचे आती है। इस प्रकार हलचल होने से हवा इधर उधर दौड़ती है और मुसाफिरी करती रहती है। सूर्य ही समुद्रके पानी को गर्म करके वाष्प रूप बनाता है। जब वाष्प, ऊपर वायु-मण्डलमें जाकर अमुक समयमें बरसता है तब पहाड़ों पर पानी चढ़ता है और पहाड़से उतर कर बड़े प्रपातमें गिरता है और नदी नालोंके रूपमें बहता हुआ समुद्रमें रेत, मिट्टी, कंकड़, पत्थर ले जाकर उसमें पहाड़ोंकी रचना करता है। जहां ३० से ३५ इंच पानी पड़ता है वहां प्रतिवर्ग मील पर पांच कड़ोर मन से अधिक पानी सूर्य बरसाता है। जिस हवाके विना प्राणी श्वासोच्छ्वास नहीं ले सकते और जिस जलका पान किये विना कोई भी प्राणी जीवन धारण नहीं कर सकता उस हवा और पानीको उत्पन्न करने वाला सूर्य है। सूर्य ही में ये सब शक्तियां हैं न कि ईश्वरमें।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

कोयलों में जलने की शक्ति

खान के पत्थर से जैसे जो कोयले निकलते हैं दर असल वे पत्थर या मिट्टी नहीं हैं किन्तु लकड़ी हैं। बहुत वर्ष पहले वृक्ष या बनस्पति मिट्टी के नीचे दब कर बहुत कालके दबाव से पत्थर जैसे

घनी भूत बन गये वृक्षावस्था में जलने की शक्ति उनको सूर्य से प्राप्त हुई थी। सूर्यकी रोशनी और गर्मी में वृक्ष कारबोन द्विओषिद से कारबोन हवा ग्रहण करते हैं। कारबोन द्विओषिद (Carbon dioxide) और कारबोनको अलग करनेमें शक्तिकी आवश्यकता है। वह शक्ति सूर्य के ताप से आती है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है। वृक्ष सूर्य के ताप से जितनी शक्ति खींचते हैं उतनी ही शक्ति (न रत्ती कम न रत्ती अधिक) जलने में लगाते हैं। घासलेट तेल और पेटरोल में भी यह नियम लागू पड़ता है। इस पर से ज्ञात हो जायगा कि कोयलों में जो शक्ति अभी हम देखते हैं वह शक्ति खान से निकलने के बाद प्राप्त नहीं हुई है किन्तु लाखों करोड़ों वर्ष पहले जब वे वृक्ष के रूप में थे तब से उनमें संचित हैं। उन पर हजारों फीट मिट्टी के स्तर जम जाने पर और पत्थर रूप बन जाने पर भी सूर्य की रश्मियों से प्राप्त की हुई शक्ति ज्यों की त्यों कायम रख सके। और हजारों लाखों या करोड़ों वर्ष बाद उस शक्ति को दूसरे कोयले के अवतार में प्रकट कर सके।

(सौ० प० अ० ५ सरांश)

सूर्य से कितनी शक्ति आती है

गर्मी नापने के यन्त्र से ज्ञात हुआ है कि वायु मण्डल की ऊपरी सतह पर जब खड़ी सीधी रश्मि गिरती है तब प्रति वर्गगज पीछे डेढ़ अश्वबलके बराबर शक्ति आती है। परन्तु वायु मण्डल के बीचमें थोड़ी गर्मी रुक जानेके कारण उत्तर भारत वर्ष के ताप में करीब दो वर्गगज पर सामान्यतया एक अश्वबल की शक्ति आती है। इस हिसाब से सारी पृथिवी पर लगभग २३०००००००००००००० तेईस नील अश्वबल जितनी शक्ति उतरती है। यह तो अपनी पृथ्वी की बात हुई। सूर्य का ताप तो अपनी पृथ्वी के बाहर भी चारों तरफ अन्य ग्रहों पर भी गिरता है। उन

सबका हिसाब करें तो ज्ञात होगा कि सूर्य की सतह से प्रति वर्ग इंच ५४ अश्वबल की शक्ति निकलती है । सूर्य के प्रत्येक वर्ग से सेण्टीमीटर से लगभग ५०००० मोमबत्ती की रोशनी निकला करती है । इस हिसाब से एक वर्ष में सूर्य से इतनी गर्मी निकलती है कि जो इग्यारह अंक पर तेईस शून्य लगाने पर जो संख्या होती है उतने मन पत्थर के कोयले जला सकती है ।

क्या सूर्य की गर्मी कम होती है ?

इस प्रकार सूर्य की गर्मी निकलती रही तो कालान्तर में अवश्य घट जायगी । वैज्ञानिक कहते हैंकि नहीं घटेगी । एकसवा तीन हजार वर्ष पुराने वृक्षके पीछेके भागका फोटो लिया गया था उसकी छाल पर से वर्षों की गिनती की गई । एक वर्षमें एक छाल नई आती है । वैसी छालें गिनने पर बत्तीस सौ वर्ष का उस वृक्ष का आयुष्मान माना गया । वृक्षकी वृद्धि जितनी आज कल होती है, उतनी ही वृद्धि सवा तीन हजार वर्ष पूर्व भी हुई मालूम पड़ती है । इस पर से निश्चय होता है कि सवा तीन हजार वर्षों में जब गर्मी पड़ने में कुछ घटती नहीं हुई तो भविष्य में भी नहीं होगी । (सौ प० अ० ५ सारांश)

वायु मण्डल का प्रभाव

पहाड़ सूर्य के समीप में है और पृथ्वी उससे दूर में है अतः पहाड़ों पर गर्मी अधिक गिरनी चाहिये और पृथ्वी पर कम पड़नी चाहिये । किन्तु होता है ठीक इनके विपरीत । पृथ्वी पर गर्मी अधिक पड़ती है । और पहाड़ों पर ठंडक रहती है । आबू और शिमला के पहाड़ों पर वैशाख मास में भी गरमी न मालूम देकर सरदी मालूम पड़ती है , इसका क्या कारण है ? उत्तर—वायु मण्डल में हवा का हलन चलन । गर्म प्रदेश की हवा ठंडी होती है और वहां से चल कर ठंडे प्रदेशमें आती है, वहाँ रुक जाती है ।

अर्थात् गर्म प्रदेश ठंडा हो जाता है। दूसरी बात यह है कि पृथ्वी दिनमें गर्म होती जाती है और रात्रिमें वह गर्मी वायु मंडलमें रही हुई वाष्प या बादल आदिसे रुक जाती है अर्थात् आय बढ़ती और व्यय कम होता है। इस प्रकार गर्मी बढ़ते २ वर्षा होती है तब गर्मी के जाने का मार्ग खुला हो जाने से आय की अपेक्षा व्यय बढ़ जाता है और वातावरण में शैत्य फैल जाता है। पहाड़ों पर गर्मी कमपड़ती है और ठंडक अधिक रहती है। ऊपरकी हवा स्वच्छ और हलकी विशेष है अतः गर्मी की आय की अपेक्षा व्यय बढ़ जाने से ठंड विशेष प्रमाण में रहती है।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

सूर्य में गर्मी कहाँ से आती है?

आधुनिक विज्ञानसे सिद्ध हुआ है कि शक्ति नई उत्पन्न नहीं होती है और न विनष्ट होती है। जब घासलेट तेल के इंजन से शक्ति पैदा की जाती है तब वह शक्ति नई पैदा नहीं होती किन्तु जो शक्ति घासलेट तेल में जड़ रूप से छिपी हुई थी वही इंजिन की गति के रूप में प्रकट हुई। जब इंजिनसे कुछ काम नहीं लिया जाता तब वह शक्ति नष्ट नहीं होती, उस वक्त तैल भी खर्च नहीं होता। जितना तैल खर्च होता है उतने ही प्रमाणमें कल पुर्जोंकी रगड़ और फटफट शब्द करने में शक्ति का व्यय होता है। इतने पर भी रगड़ से शक्ति का नाश नहीं होता है किन्तु रगड़ से पुर्जे में गर्मी उत्पन्न होती है। गर्मी शक्ति का ही एक रूप है। कितनी ही शक्ति हवामें चली जाती है।

यहाँ प्रश्न होता है कि सूर्य से प्रतिदिन सारी रोशनी गर्मी या शक्ति बहार निकल जाती है। तो दो तीन हजार वर्षों में वह शक्ति सारी समाप्त हो जानी चाहिये और सूर्य की चमक घट जानी चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता है। सूर्य हजारों, लाखों, करोड़ों

वर्ष पहले जैसा चमकता था वैसा आज भी चमकता है और पूर्व जितनी ही शक्ति का व्यय भी चालू है। तो उस शक्ति का पूरक कौन है? ईश्वर तो नहीं है? सूर्य की अपेक्षा कोई अधिक शक्तिशाली होना चाहिये जिसके जरिये सूर्य को शक्ति प्राप्त हो सके। ईश्वर के बिना अन्य कौन हो सकता है? ई० सन् १८८४ में जर्मन वैज्ञानिक हेल्महोल्टसने बताया है कि सूर्य अपने आकर्षण से ही दब रहा है। दबावसे गर्मी उत्पन्न होती है। उदाहरण रूपसे जब साईकिलमें हवा भरी जाती है। तब पम्प गर्म होजाता है। गर्म होने का एक कारण रगड़ भी है। पम्प के अन्दर हवाको बार २ दबानेसे भीगर्मी उत्पन्न होती है इसी प्रकार सूर्यमें भी आकर्षण शक्ति का केन्द्रकी तरफ दबाव है। जिससे आकर्षण शक्ति गर्मी रूप से प्रकट होती जाती है और प्रकाश रोशनी या गर्मी ऊपर बताये प्रमाणसे बाहर निकलती जाती है। लाखों करोड़ों वर्ष व्यतीत होनेपर भी कमी नहीं होती है और न भविष्यमें होगी। क्यों कि जितना व्यय है उतनी ही आमदनी आकर्षण शक्ति के दबाव से चालू है। (सौ० प० अ० ५ सारांश)

बोलो मीटर यन्त्र और ताप क्रम

प्रकाश थोड़े परिणाम में होता है तो उसका रंग लाल होता है जैसे अग्निका। बिजली की बत्ती में ज्यों ज्यों प्रकाशका परिणाम बढ़ता जायगा त्यों त्यों रंग बदलता जायगा और गर्मी अधिक आती जायगी। प्रकाशमें अधिक गर्मी आनेपर श्वेतप्रकाश बन जाता है। लाल, नारंगी, पीत, हरित आदि अनेक रंगों के सम्मिश्रणसे श्वेत रंग बनता है। प्रकाशमें रंगके तारतम्यसे प्रकाश का तापक्रम मापा जाताहै। इस प्रकार मापनेके यन्त्रका नाम बोलो मीटर रखा गया है। इस का प्रथम शोध-अमेरिका निवासी ऐसपी लेंडलीने की है। इस यन्त्रसे प्रकाश को गर्मी रूपमें परिवर्तित किया

जाता है, प्रकाश में कितने ही रंग हो किन्तु जब वे काली वस्तुपर फेंके जाय तो वह काली वस्तु प्रकाश के सर्व रंगों को खींच लेगी और उसमें गर्मी पैदा हो जायगी अर्थात् प्रकाश गर्मी के रूप में बदल जाता है। बोलो मीटर यन्त्रमें भी काली की हुई प्लेटिनम धातु का एक बहुत छोटा पतरा लगा हुआ होता है उस पर प्रकाश गिरने से प्लेट गर्म हो जाती है उससे ताप क्रम की डिग्री का पता लग जाता है। इस पृथ्वी पर अधिक से अधिक गर्मी बिजली में है। बिजली का ताप क्रम तीन हजार डिग्री तक पहुंचा है। सूर्य की सतहके पास बोलो मीटर यन्त्र से जांच करने पर छः हजार डिग्री ताप क्रम होता है। सूर्यके केन्द्रमें तो इससे भी अधिक गर्मी होगी। उबलते हुए पानीमें सौ डिग्री गर्मी होती है। एक हजार डिग्री गर्मीसे सोना पिघलता है। ताप क्रमके आपसे वैज्ञानिकोंने यह भी हिसाब लगाया है कि सूर्यसे कितनी गर्मी निकलती है। इस बोलोमीटर यन्त्र से किस देशमें किस ऋतुमें कितनी गर्मी या शरदी है इसका निश्चित परिमाण बताया जाता है। ऐसे यन्त्रोंकी सहायतासे ईश्वर वादियोंकी शाब्दिक कल्पना वैज्ञानिकोंके प्रत्यक्ष सिद्ध प्रमाणों के सामने जरा भी नहीं टिक सकती इस बातका पाठक स्वयं विचार करेंगे।

(सौ० प० अ० ५ सारांश)

परमाणुवाद,

प्रपंच परिचयमें प्रो० विश्वेश्वरजी लिखते हैं कि—

"पदार्थ" विश्लेषणके नियम से हमारा आशय यह है कि यदि संसारके किसी पदार्थका विश्लेषण प्रारम्भ किया जाय तो क्रमशः उसे लघु, लघुतर भागों में विभक्त करते हुए हम एक ऐसी अवस्था पर पहुंचेगे कि जिसके आगे उस पदार्थका विभाग कर सकना असम्भव हो जायगा। दृश्यमान पदार्थके इस अंतिम,

लघुतम भाग को वैज्ञानिक भाषा में मालीक्यूल Molecules कहते हैं। इस अवस्था तक पदार्थका अपना स्वरूप स्थिर रहता है। परन्तु इसके आगे विश्लेषण-पथमें एक पग भी और बढ़े तो उसके साथ ही पदार्थका अपना स्वरूप क्षीण हो जाता है और उसके स्थान पर दो भिन्न भिन्न तत्वों के परमाणु रह जाते हैं जिनके सम्मिश्रणसे उस पदार्थ के अणु या मालीक्यूलकी रचना हुई थी। उदाहरणके लिये, यदि इसी विश्लेषण नीतिका आश्रय लेकर जलका विश्लेषण किया जाय, तो उसके लघुतम रूपमें जलके मालीक्यूल या जलके अणुओंकी उपलब्धि होगी, परन्तु यदि विश्लेषण-पथमें एक कदम और उठाया जाय, तो जलके मालीक्यूलसका भी विश्लेषण होकर दो भिन्न तत्वोंके तीन परमाणु शेष रह जायेंगे, जिनमें ये दो परमाणु हाईड्रोजन के होंगे और एक परमाणु आकसीजनका। हाईड्रोजन और आकसीजन के भिन्नजातीय तीन परमाणुओंका इस नियत अनुपातसे सम्मिश्रण होने पर जलकी उत्पत्ति होती है। विश्लेषणात्मक परीक्षणके इस अन्तिम परिणाम से रूप में उपलब्ध होने वाले द्रव्य को ही परमाणु शब्दसे निर्दिष्ट किया जाता है। यह परमाणु-विश्लेषण की चरम सीमा है, उसके आगे विश्लेषण हो सकना सर्वथा असम्भव है। भौतिक तत्वोंके यही परमाणु इस समग्र विश्वके उपादान कारण हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनुसार यह परमाणु ८० प्रकारके होते हैं।

भारतीय दार्शनिक साहित्यमें इस परमाणुवाद के जन्मदाता वैशेषिक दर्शनके आचार्य महर्षि कणाद हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रमाण भूत भाष्यकार श्री प्रशस्त पादाचार्य ने इस परमाणुवाद का स्वरूप बड़े सरल और सुन्दर रूपमें स्थापित किया है। उनके शब्द इस प्रकार हैं—

इहेदानीं चतुर्णां महाभूतानां सृष्टि संहार विधि रुच्यते। ब्राह्मेण मानेन वर्षशतान्ते वर्तमानस्य ब्राह्मणो अपवर्गकाले संसार खिन्नानां सर्वेषां प्राणिनां निशि विश्रमार्थं सकल भुवनपतेः महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं शरीरेन्द्रिय महाभूतोपनिबन्धकानां सर्वात्मगतानां अदृष्टानां वृत्तिनिरोधे सति महेश्वरेच्छात्माणु संयोगजकर्मभ्यः शरीरेन्द्रियकारणाणुविभागेभ्यः तत् संयोग निवृत्तौ तेषां आपरमाण्वन्तौ विनाशः तथा पृथिव्युदकज्वलनपवजानामपि महाभूतानां अनेनैव क्रमेण उत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य नाशः ततः प्रविभक्ताः परमाणवो अवतिष्ठन्ते।

श्री प्रशस्तपादाचार्य के विचार से सृष्टि के प्रारम्भ में महेश्वर सम्पूर्ण जगत के पितामह ब्रह्मा को उत्पन्न कर संसार संचालनका सारा भार उसको सौंप देते हैं। इस ब्रह्माकी आयु ब्रह्म परिणाम से सौ वर्ष की होती है। सौ वर्ष समाप्त होने पर ब्रह्माका अपवर्गकाल आजाता है। और उसके साथ ही सृष्टिकी आयु भी समाप्त हो जाती है। इस समय तक निरन्तर संस्करण-चक्र में पड़े जीव भी बहुत खिन्न हो उठते हैं। इस लिये उनको विश्राम के लिये अवसर देने की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है। इन सब कारणोंके एकत्र हो जानेसे इस अवसरपर महेश्वरके हृदयमें संसार संहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उस संहारेच्छा के उत्पन्न होनेके साथ ही संसारी जीवों के धर्माधर्म की फल प्रदान की शक्ति भी समाप्त हो जाती है, जिसके कारण संसारकी अगली वृद्धि बिलकुल रुक जाती है। इधर अब तक के वर्तमान विश्व में महेश्वर की संहारेच्छा जीवात्मा और अणुओं के संयोग विशेष से उत्पन्न

क्रिया के द्वारा, शरीर एवं इन्द्रिय आदि के कारण रूप अणुओं में परस्पर विभाग प्रारम्भ हो जाता है, जिसके परिणाम में इस संयुक्त विश्व के पूर्व संयोग का नाश हो जाता है। इस प्रकार क्रमिक विभाग होतेहोते अंतमें 'प्रवि भक्ताः परमाणवो अवतिष्ठन्ते, एक दम अलग अलग परमाणु ही परमाणु रह जाते हैं।

इस प्रकार भारत वर्षके दार्शनिक साहित्यमें परमाणुवादकी उत्पत्ति हुई। यद्यपि सुदूर पूर्व और पश्चिम में स्वतन्त्र रूप में परमाणुवाद की सृष्टि हुई है, परन्तु उनमें कितना साम्य है? साधारण तौर से पूर्व और पश्चिम के इस परमाणुवाद में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि मानो एक ही दिमागसे दो विभिन्न स्थानों पर उसकी अभिव्यक्ति हुई हो। परन्तु इतनी अधिक समानता के रहते हुये भी उन दोनों में एक बहुत बड़ी विषमता है। पश्चिम का परमाणुवाद अपने में ही समाप्त हो जाता है, उसे प्रकृति निर्माण में किसी और सहायता की अपेक्षा नहीं रहती है, फिर भी उसमें एक बहुत बड़ी कमी है। परमाणुओं में आदिम क्रिया का विकास कैसे हुआ, इसका उपादान उसने नहीं किया। परमाणु जड़ पदार्थोंके अवयव हैं, उनमें सर्वथा निरपेक्ष स्वतः क्रिया की उत्पत्ति हो नहीं सकती फिर आदि क्रिया का विकास कैसे हुआ, इसका समुचित उत्तर देनेका सफल प्रयास परमाणुवादने नहीं किया। इसी कारण हम देखते हैं कि पाश्चात्य परमाणुवाद शीघ्र ही शिथिल पड़ गया है और उसके स्थान पर शक्तिवाद का अभिषेक किया गया है।

शक्तिवाद—इस शक्तिवाद सिद्धांतके अनुसार प्रकृतिका सार शक्ति Energy or Force है। परमाणुवादके अनुसार परमाणु वह परम सीमा थी, जिसके आगे किसी प्रकार का विभाग असम्भव था। परन्तु शक्तिवाद इससे एक कदम आगे बढ़ गया है।

इस सिद्धान्तमें वह परमाणु अनेक शक्तियोंके केन्द्र हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमारा सूर्य इस सौर मण्डल का। जिस प्रकार अनेक ग्रह उपग्रह सूर्यके चारों ओर चक्कर लगा रहेहैं। उसीप्रकार परमाणु, अनेक शक्तियों का केन्द्र है। अर्थात् इस सिद्धान्त में प्रकृति शक्तियोंसे भिन्न कोई वस्तु नहीं, और न जैसाकि साधारणतः समझा जाता है, शक्ति परमाणुओं का कोई धर्म है। बल्कि परमाणु और प्रकृति स्वयं शक्ति रूप हैं। उस शक्ति Energy or Force से भिन्न कोई अतिरिक्त वस्तु जगत में नहीं है।

द्रव्य नियम

अरनेस्ट हैकलने इस विश्व-व्याख्या करनेके लिये दूसरे नियम की रचना की है, जिसका नाम उसने Law of Substance रखा है। हैकलके उसी नियम को हम द्रव्य-नियम शब्द से निर्दिष्ट कर रहे हैं। हैकल का यह द्रव्य-नियम वस्तुतः कोई नया नियम या उसका अपना आविष्कार नहींहै, बल्कि उसकी रचना पुराने दो नियमके सम्मिश्रण कर देनेसे हुईहै, इनमेंसे पहिला नियम रासायनिक विज्ञान का द्रव्याक्षरत्व-वाद का है। और दूसरा भौतिक विज्ञान का शक्ति साम्य का सिद्धान्त है।

संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय

यह है कि इस अनन्त विश्व में व्यापक प्रकृति या द्रव्य का परिमाण सदा समान रहता है, उसमें कभी न्यूनाधिक्य नहीं होता न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नूतन द्रव्यकी उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टिसे जिसे हम द्रव्यका नाश हो जाना समझते हैं वह उसका रूपान्तरमें परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिये कोयला जल कर राख हो जाता है, हम साधारणतः उसे नाश हो गया कहते हैं, परन्तु वह वस्तुतः

नाश नहीं हुआ बल्कि वायु मण्डल के ओषजनक अंश के साथ मिल कर कारबोनिक एसिट गैस के रूप में परिवर्तित होता है। इसी प्रकार शक्कर या नमक को यदि पानी में घोट दिया जाय, तो वह उनका भी नाश नहीं बल्कि संयम द्रव्य रूप में परिणत मात्र समझनी चाहिये। इसी प्रकार जहाँ कहीं किसी नवीन वस्तु को उत्पन्न होते देखते हैं, तो वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तुका रूपान्तर मात्र है। उस स्थान पर भी किसी नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती। वर्षा की धारा आकाशमें मेघरूपमें विचरन करनेवाली बाष्प का रूपान्तर मात्र है। घर में अव्यस्थित रूपसे पड़ीर हने वाली कड़ाही आदि लोहे की वस्तुओं में प्रायः जंग लग जाता है यह क्या है? यहांभी जंग नामका किमी नूतन द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हुई है, अपितु धातु की ऊपरी सतह जल और वायुमण्डल के ओषजन के संयोग से लोहे के औकसी हैडेट Oxy-hydrate के रूप में परिणत हो गई है। इसी को हम जंग कहते हैं। आज द्रव्यान्तरत्व वाद का यह सिद्धान्त रासायनिक विज्ञान का अत्यन्त महत्व पूर्ण सिद्धान्त समझा जाता है और तुलायन्त्र द्वारा किसी भी समय उसकी सत्यता को परीक्षा की जा सकती है।

लगभग इसी प्रकार और शैली पर शक्ति साम्य के सिद्धान्त की व्याख्या भी की जा सकती है। संसार के संचालन के कार्य करनेवाली शक्ति, इनर्जी, या फोसेका परिणाम सदा सम रहता है। उसमें किसी प्रकार का न्यूनाधिक्य नहीं होता। हां परिणामवाद सिद्धान्त उसमें भी काम करता है, अर्थात् एक प्रकार की शक्ति दूसरे प्रकार की शक्ति के रूप में परिणत अवश्य हो जाती है। उदाहरण के लिये रेल का इंजिन जिस समय प्रशान्त रूपमें चल ने की तैयारीमें स्टेशन पर खड़ा है, उस समय भी उसके भीतर शक्ति काम कर रही है, परन्तु इस समय वह शक्ति अन्तर्निहित

गुप्त या अनभिव्यक्त है, इसको विज्ञान के शब्दों में Potential Energyपोटैन्शियल इनर्जी कहतेहैं। फिर जिस समय वही एंजिन रेल की पटरी पर अप्रतिहत गति से दौड़ लगाने लगता है, उस समय उसकी वही गुप्त अन्तर्निहित पोटैन्शियल इनर्जी Kinetic Energy किनेटिक इनर्जीके रूपमें परिणत होजाती है। इसप्रकार के अन्य अनेक उदाहरण दिये जासकतेहैं, जिनसे शक्ति-विवर्तवाद का सिद्धान्त भली भांति परिपुष्ट होता है। द्रव्याक्षरत्ववाद की भांति ही आज शक्ति साम्यका सिद्धान्त भौतिक विज्ञानमें आदर पा रहा है।

न केवल बहुपक्ष की दृष्टि से बल्कि ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह सिद्धान्त महत्व पूर्ण है। सन् १८३७ में सब से पहले Bonn बांन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक Friedrich Mohr फ्रीडरिख मोहर के मस्तिष्क में इस सिद्धान्त की कल्पना ने जन्म लिया था परन्तु फिर भी दुर्भाग्यवश उसके आविष्कार का श्रेय उसको प्राप्त नहीं हो सका। अनेक वर्ष इस सिद्धान्त के परिपोषक विविध परीक्षणों में बिताकर जब तक निश्चित सिद्धान्तके रूपमें वह इसकी घोषणा करें उस के पहले ही Rober Mayer राबर्ट-मेयरने अपनी ओर उसे विघोषित कर दिया।

गुणवाद

इनके अतिरिक्त दार्शनिक जगतमें प्रकृतिका एक और स्वरूप उपलब्ध होता है जिसकी उत्पत्ति केवल पूर्व में हुई है, और वह है सांख्याचार्यों का गुण वाद। सांख्याचार्यों के इस गुणवादके अनुसार सत्त्व रज और तम नामक तीन गुणों की समष्टि का नाम प्रकृति है। इस स्थल पर प्रयुक्त हुआ गुण शब्द बहुधा भ्रामक हो जाता है,क्योंकि यहां वह अपने साधारण अर्थमें नहींअपितु विशेष

अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लौकिक भाव में किसी द्रव्य के भीतर पाये जाने वाले किसी विशेष धर्मके लिये गुण शब्दका प्रयोग होता है । महर्षि कणाद ने भी गुण का लक्षण करते हुये उसे द्रव्याश्रयी धर्म बतलाया है, परन्तु सांख्य के गुण वाद का गुण शब्द उससे भिन्न हैं। सत्व रज और तम किसी पदार्थके धर्म नहीं हैं हां किसी रूप में उनको शक्ति कहा जासकता है । जिस प्रकार उपरिलिखित शक्तिवादके सिद्धान्तमें परमाणु अनेक शक्तियोंका केन्द्र मानाजाता है । परन्तु वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जो शक्तिसे भिन्न हों या जिसे शक्ति का आधार कहा जा सके, इसी प्रकार प्रकृति सत्व रज और तमकी समष्टि का नाम है । उनमें भिन्न वह कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे उन गुणों का आश्रय कहा जा सके । यहां गुण शब्द गौण वृत्ति से अपने अर्थ का बोधन करता है ।

प्रकृति रूप समष्टि के भीतर कार्य करने वाली यह तीनों व्यष्टियां गुणों के भिन्न भिन्न कार्य हैं जिनका संग्रह सांख्यकारिका के लेखक ने इस प्रकार किया है ।

सत्वं लघुप्रकाशमिष्टं, उपष्टम्भकं चलं च रजः । गुरुवरणकमेव तमः ।

अर्थात् मूल प्रकृति के भीतर काम करने वाले इन गुणों में से प्रत्येक के दो दो कार्य हैं । सांख्याचार्योंके मत में सत्व गुण लाघव और प्रकाश से युक्त है. रजोगुण उपष्टम्भक एवं चल है. और तमोगुण गुरु एवं आवरण करने वाला है । अभी सम्भवतः कारिकामें प्रयुक्त शब्दोंके स्पष्टीकरण के लिये कुछ पंक्तियोंकी अपेक्षा है ।

लाघवका अर्थ है हलकापन, जिसके कारण पदार्थ ऊपर को उठते हैं । प्रकाशके कारण पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं । उपष्टंभ

शब्दका अर्थ है उत्साह देने वाला, उत्तेजना देने वाला। सत्व और तमको यही रजोगुण कार्यमें प्रवृत्त करता है, और स्वयं भी चल या गति शील है। तमोगुणका धर्म गौरव, बोझीलापन है, और उसके साथ ही वह आवरक है। आवरक शब्द के भीतर गतिको रोकनेका भाव भी अन्तर्निहित है। इस प्रकार यह तीनों गुण एक समष्टिमें भिन्न भिन्न प्रयोजन सम्पादनके लिये समाविष्ट हैं। परन्तु एक प्रश्न यह रह जाता है कि इन तीनोंके ऊपर जिन कर्मोंका उत्तरदायित्व है, वह परस्पर अत्यन्त विपरीत है। इतने अधिक विरोधी गुण परस्पर कैसे मिल सकते हैं और उनका एक समष्टिमें मिलकर कार्य कर सकना कहां तक सम्भव है? हमारे सांख्याचार्यने इस प्रश्नको अछूता ही नहीं छोड़ दिया है, अपितु उसके उपपादनका यत्न सफलताके साथ किया है। इस प्रश्नके उत्तरमें उपर्युक्त कारिकाका चौथा चरण लिखा गया है।

प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।

जिस प्रकार दीपकके भीतर रुई, आग और तैल तीनों विरोधी और भिन्न प्रकृतिकी वस्तुयें मिल कर कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं।

साँख्य का गुणवाद

उपरोक्त विज्ञानवादके साथ साथ सांख्यदर्शनके गुणवादका भी अवलोकन कर लेना चाहिये। अतः हम इसको भी उन्हींके शब्दोंमें पाठकोंके सन्मुख उपस्थित करते हैं। (१)

इसी प्रकार तीनों भिन्न भिन्न वृत्ति वाले गुण परस्पर विरुद्ध होते हुये भी एक समष्टिमें सम्मिलित हो सकते हैं। इन तीनोंकी यह समष्टि या प्रकृति ही संसारका संचालन कर रही है। और जहां जैसी आवश्यकता होती है उसीके अनुसार कार्य करती है।

जिस प्रकार एक ही स्त्री अपने पतिको सुखका कारण तथा अपनी सपत्नी स्त्रियोंको दुःखका कारण और किसी तीसरेके लिये मोहका कारण भी हो सकती है, इसी प्रकार तीनों गुणोंकी यह समष्टि प्रकृति भी अकेली होकर भिन्न भिन्न कार्योंका संचालन कर रही है। रसायनिक वैज्ञानिकोंके अनुसार परमाणुओंके भीतर रसायनिक प्रीति और रसायनिक अप्रीति दोनों धर्म हैं, परन्तु कार्यके समय उनमें विरोधकी प्रतीति नहीं होती। जहां रसायनिक प्रीति का प्रयोजन होता है वहां यही कार्य देती है, रसायनिक अप्रीति उसके कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालती। इसी प्रकार रसायनिक अप्रीतिके कार्य में रसायनिक प्रीति प्रतिबन्धक नहीं होती रसायनिक विज्ञानके इसी नियमके समान सांख्याचार्यों की परस्पर विरोधी गुणोंकी समष्टि रूप प्रकृति भी संसार संचालनमें सर्वथा समर्थ समझी जा सकती है। गुणवादी सांख्याचार्योंकी कलमसे यह उपपादन बड़ा सुन्दर हुआ है, इसमें किसी आक्षेपका अवकाश नहीं है।" यह है दार्शनिक तथा वैज्ञानिक जगत रचनाका संक्षेपसे वर्णन। इसमें ईश्वरके लिये कहीं भी अवकाश नहीं है। प्रकृति अपना कार्य स्वयं करने में पूरी तरह समर्थ है। यहां प्रशस्तवाद, भाष्यका ईश्वर भी एक अजीव प्रकार का ईश्वर है। वह स्वयं सृष्टि रचनाके झंझटमें नहीं पड़ता अपितु जब बेकार बैठे २ वह घबरा जाता है तब उनके मनमें जगत रचनाकी इच्छा उत्पन्न होती है। अतः वह उसके लिये ब्रह्माको उत्पन्न करके उसको जगत रचना आदिका सारा भार दे देते हैं। पुनः वह ब्रह्मा इस विश्वकी रचना करता है और ईश्वर आरामसे पूर्ववत् सो जाता है। इस ब्रह्माकी आयु सौ वर्षकी होती है, अतः यह एक सौ वर्ष तक जगत रचना करता रहता है। पुनः जब इसकी आयु शेष होनेको होती है तो ईश्वर भी जाग जाता है और

ब्रह्मद्वारा रचे हुये इस जगतकी प्रलय करके अपनेमें लीन कर लेता है। यही कारण है कि इस सृष्टि की आयु सौ वर्षकी है। वर्तमान ईश्वरकी कल्पना का शायद यह पूर्व रूप है तथा वैशेषिक दर्शनकी जो अनेक न्यूनतायें है, उनकी पूर्ति करनेका असफल प्रयास है।

तर्क और ईश्वर

क्यों ?

महाभारत में मीमांसा में भी राय साहब ने यह प्रश्न उठाया है कि यह सृष्टि क्यों उत्पन्न हुई है? आप लिखते हैं कि—यह देखते हुये कि तत्वज्ञान का विचार भारतवर्ष में कैसे बढ़ता गया हम यहां पर आ पहुंचे। अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि निष्क्रिय अनादि परब्रह्म से जड़ चेतनात्मक सब सृष्टि उत्पन्न हुई किन्तु कपिल के सांख्यानुसार पुरुष के सान्निध्य से प्रकृतिसे जड़ चेतनात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई अब इसके आगे ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि जो ब्रह्म अक्रिय है। उसमें विकार उत्पन्न ही कैसे होते हैं। अथवा जब कि प्रकृति और पुरुष का सान्निध्य सदैव ही है, तब भी सृष्टि कैसे उत्पन्न होनी चाहिये। तत्वज्ञान के इतिहास में यह प्रश्न अत्यन्त कठिन है। एक ग्रन्थकार के कथनानुसार इस प्रश्न ने सब तत्वज्ञानियों को—सम्पूर्ण दार्शनिकों को कठिनाई में डाल रखा है। जो लोग ज्ञान सम्पन्न चेतन परमेश्वर को मानते हैं, अथवा जो लोग केवल जड़ स्वभाव प्रकृति को मानते हैं, उन दोनों के लिये भी यह प्रश्न समान ही कठिन है। नियोप्लेटोनिस्ट (नयेप्लेटोमतवादी) यह उत्तर देते हैं कि—यद्यपि परमेश्वर निष्क्रिय और निर्विकार है तथापि उसके आस पास एक क्रिया मण्डल इस भांति घूमता है, जैसे प्रभा मण्डल सूर्य बिंब के आस पास घूमा करता है। सूर्य यद्यपि स्थिर है तो भी उसके आस पास प्रभा

का चक्र बराबर घूमा करता है। सभी पूर्ण वस्तुओं से उसी प्रकार प्रभा मण्डल का प्रवाह बराबर बाहर निकलता रहता है। इस प्रकार निष्क्रिय परमेश्वर से सृष्टिका प्रवाह सदैव जारी रहेगा। ग्रीस देश के अणु सिद्धान्त वादी ल्यसिपिस और डिमाट् क्रिस का कथन है कि जगत का कारण परमाणु है। यह परमाणु कभी स्थिर नहीं रहते हैं। गति उनका स्वभाविक धर्म है और वह अनादि तथा अनन्त है। उसके मतानुसार जगत सदैव ऐसे ही उत्पन्न होता रहेगा और ऐसे ही नाश होता रहेगा। परमाणुओं की गति चूंकि कभी नष्ट नहीं होती, अतएव यह उत्पत्ति विनाश का क्रम कभी थम नहीं सकता। अच्छा अब इन निरीश्वर वादियों का मत छोड़ कर हम इसका विचार करते हैं कि, ईश्वरका अस्तित्व मानने वाले भारतीय आर्य दार्शनिकोंने इस विषयमें क्या कहा है? उपनिषदों में ऐसा वर्णन आता है कि "आत्मैव इदमग्र आसीत् सोऽमन्यत बहुस्याम प्रजायेति" पहले केवल परब्रह्म ही था। उसके मनमें आया कि मैं अनेक होऊँ, मैं प्रजा पालन करूँ। निष्क्रिय परमात्माको पहले इच्छाहुई और उस इच्छाके कारण उसने जगत् उत्पन्न किया। वेदान्त तत्वज्ञानमें यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। वेदान्त सूत्रों में बादरायण ने "लोकस्तु लीला कैवल्यम्" यह एक सूत्र रखा है। जैसे लोगों में कुछ काम न होने पर मनुष्य अपने मनोरंजन के लिये केवल खेल खेलता है, उसी प्रकार परमात्मालीला से जगत का खेल खेलता है। यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की भांति ही संतोष जनक नहीं है। अर्थात् परमेश्वर की इच्छा की कल्पना सर्वदैव स्वीकार योग्य नहीं है। परमेश्वर यदि सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ और दयायुक्त है। तो लीला शब्द उसके लिये ठीक नहीं लगता। यह बात सयुक्तिक नहीं जान पड़ती कि, परमेश्वर साधारण मनुष्य की तरह खेल खेलता है। इसके सिवा

परमेश्वर की करनी में ऐसा क्रूरता युक्त व्यवहार न होना चाहिये कि एक बार खेल फैला कर उसे बिगाड़ डालें ।

स्वभाव

यह संसार ईश्वरने क्यों रचा इसका उत्तर पृथक् २ दिया जाता है। कुछ कहते हैं कि उसका यह खेल मात्र है, कुछ कहते हैं कि जीवोंमें कर्मोंका फल देनेके लिये विश्व रचता है। इन सब का समाधान ऊपर किया गया है। कर्मोंके फलका उत्तर तो श्लोक वार्तिककारने बहुत ही विद्वत्ता पूर्ण दिया है, जिसका कथन हम पहले प्रकरणमें कर चुके हैं। तथा करुणा और उसी की यह लीला है इसका भी उत्तर आ चुका है। परन्तु अनेक विद्वानोंका यह मत है कि जगतकी रचना आदि करना ईश्वर का स्वभाव है। अतः स्वभाव के लिये क्यों का प्रश्न ही नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि गरम है जल शीतल है, उनके लिये यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता कि अग्नि गरम क्यों है ? पानी ठंडा क्यों है ? इसी प्रकार ईश्वरके विषयमें भी जगत रचना क्यों की यह प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा कहने वाले इस समय बातका विचार नहीं करते कि हम सिद्ध तो यह कर रहे थे कि ईश्वर सृष्टि कर्त्ता है और युक्ति ऐसी दे रहे हैं जिस से हमारे पक्ष का ही घात होता है। क्योंकि स्वभाव को कार्य नहीं कहा जाता। न तो अग्नि को गरमी कर्त्ता कहा जाता। और न जल को शीत का। वास्तव में अग्नि और गरमी दो पृथक् २ पदार्थ नही है। जिससे अग्निको गरमीका कर्त्ता कहा जासके। इसी प्रकार जल का स्वभाव नीचे जाने का है तथा अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है, इस लिये पानी नीचे को जाता है तो उसको इसका कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। और न ही अग्नि को ऊपर जाने का कर्त्ता कहा जा सकता है। अतः उस युक्ति से तो कर्त्ता न रहा। क्यों कि इच्छापूर्वक क्रियावान्को कर्त्ता

कहते हैं। अर्थात् जो करने न करनेमें तथा उल्टा करनेमें स्वतन्त्र होता है उसे कर्त्ता कहा जाता है। पाणिनी मुनिने इसी लिये कर्त्ता का लक्षण (स्वतन्त्रः कर्त्ता) किया है। परन्तु स्वभावमें स्वतन्त्रता नहीं रहती। अतः यह प्रश्न वैसा ही बना रहता है कि ईश्वर सृष्टि क्यों रचता है।

स्वाभाविक इच्छा

आस्तिकवाद में पं० गंगा प्रशाद जी ने ईश्वर की इच्छा को स्वाभाविक इच्छा लिखा है। तथा दृष्टान्त दिया है प्राणका अर्थात् जैसे मैं स्वभावसे प्राण लेता हूं। आदि। यह कथन ऐसा ही हैजैसे किसीने कहा कि मेरी माता बन्ध्या है। या मेरे मुखमें जीभ नहीं है. अथवा कोई कहे कि अग्नि शीतल है इसी प्रकारका यह शब्द है स्वाभाविक इच्छा। इन महानुभावों को इतना भी ज्ञान नहीं है कि इच्छा वैभाविक गुणों को कहते हैं। यदि इच्छा स्वाभाविक होती तो उसका मोक्ष अवस्था में भी सद्भाव पाया जाता। परन्तु न्याय वैशेषिक आदि सम्पूर्ण दर्शनों का इसमें एक मत है कि मोक्ष में इच्छा आदि नहीं रहते। इच्छा मनका गुण है। और मन है प्रकृतिका बना हुआ। अतः यह सिद्ध है कि इच्छा कहते ही वैभाविक गुण को हैं। तथा इच्छा अभिलाषा चाह एकार्थक वाची शब्द हैं। जिनका अर्थ है अप्राप्तकी आकांक्षा. अतः यह नियम है कि इच्छा सर्वदा अप्राप्त पदार्थ की ही होती है. अब यदि यह भी मान लें कि ईश्वरकी इच्छा स्वाभाविक होती है तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि उसको कौनसी वस्तु अप्राप्त थी जिसकी उसको इच्छा हुई। इसी प्रकार अन्य भी अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनको हम उसी प्रकरणमें उठायेंगे। आपने भी प्राणोंका दृष्टान्त देकर इच्छाको वैभाविक सिद्ध कर दिया है। क्योंकि जीवात्मा प्राण भी वैभाविक

गुणसे ही ले रहा है, यही कारण है कि आर्य समाजके प्रसिद्ध सन्यासी स्वा० दर्शनानन्द जी ईश्वर में इच्छा नहीं मानते थे। उनका कथन है कि इच्छापूर्वक क्रिया जीवकी होती है तथा नियम पूर्वक क्रिया ईश्वरकी। उन्होंने ईश्वर में इच्छा माननेका खण्डन अपनी पुस्तकोंमें तथा शास्त्रार्थ आदिमें भी किया है। (देखो शास्त्रार्थ अजमेर) अतः ईश्वर में इच्छा बताना ईश्वरसे इन्कार करना है। अतः यह सिद्ध है कि न तो ईश्वर के स्वभावसे ही सृष्टि उत्पन्न हो सकती है, और न यह सृष्टि उसकी दयाका ही परिणाम है और न उसकी क्रीड़ा मात्र ही है। यह स्वयं सिद्ध अपने आप है, न कभी बनी और न कभी नष्ट होगी।

आस्तिकवाद और ईश्वर

पं० गंगाप्रसादजी उपाध्यायने "आस्तिकवाद" नामक पुस्तक में ईश्वर सृष्टिकर्त्ता के विषयमें अनेक युक्तियां व प्रमाण दिये हैं। इस विषयमें यह पुस्तक वर्तमान समयमें सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। विद्वान् लेखक को इस पर मंगला प्रसाद पारितोषिक भी मिली है। जिससे इसकी प्रसिद्धि और उपयोगिता बढ़ी है। यही कारण है कि इसको पाठकोंने अच्छा अपनाया है। अतः ईश्वर विषय पर कुछ लिखते हुए यह आवश्यक है कि इसमें दी हुई युक्तियों व प्रमाणादि का भी पर्यालोचन किया जावे।

नियम

दूसरे हेतु आपने नियम दिया है। आपका कहना है कि संसारमें हम सर्वत्र नियम देखते हैं। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ क्रमशः बढ़ता है, मनुष्य आदि सभी की वृद्धि का नियम है। भौगोलिक संसार की भी यही अवस्था है। नदी आदि सब नियम पूर्वक बहती हैं। इसी प्रकार खगोल विद्या भी नियम का उपदेश दे रही

है। पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य आदि तारागण, चन्द्र आदि सब क्या बिना नियम के चल रहे हैं। आदि आदि···

समीक्षा—संसारमें हम नियम दो प्रकारके देखते हैं एक बौद्धिक और दूसरे प्राकृतिक बौद्धिक नियमोंमें विधान आज्ञा या स्वतन्त्रता होती है। जैसे यह कार्य करनेसे इस प्रकारका दण्ड या पारितोषक मिलेगा आदि। बौद्धिक नियम में स्वतन्त्रता भी होती है। अर्थात् उन नियमों का पालन करना या न करना यह व्यक्तियोंकी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु प्राकृतिक नियम विधानात्मक नहीं होते जैसे जल का नियम है नीचे को बहना, यह भी नियम है कि जल शीतल ही होता है। इसी प्रकार अग्नि ऊपर को जाती है और उष्ण होती है। परमाणु सूक्ष्म ही होता है, तथा जड़ ही होता है आदि२। नियमोंका नाम स्वभाव है या धर्म कहलाते हैं अथवा इन को प्राकृतिक नियम भी कह सकते हैं। आपने जितने भी उदाहरण दिये हैं वे सब प्रकृतिके स्वभाव हैं। दूसरी बात यह है कि बौद्धिक नियम अपवादात्मक तथा परिवर्तनशील होते हैं। आपने जिनको नियम बताया है उनमें न तो अपवाद ही है और न परिवर्तनशीलता है अतः यह सिद्ध हो गया कि जिनको आप नियम कहते हैं वे वास्तव में पुद्गल के स्वभाव हैं। अब यदि स्वभाव का भी कर्त्ता माना जायगा तो उस वस्तु का ही अभाव सिद्ध हो जायगा, क्यों कि धर्म और धर्मी कोई पृथक् २ पदार्थ नहीं है अपितु एक ही वस्तु के दो नाम हैं। जैसे अग्नि और गरमी एक ही वस्तु है। यदि अग्नि में गरमी का नियामक कोई भिन्न २ माना जाय तो अग्नि का ही अभाव सिद्ध होगा। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विषय में भी है। दूसरी बात यह है कि इन नियमों का भी किसी को नियामक माना जायगा तो आपका ईश्वर भी अनित्य सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें भी नियम हैं तब उनका भी कोई नियामक चाहिये इस

प्रकार अनवस्था दोष भी आयगा। यदि यह कहो कि ईश्वर का स्वभाव है इस लिये उसके नियामक की आवश्यकता नहीं है तो यहाँ भी यही मानलो कि ये सब पुद्‌गल के स्वभाव हैं, इनके लिये भी नियामककी आवश्यकता नहीं हैं। तथा जहाँ आपने उपरोक्त नियम दिखलायेहैं वह यह भी एक नियम दिखलाना चाहिये था कि नियामक सर्वथा सशरीरी और एक देशी होता है। सर्व व्यापक और निराकार वस्तु कभी नियामक नहीं होती जैसे आकाश। अतः इन नियमों से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रयोजन

तीसरा हेतु आपने प्रयोजन दिया है, आप लिखते हैं कि—

"तीसरी चीज जो संसार में दृष्टि गोचर होती है वह प्रयोजन है। वस्तुतः नियम और एकता व्यर्थ होते यदि प्रयोजन न होता। सब लड़कों के साथ शाला में आने का नियम व्यर्थ नहीं है। इस का प्रयोजन है। प्रयोजन ही इस कार्य को सार्थक बनाता है। संसार की सभी वस्तुओं और घटनाओं से किसी विशेष प्रयोजन की सूचना मिलती है। जहां कही भिन्नता है उससे भी प्रयोजन की सिद्धि होती है। यह प्रयोजन कभी मनुष्य की समझ में आता है और कभी नहीं आता है। परन्तु प्रयोजन है अवश्य। समझने की तो यह बात है कि एक मनुष्य का प्रयोजन दूसरे मनुष्य की समझ में नहीं आया करता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई प्रयोजन है ही नहीं। एक समय एक यूरोप निवासी यात्री अरब के बद्‌दुओं के यहां मेहमान हुआ। एक दिन वह प्रातःकाल उसके तम्बू के सामने टहलने लगा। बद्‌दूलोग उसको देख कर हँसने लगे। उन्होंने समझा कि कैसा मूर्ख है कि निष्प्रयोजन एक ओर से दूसरी ओर टहल रहा है। परन्तु उस यात्री का प्रयोजन स्पष्ट था। यही हाल संसार का है यहाँ की सैकड़ों

घटनाओं को हम अपने प्रयोजन से मिलाते हैं जो मिल जाती हैं उसको अर्थिक कहते हैं और जो नहीं मिलती उसको व्यर्थ निरर्थक। वस्तुतः यही हमारी भूल है। यह जानना हमारे लिये कठिन है कि प्रयोजन क्या है। परन्तु संसार की गति ही बताती है कि प्रयोजन है अवश्य।" आदि आदि

समीक्षा—वर्तमान समय में दार्शनिकोंके दो मत हैं, एक प्रयोनवादी तथा दूसरा यन्त्र वादी यन्त्रवादी दल का कथन कि इस जगत में प्रयोजन नाम की कोई वस्तु नहीं है। जितनी प्रयोजन बनाये जाते हैं वे सब अपनी २ बुद्धि अथवा निज निज स्वार्थ से कल्पित किये गये हैं, परन्तु यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता कि अमुक पदार्थ अमुक प्रयोजन के लिये बनाया गया है। जैसे अग्नि स्वभावतः गरम है और पानी स्वतः शीतल है, इनसे पृथक् पृथक प्राणियोंके अनेक प्रयोजन सिद्ध होते हैं। परन्तु यह नहीं कह सकते कि अग्नि अमुक प्रयोजन के लिये गरम है और पानी किसी विशेष प्रयोजनके लिये ठण्डा है। वे तो निष्प्रयोजन स्वभावतः ही ऐसे हैं। यदि इसपर विचार न करके आप हीकी बात मानली जाय तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रयोजन किसका। ईश्वरका अथवा जीवों का। यदि ईश्वरका प्रयोजन है तब तो वह ईश्वरत्वसे गिरकर एक साधारण संसारी जीव बन गया, क्योंकि प्रयोजन वाला तो जीव हीहै, यदि ईश्वरको भी प्रयोजन वाला मानें तोजीव और ईश्वरमें कुछ भी भेद न रहा। यदि जीवों का प्रयोजन माना जाये तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवों के प्रयोजनको सिद्ध करने के लिये ईश्वर क्यों प्रयत्न करता है। और वह प्रयोजन (चाहे स्वयं ईश्वर का हो अथवा जीवों का) अनादि काल से अब तक क्यों नहीं पूरा हुआ ? तथा भविष्य में यह प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा इसका क्या सबूत है। यदि कहो कि ईश्वरको ऐसा विश्वास

है तो भी प्रश्न यही है कि उस विश्वास का आधार क्या है। यदि कहो कि प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, तो ऐसे असंभव प्रयोजनके लिये ईश्वर क्यों अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है। तथा च आज तक ईश्वर ने जीवों को यह बताने की कृपा क्यों न की कि अमुक वस्तु मैंने अमुक प्रयोजनके लिये बनाई। यदि वह इतना कष्ट और करता तो न तो मनुष्यों में इतना मत भेद ही रहता और न इस प्रकार का कलह ही। दूसरी चीज यह है कि–इस प्रयोजन वाद के अनुसार यह माना जाता है कि यदि एक जाति शासक है और दूसरी गुलाम तो इस में भी ईश्वर का विशेष प्रयोजन है।

इसी प्रकार, यूरुपके भयानक युद्धोंका तथा बंगालके कहत व बाढ़ आनेका और अब जो बंगाल व पंजाब में मुसल्मानों ने हिन्दुओं पर राक्षसी भयानक अत्याचार किये हैं ये सब व्यर्थ नहीं हुये हैं, अपितु इन सबमें ईश्वरका विशेष प्रयोजन है। दूसरे शब्दोंमें ये सब कुकृत्य किसी प्रयोजन वश ईश्वरने ही कराये हैं। अतः यह प्रयोजनवाद मनुष्यों को अकर्मण्य और गुलाम बनाने वाला है प्रयोजनवाद वास्तव में एक मानसिक बिमारी का नाम है और कुछ भी नहीं है।

यह प्रयोजनवाद पुरुषार्थ, स्वतन्त्रता, और उन्नतिका सबसे बड़ा और प्रबल शत्रु है। जब तक यूरुपमें यह प्रयोजनवाद प्रच-लित था उस समय तक उसने विज्ञान आदिमें उन्नति नहीं की। परन्तु अब पुनः कुछ दार्शनिकों ने इसको अपनाना आरम्भ किया है। ये लोग इसका सहारा लेकर पुराने धर्मका ही प्रचार करना चाहते हैं। यूरुपमें इसका विरोध भी बड़े जोरोंमें हुआ है।

आपने स्वयं इस प्रयोजनवादकी हिमायत करते हुये लिखा है कि "यह कहना कि ये सब साधन (सांप आदिके विषेले दांत शेर आदि के पंजे, व भिरड़ आदिके डंक) दुःख देनेके लिये है

भ्रम मूलक है वस्तुतः इनका भी उपयोग है। इनसे शिकार को कम कष्ट पहुंचता है।" आदि। पृ० २२३

आगे आप लिखते हैं कि "किसी मनुष्यकी मृत्युका ही दृष्टांत लीजिये। कल्पना कीजिये कि 'क' नामक एक मनुष्य मरता है। यह एक छोटी सी घटना है, परन्तु इसी के द्वारा उसकी स्त्री को विधवा होनेका दण्ड मिलता है, उसके माता पिता को पुत्र हीन होने का, बच्चोंको पितृहीन होने का और उनके शत्रुओं को शत्रु रहित होनेका पुरस्कार मिलता है।" पृ० ८९०

यह है इस प्रयोजन वाद का नंगा चित्र

यदि लेखक महोदय के घर में डाकू या गुण्डे आकर आपका माल लूट लें, और दस पांच आदमियों को कतल भी कर दें फिर मुलजिम पकड़े जायें, और उपरोक्त सफाई दें कि वास्तवमें इसका भी प्रयोजन है। इनको दण्ड देना था और इनके शत्रुओंको पुरस्कार, तथा डाकुओंका गुजारा हो गया इसमें बुराई क्या हुई, उस समय लेखक महाशयकी समझमें इस प्रयोजनवादका प्रयोजन आ सकता है।

उस समय ये लोग कांगडे और कोइटे के भूचालों का तथा बंगालके अत्याचारोंमें भी ईश्वरका विशेष प्रयोजन है यह कहना भूल जायेंगे और न्याय को दुहाई देने लगेंगे।

यदि यह प्रयोजनवाद मान लिया जाये तो न तो कोई अन्याय रहेगा और न अत्याचार। इन भले आदमियोंकी दृष्टिमें बलात्कार और जबरन सतीत्व नष्ट करने वा जबरन धर्म परिवर्तन जैसे पापों का भी कुछ न कुछ ईश्वरीय प्रयोजन है। इस लिये यह प्रयोजनवादको हमारा दूरसे ही नमस्ते है। यदि आप लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये यह मान भी लिया जाये कि इस संसारकी घटनाओंका कुछ प्रयोजन

है तब भी आपके ईश्वर की सिद्धि नहीं होगी। वहाँ यह प्रश्न होगा कि ईश्वर का भी कोई प्रयोजन है या वह निष्प्रयोजन है। यदि प्रयोजन है तो उसके भी कर्त्ताकी आवश्यता होगी और यदि निष्प्रयोजन (बेकार) है तो ऐसे ईश्वर का मानने से क्या लाभ है। आदि अनेक दोष है।

विशालता

आगे आपने जगत की विशालता का वर्णन करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि— इस विशाल जगतको कोई अल्प शक्तिशाली व अल्प ज्ञानी नहीं बना सकता।

सबसे प्रथम तो इस संसार का बनना असिद्ध पुनः बुद्धिमत कर्ता असिद्ध, अतः जब इसका बनना ही असिद्ध है तो कर्ताका प्रश्न ही नहीं उठता। और यदि विशाल पदार्थका कर्ता कोई सर्वज्ञ व सर्व शक्ति मान होता है, तो ईश्वर भी विशाल है उसका भी कोई कर्ता होना चाहिये। पुनः उस दूसरे ईश्वरका भी इस प्रकार अनवस्था दोष आवेगा।

कर्ता हैं।

आगे आपने लिखा है कि—

"अब हम मुख्य विषय पर आते हैं, कि क्या ईश्वर सृष्टिकर्ता है ? नैयायिकोंने ईश्वर में आठ गुण माने है।

संख्यादयः पंच बुद्धिरिच्छायत्नोऽपि चेश्वरे।

भाषापरिच्छेद ॥ ३४ ॥

अर्थात् ईश्वर में निम्न लिखित आठ गुण हैं।

(१) संख्या (२) परिमाण (३) पृथक्त्व (४) संयोग (५) विभाग (६) बुद्धि, (७) इच्छा (८) प्रयत्न।

इनमें संयोग और विभाग गुण क्रिया जन्य हैं। तथा बुद्धि यत्न व इच्छा केवल निमित्त कारण होने वाले गुण हैं। तथा यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वैशेषिक के मतानुसार बुद्धि दो ही प्रकारकी है (१) अनुभवात्मक (२)स्मृति। इन दोनोंके भी प्रमात्मक अप्रमात्मकदो भेद है। आशय यह है नैयायिक, ईश्वरमें ज्ञान इच्छा और प्रयत्न, आदि गुण मानतेहैं। तथा ईश्वरको जगत का प्रयोजक कर्त्ता मानते हैं। उनका कथन है कि जिसप्रकार कुम्हार बुद्धि पूर्वक इच्छा सहित प्रयत्न करके घड़े को बनाता है। उसी प्रकार ईश्वर भी जगत को बुद्धि पूर्वक इच्छा सहित क्रिया करके बनाता है। इस लिये ये लोग ईश्वर को ब्रह्मास्ड कुलाल कहते हैं।"

समीक्षा—जिस प्रकार मीमांसा दर्शनकारने तथा उनके भाष्य कारों ने ईश्वर के कर्त्तापने का खंडन किया है इसी प्रकार वेदान्त में भी व्यास जी ने ईश्वर का खंडन किया है। यथा—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ २। २। ३६

इस सूत्र का श्री शङ्कराचार्य ने दो प्रकार से अर्थ किया है। "(१) तार्किकों की ईश्वर विषयक कल्पना भी अयुक्त है (उनका कथन है) कि जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी को लेकर (अपने कार्य में) प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार ईश्वर भी पुद्गल प्रकृति या परमाणुओंको लेकर (जगत रचना में) प्रवृत्त होता है। परन्तु यह कल्पना ठीकनहीं। क्योंकि निराकार ईश्वर परमाणुओंसे नितान्त भिन्न होनेके कारण ईश्वर की प्रवृत्ति का आश्रय नहीं हो सकते।

(२) अधिष्ठान का अर्थ शरीर है। और ईश्वर के शरीर नहीं है, इस लिये वहां अधिष्ठानकी अनुपपत्ति अर्थात् उपलब्धि न होनेसे वह कर्त्ता नहीं होसकता। अभिप्राय यहहैकि कर्त्ताकीव्याप्ति शरीर के साथ है। परन्तु आप लोग ईश्वर के शरीर नहीं मानते

ऐसी अवस्था में वह अशरीर होने के कारण कर्त्ता नहीं हो सकता।

कारणवच्चेत् न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

यदि इन्द्रियों की तरह उसकी (ईश्वर की) प्रवृत्ति मानो तो ठीक नहीं। क्योंकि उस अवस्था में ईश्वर भी भोगरोग में फंसकर ईश्वरत्व गमा देगा।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

अर्थ—अन्तवाला अथवा अल्पज्ञ होनेसे नैयायिकों का कल्पित ईश्वर सिद्ध नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि नैयायिक लोग जीवों तथा परमाणुओं को भी अनन्त मानते हैं, तथा प्रत्येक जीव की तथा परमाणु की सत्ता भी भिन्न भिन्न मानते हैं। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ईश्वर, जीव, परमाणु तीनों अनन्त माने जाते हैं. तो ईश्वर अपने और जीवादिके अन्त को जानता है या नहीं। यदि कहो कि जानता है तब तो ईश्वर भी अन्त वाला हो गया तथा जीव भी अनन्त न रहे। ऐसी अवस्था में मोक्ष में जाते जाते एक दिन जीवों का संसार में अभाव भी हो जायेगा। उस समय यह सृष्टि आदि भी नहीं रहेगी। फिर वह ईश्वर भी किस का रहेगा। यदि कहो कि ईश्वर अपना और जीवादि का अन्त नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ न रहा। ऐसी अवस्था में भी उसका ईश्वरत्व गया। तथा तीनकी संख्या भी ईश्वरके अनन्त होने का खंडन करती है।

प्रिय पाठक वृन्द ! श्री शङ्कराचार्य ने यहाँ ऐसी प्रबल और तात्विक युक्ति दी है कि ईश्वरवाद को जड़ सहित उखाड़ कर फेंक दिया है। आप कहते हैं कि जब परमाणु और ईश्वर पृथक् २ जातिके द्रव्य हैं, तथा उनके गुण आदि सब भिन्न२ हैं, एक जड़ है

तो एक चेतन सर्वज्ञ, पूर्णकाम और आनन्द मय अनन्त है। इन दो विभिन्न जाति वाले द्रव्यों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। अर्थात् सम्बन्ध सजातीय का सजातीय से होता है। यदि इस असम्भव बात को भी मानलें कि किसी प्रकार उनका सम्बन्ध हो गया तो भी ईश्वर का ईश्वरत्व नहीं रहेगा। क्यों कि उस अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि आपके ईश्वर से अधिक शक्ति परमाणुओं में है जिन्होंने ईश्वर तक को भी मोहित कर लिया।

यदि कहो कि परमाणुओंने मोहित नहीं किया अपितु ईश्वरने ही स्वयं इनसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया तो भी ईश्वरत्व नष्ट हो गया क्यों कि ऐसी अवस्थामें वह एक पतित और बहुत ही अवारा व्यक्ति सिद्ध होता है जो व्यर्थ ही एक तुच्छतम चीज से सम्बन्ध स्थापित करता फिरता है। ऐसा विवेक हीन व्यक्ति ईश्वर नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह हैकि यदि उसने इन्द्रियोंकी तरह इस जगतसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया है तो उसको इसके सुख दुख आदि भी भोगने पड़ेंगे। क्यों कि संसर्गज दोषों का होना आवश्यक है। जिस प्रकार जीव कर्म कर्त्ता है तो उसको उनका फल भोगना पड़ता है, इसी प्रकार ईश्वर को भी सुख दुख आदि भोगने पड़ेंगे। यहां एक प्रश्न यह भी है कि जब सांसरिक दुःख भोगते २ एक समय आता है तब इसको इस संसार से वैराग्य हो जाता है, और इससे मुक्ति चाहता है। ईश्वर का भी कभी २ इस प्रपंचसे वैराग्य होता है या नहीं। यदि होता है तो फिर कौनसी शक्ति है जो फिर भी इस बेचारेको मुक्त नहीं होने देती। और यदि वैराग्य नहीं होता तो वह ईश्वर, अभव्य जीवों की तरह निष्कृष्ट रहा। जब वह अपना उद्धार नहीं कर सकता तो औरों का क्या खाक उद्धार करेगा। जो स्वयं ही बन्धनमें पड़ा है वह तो दूसरोंको कैसे

छुड़ावेगा। इससे सिद्ध है कि ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता। जिस प्रकार मीमांसा दर्शनने तथा वेदान्त ने ईश्वरका खण्डन किया है। इस प्रकार आपके ही दर्शनकार ऋषियों ने आपके इस कल्पित कर्त्ता का खण्डन किया है।

कार्यत्व

आपने सबसे प्रथम इस जगतको कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु दार्शनिक जगत में कार्यत्व भी आज तक एक पहेली ही बनी हुई है, जिसको आज तक कोई हल नहीं कर सका है। यदि हम यह मान भी लें कि जगत कार्य है तो भी प्रत्येक कार्य के लिये कर्ताकी आवश्यकता है यह सिद्ध नहीं है। यदि हम यह भी मान लें तो भी यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अमुक कार्यका कर्ता ईश्वर है और अमुक का जीव तथा अमुकका कर्ता स्वयं जड़ पदार्थ है। क्योंकि सत्यार्थ प्रकाशमें स्वयं स्वामीजी महाराज ने स्वीकार किया है कि "कहीं कहीं अग्नि, वायु आदि जड़ पदार्थोंके संयोगसे भी जड़ पदार्थ बनते रहते हैं"

यह बात प्रत्येक मनुष्य नित्य प्रति प्रत्यक्ष भी देखता है। यदि हम इन सब प्रश्नोंको न भी उठायें और आपके कथनानुसार इस जगतको कार्य ही मान लें तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कार्य और कारण किसे कहते हैं? क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु कारण भी है तथा कार्य भी।

आप ही ने इस लेख में पानी और बर्फका उदाहरण देकर लिखा है कि पानी से बर्फ बनता है, अतः हम पानी को कारण और बर्फको कार्य कहेंगे। परन्तु आप जरा विचार करें कि जब वही बर्फ पिघल कर पानी हो गया तब पानी कार्य हुआ और बर्फ कारण। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ कार्य भी है और कारण भी है। जैसा सोना जेवरका कारण है और पुनः जेवरसे

सोना होने पर सोना कार्य और जेवर कारण होता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो पानी और बर्फ तथा सोने और जेवरमें कुछ भी अन्तर नहीं है। जेवरमें सोना मौजूद है तथा बर्फ में पानी विद्यमान है। यहां "में" शब्दका प्रयोग भी उपचार मात्र है। निश्चय दृष्टिसे पानी और बर्फ आदि में भेद नहीं है। बर्फ पानी की ही पर्याय अवस्था) विशेष है। इसी प्रकार कार्य और कारण भी पृथक् पृथक् नहीं है अपितु पूर्व अवस्थाका नाम कारण है और अन्तर अवस्थाको कार्य कहा जाता है। आपने स्वयं ही यहां पर दो प्रकारके कार्य माने हैं। एक संश्लेषणात्मक दूसरा विश्लेषणात्मक, आप के सुन्दर और तात्विक शब्द हैं कि- "वस्तुतः संसारकी सभी वस्तुयें संश्लेषण और विश्लेषण नामक दो क्रियाओं द्वारा बनती है।" हम इन्हीं शब्दोंको और सरल भाषामें कहें तो संश्लेषणका नाम 'संघात" और विश्लेषण का नाम भेद कह सकते हैं। जैनदर्शनमें भी लिखा है कि "भेदादणुः" "भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः"(तत्वार्थ सूत्र)अर्थात् भेद (विश्लेषण)से अणु-रूप कार्य सम्पादन होता है तथा स्थूल कार्य संघात (संश्लेषण) से या भेद और संघातसे होता है। अतः आपके कथनानुसार ही पर-माणु भी कार्य सिद्ध हो गये। क्योंकि आपने स्वयं लिखा है कि सब वस्तुयें इन दो ही क्रियाओं से बनती हैं। अतः आपका यह लिखना कि संसार में एक स्थाई तत्व है और एक अस्थाई यह गलत सिद्ध हो गया। क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जगत्में कोई भी पदार्थ स्थाई नहीं है अपितु प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परि-वर्तन शील है। यही कारण हैकि जैन दर्शन ने "सत्" का लक्षण ही "उत्पाद् व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" किया है। अर्थात् सत् वह है जिसमें उत्पाद और व्यय हो। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ पर्यायरूपसे अस्थिर है और द्रव्यरूप से स्थिर है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि

अवस्था प्रतिक्षण बदलती रहती है, एक पहली अवस्थाका नाश तथा दूसरीका उत्पाद (प्रकाश) होता रहता है। परन्तु जिसमें यह उत्पाद और व्यय होता है वह द्रव्य स्थाई है। उसी द्रव्यकी परमाणु भी एक अवस्था (पर्याय) है क्योंकि यह भी एक अवस्था है अतः अवस्था होनेसे यह भी स्थाई नहीं है। इसी सिद्धान्तको आज विज्ञानने स्वीकार किया है। सारांश यह है कि आपने स्वयं यह सिद्ध कर दिया है कि परमाणुसे लेकर सूर्य आदि तककी सब वस्तुयें बनी हुई हैं, कोई विश्लेषण क्रियासे बनी है तो कोई संश्लेषण क्रियासे। आप के सिद्धान्तानुसार संश्लेषण क्रियासे जगत् अर्थात् पृथिवी, चाँद सूरज आदि बने हैं, और विश्लेषण क्रियासे प्रलय हुई अर्थात् परमाणु बने तो जिस प्रकार जगतका कर्ता ईश्वर है उसी प्रकार प्रलय में परमाणुओं का कर्ता भी ईश्वर सिद्ध होगया। तथा जब यह नियम भी सिद्ध हो गया कि जो कार्य है वही कारण भी है इसी प्रकार जो कारण है वही कार्य भी है तो यही नियम ईश्वर पर भी निर्धारित होता है अतः ईश्वर जब जगतका कारण है तो वह कार्य भी अवश्य होगा, जब कार्य होगा तब उसके कर्ताकी भी आवश्यकता होगी आदि आदि। परन्तु जहां आस्तिकवादने दो प्रकारके कार्य माने हैं, एक विश्लेषण क्रिया परक और दूसरा संश्लेषण क्रिया परक वहां नैयायिकों ने कार्य का लक्षण सावयवत्व ही किया है। यथा—'कार्यत्वमपि सिद्धं चेन दमादेः सावयवत्वतः" (सर्व सिद्धान्त संग्रह) अर्थात् पृथिवी आदिका सावयवत्व होनेसे कार्य-त्व सिद्ध है। उनका कथन है कि परमाणु और आकाशके बीचमें जितने अवान्तर परिणाम वाले द्रव्य हैं वे सब कार्य हैं। क्योंकि वे सब कार्य हैं। उनका मध्यम परिमाणत्व होना उनको सावयव सिद्ध करता है और जो सावयव है वह कार्य है।" अवान्तर महत्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वात्" सारांश यह कि

नैयायिकों ने केवल सावयव पदार्थको ही कार्य माना है। और यह निर्विवाद है कि सावयवत्व संश्लेषणात्मक क्रियाका ही परिणाम है। अतः यह सिद्ध है कि नैयायिक लोग संश्लेषणात्मक क्रियाके लिये कर्ताकी आवश्यकता समझते हैं। इसका तो विशेष विवेचन आगे कर्ता" प्रकरणमें करेंगे, यहां तो कार्य का प्रकरण है. अतः यहां तो यह देखना है कि नैयायिकोंका यह लक्षण ठीक है या नहीं।

कार्य कारण संबंध दर्शनशास्त्रमें चार तरहका माना गया है—

(१) असत् से सत् की उत्पत्ति (बौद्ध) (२) सत् से असत् की उत्पत्ति (वेदान्त) (३) सत् से सत् की उत्पत्ति (सांख्य) (४) असत् कार्य वाद या आरंभवाद (नैयायिक) इन नैयायिकों के सिद्धान्त का नाम आरम्भवाद अथवा असत् कार्यवाद है। इसका अभिप्राय यह है कि बीज के नाश होने पर अंकुर उत्पन्न होता है और अंकुर के नाश हो जाने पर वृक्ष उत्पन्न होता है इनका कथन है कि बीज में वृक्ष नहीं है अपितु वृक्ष एक पृथक् नया पदार्थ उत्पन्न हुआ है। प्रशस्तवाद भाष्य में कहा है कि मिट्टी से घट प्रत्यक्ष से ही पृथक् देख रहे हैं। यदि दोनों एक होते तो घड़े का काम मिट्टी ही दे सकती थी. ऐसी अवस्था में घट बनाने की आवश्यकता न थी. परन्तु सांख्य दर्शनने और वेदान्त ने इस असत् कार्यवादका तीव्र खण्डन किया है। वर्तमान विज्ञान ने भी इस वाद को अस्वीकार किया है। उसने अपने प्रयोगों द्वारा सत्कार्यवाद की पुष्टि की है। सांख्यकार का कथन है कि—

कारण में कार्य विद्यमान रहता है. इस बात को सिद्ध करने के लिये ईश्वर कृष्ण निम्न प्रमाण देते हैं—

असदकारणादुपादान ग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्"॥(सा० का० ९)

अर्थ—यदि कारण में कार्यकी सत्ता न मानी जावे तो आकाश पुष्प की तरह वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। सत् की उत्पत्ति होती है। उपादान का ही ग्रहण होता है अर्थात् शालि बीज ही शालिका उपादान कारण होता है, गेहूं आदि नहीं होते। सबसे सब वस्तुएं उत्पन्न नहीं होती, तिलोंसे ही तेल निकलता है बालू आदि से नहीं, शक्तिमान् कारण भी शक्य कार्य को ही जन्म देते हैं तथा कारण के होने पर ही कार्य होता है अतः इन पांच हेतुओं से ज्ञात होता है कि कारण में कार्य सदा विद्यमान रहता है।

इसी प्रकार वेदान्त दर्शनके द्वितीय अध्यायमें श्री शङ्कराचार्य जी ने असत् कार्यवाद का बड़ी प्रबल युक्तियोंसे खंडन किया है। वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यमें आपने सत्कार्यवादका बहुत ही सुन्दर और तात्विक विवेचन किया है। आप लिखते हैं कि—

सर्वं हि कारणं कार्य मुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्य तिरोधानं कुर्वत् कार्यान्तरं मुत्पादयति। एकस्मिन् कारणे युगपदनेक कार्य विरोधात्···आदि

अर्थात् जब कारण एक कार्य को उत्पन्न करता है तब वह दूसरे कार्य का तिरोधान कर देता है, उस कार्य को छोड़ देता है क्यों कि एक कारण में एक साथ अनेक कार्यों को व्यक्त करने का विरोध है किन्तु एक कार्य के तिरोहित हो जाने मात्र से कारणका नाश नहीं होता, कार्योंका अर्थ है अभिव्यक्त होना अर्थात् (ज्ञान का विषय होना) अब विद्यमान घट सूर्य के प्रकाश में नहीं दीखता इससे सिद्ध है असत् कार्य की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जब तक घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती उस समय तक घट मिट्टी पर्याय में विद्यमान रहता है। अतः उत्पत्तिसे पूर्व घट आदि विद्यमान रहते हैं, किन्तु उनमें स्वरूप पर आवरण होनेके कारण उनको

अभिव्यक्ति नहीं होती। गीता ने भी—"नासतो विद्यतेऽभावः नाभावोविद्यते सतः" कहकर इसका समर्थन किया। तथा छान्दोग्यने "कथमसतः संज्जायेत्" कहकर पुष्टिकी। अस्तु यहां प्रकरण यह है कि नैयायिकों का सिद्धान्त असत्कार्यवाद है। इसी लिये उन्होंने कार्य का लक्षण (प्रागभाव प्रतियोगित्वं कार्यत्वम्) किया अर्थात् जो प्राग अभाव का प्रतियोगी है वह कार्य है। यह लक्षण उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव प्रदर्शनार्थ ही किया है। यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, सावयव, कार्य की उत्पत्ति भी अवयव के नाश से ही माननी होगी। यदि ऐसा न मानें तब तो असत् कार्यवाद समाप्त होता है। और यदि यह मानें कि अवयवों का नाश हो जानेपर सावयवत्व उत्पन्न होताहै तो परमाणुनित्यत्ववाद का घात होता है। अतः "उभयतः पाशा रज्जु" न्याय से नैयायिक बंध जाता है। अतः कार्य का लक्षण सावयत्व ठीक नहीं यदि सत् कार्यवाद को मान कर कार्यका लक्षण सावयवत्व किया जाय, तो भी हमारे पक्ष की पुष्टि होती है. उस अवस्था में सावयव भी कार्य रहेगा तथा यही कारण भी. इसी प्रकार निरवयव कारण भी और कार्य भी। क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार निरवयव में सावयवत्व विद्यमान है और सावयव में निरवयवत्व। वहां तो केवल प्रकट होने का नाम ही कार्य है। अथवा इसको यों भी कह सकते हैं कि कार्य और कारण सापेक्ष शब्द हैं। सोना तार का कारण है और तार जेवर का कारण है। अतः तार कारण भी है और कार्य भी है. इसी प्रकार संपूर्ण पदार्थों के विषयमें यही कार्य कारण भाव होता है। अतः यह सिद्ध है कि कार्य की कारण से पृथक् सत्ता नही है, अपितु कारण की एक अवस्था का नाम कार्य है। तथा एक अवस्था का नाम कारण है। अतः जगत ही नहीं अपितु परमाणु आदि भी कार्य है। इसी प्रकार ईश्वर भी कार्य सिद्ध हो गया।

कार्य

यदि कार्य का लक्षण 'प्रागभाव प्रतियोगित्व' करें तो सूर्य आदि का अभाव सिद्ध नहीं है। स्वयं वेदों में भी इनको नित्य माना है। जैसा कि हम अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध कर चुके हैं। तथा वर्तमान विज्ञान ने उपरोक्त मतकी पुष्टि की है। अतः यह लक्षण जगत को कार्य सिद्ध करने में असमर्थ है।

यदि कार्य का लक्षण, सावयवत्व करें तो भी ठीक नहीं क्यों कि उसमें भी अनेक दोष हैं। प्रथम तो यही प्रश्न है कि सावयव कहने का अभिप्राय क्या है।

(१) क्या सावयवका अर्थ अवयव प्रवृत्तिहै (अर्थात् अवयवों का अविष्कार) ऐसा इसका अर्थ है। यदि यह अर्थ किया जाये तब तो यह लक्षण अवयवों में भी है। अतः लक्षण व्यभिचारी है।

(२) अवयवों से बना हुआ यह अर्थ करें, तो साध्य सम हेत्वाभास है। क्यों कि जगत का अभाव ही असिद्ध है। जैसा कि हम पहले लक्षण में लिख चुके हैं।

(३) यदि इसका अर्थ अवयव (बहुप्रदेशी) वाला करें तो आकाशादि में अतिव्याप्ति हैं। क्यों कि वे भी बहुत अवयव वाले (बहुप्रदेशी) हैं। ऐसी अवस्था में वे सब तथा स्वयं ईश्वर भी सकर्तृक सिद्ध होगा। क्यों कि वह भी सर्वव्यापक माना जाता है "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" मन्त्र में ही उसके चार अवयव बताये गये हैं। अतः यह लक्षण भी अयुक्त है।

(४) शेष रहा 'विकारी' अर्थात् यदि सावयवका अर्थ विकारी अर्थात् परिणमन शील किया जाये। तो प्रकृति, परमाणु, आत्मा और ईश्वर भी सब कार्य हो जायेंगे, पुनः उनका भी कर्ता मानना पड़ेगा। प्रकृति और परमाणु विकारीहैं यहहमपहले सिद्ध कर चुके

हैं आत्मा प्रत्यक्षमें ही विकारी है, विकारी होने के कारण ही यह मुक्ति की इच्छा करता है। शेष रहा आप का कल्पित ईश्वर उसको तो आपने ही जगतका कर्त्ता बना कर विकारी बना दिया। क्यों कि यह नियम है कि विकारी ही कर्म करने में प्रवृत्त होता है। अतः यह भी लक्षण ठीक नहीं है। सावयव के पूर्वोक्त चार ही अर्थ हो सकते हैं। उन चारों से आपके स्वार्थकी सिद्धी नहीं हो सकती। अतः जगत कार्य नहीं है। जब आप इसको कार्य ही सिद्ध नहीं कर सकते तो इसके कर्त्ता का तो प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। यदि "तुष्यन्तु दुर्जनाः" इस न्याय से जगत को कार्य स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी इस कार्य सम्बन्ध का कर्ता ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। क्यों कि कारण और कार्य में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध का पाया जाना आवश्यक है।

अन्यव व्यतिरेक

प्रो० हरिमोहन झा (बी० एन० कालेज पटना) ने भारतीय दर्शन परिचय के वैशेषिक दर्शन में लिखा है कि—"कारण कार्य में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् जहां कारण रहेगा वहां कार्य अवश्य होगा। जहां कारण न रहेगा वहां कार्य भी न होगा।

"कारणभावात् कार्य भावः।" "कारणाभावात् कार्याभावः"

वैशेषिक दर्शन पृ० १२८

अभिप्राय यह है कि कारण और कार्य का सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक से ही जाना जा सकता है। दूसरे शब्दों हम यह भी कह सकते हैं कि कारण और कार्य के सम्बन्ध की व्याप्ति के लिये सपक्ष और विपक्ष होना भी आवश्यक है। अतः हम संक्षेप

में पक्ष सपक्ष विपक्ष का लक्षण करके इसको स्पष्ट कर देते हैं। ताकि पाठकों को समझने में सुगमता हो जाये।

(पक्ष) "संदिग्ध साध्यवान् पक्षः"

अर्थात् जिसमें साध्य को सिद्ध करना है उसको पक्ष कहते हैं। जैसे पर्वत पर अग्नि है। यहां अग्नि जो साध्य है, उसको पर्वत पर सिद्ध करना है, अतः पर्वत पक्ष हुआ।

(सपक्ष) निश्चित साध्यवान् को सपक्ष कहते हैं।

"निश्चित साध्यवान् सपक्षः"

अर्थात्—साध्य जिसमें निश्चित रूपसे हो वह सपक्ष है। जैसे रसोई घरमें अग्नि निश्चित रूप से देखी गई है। अतः रसोई घर हुआ सपक्ष।

(विपक्ष) "निश्चित साध्याभावान् विपक्षः।"

जहां निश्चित रूप से साध्य का अभाव है वह विपक्ष है। जैसे तालाब में अग्नि नहीं है। अतः तालाब विपक्ष है।

अतः कारण कार्य सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये इन तीनों की आवश्यकता होती है। जैसे यदि पर्वत पर अग्नि सिद्ध करने के लिये जहां पक्ष रूपी पर्वत की आवश्यकता है वहां उसके सपक्ष रसोई घर और विपक्ष तालाबकी भी आवश्यकता है। यह अन्वय सपक्ष है और व्यतिरेकतालाब आदि हैं। यह अन्वय व्यतिरेक दो प्रकारके होतेहैं। एक देश परक दूसरे काल परक। अब जो पदार्थ नित्य और सर्वव्यापक होता है। वह किसीका कारण (कर्त्ता) नहीं हो सकता। क्यों कि नित्य और सर्व व्यापक में न तो अन्वय सपक्ष बन सकता है और न व्यतिरेक (विपक्ष) ही बन सकता है। बिना अन्वय और व्यतिरेक के अविनाभाव सिद्ध नहीं हो सकता यही कारण है कि नैयायिकों ने नित्य विभु पदार्थ को कारण नहीं

माना। क्यों कि उन्हों ने कारणका लक्षण ही —"अनन्यथा सिद्ध नियत पूर्ववर्तित्वं" किया है। अर्थात् जो अन्यथा-सिद्ध न हो और और नियत पूर्ववर्ति हो उसे कारण कहते हैं। नैयायिकों ने पांच अन्यथा सिद्ध माने हैं। उनमें विभु को तृतीय अन्यथा सिद्ध माना गया है अतः सिद्ध है कि ईश्वर जगत का कर्त्ता नहीं हो सकता जैन दर्शन ने भी कहा है।

हेतुनान्वयरूपेण व्यतिरेकेण सिध्यति। नित्यस्याव्यतिरेकस्य कुतो हेतुत्व संभवः॥

अभिप्राय यह है कि हेतुमें दोनों बातें अन्वय और व्यतिरेक होनी चाहिये। जैसे जहां जहां ज्ञान है वहां वहां चेतनता है, जैसे मनुष्य पशु आदि यह तो हुआ अन्वय, इसका व्यतिरेक हुआ जहां जहां ज्ञान नहीं है वहां वहां चैतन्य भी नहीं है जैसे दीवार मिट्टीके पात्रादि यह हुआ व्यतिरेक। यह ही इस बातको सिद्ध करता है कि चैतन्यका और ज्ञानका साहचर्य है। परन्तु आपके ईश्वरमें यह व्यतिरेक सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि आप उसको सर्व व्यापक मानते है। अभिप्राय यह है कि आपके कथनानुसार जगतका कर्त्ता ईश्वर है, अब जहां जहां ईश्वर है वहां वहां जगत् है यह तो आप कह सकोगे परन्तु आप यह नहीं कह सकते कि जहां २ ईश्वर नहीं है वहां २ जगत् भी नहीं है। अतः इसका व्यतिरेक नहीं है। ऐसी अवस्थामें यह कार्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। तथा च पक्षका. सपक्ष व विपक्ष दोनों हों तभी पक्ष दक्ष कहला सकता है। यथा पर्वत पर अग्नि है, धूम होनेसे रसोई घरकी तरह। इसमें पर्वत पक्ष रसोई घर सपक्ष तथा तालाव आदि विपक्ष है। इसी प्रकार आपका जगत है पक्ष, अब इसका न तो सपक्ष है और न विपक्ष। अतः यह पक्ष भी नहीं बन सकता।

तथा ईश्वरको सर्वदा और सर्वव्यापक माना जाता है। परंतु कभी २ प्रलय आदिमें कार्य नहीं भी है अतः अन्वय भी नहीं हो सकता। अतः ईश्वर जगत कर्ता नहीं है।

कार्यत्व

आप लिखते हैं कि—"विना अधिक परिश्रम किए या विना बालकी खाल निकाले भी यह तो शायद सभी मानते हैं कि जिन वस्तुओं या घटनाओंको हम संसारमें देखते हैं उन सबका आरंभ होता है, अर्थात् वह अनित्य है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिस पर कालका प्रभाव न हो। पुरानेसे पुराने वृक्षको लो। यह मानना पड़ेगा कि वह कभी उत्पन्न हुआ था। पुरानेसे पुराने पहाड़ को देखो। उसके आदिका भी पता लग जायगा। आजकलके विज्ञान वेत्ता अपने परीक्षालयों में इसी बातका अन्वेषण करते रहते हैं कि अमुक पदार्थ कैसे बना? ज्यों लॉ जी (Geology) अर्थात् भूगर्भ विद्याने पता लगाया है कि अमुक पर्वत या अमुक चट्टानें किस प्रकार और कब बनी? जिस हिमालय पर्वतको हम समस्त पृथ्वीस्थ पदार्थोंका पिता यह कह सकते हैं वह भी कभी तो उत्पन्न हुआ ही होगा। भिन्न २ स्थानोंकी मिट्टी सृष्टि रचना की भिन्न २ अवस्थाओंका इतिहासमात्र है। एक वस्तु दूसरेकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि उसके बननेका एक काल नियत है। वृक्षका फूल पत्ते से नया है। पत्ता जड़से नया है। वृक्ष को जड़ उस मिट्टीसे नई है, जिसमें वह उत्पन्न हुआ। मिट्टी उस चट्टानकी अपेक्षा नई है जिस पर वह जमी हुई है, चट्टान पृथ्वीके तलकी अपेक्षा नई है। पृथ्वी की भी कई अवस्थाएं बताई जाती हैं। कहते हैं कि पहले यह आग का गोला था जो ठंडा होते होते इस अवस्था में पहुंचा है। जिस प्रकार अंगार पर ठंडा होनेके समय सिकुड़न

पड़ जाती है उसी प्रकार पृथ्वीका गोला जब ठंडा होने लगा तो उसमें सिकुड़न पड़ गई ऊँचे स्थान पहाड़ बन गए और नीचे स्थान समुद्र बन गए। इसी प्रकार भौतिकी (Physics) और रसायन शास्त्र (Chemisty) के पंडितोंने जल वायु आदिका भी विश्लेषण (Analysis) किया और उनके उन तत्वोंको अलग २ करके दिखा दिया जिनके संयोग से यह बने थे। यह दूसरी बात है कि इन पदार्थोंका आरम्भ काल हमारी आँखोंके सामने नहीं है। परन्तु कुछ को तो हम अपनी आँखसे नित्य प्रति बनते देखते हैं और दूसरोंका विश्लेषण करके यह जान सकते हैं कि वह कभी बने थे। वस्तुतः किसीसे पूछा जाय कि बेबनी हुई चीज कौनसी है? तो वह न बता सकेगा। वह इन्द्रियां जिनसे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और वह पदार्थ जिनका ज्ञान प्राप्त किया जाता है यह दोनों ही बने हुए पदार्थ प्रतीत होते हैं। वैज्ञानिकोंका विशेष प्रयत्न ही इसी लिये होता है कि उन मूल तत्वोंका पता लगाया जाय जो स्वयं नहीं बने और जिनसे अन्य पदार्थ बने हैं। परन्तु दीर्घकाल के प्रयत्नसे भी वह अपने इस काममें सफल नहीं हुए। जिनको पहले मौलिक तत्व समझा जाता था वह अब संयुक्त पदार्थ सिद्ध हो चुके हैं। और जिनको आज कल मूल तत्व समझा जाता है उनके लिये भी निश्चय करके यह कहना कठिन है कि उनके माता पिता कोई दूसरे तत्व तो नहीं है। फिर यदि निश्चित हो जाय कि अमुक पदार्थ मूल तत्व है तो भी जिस अवस्थामें वह हमारे सम्मुख है। वह तो फिर भी बनी हुई ही वस्तु है क्योंकि वह अपने ही परमाणुओंसे बना है। उदाहरण के लिये माना कि सोना तत्व है। परन्तु सोनेकी डली तोड़ी जा सकती है, सोनेके जिन अणुओंसे वह डेला बना है वह अवश्य किसी न किसी समय किसी न किसी साधन द्वारा संयुक्त हुए होंगे

जिस वस्तुको हम तोड़ सकते हैं उसके बना हुआ सिद्ध करनेमें क्या आपत्ति है ? और संसारमें ऐसी कौन सी वस्तु है जो तोड़ी नहीं जा सकती ? वस्तुतः संसारकी सभी वस्तुएं विश्लेषण (analysis) और संश्लेषण (synthesis) नामक दो क्रियाओं द्वारा बनती है। या तो किन्हीं दो वस्तुओंको मिला कर नई चीज बना देते हैं जैसे फूलोंके गुलदस्ते या पहले कुछ चीजोंको तोड़ डालते हैं और उनके टुकड़ोंको जोड़ कर एक नई चीज बना देते हैं जैसे मकानका दरवाजा।

यहां एक बात कही जा सकती है। साइन्स (science) वेत्ता यह कह सकते हैं कि संसारकी सभी वस्तुयें तत्वोंसे बनी हैं परंतु वह तत्व किसीसे नहीं बने। अर्थात् विश्लेषण करते करते हम परमाणुओंकी एक ऐसी अवस्था पर पहुंच सकते हैं कि जिसके आगे विश्लेषण हो हीं नहीं सकता। इसलिए उन परमाणुओंका बनना सिद्ध नहीं हो सकता यह तो हो सकता है कि उन परमाणुओंके मिलनेसे दूसरी चीजें बन गईं. परन्तु यह कैसे माना जाय कि वह परमाणु भी किसी अन्य पदार्थसे बने हैं। यदि कभी यह सिद्ध भी हो गया कि जिनको हम परमाणु (परम ÷ अणु) कहते हैं वह भी किन्हीं अन्य चीजोंके मिलनेसे बने हैं तो हम इन बनी हुई चीजोंको परमाणु न कह कर दूसरोंको परमाणु कहने लगेंगे। इस प्रकार अंतको एक ऐसे स्थान पर अवश्य पहुंचना पड़ेगा जहांसे आगे नहीं चल सकते। इसी आक्षेप को महाशय J. S Mill ने अपनी Three essays in Rebgion नामक पुस्तकमें इस प्रकार वर्णन किया है:—

"सृष्टिमें एक स्थाई तत्व है और एक अस्थायी। परिणाम सदा पहले परिणामोंके कार्य रूप होते हैं। जहां तक हमको ज्ञात है स्थायी सत्तायें कार्य रूप हैं ही नहीं। यह सत्य है कि हम घट-

नाओं तथा पदार्थों दोनोंको ही कारणोंसे बना हुआ कहा करते हैं, जैसे पानी आक्सीजन और हाईड्रोजनसे मिलकर बना है। परंतु ऐसा कहनेसे हमारा केवल इतना तात्पर्य होता है कि जब उनका अस्तित्व आरम्भ होता है तो यह आरम्भ किसी कारणका कार्य रूप होता है परन्तु उनके अस्तित्वका आरम्भ पदार्थ नहीं है किंतु घटना मात्र है। यदि कोई यह आक्षेप करे कि किसी वस्तुके अस्तित्व के आरम्भका कारण ही उस वस्तुका भी कारण है तो मैं इस शब्द प्रयोगके लिए इससे झगड़ा नहीं करता। परन्तु उस पदार्थ में वह भाग जिसके अस्तित्वका आरम्भ होता है सृष्टिके अस्थायी तत्वसे सम्बन्ध रखता है। अर्थात् बाहिरी रूप यथा वह गुण जो अवयवोंके संयोग अथवा संश्लेषणसे उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थमें इससे भिन्न एक स्थायी तत्व भी है. अर्थात् एक या अनेक विशेष मौलिक सत्ताएं जिनसे वह पदार्थ बना है और उन सत्ताओंके अपने धर्म। हम इनके अस्तित्वके आरम्भको नहीं मानते। जहां तक मनुष्यके ज्ञानकी सीमा है वहां तक यही सिद्ध होता है कि उनका आदि नहीं और इसलिए उनका कारण भी नहीं। हाँ यह स्वयं प्रत्येक होने वाली घटनाके कारण या सहायक कारण अवश्य हैं। *

---

*There is in nature a permanent, element and also a changable the effects of previous change the permanent existances, so far as we know, are not effects at all. It is true we are accustomed to say not to only of events, but of objects, that they are produced by causes, as water by the union of hydrogen and oxygen. But by this we only mean that when they begin to exit there beginning is the

हमको मिल महोदयकी यह बात माननेमें कुछ भी संकोच नहीं है। हमारा भी वस्तुतः यही मत है कि संसार स्थायी तथा अस्थायी इन दो वस्तुओंके मेलसे बना है। अस्थायीको संस्कृतकी पुस्तकोंमें "नाम और रूप" नामसे पुकारा है और स्थायीको मूल

---

effect of a cause. But there beginning to exit is not an object, it is not an event. If it be objected that the causeof a thing's beginning to exit may he said with property to be the cause of the thing it self. I shall not quarrel with the expression. but that which in an object begins to exist is that in it which belongs to the chargeable elments in nature, the outward form and the properties depending on mechanical or chemical combinations of its component parts. There is in every object another and a permanent element, Viz the specific elementry substance or substances of which it consists and the inherent properties. These are not known to us as beginning to exist within the range of human knowledge they had no beginning, and consequently to cause. Though they themselves are cause or concauses of every thing that takes place. Experience therefore affords no evidence, not even analogies, to justify our extending to the apparently immutable, a generalsation growndeed only on our observation of the changeable.

तत्व। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मूल तत्व और नाम रूपसे मिल कर ही जगत् बनता है। इस लिए जगत्का बनना अर्थात् कार्य सिद्ध होता है।

परमाणुओंके विषयमें मौलिक विज्ञान वेत्ताओंमें मतभेद है। साइंस सम्बन्धी अन्वेषण हो रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वस्तुतः परमाणु कोई चीज नहीं और वह मूल तत्व जिससे संसार बना है केवल शक्तिके केन्द्र हैं। परन्तु हमें इस मतके अनुसार भी यह मानना पड़ेगा कि कोई न कोई समय ऐसा अवश्य होगा जब शक्तिके यह केन्द्र अपनी मौलिक अवस्थासे चल कर जगत् की वर्तमान अवस्था तक पहुंचे होंगे। अर्थात् यह सृष्टि रची गई होगी। यदि सृष्टि रची गई तो अवश्य इस को कार्य कहना पड़ेगा।

कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि सृष्टिके रचनेके लिये परमाणुओं में परस्पर मिलने की आवश्यकता नहीं है सृष्टि में एक मूल तत्व है जिसको प्रकृति कहते हैं यही मूल तत्व परिणाम से सृष्टि के रूप में हो जाता है जिस प्रकार पानी बर्फ हो जाता है। हम इन भिन्न मतों की मीमांसा नहीं करते। इस स्थान पर हमारा यह प्रयोजन यह नहीं है कि हम मूल तत्वके विषय में कोई आलोचना करें। हम तो केवल एक बात को दर्शाना चाहते हैं वह यह है कि सृष्टिका आरम्भ है। कोई समय है जब यह सृष्टि बनती है। परिमाणवादियोंके मतमें भी परिणामका समय होता है। परिणाम भी एक प्रकारका कार्य ही है। माना कि बर्फका मूल तत्व वही है जो पानी का है परन्तु पानी और बर्फ एक ही वस्तु नहीं है, न कोई इन दोनों से एक ही आशय समझता है। पानी से बर्फ बनने में एक समय लगता है। बर्फ को हम कार्य और पानीको कारण कह सकते हैं।

हां दार्शनिकों का एक मत है जो सृष्टि के कार्यत्व पर किसी अंश में आक्षेप करता है। यह है विवर्तवादी।

"अतात्त्विको अन्यथा भावः विवर्त इति उदीरितिः॥"

जो वस्तु न हो और मालूम पड़े उसका नाम विवर्त है जैसे सांप नहीं है और मालूम पड़ता है। या जल नही है और प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि संसार वस्तुतः एक भ्रमात्मक कल्पित वस्तु है या यों कहना चाहिये कि कल्पना मात्र है। स्वप्न में मनुष्य को हाथी घोड़े वृक्ष आदि सभी दिखाई देते हैं। आंख खुलने पर कुछ नहीं रहता। इसी प्रकार इस संसार को भी स्वप्न के समान देख रहे हैं। जब हमारी ज्ञान की आंख खुलती है तो यह स्वप्न हमारी आंखसे लुप्त होजाता है। इस मतके अनुयायियों की दृष्टि में संसार कोई वस्तु नहीं फिर इस को कार्य कैसे माना जाय यहां स्थायी और अस्थायी का प्रश्न ही नहीं। इनका तो केवल यह कहना है कि जिसको हम व्यवहारिक बोल चाल में "संसार" कहते हैं यह तात्विक दृष्टि से स्वप्न मात्र है। वस्तुतः संसार की यह भिन्न भिन्न वस्तुएं जिनकी भिन्नता ही एक विचित्रता उत्पन्न कर रही है, स्वप्न से अधिक और कुछ नहीं है, मूल तत्व एक है। जिसको ब्रह्म कहते हैं।

हम यहां "स्वप्नवाद" या "एक ब्रह्मवाद" पर कुछ नहीं कहना चाहते। यह ठीक हो या न हो। परन्तु जो लोग संसार को स्वप्न मात्र मानते हैं उनको यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा।

निमित्त कारण

आगे आप लिखते हैं कि—

ऊपर हम वैशेषिकों ने जो ईश्वरके आठ गुण बताये हैं, उनका कथन कर आये हैं। नैयायिकों ने भी कहा है कि—

इच्छा पूर्वक कर्तृत्वम्, प्रभुत्वमस्वरूपता।
निमित्त कारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित्॥

अर्थात् इच्छा पूर्वक क्रिया करनाप्रभु (स्वामी) होना तथा कार्य के समान स्वरूप वाला न होना यह निमित्त कारण में ही होता है, उपादान कारण में ये बातें नहीं होती। आदि,

निमित्त कारण के लिये नैयायिकों का कथन है कि—

जिसका अपना स्वरूप ही कार्याकार्य हो उसको "उपादान" कारण कहते हैं। जैसे घटका उपादान कारण मिट्टी है, न्याय शास्त्र की परिभाषामें इसीको "समवायि" कारण कहते हैं. यह उपादान कारण दो प्रकार का है, एक आरम्भक उपादान, दूसरा परिणामि उपादान, बहुत से पदार्थ मिले हुये अवयवपुञ्ज से एक कार्य बन जाने का नाम "आरम्भक" और उस कारणरूप पदार्थ का परिणामस्वरूप बदल कर कार्यका हो जाना "परिणामी" उपादान कहा है. जैसे दूधसे दधि आदि, मायावादी तीसरा विपत्तिसे उपादान भी मानते हैं। अन्य में अन्य की प्रतीति आदि, और यह अविद्या का परिणाम तथा चेतन का विवर्त्त है "विवर्त्त" वास्तव में स्वस्वरूप न त्यागने को कहते हैं और निमित्ति कारण उसको कहते हैं जो कार्याकार न हो कर और ज्ञान इच्छा, यत्न वाला होकर कार्यको बनाये, जैसे जीवात्मा अपनेशरीरके बाहर भीतर के यथाशक्ति कार्यों का कर्त्ता है। और जो उपादान कारणमें सम्बन्धी होकर कार्यका जनक हो उसको "असमवायि" कारण कहते हैं. जैसे तन्तुओं का संयोग पटका असमवायि कारण है और जो उक्त तीन प्रकार के कारण से भिन्न हो वह "साधारण" कारण कहलाता है, जैसे कि घटादिकोंकी उत्पत्तिमें देश काल आकाशादि साधारण कारण हैं।

आस्तिकवाद और निमित्तकारण

Dr. Ward gives us the very best and clearest example of cause that we can have "the influx of a man's mental volitions in to his bodily acts" (p. 35)

"It not only follows ofter. It follows from. It is its result, its effects. The act of will is its cause" (p 36)

अर्थात् "डाक्टर वार्ड ने कारण का सबसे अच्छा उदाहरण दिया है— मनुष्यकी इच्छा शक्ति की उसके शारीरिक व्यापारमें प्रविष्टि" (पृ० ३५)

"(कार्य) न केवल (कारणसे) पीछे होता है किन्तु कारण के द्वारा होता है। यह उसका कार्य या परिणाम है। इच्छा शक्ति भी क्रियामें कारण है।" (पृ० ३६)

वार्ड से अच्छा लक्षण अन्नमभट्ट ने अपनी तर्क संग्रह का तर्क दीपिका में दिया है।

उपादान गोचरा परोक्षज्ञान चिकीर्षाकृतिमत्वं कर्तृत्वं।

अर्थात् कर्त्ता या निमित्त कारण वह है जिसमें नीचे लिखी तीन बातें हों।

(१) उपादान गोचर-अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् उपादान कारणका अपरोक्ष या निकट तम ज्ञान जैसे कुम्हार को मिट्टी का।

(२) चिकीर्षा, (काम करने की इच्छा)।

Monday always comes before Tuesday, yet I never heard any one call Monday the cause of Tuesday. Darkness always comes before sunrise, yet darkness is not the cause of sunrise (p. 35

समीक्षा—उपरोक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि निमित्ति कारण के विषय में भी अनेक विवाद है। अतः जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि निमित्त कारण किसे कहते हैं, उस समय तक ईश्वरको निमित्ति कारण बताना साध्यसम हेत्वाभास है। तथा च इन सब बातोंका उत्तर विस्तारपूर्वक दिया जाचुका है। तथा यहां भी संक्षेप में उत्तर लिख देते हैं कि ये सब प्रश्न उसी समय उपस्थित होसकते हैं जब कि यह सिद्ध हो जाये कि यह जगत अनादि नहीं है अपितु किसी समयविशेष में बना है। परन्तु यह सिद्ध कर चुके हैं कि यह जगत अनादि निधन है, न कभी बना और न कभी नष्ट ही होगा। यह न माना जाये तो भी ईश्वर कर्त्ता है यह कैसे सिद्ध हो गया ? क्यों कि ईश्वर सर्व व्यापक एवं निष्क्रिय माना जाता है अतः सर्व व्यापक कर्त्ता नही हो सकता यह हम प्रबल प्रमाणों और अकाट्य युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं। रह गया अकस्मात् वाद सो हम तो अकस्मात् के सिद्धान्त को ही नहीं मानते, अतः हमारे लिये यह प्रश्न ही व्यर्थ है। यूनानी भाषा के या सेक्सपीयर के नाटक को तथा प्रपंच परिचय के श्लोक अक्षरों के संयोग से स्वयं नहीं बने और न बन सकते है यह तो ठीक है और ऐसा मानना कि ये सब स्वयं बन गये अन्ध विश्वास है तो यह मानना कि सब निराकार ईश्वर ने बनाये हैं, यह महा अन्ध विश्वास है। हम पहले लिख चुके हैं कि मनुष्यकृत कार्यों को प्राकृत कार्यों के साथ नहीं मिलाया जा सकता। इसी प्रकार प्राकृतिक कार्यों को भी मनुष्य कृत नहीं कहा जा सकता।

यदि यह न माना जाय तो पशु पक्षी, कीट, पतंग, दीमक आदिके कार्यों को भी मनुष्य कृत कहाजा सकेगा क्यों कि कार्यत्व सब जगह समान हैं। अतः जो मखौल उड़ाई है वह उपहास, मूर्खों का मनोरंजन मात्र है। वृक्ष व फल, फूल आदि केवल जड़

ही नहीं है अपितु उनमें आत्मा भी है, तथा जिस प्रकार मनुष्यादि का शरीर आत्मा बीज द्वारा स्वयं निर्माण कर लेता है उसी प्रकार वृक्ष आदि की आत्मायें भी उस उस शरीर का निर्माण यथा बीज कर लेती हैं। अथवा यूं कह सकते हैं, कि आत्माके योगसे पुगद्ल (कर्माण वर्गणामें) स्वयं शरीर रचना करता है। इसका विशेष विवेचन कर्म फल प्रकरणमें कर चुके हैं।

आगे आप लिखते हैं कि—

(३) "कृति, अर्थात् क्रिया या प्रयत्न।

ज्ञान चिकीर्षा तथा कृति में भी कारण कार्य्य का सम्बन्ध है। क्योंकि कोई क्रिया विना इच्छाके नहीं हो सकती और जब तक उस वस्तु का ज्ञान न हो जिस पर कर्त्ता की क्रिया पड़ती है उस समय तक उसमें इच्छा भी नहीं हो सकती। एक प्रकारसे इच्छा शक्तिको भी कृतृत्वका विशेष लक्षण मान सकते हैं, क्योंकि जहां इच्छा है वहां ज्ञान पहले अवश्य रहा होगा और वहीं क्रिया के भी होने की सम्भावना है।

इस प्रकार इच्छा शक्तिका 'कारणत्व' से विशेष सम्बन्ध है। जिस घटनामें इच्छा-शक्ति विद्यमान नहीं होती उसको हम कारण नहीं कहते चाहे वह घटना दूसरी घटनासे पूर्व एक बार देखी गई हो अथवा कई बार। कल्पना कीजिये कि हम छतकी कड़ीसे लगातार सैकड़ों बार मिट्टी गिरते देखते हैं। परन्तु हमारा कभी यह विचार भी नहीं होता कि मिट्टी गिरानेका निमित्त कारण छतकी कड़ी है। परन्तु यदि एक बार भी हम किसी मनुष्यको छतसे मिट्टी गिराते देखते हैं तो झट कहने लगते हैं कि मिट्टी इस मनुष्य ने गिराई है। क्यों कि पहले उदाहरण में इच्छाशक्ति उपस्थित नहीं है और दूसरेमें उपस्थित है।

प्रत्येक कार्य्य के लिये निमित्त कारण की आवश्यकता, और

निमित्त कारण के लिये इच्छा-शक्ति की आवश्यकता, यह दोनों बातें मनुष्यके मस्तिष्क में आरम्भ से इस प्रकार जमी हुई हैं कि इनसे मुक्ति पाना दुस्तर ही नहीं किन्तु असम्भव है। आज कल जब दर्शन-शास्त्रका आधार मानवी ज्ञानके नियमों (Theory of Knwledge) पर रक्खा जाता है और इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि तत्वज्ञानकी प्राप्ति के लिये ज्ञानतत्वकी प्राप्ति आवश्यक है उस समय हम उन नियमों को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते जो मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में शासन करते रहे हैं। वस्तुतः प्रत्येक क्रिया के साथ किसी इच्छा शक्तिका संबंध जोड़ना मनुष्यके लिये इतना स्वाभाविक है कि जहां उसकी इच्छा शक्तिका प्रकट रूप दिखाई नहीं देता वहां वह कोई न कोई कल्पित रूप मानने लगता है। जैसे जब वह किसी पहाड़से आग निकलती देखता है और आग जलाने वाले को नहीं देखता तो कल्पना कर लेता है कि एक अदृष्ट देवी या देवता है जो इस अग्निको निकाल रही है।" आदि

समीक्षा

प्रयोजन—न्याय दर्शनकार लिखते हैं कि—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ।

अर्थात् जिस उद्देश्य को लेकर किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है, उसे प्रयोजन कहते हैं। अथवा शरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि—इच्छा पूर्वक क्रिया का जो कारण है उसे प्रयोजन कहते हैं। क्यों कि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपिन प्रवर्तते" बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्यको नहीं करता यह अटल सिद्धान्त है। सारांश यह है कि निमित्त कारणमें निम्न मुख्य बातें होनी ही चाहिये।

(१) निमित्त कारण के लिये सबसे मुख्य प्रयोजन है।

क्यों कि बिना प्रयोजन के न तो उस कार्य को करनेकी इच्छा ही होगी और न प्रवृत्ति।

(२) इच्छा. (३) ज्ञान (४) प्रवृत्ति अर्थात् मानसिक व शारीरिक क्रिया शारीरिक क्रियाको चेष्टा भी कह सकतेहैं। जिसमें उपरोक्त बातें होंगी वही निमित्त कारण कहला सकेगा, इनमें यदि एकका भी अभाव होगा तो वह निमित्त कारण नहीं हो सकेगा। उपरोक्तसभी बातें मिल कर एक निमित्त कारण कहलाती हैं। पृथक् पृथक् नहीं इसके अलावा निमित्त कारण, कार्य में व्यापक नहीं होता। उपादान कारण ही व्यापक होता है। मकड़ी के जाले का दृष्टान्त और जीवात्मा का दृष्टान्त विषम है क्योंकि मकड़ी जालेमें व्यापक नहीं है अपितु उस जाल से पृथक् है। तथा जीव को जो लेखक महाशयगण भी शरीर में व्यापक नहीं मानते अपितु उनके मतमें आत्मा अणु प्रमाण है। अतः यह भी दृष्टान्त उनके पक्ष का घातक है। इसका विचार फिर करेंगे।

जैसे किसी मनुष्य को हजारों पदार्थों का ज्ञान है परन्तु वह ज्ञान मात्रसे ही निमित्त कारण नहीं बन सकता। यदि ज्ञानके साथ साथ उस कार्यको करनेकी इच्छाभी है फिर भी वह निमित्त कारण नहीं कहलाता। यदि इच्छा के साथ साथ मानसिक प्रवृत्ति न है (कार्यकरनेके उपायोंका विचार) तो भी वह कर्ता नहीं हो सकता। अतः जब उससे शारीरिक क्रिया करके साधन आदि जुटाकर कार्य सिद्ध कर लिया उस समय वह कर्ता या निमित्त कारण कहलाताहै। हमने ऊपर आस्तिकवादका प्रमाण दिया है उसमें भी उपाध्याय जी ने उपरोक्त कथन की ही पुष्टि की है। आप लिखते हैं कि—

"डाक्टर वार्डने कारण (निमित्त कारण) का सबसे अच्छा उदाहरण दिया है मनुष्यकी इच्छा शक्तिकी उसके शारीरक व्यापारमें प्रवृति" पृ० ९५

अर्थात् निमित्त कारणके लिए शरीरका होना भी आवश्यक है। इस बातको पं गंगाप्रसाद जी ने आस्तिकवादमें स्वीकार कर लिया है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो गया। इन सब प्रमाणोंसे कर्त्ताका लक्षण यह बना कि कारणमें व्यापक न होता हुआ प्रयोजन सहित ज्ञान पूर्वक इच्छा द्वारा शारिरिक क्रियासे कार्यको सिद्ध करने वाला कर्त्ता कहलाता है। यह लक्षण यदि ईश्वरमें घट जाये तभी उसको कर्त्ता माना जा सकता है।

परन्तु कर्त्तावादी न तो ईश्वरका कोई प्रयोजन ही सिद्ध कर सकते हैं, और न वह सर्व व्यापक होनेसे क्रिया ही कर सकता है। तथा न उसके शरीर ही माना जाता है। एवं न उसमें इच्छा ही का सद्भाव है। जब यह सब उसमें नहीं है तो वह कर्त्ता भी नहीं हो सकता क्योंकि कर्त्तामें इन चीजोंका होना परमावश्यक है। यदि इनके बिना भी कर्त्ता हो सकता है तो उनको कर्त्ताका लक्षण ही अन्य करना पड़ेगा। परन्तु कर्त्ताका लक्षण जो हमने ऊपर दिया है उसके सिवा कुछ हो ही नहीं सकता। अतः कर्त्त वादियोंका कर्तव्य है कि या तो वे ईश्वरमें भी शरीर आदि का अस्तित्व मानें अथवा कर्त्ताका लक्षण ऐसा करें जो इस कल्पित ईश्वरमें चरितार्थ हो सके। अन्यथा ईश्वरको कर्त्ता माननेका नाम भी न लें। अब हम आस्तिकवादकी युक्तियों पर विचार करते हैं। जो उन्होंने अपने पक्षकी सिद्धिमें दी हैं। आप लिखते हैं कि—

'परन्तु याद रखना चाहिये कि जब संसारकी क्रियायोंके दो वर्ग हो गये एक 'प्राणिकृत' जो "सिद्धकोटि" में है। दूसरे 'अप्राणिकृत' जो 'साध्यकोटि' में है। तो सिद्धकोटिकी वस्तुएं तो दृष्टान्त का काम दे सकती हैं परन्तु साध्य कोटिकी नहीं। किसी पक्षको यह अधिकार नहीं है कि साध्यकोटिकी किसी वस्तु को दृष्टान्तके रूपमें उपस्थित कर सके।" आदि

समीक्षा,—यहां आपने प्रथम तो क्रियाको साध्य मान लिया है, परन्तु यहां तो साध्य ईश्वर है न कि क्रिया। क्रिया तो प्रत्यक्ष है वह साध्य किस प्रकार हो सकती है। आगे आपने वस्तुको साध्य मान लिया, इसलिए आपने लिखा है कि—"किसी पक्षको यह अधिकार नहीं है कि साध्यकोटि की किसी वस्तुको दृष्टान्तके रूपमें उपस्थित कर सके।" इसीसे सिद्ध है कि पुस्तक लिखते समय आपने 'सिद्ध' और 'साध्य' का विशेषविचार पूर्वक अध्यन करने का कष्ट नहीं उठाया शेष रह गया क्रिया व कर्त्ताका प्रश्न, सो तो आपने स्वयं ही दो प्रकारकी क्रियायें मानकर (एक प्राणिकृत दूसरी अप्राणिकृत अर्थात् जड़कृत) इसका निर्णय कर दिया। तथा च आपके मान्य सांख्य दर्शनके सिद्धान्तानुसार तो प्रत्येक क्रिया जड़ कृत ही होती है। उसके मतानुसार पुरुष तो निष्क्रिय तथा अकर्त्ता है, वह तो 'साक्षी चेताकेवलो निर्गुणश्च' है। अर्थात् पुरुष क्रिया शून्य ज्ञाता द्रष्टा व निर्गुण है।

अतः जिसको आप प्राणिकृत क्रियायें बनाते हैं वे भी वास्तव में जड़ की क्रियायें हैं। जड़ के संयोग से प्राणि (जीव) को भी क्रियाका कर्ता कहा जाता है। प्रशस्तपाद भाष्यमें ही कर्म (क्रिया) के जहां लक्षण किये हैं वहां स्पष्ट कर दिया है कि क्रिया मूर्त्त द्रव्यवर्ति ही होती है। वहां लिखा है कि—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, और मन ही क्रिया के आधार हैं। आत्मा आकाश आदि में न क्रिया है और न वह क्रिया देसकते हैं। क्योंकि जो स्वयं क्रिया रहित हैं वह दूसरोंको क्रिया नहीं देसकता जो स्वयं अज्ञानी है वह दूसरे कोज्ञान नहीं देसकता। अतः यह सिद्ध है कि क्रिया जड़में ही होती है तथा जड़ ही देता है। चेतन तो निष्क्रय शान्त स्वभावी है। इस देह में रक्त संचालन, श्वासादि की जो क्रियायें होती हैं उनको भी वैशेषिक दर्शनकारने अदृष्टजन्य माना है। यह अदृष्टभी जड़ है।

इसी प्रकार सांख्यका सिद्धान्त है कि परिणाम प्रकृति का स्वाभाविक गुण है वह प्रलय अवस्था में भी प्रकृतिमें रहता है। सांख्य तत्व कौमुदी में लिखा है कि—

'प्रतिक्षण परिणामिनी हि सर्वएव भावा ऋते चिति शक्तेः।'

अर्थात्—आत्मा को छोड़ कर शेष सब भाव प्रतिक्षण परिणामनशील हैं अर्थात् प्रलय अवस्था में भी प्रकृति में प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। तथा योग दर्शनके भाष्यमें व्यासजी लिखते हैं कि—

'प्रकृतिर्हि परिणमनशीला क्षणमपि अपरिणम्य नावतिष्ठते'

अर्थात्—परिणमन प्रकृतिका स्वभाव है, इस लिये वह बिना परिणमन के एक क्षण भी नहीं रहती। अतः स्पष्ट है कि क्रिया जड़ का स्वभाव है अतः जड़ में प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है। (१) यही अवस्था अन्य वैदिक दर्शन की है, वे सब भी क्रिया को जड़ का स्वभाव मानते हैं। (२ तथा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य आत्मा को निष्क्रिय मानता है। अतः क्रिया, ईश्वर की सिद्धि में साधक नहीं अपितु बाधक है।

स्वयं सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि—

"कहीं कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ जाता है। जैसे परमेश्वरके रचित बीज पृथ्वी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं। और अग्नि आदि के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं। यहां जड़ के संयोग से जड़का बनना और बिगड़ना तो सिद्ध है और बीज आदि ईश्वर रचित हैं यह साध्य है" तथा यह भी मान लिया गया है। कि अग्नि, जल आदि का संयोग भी जड़ कृत है। ईश्वर कृत नहीं है। अतः इन क्रियाओं को साध्य लिखना भूल है।

(१) सांख्य मतानुसार प्रकृति का रजो गुण ही क्रिया कारक है ।

(२) जैन दर्शन द्रव्य मात्र को परिणमनशील मानता है ।

स्वामी दर्शनानन्द ने स्वभाववादियों के खण्डनमें यह युक्ति दी है कि "यदि परमाणुओं में मिलने का स्वभाव है तो वह कभी अलग न होंगे, सदा मिले रहेंगे, यदि उनमें अलग अलग रहने का स्वभाव है तो वह कभी मिलेंगे नहीं । इस प्रकार कोई वस्तु न बन सकेगी । यदि उनमें से कुछ का स्वभाव मिलने का है और कुछ का अलग रहनेका तो जिन परमाणुओं का आधिक्य होगा उन्हीं के अनुकूल कार्य होगा अर्थात् यदि मिलने के परमाणुओं का प्राबल्य है तो वह सृष्टि को कभी बिगड़ने न देंगे । यदि अलग अलग रहने वाले परमाणुओं का प्राबल्य होगा तो वह सृष्टि को कभी बनने न देंगे । यदि दोनों बराबर होंगे तो भी सृष्टि न बन सकेगी क्योंकि दोनों ओरसे बराबर खींचातानी होगी और किसी पक्षको दूसरे पर विजय प्राप्त करनी कठिन होगी ।

वस्तुतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अलग २ तथा सब मिलकर यही सिद्ध करती है कि इनका कारण एक चेतन शक्ति है ।"

समीक्षा.—स्वा० दर्शनानन्दजी न तो ईश्वरमें इच्छा मानते थे और न क्रिया । वास्तवमें वे ईश्वरको विज्ञान भिक्षु आदिकी तरह उदासीन कारण मानते थे । जैसे कि सृष्टि विज्ञान में मा० आत्मरामजी ने भी लिखा है कि—

"जिस प्रकार चुम्बककी सत्ता मात्रसे लोहेमें गति आ जाती है उसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता मात्रसे विश्वमें गति फैल रही है ।"

इसी प्रकार दर्शनानन्दजी मानते थे, चुम्बककी तरह ईश्वर निष्क्रिय है परन्तु उसकी सत्ता मात्रसे परमाणुओंमें गति होती है।

इसीका नाम उदासीन कारण है। हमारा भी सदासे यही मत था कि ईश्वर जगतका प्रेरक कारण नहीं है अपितु वह उदासीन कारण है। स्वा. दयानन्दजी और नव्य नैयायिक, ईश्वरको प्रेरक मानते हैं। पानीपत के लिखित शास्त्रार्थमें भी हमने उदासीन कारण की ही पुष्टि की थी। अब प्रश्न यह है कि परमाणुओंके स्वभाव से जगत नहीं बन सकेगा। इस प्रश्न में सब से बड़ी भूल यह है कि इस प्रश्न कर्ताकी बुद्धिमें यह पहलेसे ही निश्चय है कि एक समय था जब यह संसार सर्वथा नहीं था। परन्तु उसको स्मरण रखना चाहिये कि ऐसा कोई समय नहीं था जब कि यह सम्पूर्ण लोक परमाणु रूप हो।

अतः जब तक यह सिद्ध न हो जाये कि एक समय ऐसा था जब कि यह जगत परमाणुमय था उस समय तक इन प्रश्नोंका और इन युक्तियोंका कुछ भी मूल्य नहीं है। परन्तु यह प्रश्न ईश्वरको कर्त्ता मानने से अवश्य उपस्थित होता है। प्रथम तो यही प्रश्न है कि ईश्वर सर्व व्यापक है अतः वह क्रिया नहीं कर सकता है। बस जो स्वयं निष्क्रिय है वह दूसरे को क्रिया दे भी नहीं सकता। चुम्बक पत्थर भी सक्रिय है यह बात वर्तमान युग के वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दी है। अतः यह सिद्ध है कि ईश्वर न क्रिया कर सकता है और न क्रिया दे ही सकता है। यदि यह मान भी लिया जाये कि ईश्वर गति करता है व गति देता है तो भी संसार नहीं बन सकेगा। क्योंकि ईश्वर सर्व व्यापक होने से क्रिया सब तरफसे होगी। ऐसी अवस्थामें परमाणु गति हीन हो जायगा। जिस प्रकार लोहेके चारों तरफ चुम्बक रखनेसे लोहा क्रिया हीन हो जाता है। यदि कहो कि ईश्वर अन्तः क्रिया देता है क्योंकि वह परमाणु आदि में व्यापक है। तो भी ठीक नहीं क्योंकि ईश्वर परमाणु आदिके अन्दर व्यापक है प्रथम तो यही

गलत है क्योंकि उस अवस्थामें परमाणु की सत्ताका ही अभाव सिद्ध होगा।

साइन्सके सुप्रसिद्ध विद्वान भूत पूर्व मिष्टर जे० क्लर्क मेकसवेल एम० एल० एल० डी० एफ० आर० एस० एम० एल एण्ड ई० आनरेरी फेलो आंवट्रिनिटी कालेज और प्रोफेसर आव एक्सपेरीमेण्टल फिजिक्स इन दी यूनिवर्सिटी आव कैम्ब्रिज अपनी मैनुन्नल्स आव एलीमेण्टरी साइन्स सीरीज "मैटर एण्ड मोशन" नामक पुस्तकमें न्यूटनकी थर्डला आवमोशन (क्रिया के तीसरे नियम) की सिद्धिमें पृष्ट ४८ में लिखते हैं कि—

"The fact that a magnet draws iron towards it was noticed by ancients, but no attention was paid to the force with which the iron attracts the magnet अर्थात् यह विषय कि चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींचता है पूर्व पुरुषोंसे जाना गया था परन्तु उस शक्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था जिसके द्वारा लोहा चुम्बकको अपनी ओर खींचता है। अतः साइन्स द्वारा यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि चुम्बकमें भी परिस्पन्दात्मक क्रिया और अपरिस्पन्दात्मक परिणाम बराबर होता रहता है यह मानना कि "चुम्बक पत्थर स्वयं नहीं हिलता, परन्तु लोहे को हिला देता है ठीक नही है।" आदि ·····

अनेक सत्तायें

आप फरमाते हैंकि—जैसे में एक सत्ता हूँ जो अपने शरीरको चलाता हूं। मेरा हाथ लिखता है। मेरा मुँह बोलता है। मेरी आँख देखती है। मैं बहुतसी वस्तुओंको तोड़ मरोड़ कर मन-मानी

बना लेता हूं। इसी प्रकार मुझ जैसे करोड़ों मनुष्य हैं जो मुझसे कुछ कम या कुछ अधिक कार्य कर रहे हैं। फिर इनके अतिरिक्त अरबों पशु पक्षी तथा कीट पतंग हैं, जो मेरे बराबर काम नहीं करते परन्तु अपनी अपनी सत्तायें अलग अलग भली भांति दिखाते हैं। इस प्रकार असख्यों छोटी छोटी सत्तायें हमको मिलती हैं। परन्तु इन सत्ताओं और उस सत्ता में भेद है जिसको हम समस्त सृष्टि में शासन करता हुआ पाते हैं। यह छोटी छोटी सत्तायें विशेष नियमोंके भीतर ही अपना प्रभाव जमा सकती हैं। वस्तुतः उन सत्ताओं को उन नियमों का पालन करना पड़ता है। वह नियमोंकी शासक नहीं किन्तु अनुचर हैं। जैसे यदि मनुष्यचाहे कि मैं घर बनाऊं तो उसे उन नियमों को जाननेकी आवश्यकता है जो घर बनाने में साधक होंगे। यदि थोड़ी सी भी चूक हुई तो घर न बन सकेगा। इन छोटी सत्ताओं या चेतन वस्तुओं में केवल इतना भेद है कि जड़ वस्तुएं बिना ज्ञान के सृष्टि के नियमों का पालन करती हैं। वह सृष्टि के वर्तमान नियमों में से चुन नहीं सकती कि मैं इसका पालन करूं और इसका न करूं। परन्तु चेतन सत्ताएं कईनियमों में से अपने लिये कुछ नियम चुन लेती हैं। और उन्हीं के अनुसार काम करती है। जैसे मैं यह जानता हूँ कि खेती के नियम पालने में खेत में गेहूं पैदा कर सकूंगा इस लिये मैं इन दोनों में से अपने मन माने नियम चुन लेता हूं। चाहे खेती करूं। चाहे पान बनाऊं परन्तु लकड़ी अपने लिये नियमों का निर्वाचन नही कर सकती उसका चुनाव नियम स्वयं करते हैं।" आदि।

समीक्षाः—आगे आपने स्वयं यह सिद्ध कर दिया कि इनका इनका कल्पित ईश्वर जड़ है। क्यों कि आप के कथनानुसार चेतन, नियमोंको अपने लिये चुन लेता है। अब यदि यह माने

कि ईश्वर ने अपने लिये कुछ नियम चुन लिये हैं, तथा उनका पालन करनेमें भी वह स्वतन्त्र है, तो ऐसी स्वतन्त्रका प्रदर्शन वह क्यों नहीं करता।

यदि कहो कि यह उनकी इच्छा है तो इच्छा का कारण क्या है। अथवा कौनसी वह शक्ति है जो ईश्वर को नियत समय पर जगत रचना के लिये और प्रलय करने के लिये बाधित करती है तथा प्रतिक्षण भी नियत समय पर उसको नियमानुसार कार्य करने के लिये विवश क्यों होना पड़ता है। यह विवशता ही आपके कथनानुसार उसे जड़ सिद्ध कर रही है। तथा आपने जब जड़को भी नियमों का पालन कर्ता मान कर यह सिद्ध कर दिया कि ईश्वर भी इसी प्रकार नियमों का पालन करता है। यदि आप कहें कि जड़ की तरह पालन नहीं करता है, तो कोई दृष्टान्त बतायें कि किस प्रकार पालन करता है। तथा क्यों पालन करता है? आपके कथनानुसार गेहूं से गेहूं और चणे से चणा उत्पन्न होता है यह सम्पूर्ण संसार में नियम है। जिस प्रकार चोरी की सजा कैद है, यहाँ पर प्रश्न है कि जिस प्रकार चोरी आदिकी सजामें परिवर्तन हो सकता है उसी प्रकार गेहूंसे गेहूँ बननेके नियममें भी परिवर्तन हो सकता है, या नहीं? यदि वह कर सकता है तो आज तक कहाँ कहाँ किया और आगे कब करेगा। इत्यादि बता देना चाहिये। यदि नहीं कर सकता तो परतन्त्र ठहरता है जो कि जड़ का लक्षण है।

आगे आपने ऋत शब्द के अर्थ करने की कृपा की है। "यह ऋत एक है इस ऋत के आधीन समस्त सृष्टि है। छोटे २ नियम एक एक शास्त्र या सायंस अलग अलग बनाते हैं उसी प्रकार बड़े बड़े शास्त्र भी उस "ऋत" के आधीन है। और यह ऋत अपार बुद्धि में निवास करती है जिसको आस्तिक लोग ईश्वर कहते हैं।

समीक्षाः—हम अत्यन्त नम्रता पूर्वक यह प्रश्न करना

चाहते हैं कि आपने यह जो ऋत का अर्थ किया है वह किस आधार से किया है। वास्तविक बात तो यह है कि इस प्रकार के अर्थ करके ये लोग वेदों का गौरव बढ़ाना चाहते हैं परन्तु परिणाम उलटा निकल रहा है। अस्तु प्रकरण यह है कि यह ऋत उस अपार बुद्धि में निवास करती है, जिसको ईश्वर कहते हैं। पहली बात तो यह है कि ईश्वर किसे कहते हैं यही अभी साध्य है। फिर उसकी अपार बुद्धि है या नहीं यह भी साध्य और ऋत उसमें रहता है यह साध्य तथा स्वयं ऋत क्या है और इस का अस्तित्व है या नहीं यही अभी तक साध्य है।

तथा राष्ट्र के जो नियम है उनको राष्ट्रने निर्माण किया है इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि राष्ट्र जब चाहे उन नियमोंमें परिवर्तन कर सकता है यदि किन्हीं नियमों को ईश्वर ने बनाया है तो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि ये नियम कब बनाये और क्यों बनाये, और इन नियमोंमें वह परिवर्तन क्यों नहीं करता। यदि कहो कि बनाये नहीं उसका स्वभाव है, तो आपके कथनानुसार ही वह जड़ सिद्ध होता है। अतः ये सब बातें ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकती। आगे आपने (ऋतं च सत्यं च) यह मन्त्र दिया है आपने ऋतके अर्थ तो "वह विशाल नियम जो समस्त विश्व पर शासन करता है" कर दिये। तथा सत्य के अर्थ आपने किये कि "सत्य वह शक्ति है जो उस नियमके आधीन रहने के लिये संसार की प्रत्येक वस्तु तथा घटना को बाधित करती है। जिस प्रकार सांसारिक दरबारों में न्यायाधीश निश्चय करता है कि अमुक मनुष्य को यह दण्ड दिया जाये और पुलिस उसको दण्ड देती है, इसी प्रकार ऋत को रखने वाली बुद्धि का नाम "अभिद्ध" है और सत्य को रखने वाली शक्ति का नाम "तपस" है।

यह बुद्धि तथा शक्ति सांसारिक न्यायाधीश तथा पुलिस के

समान अलग अलग नहीं हैं किंतु एक सत्ताके दो गुण है। जिस को हम ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर एक ठहरता है अनेक नहीं।"

समीक्षा:—वैदिक शब्दोंका इस प्रकार अनर्थ करके भी बेचारे ईश्वर की सिद्धि न हो सकी यही दुःखका विषय है। यदि आपके ही इन अनर्थोंको स्वीकार कर लिया जाये और ऋत एवं सत्यको ईश्वरकी दो क्रिया मान ली जायें तो भी आपने इसी पृष्ठमें मन्त्रका अर्थ करते हुए लिखा है कि "ऋत और सत्य अभिद्ध' तथा 'तपस' से उत्पन्न हुए।" आपने यहां 'ऋत' तथा सत्य का उत्पन्न होना लिखा है। तब यह सिद्ध हुआ कि ईश्वरमें ये शक्तियां सर्वदासे नहीं हैं, अपितु उत्पन्न हुई हैं। कब उत्पन्न हुई हैं इस प्रश्नकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहां सृष्टिका प्रकरण है अतः उसी समय ईश्वरमें ये शक्तियां पैदा होगईं।

प्रश्न यहां यह है कि ये शक्तियां भावसे उत्पन्न हुई या अभाव से। यदि भावसे तो यह सिद्ध होगया कि ये शक्तियां ईश्वरकी नहीं हैं अपितु अन्यद्रव्यकी हैं। और ईश्वरने उनसे मांग कर या बल प्रयोगसे लेली हैं। अथवा यह भी हो सकता है कि उन्हीं पदार्थोंको (जिनके पास ये शक्तियां थीं) दया आ गई हो और उन्होंने ईश्वरको विना मांगे दे दी हो। यह भी संभव है कि ईश्वर और प्रकृति आदिके मेलसे यह शक्ति ईश्वरमें उत्पन्न हो गई हो। यदि ऐसा है तो ये शक्तियां विकृत कहलायेंगी और ईश्वर विकारी सिद्ध होगा। यदि अभावसे ही ये शक्तियां उत्पन्न होगईं तो फिर ईश्वरकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर में ये शक्तियां अभावसे उत्पन्न हो गई उसी प्रकार अन्य पदार्थों में भी हो सकती हैं। क्योंकि अभावमें ईश्वरमें ही उत्पन्न करनेका कोई नियामक नहीं है। अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी सिद्धिके लिये जो जो युक्तियां दी जाती हैं वे सब ईश्वरके विरुद्ध सिद्ध

होती हैं। क्योंकि ईश्वर जैसी असंभव वस्तु को सिद्ध करने के लिये जितनी भी कल्पनायें की जायेंगी वे सब असंभव होंगी। उनको युक्तियोंसे सिद्ध करना नितान्त असम्भव है।

क्या ईश्वर व्यापक है?

जो भाई ईश्वरको सर्व व्यापक मानते हैं वे ईश्वरको निमित्त कारण नहीं कह सकते। क्योंकि यह नियम है कि निमित्त कारण हमेशा एक देशी ही होता है। और वह कार्य आदि में व्यापक नहीं होता। कार्यमें जो व्यापक रहता है उसे 'समवायी' (उपादान) कारण कहते हैं। जैसा कि लिखा है—स्वसमवेत कार्योत्पादकं समवायि कारणम्। " जिस कार्यमें कारणसमवेत रहता है उसे समवायी (उपादान) कारण कहते हैं। जैसे घटका मृत्तिकाके साथ समवाय सम्बन्ध है। घट मृत्तिकासे कभी पृथक् नहीं रह सकता। अतः मृत्तिका घटका समवायी (उपादान) कारण है। इसी प्रकार तन्तु पटका समवायी (उपादान) कारण है। आदि आदि। अभिप्राय यह है कि यह सार्वतन्त्रिक सिद्धान्त है कि उपादान कारण वह है जो कार्यमें व्यापक रहे और निमित्त कारण वह है जो कार्यमें व्यापक न रहे। अतः यह सिद्ध है कि निमित्त कारण वह है जो कार्यमें व्यापक न रहे। अतः यह सिद्ध है कि निमित्त कारण सर्वथा अव्यापक व एक देशी ही होता है

निमित्त कारण कार्य में व्यापक नहीं होता

जे. एस. मिल. ने धर्म सम्बन्धी तीन "लेखों (Three Essays on Religion) में इस प्रश्नकी मीमांसा की है। प्रश्न वस्तुतः गूढ़ और विचारणीय है। घड़ीका बनाने वाला घड़ीमें व्यापक नहीं होता जिस पुस्तक को मैं लिख रहा हूँ उसमें मैं

व्यापक नहीं हूँ। पुस्तक पाठकों के हाथमें होगी और मैं कई कोसों पर दूर बैठा हूंगा। इंजनका बनाने वाला इंजनमें कहां व्यापक होता है ? न कुम्हार ही घड़ेमें रहता है। परन्तु क्या घड़ा घड़ी, पुस्तक तथा इंजन अपना अपना काम नहीं करते ? यदि अल्पज्ञ कुम्हार का बनाया घड़ा उसकी व्यापकता के बिना कई साल काम दे सकता है तो वह ईश्वर जिसकी शक्ति तथा ज्ञान अपार बताया जाता है सृष्टिके भीतर व्यापक रहनेके लिये क्यों बाधित किया जाय। बहुतसे वेदान्ती लोग इसीलिये ईश्वर को निमित्त कारण न मान कर उपादान कारण मानते हैं।

इस लिये अनेक विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार सूर्य एक विशेष स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त भूमण्डल पर जाता है, उसी भांति ईश्वर विशेष स्थान पर है, परन्तु उसका प्रकाश समस्त सृष्टि में उपस्थित है। इस प्रकार ईश्वर स्वतः तो व्यापक नहीं है किन्तु प्रकाश रूपसे व्यापक है।

इस पर आप लिखते हैं कि "सबसे पहले हम इस बात की मीमांसा करते हैं कि निमित्त कारण कार्य में व्यापक होता है या नहीं। इतनी बात तो शायद सभी को माननीय है कि जहाँ कर्ता नहीं वहाँ वह कोई क्रिया भी नहीं कर सकता। मेरा उसी वस्तु पर वश और अधिकार है जो मेरे हाथ में है। जहाँ मेरी पहुंच नहीं, वहाँ मेरे द्वारा कोई क्रिया भी नहीं हो सकती। कभी कभी ऐसा होता है कि एक क्रिया में कई छोटी बड़ी क्रियायें सम्मिलित होती हैं उनमें से एक क्रिया एक पुरुष करता है। और शेष अन्य पुरुष। परन्तु कथन मात्र के लिये नाम एक का ही होता है। यह केवल कहने की शैली है। वास्तविक बात नहीं, जैसे कहते हैं कि ताजमहल का निर्माता शाहजहाँ था। ताजमहल का निर्माण एक क्रिया नहीं है किन्तु सहस्रों या लाखों

छोटी छोटी क्रियाओं का एक समूह है। इच्छा शाहजहां ने की। रुपया देने के लिये आज्ञा शाहजहां ने दी। नकशा एक या अनेक विश्वकर्माओं ने बनाया होगा। ईंटें या पत्थर अन्य कर्ताओं ने उत्पादन किये होंगे। इस प्रकार यद्यपि शाहजहाँका नाम है तथापि लाखों मनुष्योंने क्रियायें कीं और तब ताजमल बना इन क्रियाओं में से जो क्रिया शाहजहां ने की उस क्रिया के समय और देश में शाहजहाँ उपस्थित था। जो अन्यों ने की उसके साथ वे अन्य उपस्थित थे। यदि उनमें से एक की भी उपस्थिति न होती तो वह क्रिया न होती और ताजमहलके निर्माणमें बाधा हो जाती।" आदि

समीक्षा—यहां प्रश्न यह था कि निमित्त कारण कार्यमें व्यापक होता है या नहीं ? इस प्रश्नको छूवा तक नहीं क्योंकि इस विषय में हमने जो युक्तियां दी थी वे इतनी प्रबलथी कि उनका समाधान असम्भव है। अतः आपने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि- जो क्रिया करते हैं उनमें वे अवश्य व्यापक होते हैं।" प्रतीत होता है कि थोड़ी देर के पश्चात् ही आपको इस कथन की निस्सारता का बोध हो गया. इसी लिये आपने आगे लिखा है कि—

"इस लिये यह सिद्ध हैकि निमित्त कारण क्रियाके साथरहता है। वस्तुतः क्रिया उसी समय तक होती है जब तक कि निमित्त कारण उपस्थित है।" पृ० १६२

उपरोक्त दोनों लेख परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि साथ रहना और व्यापक होना एक नहीं हैं। आगे यह लिख कर कि "क्रिया उसी समय तक होती है जब की निमित्त कारण उपस्थित होता है।" एक प्रकार की निराशा उत्पन्न की है, क्योंकि हम को आप से ऐसे तर्क हीन लेख की सम्भावना नही थी। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कुम्हार की अनुपस्थिति में भी चाक में क्रिया होती है। जिस घड़ी का आपने दृष्टान्त दिया है उस में भी एक बार चावी देने पर

चाबी देने वालेकी उपस्थिति बिना भी उसमें क्रिया होती रहती है। सारांश यह है कि आपने इस लेखमें शब्दाडंबर के सिवा एक भी युक्ति नहीं दी है। यदि निमित्त कारणको भी कार्यमें व्यापक मान लिया जाय (जो कि असंभव है) तो निमित्त कारणमें और उपादान कारणमें भेद ही क्या रहेगा।

दार्शनिकोंका यह निश्चित सिद्धान्त है कि—समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) व्याप्य व्यापक सम्बन्ध समवायी कारण के साथ ही कार्य का होता है, जैसा कि हम प्रथम सिद्ध कर चुके हैं।

तथा च ईश्वर को व्यापक मानने पर जीव और प्रकृति की सत्ता ही नहीं रह सकेगी। इस बातको आर्य समाजके अनुपम वैदिक विद्वान् पं० सातवलेकरजी ने ही 'ईश्वरका साक्षात्कार' नामक पुस्तकके प्रथम भाग में स्वीकार किया है। जिसको हमने इसी ग्रन्थके पृ० ३३९ पर उद्धृत किया है। पाठक वहीं देखनेका कष्ट करें।

भय, शंका, लज्जा,

दयालु—आगे आपने ईश्वरको दयालु सिद्ध करने के लिये कुछ प्रश्न लिख कर उनके उत्तराभास देनेका प्रयत्न किया है। आप लिखते हैं कि "ईश्वर कल्याणकारी है। कल्याणकारी का ही दूसरा नाम भला, सत् अथवा दयालु या न्यायकारी है। यह सब गुण भलाई से ही सम्बन्ध रखते हैं। वस्तुतः भाव एक ही है। अवस्थाओंके भेदसे शब्द भिन्न भिन्न हो गये हैं। इनकी व्याख्या आगे की जावेगी।

सृष्टिके नियमोंसे भलाई का इतना प्रबल प्रमाण मिलता है कि बहुतसे विचारशील पुरुष इसीको ईश्वरके अस्तित्वका प्रमाण मानते हैं। ऋषि दयानन्दने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है:—

भय, शंका, लज्जा,

" जब आत्मा मन इन्द्रियोंको किसी विषयमें लगाना वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बातके करनेका जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय जीवकी इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षणमें आत्माके भीतरसे बुरे काम करनेमें भय शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामोंके करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्सव उठता है वह जीवात्माकी ओरसे नहीं किन्तु परमात्माकी ओरसे है और जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्माका विचार करनेमें तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं" सत्यार्थप्रकाश, (सप्तम समुल्लास)

यहां ईश्वर सिद्धि का प्रकरण था। अतः ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द ईश्वरके अस्तित्वका एक प्रमाण यह भी समझते थे कि मनुष्यके अन्तःकरणमें उचित और अनुचित में भेद करने की एक शक्ति है जो ईश्वर प्रदत्त है। अंगरेजीमें इसीको कांशेन्स (conscience) के नाम से पुकारते हैं।

"कुछ ग्रन्थकारोंने सदाचार सम्बन्धी नियमको जो मनुष्यके अन्तःकरण (conscience) द्वारा ज्ञात हो सकता है ईश्वर अस्तित्वका सबसे बड़ा प्रमाण माना है। उसकी दृष्टिमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही नहीं रहनी। जिस काण्ट (Kant) ने अपनी तर्क बुद्धिसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि जितना मनुष्य अपनी तर्क शक्ति का ईश्वर विषयमें प्रयोग करता जाय उतना ही वह भूल भुलइयोंमें फंसता जायगा, उसी काण्टको यह भी मानना पड़ा कि व्यवहारिक बुद्धि और अन्तःकरण द्वारा ईश्वरकी ऐसी साक्षी मिलती है कि सन्देहवादके लिये कोई स्थान नहीं रहता। सर विलियम हैमिल्टनने भी यही माना है कि ईश्वर

अस्तित्व तथा जीवके अमर होनेका यही उत्तम प्रमाण है कि मनुष्यमें आचार सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता है। डा० जौन न्यू मैन अन्तःकरण को धर्मका मूलाधार बताते हैं। उनका आग्रह है कि प्राकृतिक धर्मके सिद्धान्तों को इसी मुख्य नियम के आधार पर निश्चित करना चाहिये। जर्मनीके जीवित आस्तिकवादी डाक्टर शैंकिलने अपने समस्त आस्तिकवादकी आधार शिला अन्तःकरण पर ही रक्खी है। उनका आरम्भिक सिद्धान्त यह है कि अन्तःकरण आत्माकी धर्म सम्बन्धी इन्द्रिय है। और उसीसे हम ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं"

(फ्लिण्टका आस्तिकवाद पृ० २१०)

समीक्षाः—यहां परस्पर विरुद्ध बातोंका इतना आधिक्य है कि कुछ कहा नहीं जाता। प्रथम तो सत्यार्थ प्रकाशके प्रमाणसे यह सिद्ध किया कि चोरी आदि पाप हैं और परोपकारादि पुण्य अथवा जिस कार्य में करने से ईश्वर की ओर से अन्तःकरण में भय, शंका, और लज्जा उत्पन्न हो वह पाप है। इसकी पुष्टि भी अनेक प्रमाणों से कर दी है। तत् पश्चात् आपको पाप और पुण्य के इस लक्षणमें अनेक त्रुटियां दीखने लगी। अतः आपने कहा कि स्वतः न तो कोई काम पाप ही है और न पुण्य ही। आपने अपने इस सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये भी एड़ीसे चोटी तकका पसीना बहा दिया। संभव है जब आप यह लिख रहे थे, उधर ईश्वरका ध्यान चला गया अतः उसने उसी समय आपके अन्तःकरणमें भय, शंका, लज्जा, आदि उत्पन्न कर दी हैं। अतः आपने पुण्यका लक्षण बनाया कि "जो अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति करने वाला हो। तथा जो इसके विपरीत है वह पाप है।"

यहां यह प्रश्न शेष रह गया कि अन्तिम उद्देश्य क्या है यह

कैसे जाना जाये ? जब तक इस उद्देश्य का ज्ञान न हो उस समय तक पाप और पुण्य का ज्ञान नहीं हो सकता, इस अवस्थामें जीव जो भी काम करता है उस का उत्तरदायित्व जीव पर नहीं होना चाहिये, क्यों कि उसको आज तक पुण्य की न तो यह परिभाषा बताई गई और न अन्तिम उद्देश्य ही ।

आपने आगे लिखा है कि "ईश्वर ने संसार में पाप क्यों उत्पन्न किया ? इस प्रश्न का रूपान्तर यह होगा कि ईश्वर ने मनुष्यों को अन्तिम उद्देश्य का और उसके साधन पाप करने या न करने की स्वतन्त्रता क्यों दी ?"

इस रूपान्तर को बनानेके लिये इस पुस्तक के इतने पृष्ठ काले किये । तथा अपनी सारी विद्वत्ता खर्च की है ? श्री मान् जी इस प्रश्न का रूपान्तर यह है कि ईश्वर ने जीव मात्र को पाप और पुण्य का स्पष्ट शब्दों में ज्ञान क्यों न कराया ? तथा पुण्यात्मा बन ने के लिये प्राणियों को साधन सम्पन्न और स्वतन्त्र क्यों नहीं बनाया ? इस में तीन बातें हैं (१) प्राणी मात्र को ज्ञान न देना । (२) साधन सम्पन्न न बनाना । (३) स्वतन्त्र न करना । पहली बात ज्ञान का न देना तो प्रत्यक्ष ही है यदि कहो कि वेदों का ज्ञान दिया है, तो एक भारी भूल है, क्यों कि वेद ईश्वर प्रदत्त नहीं है । इसको हमने 'वैदिक ऋषिवाद' नामक पुस्तक में सैकड़ों प्रमाणों और युक्तियों से भी सिद्ध किया है । यहां भी संक्षेप से आगे कहेंगे । यदि यह माना भी जाये कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तो कुरान आदि खुदा का इलहाम ठहरेंगे, अस्तु दूसरी बात है जीवों का साधन सम्पन्न न करना । यह भी प्रत्यक्ष है । क्यों कि कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि अनन्तों जीवों के पास तो पाप और पुण्य को जानने के साधन बुद्धि आदि नहीं है यह तो निर्विवाद ही है । शेष प्रश्न रह गया मनुष्यों का । इन अरबों मनुष्यों में करोड़ों हैं

तो ऐसे देशों तथा कुलों में या जातियों में उत्पन्न कर दिये गये हैं जो पशुओं जैसी ही है। उन्होंने भी धर्म और अधर्म को आज तक नहीं जाना है। यदि जाना है तो पाप को ही पुण्य जाना है। उन कुलों में ईश्वर का मनुष्यों को उत्पन्न करना यह सिद्ध करता है कि ईश्वर जीवों को क्रूर पापी, अज्ञानी बनाना चाहता है। आप के अन्तिम ध्येय को तो आपने ही स्वयं नहीं समझा है यदि समझते तो इस प्रकार की पुस्तक कभी न लिखते, शेष रह गया स्वतन्त्रताका प्रश्न सो तो ऐसी ही स्वतन्त्रता है कि जैसे कि किसी के हाथ पैर बांध कर गेर दिया जाये और उस से कहा जाये कि अब तू भाग ने में स्वतन्त्र है। अथवा सम्पूर्णानन्दजीके कथनानुसार हाथ पैर बांध कर समुद्र में डाल दिया जाये और फिर उससे कहा जाये कि तू अपने वस्त्र भिगोने और न भिगोने में स्वतन्त्र है। इसी प्रकार आप भी मनुष्य को स्वतन्त्र बताते हैं। "स्पनौ जा" दार्शनिकका यन्त्र इसीके आधार पर है कि संसारमें स्वतन्त्रता नहीं है। उसका कथन है कि संसारमें कहीं भी स्वतन्त्रता नहीं है। सब कुछ अपने कारणों द्वारा नियन्त्रित या निर्धारित है जीवोंके व्यापार भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं हैं।

तथा आज हस्तरेखा विज्ञानने तथा शारीरिक विज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य चोरी आदि करते हैं उनके शरीरकी रचना ही ऐसी होती है जिससे उनका स्वभाव ही वैसा हो जाता है। इसका विशेष वर्णन हम कर्मफल प्रकरणमें कर चुके हैं। अतः यह सिद्ध है कि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। जब न तो उसके पास साधन है और न यह स्वतन्त्र ही है फिर जो भी पाप, अत्याचार आदि वह करता है उसका उत्तरदायित्व ईश्वर पर आता है। रह गई भय, शंका, और लज्जाकी बात। यदि वास्तवमें ऐसी बात है कि इनको ईश्वर उत्पन्न करता है. तब तो

यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर ही इन सब पापोंकी जड़ है। क्योंकि अनेक पापियोंके दिलमें वह पापके लिये उत्साह और आनन्द उत्पन्न करता है, जैसे मुसलमानोंके दिलमें कुरबानीके लिए तथा हिन्दुओंका कत्लेआम करनेके लिये तथा हिन्दुओंके दिलोंमें मुसलमानोंको मारनेके लिये। एवं जितने भी आदमी दंगोंमें मारे गये हैं वे भी सब उत्साह और आनन्दसे मारे गये हैं। अनेक जंगली जातियां हैं जिनमें व्यभिचार आदिको बुरा नहीं माना जाता अतः वे लोग उन पापोंको निशंक होकर करते हैं। चकरोते के पास ही पहाड़ी जातिमें बड़े भाईकी स्त्री ही अन्य सब भाइयों की स्त्री होती है। वे लोग न तो इसको पाप ही समझते हैं और न इस कार्यके लिये उनके हृदयमें भय, शंका व लज्जादि ही उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मांसाहारको धर्म मानने वालोंकी अवस्था है। अतः यह कहना कि पाप करते समय ईश्वर भय, शंका व लज्जा आदि उत्पन्न कर देता है बिल्कुल निराधार है। बस जब पुण्य या पाप, और सदाचारकी कोई व्याख्या ही आप नहीं कर सकते तो सदाचार ही सृष्टिका उद्देश्य किस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। यदि उपरोक्त प्रश्न न भी उठायें तो भी यह प्रश्न होता है कि जब सृष्टि रचनेका उद्देश्य सदाचार ही है, तो आज तक ईश्वरको इस उद्देश्यकी पूर्तिमें सफलता क्यों नहीं मिली। आदि अनेक शंकायें हैं जिनका समाधान करना असम्भव है। बा० सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा मन्त्री यू० पी० ने इन प्रश्नों पर प्रकाश डाला है, उसको हमने 'कर्मफल और ईश्वर' प्रकरण में लिखा है, पाठक वहां देख सकते हैं।

दुःख

इस बातका कौन विरोध कर सकता है कि संसार दुःख

और पीड़ाका स्थान है ? बड़े से बड़े आस्तिक तक यही कहते हैं कि संसार असार है, संसार दुःखमय है और ईश्वर का बनाया हुआ है, तो दुःख भी ईश्वरने ही बनाया होगा। फिर उसको कल्याणकारी कैसे कह सकते हैं ? संसारमें सुख है कहां ? कोई पुत्रके शोकमें रोरहा है, कोई विधवा पतिके वियोगमें चिल्ला रही है कोई पुत्र अनाथ होकर सिसकता फिरता है। यदि संसारके साक्षात् नरक होनेकी साक्षी देखनी हो तो प्रातः काल ही अस्पतालोंकी सैर कर आया करो। कैसी कैसी भयानक बीमारियां मनुष्यके शरीरमें उत्पन्न हो सकती और हुआ करती हैं। फिर कहीं रोग है, कहीं दरिद्रता है, कहीं कलह है, कहीं मित्र वियोग है इस पर भी आस्तिक कहते हैं कि ईश्वर कल्याणकारी है तो यह दुःख किसने उत्पन्न कर दिया था। दुःखकी उत्पत्ति किसी औरने की और सुखकी किसी और ने, क्या सचमुच आधी सृष्टि अकल्याणकारी शैतान बनाता है और आधी कल्याणकारी ईश्वर ? क्या ईश्वर इतना निर्बल है कि शैतान ईश्वरकी इच्छाके बिना भी दुःख का प्रचार और प्रहार कर ही जाता है और ईश्वर की कुछ बनाये नहीं बनती। क्या जिस प्रकार दुर्बल राजाके राज्यमें विद्रोही छापा मारे बिना नहीं रहते इसी प्रकार ईश्वर की प्रजा में शैतान की दाल गल ही जाया करती है ?

दूसरा प्रश्न यह है कि पाप इतना अधिक क्यों है ? क्या आस्तिक लोग स्वयं इस बातकी साक्षी नहीं देते कि संसार में धर्मात्मा कम और अधर्मी अधिक हैं ? सच्चे कम और झूठे अधिक हैं ? ईमानदार कम और बेईमान अधिक हैं ? आस्तिक लोग कहते हैं कि धर्म पर चलना और तलवारकी धार पर चलना बराबर है, ऐसा क्यों है ? दयालु परमेश्वरने धर्म पथको फूलोंका मार्ग क्यों नहीं बनाया कि सभी धर्मात्मा हो सकते ? क्या ईश्वर

को मनुष्यों से ऐसा बैर था कि वह उनको धर्मात्मा होते देख नहीं सकता था ? क्या पौराणिक इन्द्रपुरी के इन्द्रके समान ईश्वरको उन लोगोंसे ईर्षा होती है जो धर्म पथ पर चलकर इन्द्रासन ग्रहण करना चाहते हैं ? वस्तुतः सोचना चाहिये कि समस्या क्या है ? क्या पाप भी दुःख के समान शैतान की कारीगरी है ? फिर ईश्वरने उस शैतानको बनाया क्यों जिसने ईश्वरकी समस्त कल्याण कारिता पर पानी फेर दिया ? या शैतान भी ईश्वरके समान शक्ति संपन्न है जिसके आगे ईश्वर महाशयकी कुछ चलती चलाती नहीं?

"दुःख ही प्राणियों की पूर्णता का साधन है। अर्थात् इसका परिणाम अच्छा होता है। इस परिणाम से ही इसकी उपयोगिता स्पष्ट होती है। यह उपयोगिता उस समय भी सिद्ध होती यदि पूर्णता का अन्त आनन्द न होता। मैं समझता हूं कि पूर्णता स्वयं उच्चकोटीका साध्य (प्रयोजन) है। और जो दुःख इस प्रयोजन की सिद्धि करता है वह कभी बुरा नहीं हो सकता। इस आक्षेपके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। मेरी समझ में नहीं आता कि प्राणि-वर्ग के जीवन का आदर्श वह सुअर हो जिसको भली भांति खिलाया पिलाया जाता हो, जिसे कुछ काम न करना पड़ता हो, और वध करनेके लिये न बनाया गया हो। प्राणि वर्गकी शक्तियों के विकाश तथा उनकी प्रकृति की उन्नति के लिये जितने दुःख की आवश्यकता थी उतना ही दिया गया है, जब हम कहते हैं कि प्राणियों का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति है तो हम ईश्वर की सृष्टि रचनाके प्रयोजनकी अवहेलना करते हैं। यदि दुःख केवल पूर्णता का ही साधन होता और सुख का साधन न होता तो भी यह ईश्वर की परम दया सूचक होता परन्तु इससे तो और भी अधिक दयाका परिचय मिलता है कि दुःख न केवल पूर्णता का ही साधन है, किन्तु सुखका भी। जो दुःख प्रयत्न के लिये प्रेरणा करता है

और जो दुःख प्रयत्न करने में होता है यह दोनों ही अन्त में आनन्द को प्राप्त कराने वाले होते हैं। शायद सुख के अनुभव के लिये दुःख का अनुभव आवश्यक है। शायद प्राणियोंके शरीर ही ऐसे बने हैं कि यदि वह दुःखका अनुभव न करले तो सुखका अनुवभ भी न कर सकते।" आदि,

समीक्षा—योग दर्शनके प्रणेता पतंजली मुनि कहते हैं कि—"सर्वमेव दुःखं विवेकिनः अर्थात् विवेकी पुरुष के लिये सांसारिक सुख भी दुखरूप ही है। क्यों कि वे वास्तव में सुख नहीं हैं, अपितु सुखाभास है। इसी प्रकार संसार के सभी महा पुरुषों ने संसार को दुःख रूप बताया है। परन्तु आप कहते हैं कि संसार में दुःख आटे में नमकके बराबर है' इसके स्थानमें यदि यह कहते तो ठीक था कि संसार में सुख आटे में नमक के बराबर भी नहीं है। यदि संसार में किंचित् भी सुख होता तो शास्त्रों में संसार त्याग का उपदेश और मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न ही व्यर्थ था। अब प्रश्न रह गयाकि दुख सुखका कारण है, तथा उन्नति विकास आदि का कारण है। यह तो तब ठीक समझा जाता जब उन्नति प्राप्त व्यक्तियों को दुःख न होता क्यों कि जिस कार्यके लिये दुःख दिया गया उस कार्य के होने पर दुःख की, समाप्ति होनी चाहिये। यदि कहो कि अभी तक विकास, और उन्नति पूरी नहीं हुई है, तो इसकी कोई सीमा है या नहीं है। तथा एक प्रश्न यह भी है कि उन्नति का लक्षण क्या है, और इसका उद्देश्य क्या है। तथा ईश्वर ने इनकी उन्नतिका भार अपने ऊपर क्यों लाद लिया है? यदि उन्नति करने का भार लिया ही था तो अनादि कालसे आज तक वह जीवों की उन्नति क्यों नहीं कर सका। अब आगे वह इस कार्य को कर सकेगा इसमें क्या प्रमाण है। अतः ऐसे अयोग्य व्यक्तिका कर्तव्य है कि इस उत्तरदायित्व से पराङ्मुख हो जाये यदि दुःख कर्मों का

फल है तो ईश्वर इस फल देने में क्या करता है। यदि कहो फल देता है, तो प्रश्न यह है कि ईश्वर इस मामले में क्यों पड़ता है, उसका अपना कुछ स्वार्थ है या बिना ही प्रयोजन के कार्य करता रहता है। यदि कहो कि जीवों की भलाई के लिये ऐसा करता है तो वह भलाई आज तक क्यों न हो सकी ? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं। आगे आपने विच्छू के डंक शेर का पंजा सर्पका विष व दन्त आदि का प्रयोजन बताया है—"कि उससे शिकार को कष्ट कम होता है" इस प्रयोजन का ज्ञान उस समय होता जब ईश्वर को भी शिकार बना दिया जाता और शिकारी उसको मारता और जब वह शिकायत करता तो उससे कहा जाता कि घवराओ मत यह दुःख तेरी उन्नति के लिये है।

इसीसे तुझे सुख प्राप्त होगा। तेरे विकाश का मार्ग ही यह है और हम तेरे को दुःख भी अल्पमा ही देते हैं। अभिप्राय यह है कि संसार में भयानक पाप है और घोर नारकीय दुःख है यह सिद्ध है। अब यदि ईश्वर को जगत कर्ता माना जाय तो वही इन पापों का और इन दुःखों का उत्तरदायी होता है।

आगे आप लिखते हैं, कि— सम्राटका अपने नौकरों के मस्तिष्कों पर कुछ भी वश नहीं है। इसी प्रकार ईश्वरका भी उन सत्ताओं पर वश न होता और वह उसकी सृष्टिको उलट पुलट कर डालते जैसा बहुधा सम्राटके चाकर कर देते हैं। और जिसके लिये सम्राटको दण्ड देना पड़ता है। सम्राटके साम्राज्यमें सैंकड़ों बातें ऐसी हो सकती हैं जो सम्राटकी इच्छाके विरुद्ध होती है क्यों कि सम्राट प्रजाके घटके भीतर व्यापक नहीं होता।

सृष्टिके अवलोकनसे इतनी बातोंका पता चलता है—

(१) सृष्टि नियमानुकूल है।

(२) नियमोंसे अपार बुद्धिका परिचय होता है।

(३) नियम अटल हैं।

(४) ये नियम सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तु पर भी शासन करते हैं। और कोई वस्तु इनका उल्लंघन नहीं कर सकती।

इस लिये सिद्ध है कि ईश्वर।

(१) नियन्ता है।

(२) ज्ञानवान अर्थात् सर्वज्ञ है।

(३) एक रस है।

(४) सूक्ष्मसे सूक्ष्म (अर्थात् निराकार) और सर्वशक्तिमान है।" आदि ....

पहली तीन बातोंको तो सभी आस्तिक मानते हैं परन्तु चौथी बातमें बहुत मतभेद है। यह मतभेद दूसरे रूप में उपस्थित किया जाता है। यों तो कोई आस्तिक इस बात का निषेध नहीं करता कि ईश्वर सूक्ष्म और सर्व शक्तिमान है। परन्तु इसके साथ साथ ही बहुतसे लोग मानते हैंकि ईश्वर साकार है या साकार होसकता है। निराकारवादियों और साकर वादियों का पुराना झगड़ा है और इस झगड़े के ऊपर ही अन्य बहुतसे मतभेद की नीव रक्खी गई है। मैं समझता हूं। कि यदि यह झगड़ा सुलझ जाय तो संसार के बहुत से नास्तिक आस्तिक परस्पर मिल जायं और बहुत से नास्तिक नास्तिकता छोड़कर आस्तिक बन जायं। परन्तु भिन्न२ मस्तिष्क भिन्न२ रीति से सोचते हैं।

देखना चाहिये कि साकार का क्या अर्थ है ? आकार या आकृति का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियोंसे है। साकार वस्तुको आंख से देख सकते और हाथ से छू सकते हैं। जो ऐसी वस्तु नहीं है उसे निराकार कहते हैं। कि सृष्टि में दोनों प्रकार की वस्तुएं हैं। शतपथ ब्राह्मण १४।५।३।१ में लिखा है।

द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तंच।

अर्थात्—सृष्टि के दो रूप हैं। एक साकार और एक निराकार पानी जब भाप बन कर उड़ जाता है। तो निराकार हो जाता है क्योंकि दृष्टिमें नहीं आता। परन्तु जब भाप जम कर बादल बन जाती है तो साकार हो जाती है। वायु निराकार है। क्योंकि उसे देख नहीं सकते। आकाश निराकार है। अब प्रश्न यह होता है ईश्वर निराकार है या साकार। साकार वस्तु अवश्य स्थूल होगी। सृष्टिमें जितनी स्थूल वस्तुयेंहैं सूक्ष्म वस्तुओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये या तो ईश्वर को सर्व व्यापक न माना जाय या उसे साकार न माना जाय। साकार और सर्व-व्यापक दोनों होना असम्भव है। यदि सर्व व्यापक नहीं मानते तो कर्त्ता भी नहीं मान सकते। यदि कर्त्ता नहीं मानते तो ईश्वर ईश्वर ही नहीं रहता और आस्तिकताकी भित्ति धम्मसे गिरकर चकनाचूर हो जाती है। इस लिये आस्तिकों का ईश्वर को साकार मानना स्वयं अपने मत का खण्डन करना और नास्तिकों के सामने अपनी हंसी कराना है।

समीक्षाः—यहां आपने सम्राट और ईश्वरका दृष्टान्त देकर लिखा है कि—"राजा क्योंकि प्रजादिके हृदयमें व्यापक नहीं है इसलिये लोग उसकी इच्छाके विरुद्ध भी कार्य कर बैठते हैं, परन्तु ईश्वर सबके हृदयमें व्यापक है अतः जीव उसकी इच्छाके विरुद्ध कार्य नहीं कर सकते" यही कारण है अनेक विद्वानोंका यह कहना हैकि यह जगत किसी पतित आत्माका कार्य है। क्यों कि वही सबसे पापादि कराता है। तथा पाप स्वयं कराता है और फल इन निर्दोष बेचारे जीवोंको दे देता है। जिस बातको आपने अति संक्षेपमें कहा है पुराणकारोंने इसीको स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि

कारयत्येष एवैतान् जन्तून् नाना शरीरगान्।
कृत्वाभिद्रोह्यविव सह कर्माणी साध्व साधुनी।

मानवं नरकं नेतुं समीच्छति महेश्वरः ।
एतान् कारयति स्वामी पापं कर्मैव केवलम् ।
आत्मपुराण अ० ४-२३३-३४-३५

अर्थात् जिस प्रकार स्वामी अपने नौकरोंसे कार्य कराता है, उसी प्रकार महेश्वर जीवोंसे काम कराता है। जिनको नरक भेजना चाहता है उनसे पाप कराता है, तथा जिनको स्वर्ग भेजना चाहता है उनसे पुण्य कराता है।

आगे आपने सृष्टिमें जिन बातों को बताया है वे सब बातें ईश्वर में भी सिद्ध है यथा —

(१) ईश्वर नियमानुकूल है।

(२) नियम अटल है।

(३) ये नियम ईश्वर पर शासन करते हैं अर्थात इनके अनुकूल ईश्वरको कार्य करना पड़ता है।

इसलिये सिद्ध है कि ईश्वरका कोई नियन्ता है। यदि कहो कि ईश्वरमें नियम स्वाभाविक है उसका कोई नियामक नहीं है तो यही मानने में क्या आपत्ति है कि ये नियम जगतमें भी स्वाभाविक हैं उसका भी कोई नियामक नहीं है। यदि कहो कि नियम चेतन कृत होते हैं तो भी ठीक नहीं क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते कि जलका नियम है नीचेको जाना तथा अग्निका नियम है ऊपरको जाना। इत्यादि प्रत्येक जड़ पदार्थमें नियम है। आगे आपने साकार और निराकारका प्रकरण प्रारम्भ किया है। यहां आपने जो वस्तु चक्षु इन्द्रियसे देखी जा सके उसे ही साकार माना है जो कि निराधार है। आगे आपने एक श्रुति दी है जिसमें 'ब्रह्म' आत्माके दो रूपों का कथन है वहां आपने 'ब्रह्म' के अर्थ सृष्टि कर दिये हैं जो कि

बिल्कुल गलत है। वास्तवमें निराकार कोई द्रव्य नहीं होता है, यह एक मिथ्या कल्पना है।

प्रथम तो आपने आकारका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे बताकर लिखा कि 'साकार वस्तुको आंखसे देख सकते और हाथसे छू सकते हैं।"

फिर आपने वायु और बिजली आदिको जो प्रत्यक्ष ही इन्द्रियोंका विषय है उनको भी निराकार कह दिया। ये परस्पर विरोध है। अतः स्पष्ट है कि आपका यह साकार और निराकार का वर्णन भी भ्रम मात्र है। रह गया ईश्वरके साकार और निराकारका प्रश्न सो प्रथम तो ईश्वरका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तो साकार और निराकारका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

प्रलय

जगत की उत्पत्ति से प्रथम प्रलय का सिद्ध होना आवश्यक है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि वैदिक साहित्यमें जहाँ सृष्टि उत्पत्ति का विरोध किया है, वहां इस वर्तमान विश्व की प्रलय हो जायगी इसका भी विधान नहीं है। वास्तवमें प्रलयका अर्थ है किसी प्रान्त विशेष की भूमिका कुछ दिन के लिये बसने योग्य न रहना अथवा जैसा हम हिमालय की कथा में लिखचुके हैं, किसी समुद्र के स्थान पर पर्वतादि का हो जाना अथवा पृथिवी की जगह पर समुद्र का हो जाना। बस इसी खण्ड प्रलय का नाम शास्त्रों में प्रलय है। ऐसी प्रलयको जैन शास्त्र भी मानते हैं। ऐसी प्रलय का का इतिहास भी मिलता है। यह जलप्रलय "नूह" की किस्तीके नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक साहित्यमें यह कथा "मनु" के नामसे प्रसिद्ध है।

जैन शास्त्र और प्रलय

एवं गच्छति कालेऽस्मिन्नेतस्य परमावधौ,
निःशेषं शेषामेतेषां घुशरीरमिव संचयम् ॥४४६॥
अति रुक्षा धरा तत्र भाविनी स्फुटिलस्फुटम्,
प्रलयः प्राणिनामेवं प्रायेणापि जनिष्यते ॥४५२॥
तेभ्यः शेषजनाः नश्यन्ति विषाग्नि वर्ष दग्धमही,
एक योजन मात्रमधः चूर्णी क्रियते हि कालवशात् ८६

त्रिलोक सार

अर्थात्— छठे काल के अन्त में अग्नि विषादि की वर्षा से तथा अत्यन्त रुक्ष हवाके चलनेसे इस भारत वर्ष में प्रलय होगी। उस में प्रायः सभी जीव नष्ट हो जायेंगे। कुछ मनुष्यादि के जोड़े पर्वतों में शेष रह जायेंगे। उनसे पुनः सृष्टि उत्पन्न होगी। इस प्रलय में यह पृथिवी भी एक योजन गहराई तक नष्ट हो जायगी। आदि। अब मनुकी नौका वाली प्रलय का कथन करते हैं।

मनु और प्रलय

अथर्ववेद, कां० १९ सूक्त ३९ मन्त्र ८ में—

यत्र नाव प्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणः ततः कुष्ठो अजायत ॥

इसका अभिप्राय यह हैकि जहाँ मनुकी नौकाठहराई गईथी वह हिमालयहै वहाँ पर कुष्ठ औषधि उत्पन्न होतीहै। कई विद्वान उसको नहीं मानते वे कहते हैं कि यहाँ यह पाठ इस प्रकार का है (न अव प्रभ्रंशन) जिसका अर्थ जहां स्खलन नहीं होता ऐसा है।

अर्थात् जहां से गिरना नहीं होता ऐसा मुक्ति स्थान है। परन्तु सम्पूर्ण सूक्त को देखने से ज्ञात होता है कि यह बात ठीक नहीं क्योंकि यहां कुष्ठ औषधि का वर्णन है नकि यह मुक्ति का। यह औषधि हिमालय पर उत्पन्न होती है तथा मनुकी नौका भी हिमालय में लेजाकर बांधी गई थी। यह कथा शतपथ ब्राह्मण का १।८।१।१ में इस प्रकार आगई है कि मनुमहाराज एक समय नदी किनारे तर्पण कर रहे थे. उनके हाथ में एक मछली आगई मछली ने कहा कि आप मेरा पालन करे मैं आपको पार उतारूंगी मनु ने कहा तू कैसे पार उतारेगी, तो उसने कहा अभी प्रलय होने वाली है उस समय मैं तेरी प्रजा की रक्षा करूंगी, इस पर मनु ने एक बहुत बड़ा जहाज बना लिया तथा जब प्रलय हुई तो उस नाव को मछली के सींग के साथ बांध दिया, वह मछली उसको लेकर हिमालय चली गई। मत्स्य पुराण में इसी कथा को विस्तार पूर्वक लिखा है, तथा उस मछली को वासुदेव का अवतार बना दिया है। मत्स्य पुराण की जो प्रलय है अर्थात् उस समय की प्रलय का जहां जैसा वर्णन है वैसा ही जैन पुराणकारों ने माना है। इसी मनु की कथा का ऐसा ही उल्लेख कुरान बाईबिल आदि ग्रन्थोंमें है। वहां "नूह" का किश्ती प्रसिद्ध है। बाईबिल में लिखा है कि ईश्वरने देखा कि पृथ्वीपर पाप बढ़ गया है तो वह पछताया और उसने सब प्राणियों के नाश की ठान ली। परन्तु उसकी कृपा दृष्टि नूह पर थी अतः उसने नूह से कहा कि तू एक नौका बना हम प्रलय करेंगे। अतः तीसहाथ लम्बी तथा ५० हाथ चौड़ी और ३० हाथ ऊंची नौका बनाई गई। प्रलय हुई और नौकामें एकर जोड़ा सब जीवों को बैठाया प्रलय हुई। सब प्राणि मर गये केवल उस नौका के प्राणी जीते रहे। मनुष्यों में केवल नूह और उसकी स्त्री आदि जीती रहीं जिससे पुनः सन्तति चली। मुसल-

मानों के यहां भी ऐसी ही कथा है। वर्णनशैली का भेद है, नूह और उसका सारा कुटुम्ब बच गया तथा नौका जूदी पहाड़ की चोटी पर जाकर ठहरी। इसी प्रकार संसार के सभी धर्मों में तथा जातियों में इस प्रलय का वर्णन है।

(१) चीन वाले इसको फोई की प्रलय कहते हैं। (२) यूनान वालों के यहां हुकेलियान। (३) असीरिया चिसुथ्रूसके नामसे कहते हैं। इसी प्रकार अन्य लोगों के यहां भी इस प्रलयकी कथा प्रसिद्ध है। असीरिया की पुरानी खुदाई में इसका प्रमाण प्राप्त हुआ। अतः ऐतिहासिक विद्वान इसको ५०००० हजार वर्ष से पूर्व की घटना बतलाते हैं, जो कुछ भी हो यह घटना सत्य है इस में सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। यह प्रलय जैन मान्यताके अनुकूल है। सुना जाता है इस नूहकी कब्र अयोध्यामें है। मत्स्य पुराणके अनुसार यह वैवस्वत मनु है परन्तु वहां लिखा है कि जब प्रलय समाप्त होगई तो स्वयं मनु उत्पन्न हुए और उन्हींसे पुनः वंश चला वैवस्वत मनु सातवां मनु माना जाता है तथा स्वयंभू मनु पहला मनु माना जाता है तो फिर यह स्वयंभू मनु कहांसे आ गये? वास्तवमें तो इस मत्स्य पुराणने मन्वन्तरोंकी कल्पनाको ही नष्ट कर दिया। अस्तु, हमने इतने मनुओंके प्रमाण उपस्थित किए हैं। (१) वैवस्वत (२) सावर्णि (३) स्वयंभू (४) स्त्री-मनु इन सबके विषयमें ही ऐसी कहावत है कि इनके नामसे वंश चले तथा इनके नामसे भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। सब १४ मनु हैं, उनमें ७ सावर्णि हैं। यदि ऋग्वेदमें हम उनका वर्णन मानें तो सात शेष रह जाते हैं। उनमें सबसे पहला स्वयंभू और सातवां वैवस्वत अतः शेष ५ को भी ऐसा ही समझा जा सकता है। अतः १४ मनु और एक काश्यपकी स्त्री मनु इन १५ व्यक्तियोंका एक समान वर्णन मिलता है। अतः यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि इनमें से

किसको मानव, मानुष, मनुष्य, आदि जातिका कारण माना जावे। क्या ये सब कल्पना मात्र हैं। अथवा कुछ अन्य रहस्य है इत्यादि अनेक तर्क वितर्क पैदा हो सकते हैं। इन सब पर गवेषणात्मक दृष्टिसे विचार करना चाहिये। यदि ऐतिहासिक विद्वान इस पर विचार करेंगे तो हमारा अनुभव है कि वे भारतीय प्राचीन इतिहासकी अनेक उलझनें सुलझा सकेंगे। इसके अलावा जो प्रलय कही जाती है, उसका खण्डन तो मीमांसाचार्य कुमारिलभट्टने अपने श्लोक वार्तिक ग्रन्थमें ही विस्तार पूर्वक दिया है। यथाः—

जिस प्रकार विज्ञानने यह सिद्ध कर दिया कि यह सम्पूर्ण जगत न कभी उत्पन्न हुआ और न इसका कभी नाश होगा। क्योंकि न तो सत्का कभी नाश होता है और न अभावसे कोई वस्तु ही बनती है। अतः इस सत्स्वरूप जगतका भी कभी नाश न होगा। तथा न कभी ऐसा समय था जब यह जगत सर्वथा अभाव रूप हो। इस विषयमें वैदिक प्रमाण हम पूर्व लिख चुके हैं। तथा उनको पुनः यहां लिखते हैं ताकि विषय क्रमशः आगे चल सके।

अमैथुनी सृष्टि

अनेक युक्ति और प्रमाणों से हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि यह जगत नित्य है। जब यह सिद्ध हो चुका तो अब अमैथुनी सृष्टि का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। परन्तु फिर भी हम अमैथुनी दृष्टि के विषय में जो युक्ति दी जाती है उनको लिख कर उन पर विचार करते हैं। इस विषय पर सबसे नवीनतर विचार आर्य समाज के प्रसिद्ध सन्यासी नारायण स्वामी ने अपनी पुस्तक वेद रहस्य में प्रकट किये हैं अतः हम उन्हीं को लिखते हैं। यथा—

"मनुष्यका स्वाभाविक ज्ञान पशुओंसे कम है। गाय बैल आदि

पशुओं के बच्चे स्वभावतः तैरना जानते हैं परन्तु मनुष्य सीखे बिना नहीं तैर सकता। मनुष्यों को पशुओं से जो विशेषता प्राप्त है, उसका कारण यह है कि वह नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त करके उसकी वृद्धि करने की योग्यता रखता है। यही नैमित्तिक ज्ञान, मनुष्यत्वकी भित्ती ऊंची किया करता है। इसी योग्यता का लगभग अभाव पशुओंको उच्च होनेसे रोक दिया करता है। स्वाभाविक ज्ञान जन्म सिद्ध होता है। परन्तु नैमिमित्तिक ज्ञान अन्यों से प्राप्त किया जाता है। इस समय वह माता, पिता और अध्यापक वर्गसे प्राप्त किया जाता है। परन्तु जगतके प्रारम्भमें जिसे दुनिया की पहली नस्ल कहा जाता है. अमैथुनी सृष्टि होने के कारण उसे कोई शिक्षा देकर नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने वाला नहीं होता था। इस सम्बन्ध में अमैथुनी सृष्टि का समझ लेना कदाचित् उपयोगी होगा ।

अमैथुनी सृष्टि

महा प्रलय में जगत का अत्यन्ताभाव हो जाता है। कार्य रूप में परिणत प्रकृति का चिन्ह बाकी नहीं रहता, न कोई लोक बाकी रहता है। सूर्य चन्द्र आदि सभी लोकलोकान्तर कारण रूपी प्रकृति की गोद में शयन करने लगते हैं। ऋग्वेद में इसी सत् रज और तमकी साम्यावस्था अथवा जगत के कारण रूप प्रकृति में लीन हो जाने के लिये "तमासीत्तमसागूढ़मग्रे" (ऋग्वेद १० । १२९ । ३) कहा गया है। प्रचलित विज्ञानने भी इस महाप्रलयवादका समर्थन किया है। क्लाशियस (The founder of the mechanical theory of heat) ने तापको दो भागोंमें विभक्त किया है (१) ब्रह्माण्डमें उपस्थित ताप स्थिरताके साथ काममें आता रहता है। (२) दूसरा काममें न आने वाला ताप, अधिक से अधिक होजानेकी ओर प्रवृत्त रहता है। इसकी प्रवृत्ति भीतरकी ओर

होनेकी होती है। यह दूसरी शक्ति तापरूपमें होकर शीतलता प्राप्त वस्तुओंमें बँटकर आगे ताप रूपमें काममें आनेके अयोग्य हो जाती है। पहले प्रकारका ताप काम में आने के अयोग्य हो जाती है। पहले प्रकारका ताप काम में आ-आकर कम होता रहता है और दूसरा काममें न आने वाला ताप, पहले तापके व्ययसे, बढ़ता रहता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की कर्तृत्व शक्ति दूसरे प्रकारके ताप रूप में परिवर्तित होती रहती है और काममें नहीं आया करती। यह काम होते होते जगत से शीतोष्ण के अन्तरों को दूर कर देती है और पूर्ण रूप से उन वस्तुओंमें समाविष्ट हो जाती है जिन्हें गतिशून्य और काम के अयोग्य द्रव्य कहते हैं। ऐसा हो जाने पर प्राणियोंका जीवन और गति समाप्त हो जाती है। जब यह दूसरा ताप पहले को समाप्त करके पूर्णता प्राप्त कर लेता है तभी महाप्रलय हो जाता है।

इस अवस्थाको प्राप्त हो जाने और नियत अवधि तक कायम रहनेके बाद जब जगत उत्पन्न होता है, तब प्रत्येक लोक क्या और प्रत्येक योनि क्या, नये सिरेसे बनती है। यहां लोक नहीं किन्तु योनिके उत्पन्न होनेके सम्बन्धमें विचार करना है:—भिन्न भिन्न प्राणियोंके शरीर जैसा वैशेषिक दर्शनमें लिखा है * दो प्रकारके होते हैं।

(१) 'योनि" जो माता पिताके संगसे उत्पन्न होते हैं, जिसे मैथुनी सृष्टि कहते हैं।

---

* तत्र शरीरम् द्विविधम् योनिजमयोनिजं च। (वैशे० ४।२।६)

नोट—इस सूत्रके भाष्यमें, आचार्य प्रशस्त पाद ने लिखा है कि जल, अग्नि और वायुसे उत्पन्न शरीर अयोनिज होते हैं। आचार्य प्रशस्तपाद की यह बात प्रशस्त नहीं है।

(२) "अयोनिज" जो विना माता पिता के संयोग के उत्पन्न होते हैं और जिसे अमैथुनी सृष्टि कहते हैं। समस्त प्राणी जो जगत में उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति चार प्रकारसे होती है—

(१) जरायुज—जिनके शरीर जरायु (झिल्लि) से लिपटे रहते हैं और इस जरायु को फाड़कर, उत्पन्न हुआ करते हैं, जैसे मनुष्य, पशु आदि।

(२) अंडज—जो अण्डोंसे उत्पन्न होते हैं, जैसे पक्षी, साँप मछली आदि···

(३) स्वेदज—जो पसीने और सील आदिसे उत्पन्न होते हैं।

(४) उद्भिज—जो पृथ्वी फाड़ कर उत्पन्न होते हैं। जैसे वृक्षादि। इनमेंसे अन्तिम दो की तो सदैव अमैथुनी सृष्टि हुआ करती है और प्रथम दो की मैथुनि और अमैथुनी दोनों प्रकारकी सृष्टि हुआ करती है।

अमुथुनि सृष्टि का क्रम

भूतोंकी उत्पत्तिके बाद, पृथ्वी से औषधी, औषधीसे अन्न अन्न से वीर्य (अन्न से रज और वीर्य दोनों है) और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है। ❀ चाहे मैथुनी सृष्टि हो या अमैथुनी दोनोंमें प्राणी रज और वीर्यके मेल से ही उत्पन्न हुआ करता है।

मैथुनी सृष्टि में, रज और वीर्यके मिलने और गर्भकी स्थापना का स्थान, माताका पेट हुआ करता है परन्तु अमैथुनि सृष्टिमें

❀ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः। अद्भयः पृथ्वी। पृथ्व्या औषधयः। औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः। (तैतिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवादक)।

मेलका स्थान माता के न होने से, माता के पेटसे बाहर हुआ करता है। प्राणि शास्त्र के विद्वान् बतलाते हैं कि अब भी ऐसे जन्तु पाये जाते हैं जिनके रज और वीर्य माता के पेट से बाहर ही मिलते हैं और उन्हीं से बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं। उनमेंसे कुछका विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) समुद्रमें एक प्रकारकी मछली होती है जिसकी मादा मछलियोंमें नियत ऋतुमें बहुसंख्या में रजकण (ore) प्रकट होजाते हैं और इसी प्रकार नर मछली के अण्डकोशोंमें जो पेटके नीचे (within the abdominal cavity) होते में वीर्यकण (Zoo sperml) प्रादुर्भूत होने लगते हैं। जब मादा मछली किसी जगह अण्डे देने के लिये रजकणोंको जो हजारोंकी संख्या में होते है, गिराती है (वह जगह प्रायः जल की निचली तह में रेतली अथवा पथरीली भूमि होती है) तब उसी समय नर वहां पहुंचकर उन रजकणों पर वीर्यकणोंको छोड़ देता है जिनसे पेटके बाहर ही गर्भकी स्थापना होकर अण्डे बनने लगते हैं।

(२) इसी तरह एक प्रकारके मेंढक होते हैं जो रज और वीर्य कण बाहर ही छोड़ते हैं। नर मेंढक मादा मेंढककी पीठ पर बैठ जाता है जिससे मादाके छोड़ते हुए रजकणों पर वीर्यकण गिरते जायं और इस प्रकार मेंढकके पेटसे बाहर ही इनके अण्डे बना करते हैं।

(३) एक प्रकारके कीट जिन्हें टेप वर्म (Tape worm) कहते हैं और जो मनुष्यों के भीतर पाचन-क्रिया की नाली (Human digestion canal) में पाये जाते हैं। ८० हजार अण्डे एक साथ एक कीट देता है एक अण्डेसे जब कीट निकलता है तो उसका एक मात्र शिर हुकोंके साथ जुड़ा हुआ होता है। (It consist simply a head with hook) उन हुकोंके

द्वारा वे आंतोंकी श्लैष्मिक (Mucous Membranes of the intestine) से जुड़ जाता है और उसी शिरसे उसका शरीर विकशित होता है और इस प्रकार उत्पन्न हुआ शरीर अनेक भागों (Segments) में विभक्त हो जाता है। वे इस प्रकार संख्या और आकारमें बढ़ते जाते हैं। प्रत्येक भागमें स्त्री पुरुषके अंग होते हैं। जिनसे स्वयमेव बिना किसी बाह्य सहायता के गर्भकी स्थापना हो जाती है। कुछ कालके बाद पुराने भाग (Segments) पृथक् होकर स्वतन्त्र कीट बन जाया करते हैं। इत्यादि।

इन उदाहरणोंसे यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि सर्वथा सम्भव है कि रज और वीर्यका सम्मेलन माताके पेटसे बाहर हो और उससे प्राणी उत्पन्न हो सकें।

इसी मर्यादाके अनुसार अमैथुनी सृष्टिमें मनुष्यका शरीर बनाने वाले रज और वीर्यका मेल माताके पेटसे बाहर होकर वृक्षों के चौड़े पत्ते रूपी झिल्लीमें गर्भकी तरह सुरक्षित रहते हुये बढ़ता रहता है। रज और वीर्य किस प्रकार झिल्ली में आकर मिल जाते, इसका अनुमान फूलों के पौधों की कार्य प्रणाली से किया जा सकता है। फूलों के पौधे नर भी होते हैं और मादा भी नर पौधों से पक्षी वीर्य कण लाकर मादा पौधे के रज कणों पर छोड़ देते हैं जिससे फूल और फल की उत्पत्ति हो जाती है। इसी लिये पक्षियोंको फूलोंका पुरोहित (Marriage priest of flowers) कहा करते हैं। अस्तु जब प्राणी इस बाह्य गर्भमें इतना बड़ा हो जाता है कि अपनी रक्षा आप कर सके तब वह पत्ती रूपी झिल्ली फट जाती है और उसमेंसे प्राणी निकल आया करता है। इसी का नाम अमैथुनी सृष्टि है।

एक कीटका उदाहरण

किस प्रकार बिना प्राणियों के यत्न के रज और वीर्यका स्वयमेव सम्मेलन तथा प्राणीके पुष्ट और कार्य करने योग्य हो जाने पर झिल्ली का अपने आप फट जाना आदि अलौकिक रीति से हो जाया करता है ? इसके लिये एक उदाहरण दिया जाता है—मैं जब गुरुकुल वृन्दावन में था तो गुरुकुल की वाटिका में बने एक बंगले में रहा करता था—उस बंगले के चारों ओर सुदर्शन के पौधे लगे हुये थे। इस सुहावने पौधे में एक प्रकार का कीड़ा लग जाता था जिससे उसके पत्ते और फूल सब खराब हो जाया करते थे. निम्न बातें प्रकट हुईं:—

जब इस पौधेमें नये पत्ते निकले तो ध्यान पूर्वक देख भाल करने से पता लगा कि एक काले रंग की तमाखू की तरह की कोई चीज कहींसे आकर एक पत्ते पर जम गई और दो चार दिन बाद किसी अज्ञात विधि से वह पत्ते के मोटे दल और झिल्ली के बीच में आ गई। देखने से साफ मालूम होता था कि यह वही काली वस्तु है जो मोटे ओर पतले दलों के बीच में आ गई है। एक सप्ताह के भीतर अब उस वस्तु के एक ओर का पतला पत्ते का दल (झिल्ली) भी इतना मोटा हो गया कि अब वह वस्तु एक गांठकी की तरह पत्ते में मालूम होने लगी। उसका रूप और रंग कुछ दिखाई नहीं देता था। अब वह चीज क्रमशः पत्तेके भीतर लम्बाई में बढ़ती हुई दिखाई देने लगी और दस दिन के भीतर उसकी लम्बाई लगभग दो इंच के हो गई। ऐसा हो जाने के बाद एक सप्ताह के भीतर वह पत्ता फट गया और उस में से एक हरे रंगका कीड़ा जो दो सुनहरी रेखाओं से तीन हिस्सों में मनुष्य के हाथों की छोटी उंगली की तरह विभक्त था निकल आया—यही कीड़ा

सुदर्शन के पत्तों और फूलों को खा-खाकर खराब कर देने वाला सिद्ध हुआ। इस कीड़े को, एक शीशे की अलमारी में कुछ पत्तोंके साथ रख दिया गया। दस बारह दिनके बाद जब अलमारी खोली गई कीड़े का वहाँ चिह्न भी बाकी नहीं रहा। इस परीक्षण से अमैथुनी सृष्टि की कार्य प्रणाली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

साँचेका उदाहरण

जिस प्रकार खिलौने आदि बनाने वाला पहले सांचा बनाता है और फिर उसी सांचे से अनेक खिलौने ढाल लिया करता है, ठीक इसी प्रकार अमैथुनी सृष्टि सांच बनाने की कार्य प्रणाली है और उसके बाद की मैथुनी सृष्टि सांचे से खिलौने आदि ढालने का कार्य क्रम है।

अमैथुनी सृष्टि सब प्रकारकी होती है

अमैथुनी सृष्टिमें केवल मनुष्य ही नहीं उत्पन्न होते, किन्तु पशु पक्षी इत्यादि सभी उत्पन्न होते हैं। ये भिन्न-भिन्न योनियां क्यों उत्पन्न होती है? इस प्रश्न का उत्तर वैशेषिककारने, उनके पिछली सृष्टि में किये हुये कर्मों की भिन्नता दिया है। * महा प्रलय होने पर वैशेषिककार के मतमें किसी दिशा अथवा स्थानमें कोई प्राणी किसी योनि में बाकी नहीं रहता। †इस लिये अमैथुनी सृष्टि का होना अनिवार्य है। फिर उसने एक जगह लिखा है कि प्राचीन आर्य प्रथानुसार, अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होने वाले व्यक्तियोंको पिताके नामसे नहीं पुकारते जैसे भरद्वाज का पुत्र भारद्वाज, बल्कि

* धर्म विशेषंच (वैशेषिक ४ । २ । ८)

† अनियतदिग्देश पूर्वकत्वात् ॥ (वैशेषिक ४।२।७१)

उत्पन्न होने वाले व्यक्तिके मूल नाम ही लिये जाते हैं। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य अंगिरा तथा ब्रह्मा आदि। इस लिये कि इनके कोई माता पिता नहीं थे। ‡ उसने अपने मत की पुष्टि में अमैथुनी सृष्टि को आवश्यक बतलाते हुए ॐ उसके वेद से प्रमाणित होने का भी उल्लेख किया है। × वेद में एक जगह अमैथुनी सृष्टिमें उत्पन्न मनुष्योंको सम्बोधित करते हुये कहा गया है।

हे समस्त प्राणियो! तुम न शिशु हो न कुमार किन्तु महान् (युवा) हो।" ÷

नैमित्तिक ज्ञान

जब अमैथुनी सृष्टि होनेके कारण, ज्ञान देने वाले माता पिता आदि नहीं होते तो उस समय वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो? इस प्रश्नका उत्तर न मिलनेके कारण ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति (इलहाम) की जाती है। इसी कल्पनाका संकेत योगदर्शन के इस प्रसिद्ध सूत्र में "स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (योग-दर्शन २।३१।) अर्थात् वह ईश्वर जो समयसे विभक्त नहीं हो सकता, पहले ऋषियोंका भी गुरु है।"

---

‡ समाख्या भावाच्च ॥ तथा संज्ञाया आदित्वात् ॥

(वैशेषिक ४।२।[illegible])

ॐ सन्त्ययोनिजः ॥ (वैशेषिक ४।२।११)

× वेद लिङ्गाच्च ॥ (वैशेषिक ४।२।१२)

÷ नहि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकाः।

विश्वेसतो महान्त इत ॥

(ऋग्वेद ८।३०।१)

समीक्षा

आत्मा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान और आत्मा कोई पृथक् पृथक् पदार्थ नहीं हैं। अतः ज्ञान को नैमित्तिक कहना बड़ी भूल है। अग्नि में गरमी किसी निमित्त से नहीं आती है, क्यों कि गरमी अग्नि का स्वभाव है। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान भी नैमित्तिक नहीं आता है। निमित्त से तो अज्ञान आ सकता है। आपने स्वयं इसी पुस्तक में शिव संकल्प सूत्र के मन्त्र लिखे हैं जिनमें आपने लिखा है कि—"जो (मन) ज्ञान (चेतनः) चिन्तन शक्ति और धैर्य से युक्त है, और जो प्रजाओं में अमृत और ज्योति है।" आदि इसमें आपने स्वयं मन को भी ज्ञान युक्त माना है। पुनः आत्मा की तो बात ही क्या है। अतः आत्मा को किसी निमित्तसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता अपितु ज्ञान उसका स्वभाव ही है। इसका विशेष वर्णन हम 'ज्ञान और ईश्वर' प्रकरण में करेंगे। आगे आप का यह लिखना कि "महा प्रलय में जगत का अत्यन्ताभाव हो जाता है" यह आपके दार्शनिक ज्ञान का परिचय देता है क्यों कि 'अत्यन्ताभाव' का लक्षण है जिसका कभी आदि और अन्त न हो "अनादिरनन्तोऽत्यन्ताभावः" क्यों कि यह अनादि अनन्त होता है। अतः आपने ये शब्द लिख कर जगत की रचना और प्रलय दोनों का अभाव सिद्ध कर दिया, पुनः अमैथुनी सृष्टि लिखना ही बात क्रीडा वत् है। आगे आपने अमैथुनी सृष्टि को सिद्ध करने के लिये जो उदाहरण दिया है वे सब भी आपके सिद्धान्तों पर ही कुठाराघात करते हैं। वेद और विज्ञान ने जगत रचना का तथा महा प्रलय का विरोध किया है यह पहले सिद्ध कर चुके हैं। तथा आपने अमैथुनी सृष्टि के लिये तीन उदाहरण दिये हैं। (१) मछली का (२) मेंढकका (३) हेम वर्म कीटका, ये तीन उदाहरण आप के मत का खण्डन करते हैं। क्यों कि आपके मतसे तो आदि में बिना

ही रज व वीर्य, मनुष्य आदि उत्पन्न हुये थे और यहां रज वीर्य से ही जीवों की उत्पत्ति बनाई गई है। तथा रजवीर्य भी उन्ही मछली व मेंढक आदि से उत्पन्न हुये हैं ईश्वरसे नहीं। अतः इनसे आपके मत की पुष्टि होने के वजाय उसका खण्डन ही होता है। आपने अपने गुरुकुल के परीक्षण का उदाहरण देकर तो कमाल किया है। श्रीमान जी आपको तो कोई ऐसा उदाहरण देना चाहिये था जिससे यह होता कि विना ही बीज के वृक्ष बन गये तथा विन रजवीर्य के मनुष्य आदि उत्पन्न हो गये तब तो आपके मत की पुष्टि होती यहां तो कीड़ा पहले ही विद्यमान है सिर्फ उसके रूप व आकारमें परिवर्तन हुआ है। यह तो प्रत्येक समय प्रत्येक वस्तु में होता है। चणेके अन्दर जो कीडा होता है उसकी तितली बन जाती है। इसी प्रकार गोरव आदि में विच्छू उत्पन्न हो जाते हैं। ये सब आपके मत के बाधक प्रमाण हैं।

वर्तमान विद्वाननें भी सिद्ध कर दिया है कि—

बिना अण्डे आदिके कीट आदिकी उत्पत्ति असम्भव है।

वर्षा ऋतुमें घास आदि अथवा सूक्ष्मसे सूक्ष्म जन्तु भी अपने कारण या अण्डोंसे ही उत्पन्न होते हैं।

पहलेके लोगोंका ख्याल था कि मेंढक आदि पानी आदिसे एकाएक स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं. परन्तु यह सिद्धान्त परीक्षासे गलत सिद्ध होचुका है। यही अवस्था सूक्ष्म दर्शक यन्त्रसे देखे जाने वाले कीटाणुओंकी है। वैज्ञानिकोंका कथन है कि हम स्वयं जननका एक भी उदाहरण नहीं जानते। और अभीतक हमें एक भी ऐसा पुराने जीवित या मृत जीवका नमूना नहीं मालूम जिसके विषयमें हम यह समझलें कि वह स्वयं पैदा हुआ होगा यहां, पर हमें फिर अपनी लाचारीको मानना पड़ता है कि हम यह नहीं बता सकते

कि जीवनका विकाश सबसे पहले कैसे हुआ। यदि यह माना जाये कि पहले पहल जीव किसी दूसरे आकाश पिण्डसे आया तो यह नितान्त असंभव है, क्योंकि वह किसी भी अवस्थामें जीवित नहीं रह सकता।

हमारी दुनियाँ पर प्रलय हो जानेके बाद शायद शुक्रपर जीवनके उदयकी वारी आवे।

विश्वभारती खं० १ पृ० ४४०

आगे आपने एक वेद मन्त्र देकर लिखा है कि "वेदमें एक जगह अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्योंको सम्बोधन करते हुये लिखा है कि हे समस्त प्राणियों! तुम न शिशु हो न कुमार किंतु महान् (युवा) हो।" वेद वेचारा अनाथ है, यही कारण है कि ये लोग इस पर इस प्रकारका अत्याचार करते हुए जरा भी संकोच नहीं करते। संपूर्ण वैदिक संहिताओमें तथा सम्पूर्ण वैदिक वांङ्मय कहीं भी अमैथुनी सृष्टि शब्द भी नहीं है। प्रतीत होता है स्वामी जी महाराजको रामपुरकी कुटियामें यह नया इलहाम हुआ है। अथवा जनता को धोका देनेका एक नया ढंग निकाला है। यदि श्रीमान् जी इससे आगेका दूसरा ही मन्त्र देख लेते तो भी इनको ज्ञात हो जाता कि यहां किसका वर्णन है। उसमें लिखा है कि "येच [illegible] त्रिंशच।" ऋ० ८। ३०। २

अर्थात् जिनको हमने महान् (युवा) बताया है वे तैतीस देवता हैं।

॥ समाप्त ॥

शुद्धाशुद्धि पत्र

प्रिय पाठक वृन्द !

मेरी आन्तरिक इच्छा थी कि इस पुस्तकको सर्वथा विशुद्ध रूपमें आप लोगोंके संमुख उपस्थित करूं, किन्तु पूर्ण प्रयत्न करने पर भी इसमें बहुत सी अशुद्धियां रह ही गईं जिसके लिये मुझे बहुत खेद है। अस्तु विशेष विशेष अशुद्धियोंका "शुद्धिपत्र" दे रहा हूँ फिर भी जो अशुद्धियां रह गईं हों उन्हें गुणैकपक्षपाती आप महानुभाव स्वयं सुधार कर स्वाध्याय करें यही प्रार्थना है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१७	अधिष्टातारः	अधिष्ठातारः
५	१७	पुरुष विग्राहाः	पुरुष विग्रहाः
६	५	अधिष्टाता	अधिष्ठाता
६	१६	मरुत्‌गण	मरुद्‌गण
७	११	अग्निवनस्पति	अग्निर्वनस्पति
७	१२	दातृरणाम्	दातृणाम्
७	१४	रन्तरिसस्य	रन्तरिक्षस्य
७	१४	सूर्यचक्षुषा	सूर्यश्चक्षुषा
११	१८	वहिरपथा	वहिस्तथा
११	१६	यत	यत्
१३	७	सोऽग्नि	सोऽग्निः
१४	२२	स्यर्ग	स्वर्ग
१६	४	मनुष्म	मनुष्य
१६	१८	जवसे	सवसे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१०	इदमेवाग्नि	इदमेवाग्निं
२०	१	अग्निर्वै	अग्निर्वै
२०	३	अग्निर्वै	अग्निर्वै
२२	११	ददृश	ददर्श
२३	१३	रामानाथ	रमानाथ
२४	१५	अविलम्बित थी	अवलम्बित था
२६	११	कोन है	कौन है
२७	२	प्राय	प्रायः
२८	११	आश्वनौ	अश्विनौ
२९	२३	वद्य रूप	वैद्यरूप
३०	२०	राहित ने धावी	रोहित ने धावा
३२	४	पंत्याश्रितः	पंक्त्याश्रितः
३२	६	मध्यान	मध्यान्ह
३४	१२	सर्वाकारो परत्व	सर्वाकारपरत्व
३५	४	विह्न	विघ्न
३६	१९	लौकस्य	लोकस्य
३६	२४	शुभः	शुभ्रः
३७	३	उनने	उन्होंने
३७	३	लोकोद्धार	लोकोद्धारक
३७	६	लोकचक्षु	लोकचक्षु
३८	९	सौमप	सोमप
३९	३	आन्तरिक्षस्थ	अन्तरिक्षस्थ
३९	११	आदित्यों दिये	आदित्य कहे
४१	३	कर्भ देवाः	कर्म देवाः
४२	५	श्रोत कर्मोत्पन्न	श्रौतकर्मोत्पन्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	११	उवह्	उवट
४३	५	सर्वाणुक्रमणी	सर्वानुक्रमणी
४३	७	तस्थुषचेति	तस्थुषश्चेति
४४	४	सूर्यमण्डलास्थित	सूर्यमण्डलस्थित
४४	६	सर्वाणुक्रमणी	सर्वानुक्रमणी
४४	२१	२७ राशियां	१२ राशियां
४५	६	कृतिका	कृत्तिका
४५	८	पुष्पा	पुष्य
४५	८	अश्लेषों	अश्लेषा
४५	१२	घनिष्ठा	धनिष्ठा
४६	१८	जातिवेदस्	जातवेदस्
४६	२१	फलदात्रिता	फलदातृता
४७	२०	आधीन	अधीन
४८	२५	वांगमय	वाङ्मय
५०	२१	ऽषाग्व	ऽवाग्व
५०	२२	भस्तोत्र	मश्रोत्र
५२	३	क्षेत्रस्यपति	क्षेत्रस्पति
५२	२५	अश्व एव	अश्व इव
५३	१६	वहन्त्यग्नि	वहन्त्यग्नि
५४	११	माहाभाग्याद्	महाभाग्याद्
५५	१५	क्षात्रा	क्षात्र
५५	६	शाक्ल्य	शाकल्य
५५	११	निवद्	निविद्
५७	२३	मग्निनमाहु	मग्निमाहु
५८	२४	करता	कर्त्ता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	४	तद्देवाग्न	तद्देवाग्नि
६१	१६	इन्द्रीय	इन्द्रिय
६६	११	सन्निविष्ठ	सन्निविष्ट
६६	४	फलथी	फलथा
६७	१०	अवाम्	आवाम
६९	१६	नित्यत्त्वं	नित्यत्वं
७१	२	सामवेद्ऽथर्वेद:	सामवेदोऽथर्वेद:
७१	६	शास्रों	शास्त्रों
७१	१०	अध्यात्मिक	आध्यात्मिक
७३	४	अथया	अथवा
७३	५	वांगमय	वाङ्मय
७४	६	भौतिका	भौतिका
७४	१०	रांशित	रांशिक
७४	१४	मेवाभिष्ट	मेवाभीष्ट
७४	१५	वाच्वित्व	वाच्वित्वं
७४	१६	परिभाषिका	पारिभाषिका
७४	१९	जल चन्द्म:प्रभृत	जल चन्द्र प्रभृत
७४	२०	तन्मुखदेव	तन्मुखादेवा:
७५	२	श्रुत	श्रुति
७५	७	अभिष्ट	अभीष्ट
७५	१७	पारभाषिक	पारिभाषिक
७६	२	अनुचाना	अनूचाना
७७	१	देवताओके	देवताओंके
७८	१३	भ्रमात	भ्रमात्
७८	२१	चोर	चुरा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८१	३	पृथर्वा	पृथवी
८१	१५	ऋवेद	ऋग्वेद
८२	३	सूल	सूक्त
८२	६	मातण्ड	मार्तण्ड
८२	१०	शतापथ	शतपथ
८२	१६	च्यामघे	च्यांमध्यै
८३	१	श्रीसहस्त्रा	त्रिसहस्त्रा
८३	१	त्रिशाञ्च	त्रिंशाञ्च
८२	८	वददभिः	वदद्भिः
८४	१२	प्रजापति	प्रजापतिं
८४	१५	ऋग्वेदलोचन	ऋग्वेदालोचन
८५	८	ध्रुवं	ध्रुव
८५	१०	उत्तर ध्रुवं	उत्तर ध्रुव
८५	१६	पचौली	पंचौली
८६	५	आधिभौतिक	आधिभौलिक
८६	७	अधिमौतिक	आधिभौतिक
८६	२०	शन्ति	शान्ति
८७	११	स्नातक	स्नातक
८७	१४	शौक	शोक
८७	२२	उद्भूव	उद्भव
८८	४	असत्त्य	असत्य
८८	४	व्युतपत्ति	व्युत्पत्ति
८९	४	आलिगीता	आलिगी तथा
९१	२३	मुपाहरन्तो	मुपाहरन्तो
९१	२४	अनुपरत्त	अनुपरत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९२	११	आमिनन्ति	मामनन्ति
९३	५	सवं	स वै
९४	६	सूरर्स्य	सूर्यस्य
९५	१	वरुणों	वरुणो
९५	६	स्त्वां	त्वां
९६	३	जगत्तीषु	जगतीषु
९६	९	ब्रह्म	ब्रह्म
९८	४	वरणो	वरुणो
९८	१२	प्रौत	प्रोत
९९	५	मातरिस्वान	मातरिश्वान
९९	७	सत्त्यं	सत्यं
९९	१४	तत्त्वदर्शी	तत्वदर्शी
९९	१६	गरुत्वभान्	गरुत्मान्
९९	१७	पंडित्तगण	पंडितगण
९९	१८	मातारिश्वा	मातरिश्वा
१००	१६	अन्तर्भुक्त	अन्तर्भुक्त
१०१	१०	मध्यत्तो	मध्यतो
१०१	२५	देव	देवं
१०२	७	ऋदेव	ऋग्वेद
१०२	२०	स्वास्ति	स्वस्ति
१०३	२०	नई है	गई है
१०४	२४	षरम	परम
१०५	६	वर्णित्त	वर्णित
१०५	१०	यथाथ	यथार्थ
१०५	२१	ताम्र	ताम्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	२२	शिचित	शिति
१०७	२५	महद्भ्यो	महद्भ्यो
१०८	४	नायकों की	नायकों को
१०९	१६	मांर्पित	मर्पित
१०८	२३	वणोतु	वृणोतु
१११	१६	भार्गो	भर्गो
११२	६	ओर	और
११२	१२	त्ता	दमा
११२	१२	दिखाई	दिखाई
११३	७	ओर	और
११४	१७	विकास	विकाश
११४	२१	हुये	हुवे
११६	१	सूर्यासूक्त	सूर्यसूक्त
११७	१०	अनष्ठान	अनुष्ठान
११२	७	क्रियों में	क्रियाओं में
११२	१५	क्रियावलि	क्रियावली
११८	१६	विकिसित	विकशित
१२६	५	धांरयन	धारयन्
१२८	१७	दुरितानी	दुरितानि
१३०	२१	सन्तिः	सन्ति
१३१	३	शर्मं	शर्म
१३२	९	बृहस्पति	बृहस्पतिः
१३२	१६	बृष्णो	विष्णो
१३३	८	बिभषि	बिभर्षि
१३३	२१	सामश्रमी	सामाश्रमी

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१३४	१६	एह ही	एक ही
१३४	२०	सूर्यं	सूर्य
१३७	१४	विर्माति	विभर्ति
१३८	१२	सूर्यं	सूर्य
१४७	१४	वांगमय	वाङ्मय
१४३	२१	और वैदिक	और न वैदिक
१४५	५	समवान	समाधान
१४५	५	जुड़ा	जुड़ा
१४६	११	हुगा	होगा
१४७	२	छटा	छठा
१४७	२	अथ	अर्थ
१४७	६	शट	घट
१४९	२	अम	अग्नि
१४९	११	चेतन्य	चेतन
१४९	१५	जब	सब
१४९	१७	जब	सब
१४९	२५	अंगोकी	अंगोको
१५०	२३	नष्ठ	नष्ट
१५१	१५	अभक्त	अभिन्न
१५२	२०	कुतुहलादिक	कुतूहलादिक
१५४	२५	थी पीछे	थी तो पीछे
१५५	२२	तक	तर्क
१५७	१४	स्वमेव	स्वयमेव
१५७	१५	स्वमेव	स्वयमेव
१५८	९	परिणामन	परिणाम

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१६३	७	शारीरादिक	शरीरादिक
१६४	२१	दर्शनाकार	दर्शनकार
१६४	२३	वान्ध	बांध
१६५	१०	द्वैतापत्तिश्च	द्वैतापत्तिश्च
१६५	२१	ससदसत्से	सदसत से
१६६	१०	इन्यंस	इत्यलं
१६६	१३	भविष्या	विषया
१६६	१६	ईश्वर कारणं	ईश्वरः कारणं
१६६	२०	न च भावो	नचाभावो
१६७	१२	अगम	आगम
१६७	२	पृथक	पृथक्
१६९	६	और	ओर
१६९	१०	तन्संशयादि	तत्संशयादि
१६९	१३	बिधायां	विधया
१६९	१३	मन्धुते	मश्नुते
१६९	१९	यदोङ्कुरः	यदोङ्कारः
१७५	३–४	कि उसको	उसको
१७५	२३	सुर दीर्गिका	सुर दीर्घिका
१७६	१०	देवतों	देवताओं
१८०	२	देवतो	देवताओं
१८१	१३	लोग आनेका	लोगोंके आनेका
१८१	२०	मन गडंत	मन गढ़ंत
१८१	२५	अनेकोंनेक	अनेकानेक
१८२	२	किस प्रकार थी	किस प्रकारकी थी
१८३	१८	अपभ्रष्ट	अपभ्रंश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८४	५	हौ गया कि	हो गया कि
१८४	१४	आहिंसिक	अहिंसक
१८६	१५	मनुष्म	मनुष्य
१८७	३	निरलस	निरालस
१८८	२१	आतिष्ठंस्तद	अतिष्ठंस्तद्
१८९	१५	पोषाक	पोशाक
१८९	१८	औौर	ओर
१९०	६	सैनियों	सैनिकों
१९०	७	विविधि	विविध
१९०	८	इस हीं	(यही) इसी
१९१	२२	लगा तो	लगता तो
१९२	१२	हुआ	हो
१९३	१३	असावधया	असावधान
१९४	६	करना	करता
१९७	१९	देवतायों	देवताओं
१९९	१२	पोपण	पोषण
२००	३	द्रवतपाणी	द्रवत्पाणी
२०१	५	हाना	होना
२०१	२३	वासुदेवोंने	वसुओंने
२०३	९	अघिक	अधिक
२०७	१	वाल	वाले
२०७	३	पूँण	पूर्ण
२०७	१३	औदन	ओदन
२०७	२२	सरस्वति है	सरस्वती
२०७	२३	रहस्म्य	रहस्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०७	२४	यानि	यानी
२०९	१७	दिखाती	दीखती
२११	७	चिकित्मित	चिकित्सा
२११	१६	टौना	टोना
२१२	५	पुन्सवन	पुंसवन
२१३	२६	भृत्य	मृत्यु
२१४	३	गंगगोदक	गंगोदक
२१४	८	भक्ताभक्त	भक्ष्याभक्ष्य
२१५	८	सदृश्य	सदृश
२१५	१७	उदयास्द	उदयास्त
२१६	२२	निर्ण	निर्णय
२१७	१६	अदृष्ट	अदृष्ट
२१७	१७	अदृष्ट	अदृष्ट
२२१	११	युगपवनेक	युगपदनेक
२२२	१४	सदृश्य	सदृश
२२७	७	जमावृतः	समावृतः
२२८	९	द्रोपदी	द्रौपदी
२२९	१५	पश्चान	पश्चात्
२३१	२०	प्राणारूप	प्राणरूपे
२३२	२	वृष्टरम्भं	वृष्टेरम्भं
२३२	१७	इसी जो	इसी
२३३	१८	शनै-शनै	शनैः शनैः
२३३	२२	प्रथक प्रथक	पृथक् पृथक्
२३४	१६	परकी	परक
२३४	१७	साहित्व	साहित्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३५	१	मात्रश्च	मात्राश्च
२३६	५	भिन्न ह	भिन्न है
२३६	१९	उस	इस
२३७	१	ऽमित्तप्रे	ऽमितप्रे
२३७	२२	बद्धात्मा	बद्धात्मका
२४०	२०	त्तद्	तद्
२४२	१	शंयोर्भमेकाय	शंयोर्भकाय
२४३	८	तथाप्रज्ञ	तथाप्राज्ञ
२४५	३	वहिर्रात्मा	वहिरात्मा
२४६	१३	शब्दै	शद्वै
२४७	९	शब्दै	शद्वै
२४८	११	हं व	हं वा
२४८	२१	यर्णन	वर्णन
२४९	२१	मूल है	मूल है
२५०	१९	वषटकारश्च	वषट्कारश्च
२५१	६	प्रजापति	प्रजापतिं
२५३	१७	श्रुतियें	श्रुतियां
२५४	१७	पूत्रम्	पूर्वम
२५७	१	मात्र है	स्तुति मात्र है
२५८	५	दिष्ठा	दिष्टा
२५८	१३	स्वर: श्रेष्ठ:	सुरज्येष्ठः
२५८	१५	स्वर: श्रेष्ठ	सुरज्येष्ठ
२५९	१	नष्ठ	नष्ट
२५९	१०	यदम्मि	यंदम्मि
२६१	२	वृहद	वृहद्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६१	५	वै	वैं
२६३	६	विराट जायत	विराड जायत
२६३	९	अथवाद	अर्थवाद
२६३	१२	रित चाप्पजः	रिति चाप्यजः
२६३	१९	मतिविष्णु	मतिर्विष्णुः
२६३	२१	वाचकोः	वाचकैः
२६४	२	तिष्ठन्तीं	तिष्ठन्ती
२६४	५	प्राणेण	प्राणेन
२६४	१७	सम्वतसर	सम्वत्सर
२६५	३	दिन के हैं	दिन हैं
२६८	१	धानाधिपति	धनाधिपति
२६८	८	किरोड़ों	करोड़ों
२६९	२	मात्मन् वत्त	मात्मन्वत
२६९	१७	रत्तद्	स्तद्
२७२	१	लेम	लोम
२७३	१६	न्ग्येव	न्त्येव
२७४	१६	ऽर्जु तिष्ठति	ऽर्जुन तिष्ठति
२७५	९	दद्वेदान्तेषु	तद्वेदान्तेषु
२७६	७	दहं	देहं
२७६	८	नहं	देहं
२७७	२	थिर्वा	पृथिवी
२७७	९	जीवाः	जीवः
२७८	४	उतमृतत्व	उतामृतत्व
२७८	६	पादौऽस्य	पादोऽस्य
२७८	८	द्विरङाजायन	द्विराडजायत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७८	१६	साभृतं	संभृतं
२७९	८	अरू उदस्य	ऊरू तदस्य
२७९	१०	मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च	प्राणाद्वायुरजायत = श्रोत्रा-द्वायुश्च प्राणश्चमुखाद् दग्निरजायत ।
२८०	५	जगद्‍वस्था	जगद्वस्था
२८०	८	अश	अंश
२८३	१२	श्रुति	श्रुति
२८३	१५	चाचार्य	चार्य
२८४	३	जैमुनि	जैमिनि
२८४	१०	सहस्रा	सहस्रों
२८५	१	मनो	मनः
२८५	४	वायु	वायुः
२८५	५	सव	सर्व
२८५	७	सिचति	सिंचति
२८५	९	यस्माद् चः	यस्माच्च
२८८	१	हृद्वेप	हृदय
२८६	१४	अमिष्ट	अभीष्ट
२८९	१५	काल्यनिक	काल्पनिक
२९१	११	जगद्‍वथा	जगद्वस्था
२९१	१२	काय	कार्य
२९३	७	अन्नद्	अन्नाद्
२९५	७	लान	लीन
२९५	१६	विराट जायत	विराडजायत
२९६	१	सृष्ट्यादौ	सृष्ट्यादौ
२९६	३	दृश्चजायत	दृजायत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९६	७	श्रुयते	श्रूयते
२९६	१३	तापनीय	तापनीये
२९६	१९	प्रविष्ट	प्रविष्ठ
२९७	१५	समिध	समिधः
२९९	१	अग्नि	अग्निः
२९९	४	साधनाः	साध्याः
३०१	१०	विराट	विराट्
३०१	१७	सर्वन्याप्मन	सर्वमात्मन
३०१	२१	भावानुष्टानैः	भावानुष्ठानैः
३०१	२२	ऽनुष्टाने	ऽनुष्ठाने
३०२	१२	सृष्ठि	सृष्टि
३०५	८	तमिद	तमिदं
३०५	१९	दुर्जेय	दुर्ज्ञेय
३०५	१	तमिद	तमिदं
३०८	१८	तस्मैं	तस्मै
३११	१५	अधिदैविक	आधिदैविक
३१२	३	विद्मो	विद्मो
३१२	४	विजानिभः	विजानीमः
३१३	४	चक्षुंसि	चक्षूंषि
३१३	२०	वर्क्केविप्र	वर्क्केविप्र
३१५	१८	समाम्नये	सामाम्नाये
३१५	१९	समान्यात्	सामान्यात्
३२२	२४	व्यान	ध्यान
३२२	२५	सहाय्य	साहाय्य
३२३	१९	राजकरण	राजकार्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२७	१७	अथववेद	अथर्ववेद
३२७	१८	यदग्नि	यदग्निः
३३०	११	भूतनाथ पर	भूतान पर
३३०	२५	सामान्यता	सामान्यतः
३३१	२०	शाद्वक	शब्द के
३३२	२४	धर्म	धर्म
३३३	१८	बुद्धिमता से	बुद्धिमत्ता से
३३३	१८	आफ्रिही	आफ्रिकी
३३३	२२	वत	वर्त
३३४	६	महापुरुष	महापुरुष को
३३४	१४	अथ	अर्थ
३३४	२२	वासियो	बीसियों
३३५	११	इसका	इसकी
३३५	२२	तथैकेऽग्न	तथैकेऽग्नि
३३६	८	धसकाया	धमकाया
३३७	२२	समिलित	संमिलित
३३८	२२	मानतायें	मान्यतायें
३०६	१७	हुये	हुवे
३४०	६	वड़ा कठिन कार्य	बड़ी कठिनता
३४०	२२	थाड़ा	थोड़ा
३४१	६	व्यस्था	व्यवस्था
३४२	१६	परम्पर	परस्पर
३४३	२२	सदुमप्रमादम्	सदप्रमादम्
३४४	७	पड़	पट्
३४५	१६	विशिष्ठ	विशिष्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४७	१०	सदगुण	सद्‌गुण
३४८	४	जीवात्वा	जीवात्मा
३४८	२१	यज्ञ	यज्ञ मे
३४८	२३	याज्ञयल्क्य	याज्ञवल्क्य
३४९	६	ऋषयों	ऋषयो
३४९	१९	राज्ञः	सज्ञः
३५०	८	गिरजात है	गिरजाता है
३५१	६	पद्	पाद
३५१	१७	लगे कि	लगे.
३५१	२०	भाषित	भासित
३५१	२२	ना कर	न कर
६५१	२४	उपनित	उपमित
३५१	२४	श्रेष्टता	श्रेष्ठता
३५२	२	यस्मिन	यस्मिन्
३५३	३	बृहदाराण्यक	बृहदारण्यक
३५३	१३	बुद्धिस्तु	बुद्धिन्तु
३५३	१४	विषयं स्तेषु	विषयांस्तेषु
३५३	१९	पांचवां	पांच वो
३५४	६	श्रेष्ट	श्रेष्ठ
३५४	८	पापिष्ट	पापिष्ठ
३५४	८	श्रेष्ट	श्रेष्ठ
३५४	१३	वशिष्टा	वशिष्ठा
३५५	१९	प्रजास्त्विा मा	प्रजास्त्विमा
३५५	२०	पितरणां	पितृणां
३५६	८	प्राणस्यदं	प्राणस्येदं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५६	२२	वाचा	वाणी
३५७	३	श्रैष्ठश्च	श्रेष्ठश्च
३५७	४	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ
३५९	८	प्रणिति	प्राणिति
३५९	८	प्राणीयते	प्रणीयते
३६१	१०	साहस	सादृश्य
३६४	१०	महत्पमा	महत्तमो
३६५	१६	भूत्वा	भूत्वा
३६२	८	औषधि	औषधि
३६६	२१	समभरन	समाभरम्
३६९	१४	प्राणच्छ्रष्टां	प्राणात्स्रष्टां
३६९	१५	ऽन्नं मन्नाद्	ऽन्न मन्नाद्
३६९	१७	तस्मिनेतदाततं	तस्मिन्नेतदाततम्
३७०	१९	प्रेजां	प्रजां
३७०	१९	प्रमैणान पाविशत्	प्रेमेणैनमभ्याविशत्
३७२	१७	तुच्छ्रपेनाम्व	तुच्छेनाम्व
३७२	१६	गूल्ह	गूढ़
३७३	२१	वणन	वर्णन
३७७	१८	आच्छ्रदन	आच्छादन
३७७	२५	द्रुव्य	द्रव्य
३७८	१४	पदा	पदों
३७८	१५	अथ	अर्थ
३७८	२०	स्वे महम्नि	स्वेमहिम्नि
३७९	२	परवृह्म	परब्रह्म
३७९	३	वणन	वर्णन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७९	११	आरम्भ	आरंभ
३७९	२०	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ
३७९	२१	द्रष्टा भोक्त	द्रष्टा भोक्तृ
३७९	२६	द्वंद्त्मक	द्वंद्वात्मक
३८०	१५	पृथ्व की	पृथ्वी की
३८०	२४	फैली गई	फैलती गई
३८१	६	निगुण	निर्गुण
३८१	८	प्रश्न मानवा	प्रश्न मानवी
३८१	९	सहश्य	सदृश
३८१	१०	स्वतत्र	स्वतंत्र
३८२	२३	सिह	सिंह
३८२	२३	निभय	निर्भय
३८३	९	तक	तर्क
३८३	१३	विरोधा	विरोधी
३८६	१७	अथ	अर्थ
३८३	१८	समथन हा	समर्थन ही
३८५	४	मूत	मूर्त
३८५	५	वणन	वर्णन
३८५	९	सर्क	सोऽर्कः
३८५	१६	अमृतं मापः	अमृत मापः
३८५	२३	इदमम्रसीत	इदमग्रासीत्
३८६	१४	शाल	शील
३८७	६	तिष्ठस्थ	विष्ठस्व
३८७	१०	समाविषों	समाविषो
३८७	१३	यश्चिन्तः	यश्चित्तः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८८	१०	प्राणको	प्राण
३८८	१८	कमसे	कर्मसे
३८९	५	तत्पाश्चात्	तत्पश्चात्
३८९	११	किरोड़ों	करोड़ों
६७९	१६	हृव्य	द्रव्य
३८९	२५	ऽभ्यजायतः	अभ्यजायत
३९०	१६	हृतकंपो	हृत्कंपो
३९०	२१	हृदय	हृदय
३९१	४	भाष्य	भ.ष्य
३९१	५	रन्त	रत्न
३९१	७	शद्व	शब्द
३९२	३	ओर	और
३९४	४	विसृष्ठियत	विसृष्टिर्यत
३९४	१	तिर्यकप्रेत	तिर्यकद्प्रेतादिभिः
३९५	१	शास्त्राभिः	शाखाभिः
३९५	२	आवाकशाख	अवाकशाखः
३९६	१७	शरीराद्यतस्य	शरीरंयदितस्य
३९६	१९	प्रायोदुःखाच	प्रायशोदुःखात्
३९७	४	असृष्टावपिह्यसौ	असृष्टावप्यसौ
४०१	४	दिशोजायन्त	दिशोऽजायन्त
४०१	१४	परमात्म	परमात्मा
४०१	२१	वणन	वर्णन
४०३	३	नदाधार	नादधार
४०४	४	निगुण	निर्गुण
४०४	४	ओर	और

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०४	१४	निर्णयो	निर्णयो
४०५	१३	सहृश्य	सहृश
४०६	१२	श्रुतिनांच	श्रुतीनांच
४०६	१३	बुद्धयवतार	बुद्ध थवतार
४०६	१७	तारायेणिव	तारणायैवेति
४०७	८	वादि	वादी
४०७	२३	विवक्षत्वात्	विवक्षितत्वात्
४०८	२४	वेशेषिक	वैशेषिक
४०९	८	सम्पूण	सम्पूर्ण
४०९	१६	अवनेग्य	अवनेय
४११	१	व ड़ा	बढ़ा और
४१२	१३	प्रेरित	प्रेरितं
४१३	१२	स्वतो	स्वतः
४१३	१६	वैष्णवास्ताहु	वैष्णवास्त्वाहुः
४१४	१५	आसिदिदं	आसीदिदं
४१४	१६	अप्रतर्थ्य	अप्रतर्क्य
४१६	१	व्यच्छेदर्थ	व्यवच्छेदार्थ
४१६	४	उत्त शब्द	उतशब्द
४१६	१०	आत्महता	आत्महना
४१८	१३	जे भाव है	जो भाव है
४१९	२२	तस्मान्त्रिष्वपि	तस्मात्त्रिष्वपि
४१९	२४	अस्ति	अस्तित्व
४२०	३	न्यन्ते	मन्यन्ते
४२०	७	सृष्टिरितिअन्येक्रीडार्थमिति	सृष्टिरितिक्रीड़ार्थमिति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२०	१०	उत्पत्ति मानते हैं	उत्पत्ति का कारण मानते हैं
४२१	२१	व्धायाम	व्यायाम
४२२	५	उधालक	उद्दालक
४२२	१३	मृत्युर्वे वेदेमासीत्	मृत्युरेवेदमासीत्
४२२	२०	अप्रतक्य	अप्रतर्क्यं
४२२	२१	तर्कण के	तर्क के
४२४	२०	असद् अर्थात् था	असद् अर्थात् अवि-द्यमान था
५२५	८	तत्संवत्सस्य	तत्संम्वत्सरस्य
४२७	१६	प्रत्यत्ता गोचर	प्रत्यक्षगोचर
४२८	३	त्वयवान्	त्ववयवान्
४२८	४	सन्निवेश्यात्मात्रासु	सन्निवेश्यात्ममात्रासु
४२८	५	अपरमित	अपरिमित
४२८	१२	स्यात्मन्	स्यात्मन
४२८	१४	स्मृते	स्मृतेः
४२८	१५	षड्वयवान्	षडवयवान्
४२६	१४	मधेर्मेन	मर्धेन
४३०	२	सिष्टक्षुस्तु	सिसृक्षुस्तु
४३१	६	सृष्टवेदं	सृष्ट्वेदं
४३२	१	रव्क्तेनाभि	रव्यक्तेनाभि
४३२	३	जगद्दृष्ट्वा	जगद्दृष्ट्वा
४३२	१०	प्रसति अधिकम	प्रसति चाधिकम्
४३३	१४	सर्वेषांमेव	सर्वेषामेव,
४३४	३	संसकारी	संसारी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३४	१७	ब्रह्मणास्पति	ब्रह्मणस्पति
४३६	६	अघिपति	अधिपति
४३६	१७	शत्तावीस	सत्ताईस
४३७	२१	कृत्वा	हृत्वा
४३७	२१	पतिश्चचाभवतां	पतिश्चाभवत्तां
४३७	२३	समभवतततो	समभवत्ततो
४३८	९	कथं वु	कथं नु
४३८	१०	ईतरस्तां	इतरस्तां
४३८	११	वडवेत्तराभवदश्चवृष	अश्वीतराभवदश्वश्चेतरः
४३८	१४	जावयो	जीवयो
४३९	१२	एत्तमेव	एतमेव
४४०	१०	अधिपत्य	आधिपत्य
४४१	१	नामैततयन्मानुषं	नामैतत् यन्मानुषं
४४१	१५	पर्याद धुस्तन मरुतो	पर्यादधुरेस्तम्मरुतो
४४१	१८	भृगुरभवतं	भृगुरभवत्तं
४४१	१९	यत्तृतीय	यत्तृतीय
४४२	१६	मृत्तिका	मृत्तिका
४४३	६	काष्ट	काष्ठ
४४३	१६	न्वभवत् त्तस्य	त्वभवत्तस्य
४४४	८	मात्राया	मात्रया
४४४	१८	गन्धग्राणामितिन्द्रिया	गन्धग्राणामितीन्द्रिया
४४४	२३	नो नासिका	दो नासिका
४४५	३	दर्शनमितिन्द्रिया	दर्शनमितीन्द्रिया
४४५	८	सत्ररहृवां	सत्रहृवां
४४५	१२	जलवृिद्दश	जलयविदित्यं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४५	१३	शारदृतु	शारदृतु
४४५	१४	न्द्रियारान्व भवत	न्द्रियाण्यन्वभवत्
४४५	२१	वाको वाक्य	वाको वाक्यं
४४६	२	त्रयस्त्रिंशौ	त्रयस्त्रिंशौ
४४६	३	मितिन्द्रियारान्वभवत्	मितीन्द्रियाण्यन्वभवत्
४४६	१६	मूदर्ध्नो	मूर्ध्नो
४४६	२३	दृम्यत ।त्	दृभ्यतपत्
४४७	१३	चन्द्रमसस्तिरमिमत	चन्द्रमसश्चिरमिमत
४४७	१४	नरवे.भ्यो	नखेभ्यो
४४७	१५	प्रांणेभ्यो	प्राणेभ्यो
४४८	२	तपोत्तप्यत	तपोऽतप्यत
४४८	४	तृन्मये	मृन्मये
४४८	११	ऽतप्यत्त	ऽतप्यत
४४९	४	ऽह्वोरात्रियोः	ऽह्वोरात्र्योः
४४९	१२	दृरते पात्रे	हरिते पात्रे
४५०	२	प्रत्यतिष्टत	प्रत्यतिष्ठत्
४५१	१७	उपत्वायऽनीति	उपत्वाऽऽयानीति
४५१	१८	ऽभ्तीत्यब्रवीत	ऽस्तीत्यब्रवीत्
४५१	१९	दिश्यामिरित्य	दिशाभिरित्य
४५२	८	पतमेष्ठी	परमेष्ठी
४५३	१४	प्रेमणानुप्राविशात	प्रेमेणानुप्राविशत्
४५३	५	सं भमितुं	संभवितुं
४५४	२६	अकिञ्चत्कर	अकिञ्चित्कर
४५५	११	अथवाद्	अर्थवाद्
४५५	२२	तदेततेजो	तदेतत्तेजो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५५	२३	मित्युषासीत	मित्युपासीत
४५६	८	स्योर्ध्वः	स्योर्ध्वः
४५६	६	सुशि	सुषि
४५७	२३	वाजयेत्	वासयेत्
४५६	८	वर्णितति है	वर्णित है
४६२	७	ओर	और
४६२	६	असख्यं	असंख्य
४६३	८	मिमित्त	निमित्त
४६४	८	श्र्वेताश्वर	श्वेताश्वतर
४६४	११	द्गोचर	दृष्टिगोचर
४६४	२०	सक्ता	सकता
४६४	२६	इन्द्रियों	इन्द्रियों के
४६५	१८	प्रास्य	ग्राह्य
४६६	५	अधिभौतिक	आधिभौतिक
४६७	६	सृष्टि से	दृष्टि से
४६७	१६	धर्म-सृष्टि से	धर्म दृष्टि से
४७१	१२	नैय्यायिकोंके	नैयायिकों के
४७१	१२	परमाणुयों का	परमाणुओं का
४७३	१	गुणज्ञान का	गुण का ज्ञान
४७४	१०	निरिन्द्रिन	निरिन्द्रिय
४७५	२६	विकल्पात्माक	विकल्पात्मक
४७६	२	व्याकरणात्मक	व्याकरणात्मक
४७७	१०	स्वयभू	स्वयंभू
४७७	२४	मृत्य	मृत्यु
४७६	१८	प्रकति	प्रकृति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७९	२३	प्रतिक	प्रकृति
४८०	२०	प्रक्रति	प्रकृति
४८२	२५	तामज	तामस
४८३	७	संक्षीप्त	संक्षिप्त
४८३	१५-१६	परमात्मा से आकाशसे,	परमात्मासे आकाश, अकाश से
४८५	२	अद्भूत	अद्भुत
४८५	१५	वह्नीः	वह्नीः
४८५	१९	श्वेतकेतु	श्वेतकेतु
४८५	२४	व्यप्त	व्याप्त
४८८	१४	निर्वाण	निर्माण
४९०	११	जतना का	जनता का
४९०	१८	वार्ष्णेव	वार्ष्णेय
४९१	१७	श्रेष्ट-कनिष्ट	श्रेष्ठ-कनिष्ठ
४९१	२०	श्रयणोंने	श्रमणोंने
४९५	११	गणतत्र	गणतंत्र
४९२	११	प्रष्ठ	पृष्ठ
३९२	२५	नग्नं श्रवणं अगाच्छंतम्,	नग्नं श्रवणं आगच्छंतम्
४९३	१	वेदाध्यन	वेदाध्ययन
४९३	२४	ज्ञात	ज्ञान
४९४	१४	पुनरुज्जीवन	पुनरुज्जीवन
४९४	१५	करने	करके
४९५	२४	न प्रवृतिवादको	प्रवृत्तिवादको
४९६	१	शुक	शुष्क
४९६	२	संख्याय संख्य	सव्यापसव्य ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९७	१३	जैमिवि	जैमिनि
५०२	२१	समन्वव	समन्वय
५०३	९	शनै शनै	शनैः शनैः
५०५	८	में	मैं
५०५	१९	तदात्मन	तदात्मान
५०५	१९	तस्मातत्सर्वमभवत	तस्मात्तत्सर्वमभवत्
५०६	२१	वर्तमान इसलिये कालीन,	वर्तमान कालीन
५०७	२	आत्मका	आत्माका
५०७	२२	पश्यति	पश्यंति
५०८	२	हस्ति है	हस्ती है
५१३	८	अकृतृम	अकृत्रिम
५१४	२४	दीर्पिका	दीपिका
५१५	८	मात्मैवान्स्मानं	मात्मैवात्मानं
५१५	९	स द्वितीयेमिव	सद्द्वितीयमिव
५१५	१९	जड़रू देखता है	जड़ रूप देखता है
५१६	५	प्रपंचन्निर्गतत्वा	प्रपंचान्तर्गतत्वा
५१६	८	संभवित	संभावित
५१६	१९	वेदान्तर्गत	वेदान्तान्तर्गत
५१७	२३	पदार्थन्तर	पदार्थान्तर
५१८	१	अंधाकार	अंधकार
५१८	७	स्वाभावरूप	स्वभावरूप
५१८	८	संभिवित	संभावित
५१९	१६	इत्यद्वैतमत	इत्यद्वैतमत
५२०	३	अविर्भूत	आविर्भूत
५२०	५	अविर्भाव	आविर्भाव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२१	२१	धर्माघर्म	धर्माधर्म
५२२	६	तेषामल्पा	तेषामल्पा
५२३	१२	सकृद्वैतेः	सकृद्द्वैतः
५६५	६	योगीभ्यास	योगाभ्यास
५२५	१५	नष्फल	निष्फल
५२७	२४	अविद्यासे बिना	अविद्याके बिना
५२७	२५	विशिष्ट रूपसे	विशिष्ट रूपके
५२८	१६	कहा जाय तो कि	कहा जाय कि
५२८	२२	यह इसलिये	तो यह इसलिये
५२६	२१	प्रथक्	पृथक्
५३०	५	विम्बस्थानाय	विम्बस्थानीय
५३०	७	मलिनादि	मलिनत्वादि
५३२	२४	प्रादु	प्राहु
५३३	८	विशाभनु	विंशामनु
५३४	५	पताञ्जलि	पतञ्जलि
५३४	१०	दर्शनामेकं	दर्शनानामेकं
५३४	२२	सामानतय	समानतया
५३६	२३	मुख्ये	मुख्ये
५३८	३	यद्यास्ति	यद्यस्ति
६३८	७	मत था	मतका था
५३८	७	योगीमत	योगमत
५३६	२	युधिष्टर	युधिष्ठिर
५३६	७	षष्टश्च	षष्ठश्च
५३६	१०	स्व्यक्त	रव्यक्त
५३६	२४	वासकी	वाच ही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४१	४	निर्गुंण	निर्गुण
५४२	४	तुपक्तौ	तुलक्तौ
५४२	६	सृष्टया	सृष्ट्वा
५४३	१४	कुमारिलाचार्य	कुमारिल भट्ट
५४४	८	ईश्वरासिद्धे	ईश्वरासिद्धेः
५४५	८	द्वैष	द्वेष
५४६	८	कर्मासार	कर्मानुसार
५४८	९	सर्वेश्वर्य	सर्वैश्वर्य
५४८	१६	निनित्त	निमित्त
५४८	१९	खण्ड	खण्डन
५४९	२२	अपौरषेय	अपौरुषेय
५५०	५	सुर्षुप्ति	सुषुप्ति
५५२	१	सिद्ध	सिद्धि
५५२	४	सिद्धके	सिद्धिके
५५२	१६	सांखयाचार्य	सांख्याचार्य
५५२	२३	ईश्वराभात्	ईश्वराभावात
५५३	२४	विश	वित्
५५४	५	श्रुतिबाघः	श्रुतिबाधः
५५५	२०	कणादिका	कणादका
५५६	५	समबावी	समभावी
५५७	१७	धर्माधर्मरूपको	धर्माधर्मको
५५८	१	उदृष्ट	अदृष्ट
५५९	१२	आत्मामें उत्पन्न,	आत्मामें ज्ञान उत्पन्न
५६०	१५	द्रव्य	द्रव्य
५६०	२०	अदृष्ट	अदृष्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६१	४	न पुनर्वें	नच वै
५६१	५	बनता है	बनाता है
५६२	१७	समिश्रण	संमिश्रण
५६३	१९-२०	हैं	है
४६४	१	आकाशादवायुः	आकाशाद्वायुः
५६४	१०	शब्दकेण होनेका	शब्द के गुण होने का
५६४	११	स शब्द दुगलश्चित्र	स शब्दः पुद्गलश्चित्रः
५६४	१२	वर्गणा हते हैं	वर्गणा कहते हैं
५६४	२१	ऐतहासिक	ऐतिहासिक
५६५	२ः	अर्थ साधक	अर्थात् साधक
५६६	१	कर्म फलके	कर्म फल दाता के
५६६	८	मात्र स्थान	स्थान मात्र
५६६	१९	मैश्यर्यं	मैश्वर्यं
५६७	८	स्वकृताभ्यगम	स्वकृताभ्यागम
५६७	६	ईश्वर को	ईश्वरका
५६७	२०	ब्रह्म तो	ब्रह्म में तो
५६८	११	ब्रह्मके	ब्रह्मको
५६८	१६	तुष्टि	पुष्टि
५७०	१७	प्रथक्	पृथक्
५७३	१	लद्दण	लक्षण
५७३	२२	प्रादात्	प्रदात्
५७५	१८	उसीसे	उसी सूत्र से
५७८	१-२	द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष प्रसूतात् अधिक पाठ है	
५७८	३	निः श्रेयसधिगम	निःश्रेयसाधिगमः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५७८	९	तत्वानान्तिः	तत्वज्ञानाभिः
५७९	१८	योगाव्यया	योगाद्या
५७९	२१	कारण ईश्वर	कारणमीश्वर
५८१	४	भूमिकायें	भूमिका में
५८१	८	अप्रमाण्य	अप्रामाण्य
५८३	२	आस्ति	अस्ति
५८३	२२	वैनामिकत्व	वैनाशिकत्व
५८५	१४	वेद को	वेद में
५८५	१८	विष्पष्टं	विस्पष्टं
५८६	४	वृतं	वृत्तं
५८६	६	जैमिनिनानां	जैमिनीनाम्
५८६	८-९	पाप पाप	पाप
५८८	१०	आनुन्श्रविक	आनुश्रविक
५८९	१	भूमिजनन्	भूमीजनयन्
५९०	२०	दर्शनिकों में	दार्शनिकों में
५९२	२३	भानते	मानने
५९४	६	त्रैगुण्या विषया	त्रैगुण्य विषया
५९४	२१	शृणी	ऋणी
६०४	२४	और तराजू	और न तराजू
६०८	२१	हनने	हमने
६१०	११	त्रैतायै	त्रेतायै
६१४	१२	हससे	इससे
६१५	१५	विद्यार्थियों को	विद्यार्थियों के लिये
६१५	२५	समाय वर्त्य	समावर्त्य
६१८	२९	लगनेबद के	लगने के बादके

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६१९	१४	विद्रियां	विद्रियां
६१९	१८	ज्योतिष्क	ज्योतिष
६२०	६	विकास	विकाश
६२०	१८	आवश्कता	आवश्यकता
६२४	५	घाटातो होता है	घाटा होता है तो
६३६	१६	उपाधि सुशोभित,	उपाधि से सुशोभित
६३४	१०	प्रभु	प्रभुः
६३४	१२	लौक मान्य	लोकमान्य
६३५	२	जाता में	जाता है
६३५	२०	वृहदाण्यकोपनिषद्,	वृहदारण्यकोपनिषद्
६३५	२४	पत्र	यत्र
६३६	३	कामायते	कामयते
६३६	३	स कामभिर्जयिते	सकाममिर्जायते
६३६	७	निषक्कमश्च	निषक्कश्च
६३६	१३	तमेवेति	तमैवेति
६४०	२२	सन्तावान	सत्तावान
६४७	१	अन्य	मान्य
६५०	५	चितमन	चित्तमन (चिंतन)
६५०	२४	तो वे	वे तो
६५०	२५	को कल्पान्तरोंमें	को जो कल्पान्तरोंमें
६५१	५	चुकी हूँ	चुका हूँ
६५१	१८	पढ़	पढ़
६५७	२२	भलाइयां कि	भलाइयां जो कि
६५८	२५	उसके	उसको
६५९	२४	पच्छम	पश्चिम

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६०	६	अंतकल	अंतकाल
६६०	१५	वृतान्त	यह वृत्तान्त
६६२	२४	धानी	ध्यानी
६६४	२	न प्रकट न	प्रकट न
६६५	१०	पिछले	पीछे
६७७	३४	शराब	शराबी
६७९	१४	भलाई लिये	भलाईके लिये
६८३	८	माना है	माना गया है
६८४	१	अपने	आपने
६८४	१०	कर्मोंमें से	कर्मोंसे
६८५	१	चाहिये यह	चाहिये कि यह
६८५	७	चाहिये कर्मोंके	चाहिये कि कर्मोंके
६९१	२३	ईश्वर अप्रतर्क्य है	ईश्वरकी इच्छा अप्रतर्क्य है
६९२	७–८	नियमोंको	नियमोंके
६९५	४	कामकी	नामकी
६९८	११	प्रतिष्टित	प्रतिष्ठित
६९९	१६	ईश्वर से भिन्न	ईश्वर से अभिन्न
७००	१०	ही है	ही
७००	११	किसी	कभी भी
७००	१३	सो कहे	जो कहे
७००	२४	[illegible]	सिसृक्षा
७०३	२३	जगत के पदार्थ	जगत के मूल पदार्थ
७०४	४	वर्णों की	गुणों की
७०५	५	भ० महावीर	भ० महावीर
७०६	१२	जिन्हे	जिन्हें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०७	१६	होते से	होने से
७०६	२४	सन्वन्धी	संवन्धी
७१०	६	पूर्व भौतिक	पूर्वका भौतिक
७१४	१	काई भी	कोई
७१४	२३	चढ़ कर ले	चढ़ कर बोले
७२१	८	विज्ञान के वाले	विज्ञान के
७२२	१८	एक लोहे की	एक सेर लोहे की
७२७	१३	तस्मात्महत्	तस्मान्महत्
७२७	१४	द्वितीयः राजसतमम्,	द्वितीयं राजसंतमम्
७२७	२२	सूक्ष्मभूल	सूक्ष्मभूत
७३०	१५	भादाभेद	भेदाभेद
७३४	८	गर्मी	गर्मी
७३६	३	सर्य	सूर्य
७४१	८	हृदन्तु	परंतु
७४२	३	मंसार	संसार
७४२	८	पवजाना	पवनजाना
७४२	२१	शक्ति भा	शक्ति भी
७४५	६	पड़ीर हुने	पड़ी रहने
७४८	११	अछूना	अछूता
७४६	२	सप्ट त्रियोंको	सपत्नियों को
७५०	८	महाभारतमें मीमासामे,	महाभारत मीमांसा में
७५२	१८	गरमी कर्ता	गरमी का कर्ता
६५५	१४	बोद्धिक	बौद्धिक
७५६	५	वह यह भी	वहां यह भी
७५६	२२	सततेव	सतीत्व

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५६	२३	यह प्रयोजन	इस प्रयोजन
७६१	४	(२) स्मृति	(२) स्मृत्यात्मक
७६२	३	कारणवच्चेत्	करणवच्चेत्
७६७	१२	सत्कार्यवद्	सत्कार्यवाद
७६८	१४	कार्यान्तरं मुत्पादयति,	कार्यान्तरमुत्पादयति
७६८	१५	युगवद्नेक	युगपदनेक
७६८	२१	अव विद्यमान	अविद्यमान
७६८	२५	उनको	उनकी
७६६	१	विद्यतेऽभावः	विद्यतेभावः
७६६	३	संज्जायेत्	सज्जायेत
७७०	५	वर्ततान	वर्तमान
७७०	११	अविष्कार	आविष्कार
७७०	२३	प्रकृत्ति	प्रकृति
७७१	११	कार्य सम्बन्धक	कार्यका
७७६	१	उसके	उसको
७७६	३	कार्य	कार्य होना
७७६	२१	परिमाण	परिणाम
७८१	१४	विपस्ति से	विवर्त
७८२	२१	चिकीषी	चिकीर्षा
७८३	४	निमित्ति	निमित्त
७८४	१३	कृर्तृत्व का	कर्तृत्व का
७८६	११	जीव की जो	जीव को तो
७८६	२६	प्रवृति	प्रवृत्ति
७८७	१५	कत्त	कर्ता
७८७	२२	अप्राणकृत	अप्राणिकृत
७८८	२४	निष्कय	निष्क्रिय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८९	४	परिणामिनी	परिणामिनो
७९१	२१	ईश्वर सर्व व्यापक,	ईश्वर के सर्वव्यापक
७९२	६	इन दो	इन दि
७९२	२२	में एक	मैं एक
७९३	१२	पालने में	पालने से
७९४	२	स्वतन्त्रका	स्वतन्त्रता
७९५	९	यही	यह भी
७९६	२५	ईश्वरमें	ईश्वर में
८००	१५	भय, शंका, लज्जा	दयालुता
८०२	१४	कार्य में	कार्य के
८०४	१	तो	जो
८०७	१३	कोटीका	कोटि का
८१५	५	ब्राह्मणका	ब्राह्मण का
८१५	२१	पर भी	पर थी
८१७	२३	सन्यासी	संन्यासी
८१८	७	नैमिमित्तिक	नैमित्तिक
८१८	११	करने	कराने
८१९	२०	"योनि"	"योनिज"
८२०	१४	अमुथुनि	अमैथुनी
८२०	२५	अनुवादक	अनुवाक
८२१	८	अण्डकोशों में	अण्डकोषों में
८२५	२१	कुमारकाः	कुमारकाः
८२७	१२	गोरव	गोबर
८२७	१४	विद्वान ने	विद्वानों ने
८२७	१८	ख्यल	ख्याल
८२८	१४	वांङ्मय	वाङ्मय में